



अथ

खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' ग्रन्थान्तर्गत

आत्मविज्ञानोपनिषत्

प्रथम खण्ड

पं. मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथिपथिकः

प्रकाशक :

राजस्थान पत्रिका प्रा० लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर





अथ

खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' ग्रन्थान्तर्गत

आत्मविज्ञानोपनिषत्

प्रथम खण्ड

पं. मोतीलाल शारङ्ग्री

वेदवीथिपथिकः



द्वितीय संस्करण :

मूल्य

Rs 90

प्रकाशक :

राजस्थान पत्रिका प्रा० लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

© सर्वाधिकार—लेखकाधीन

मुद्रक :

श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर-१५

प्रकाशकीय

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व पं० मोतीलालजी शास्त्री ने चार खण्डों में 'श्राद्धविज्ञान' नामक बृहत् वैज्ञानिक ग्रन्थ की रचना की थी जिसका प्रकाशन उन्होंने १८ वर्ष के सुदीर्घ अन्तराल के बाद प्रारम्भ किया, परन्तु अपने जीवन-काल में वे उसे पूरा नहीं कर पाये। फिर भी वे प्रथम एवं तृतीय खण्डों का प्रकाशन कर गये।

उनके उत्तराधिकारियों को यह श्रेय देना होगा कि उनके लिखे हुए बहुमूल्य ग्रन्थों को उन्होंने सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सम्भाले रखा और नष्ट या लुप्त नहीं होने दिया। लगभग एक वर्ष पूर्व श्राद्ध-विज्ञान तृतीय खण्ड "सापिण्ड्य विज्ञानोपनिषत्" का पारायण करने का अवसर मुझे मिला और पढ़कर विस्मित हुए बिना नहीं रहा। इसके उपरान्त प्रथम खण्ड भी पढ़ गया और निश्चय किया कि इस ग्रन्थ के शेष दो खण्डों का प्रकाशन भी यथाशीघ्र किया जाय। प्रथम खण्ड की भी कोई प्रति शेष नहीं थी, अतः उसका भी दूसरा संस्करण प्रकाशित करके इस ग्रन्थ को पूर्ण रूप देने का काम हाथ में लिया गया। राजस्थान पत्रिका ने प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया। पिछले श्राद्धपक्ष में द्वितीय खण्ड 'पितर'-स्वरूपविज्ञानोपनिषत् छपकर तैयार हो गया। प्रथम खण्ड 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' आपके हाथों में है और चतुर्थ खण्ड भी अतिशीघ्र प्रकाश में आने वाला है। इसके प्रकाशन के साथ ही श्राद्धविज्ञान-परियोजना का संकल्प पूरा हो जायगा।

इस कार्य को सुचारू रूप से सम्पन्न करने का भार पं० मोतीलालजी के ही पौत्र चिरंजीव प्रद्युम्न कुमार ने अपने हाथ में लिया। पाण्डुलिपि से प्रेस कापी तैयार करने, प्रूफ संशोधन एवं सम्पादन करने का दायित्व महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर के प्राचार्य श्री कैलाश चतुर्वेदी ने उठाया और कार्य द्रुतवेग से चल पड़ा।

'श्राद्धविज्ञान' भारतीय संस्कृति का एक दुर्लभ एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जो पूर्णतः वैदिक विज्ञान पर आधारित जीवशास्त्र है। श्राद्ध एवं पिण्डदान के सम्बन्ध में सुधारवादियों एवं आधुनिकतावादियों ने जो नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ फैला रखी हैं, उन्हें इस ग्रन्थ पर विशेषतः ध्यान देना चाहिए। तभी उन्हें अनुभव होगा कि विज्ञान क्या है। मुझे आशा ही नहीं दढ़ विश्वास है कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन वेद-विज्ञान की एक अमूल्यनिधि सिद्ध होगा और वेद-प्रेमी इससे लाभान्वित होंगे।

कर्पूरचन्द 'कुलिश'

इतिहासकाल

समर्पण

भारतीय वेदविद्यासमुद्धारक

वेदमूर्ति समीक्षा चक्रवर्ती

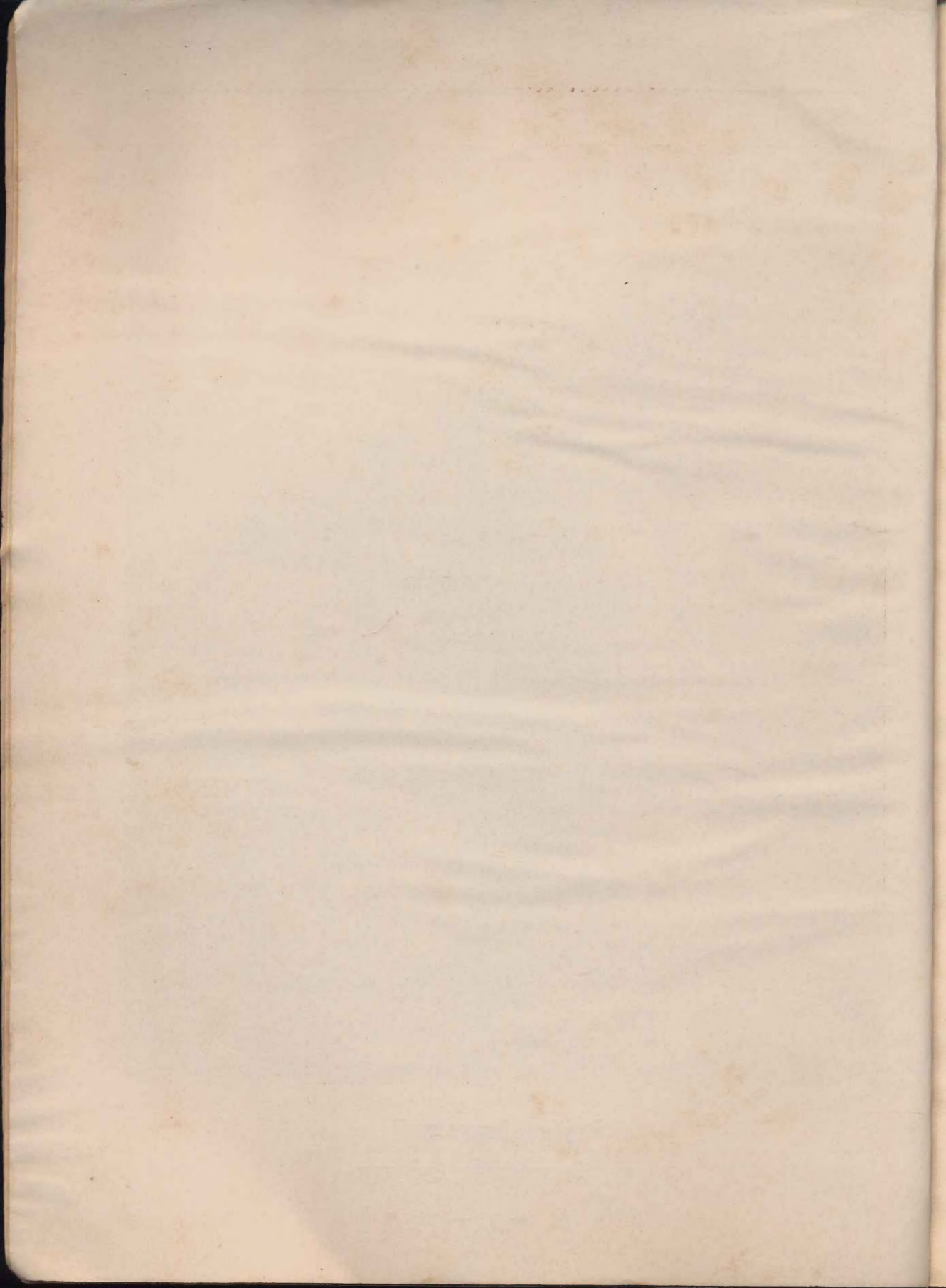
रत्न. पं. मधुसूदनजी ओझा

की

विमल स्मृति में श्रद्धापूर्वक समर्पित ।



वेदमूर्ति समीक्षा-चक्रवर्ती
पं. मधुसूदन ओझा
[वि. सं. १९२३—१९९६]





आत्मविज्ञोपनिषत्

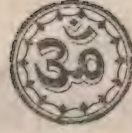
प्रथम खण्ड

विषयसूची

विषय	पृ०सं०	विषय	पृ०सं०
नैगमिक स्तुति	२	ब्रह्म का त्रेधावितान	१२३
आगमस्तुति	४	रसबलात्मकब्रह्म की अनन्तविभूति	१२७
पितृस्तुति	५	पञ्चकल मायोपाधिक ब्रह्म	१२८
मङ्गलपाठ	१३-१८	दशकल-प्रकृतिब्रह्म	१३०
किमपि प्रास्ताविकम्	१८-६२	षोडशकल अमृतब्रह्म	१३५
आत्मस्वरूप परिचय	६४-६५	प्राण ब्रह्म के चार पाद	१३५
अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्-प्रथमा		अमृतात्मस्वरूप परिचय	१३६
(६५-१४३)		प्रकरणोपसंहार	१४२
चतुष्कलः षोडशकलो वा पुरुषात्मा	६६	अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्-द्वितीय	
अमृतात्मस्तुतिः	६६-६७	(१४५-१६६)	
आत्मस्वरूपजिज्ञासा	६६	अव्यक्तात्म स्तुतिः	१४५
नास्तिकाभिमत आत्मस्वरूप	७०	ब्रह्म की विकार सृष्टि	१४८
आस्तिकाभिमत आत्मस्वरूप	७१	वाङ्मय अव्यक्तात्म	१४९
आस्तिकों का तत्त्ववाद	७१	अव्यक्तात्मा के तीन विवर्त	१५०
स्वयम्भूप्रजापति का आत्मोपदेश	७५	नियतिलक्षण अन्तर्यामी	१५२
व्यासाभिमत आत्मतत्त्व परीक्षा	८६	ऋतसत्यलक्षण-सुत्रात्मा	१५७
हमारी अध्यात्मसंस्था	८६	उपलब्धिलक्षण-वेदात्मा	१५६
सृष्ट्यनुगता आगमद्वयी	१०४	त्रिःसत्यप्रजापति	१६२
अहोरात्रस्वरूपदिग्दर्शन	१०५	त्रित्वप्रवर्तक अव्यक्तात्मा	१६२
मनुःस्वरूपदिग्दर्शन	१०६	अव्यक्तात्मा का प्रकृतिभाव	१६४
मनु और मन्वन्तर	१०६	प्रकरणोपसंहार	१६५
काल-के विचालीभाव	१०७	यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्-तृतीया	
मन्वन्तरविज्ञान	१०६	(१६७-१८९)	
लयकाल मीमांसा	११८	यज्ञात्मस्तुतिः	१६७
नित्यानित्यविवर्त	११६	पारमेष्ठ्यतत्त्व परिचय	१६६
		आत्मसोपानपरम्परा	१७०

विषय	पृ०सं०	विषय	पृ०सं०
अदः इदं विवर्त	१७२	सुषुप्त्यधिष्ठाता महानात्मा	२२३
यज्ञात्मस्वरूपसमन्वय	१७२	आकृति-प्रकृति-ग्रहङ्कृतिभाव	२२५
यज्ञात्मा के यज्ञ-चित् नामक दो विवर्त	१७४	सत्त्व-रज-स्तमोलक्षणा महानात्मा	२२८
यज्ञात्मक विष्णु का स्वरूप परिचय	१७४	चान्द्र महानात्मा	२२९
परमेष्ठी का प्रथम विवर्त	१७७	चान्द्र प्रज्ञानात्मा	२३०
विश्वप्रकृतिभूत यज्ञेश्वर	१७८	प्रकरणोपसंहार	२३३
यज्ञात्मा के विविध विवर्त	१८५	प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्-षष्ठी (२३५-३६६)	
आध्यात्मिक यज्ञात्मा	१८६		
यज्ञ का योनिभाव	१८७	प्राणात्मस्तुति	२३५
त्रयीमय त्रिगुणात्मा	१८७	अविज्ञानमूला, तथा क्षणिकविज्ञानमूला भ्रान्ति	२३८
प्रकरणोपसंहार	१८९	विभिन्नपक्षसमर्थन	२३९
विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्-चतुर्थी (१९१-२१२)		व्याख्यादोषमूला आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति	२४४
		आत्मभेदस्वरूप परिचय	२४४
विज्ञानात्मस्तुति	१९१	आत्मपरिग्रहमूलक-आत्मस्वरूप भेद	२४७
परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अव्यक्तत्व	१९४	सीमाभावप्रवर्तक 'माया' परिग्रह	२४८
विश्वस्य हृदयम्	१९४	षोडशकलाप्रवर्तक-कला' परिग्रह	२४९
सोम-चित्-इन्द्र-विभूतियाँ	१९५	सगुण-सविकारभाव प्रवर्तक	
यज्ञप्रवर्तक विश्वात्मा	१९६	'गुण-विकार' परिग्रह	२४९
सूर्यात्मक क्षत्ररुद्र	१९६	सावरण-साञ्जनभाव प्रवर्तक-	
सौर अन्नादाग्नि के तीन विवर्त	२०१	'आवरण अञ्जन' परिग्रह	२५०
सूर्यमूलक विज्ञानात्मा	२०७	विभूति तथा पाप्मा	२५१
धिवषणा तथा प्राणविवर्त	२१०	विराट्प्रजापति	२५१
प्रकरणोपसंहार	२११	सर्वधर्मोपपन्न पुरुषात्मा	२५२
महानात्मविज्ञानोपनिषत्-पञ्चमी (२१३-२३३)		प्रजापति-चतुष्टयी	२५२
		जीवात्मस्वरूपोपक्रम	२५४
महानात्मस्तुति	२१३	चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास	२५४
महान् की महत्ता	२१५	योग-बन्ध-विभूति	२५५
महोदेव और महान्	२१६	विदित-अविदित-विदिताविदितातीत-	
सोम-चित् और पितरप्राण	२१६	आत्मविवर्त	२५७
प्रजापति के तीन विवर्त	२१८	पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः	२५८
त्रिगुणात्मक पुरुषब्रह्म	२१९	शब्दब्रह्मविवर्त	२५९
एकाक्षरमूर्ति महद्ब्रह्म	२२१	विश्वामुवनानि	२६०
विश्वयोनिलक्षण महानात्मा	२२२	रुद्र-त्रैलोक्य	२६१
		दक्षिणामूर्ति शिवतत्त्व	२६१
		वायुवेष्टित भूपिण्ड	२६२

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
अन्नादप्रकृति और भूपिण्ड	२६२	विभूतिलक्षण-देवतत्त्व	३२२
पार्थिव 'एमूषवराह'	२६३	विभूतिलक्षण-मनुतत्त्व	३२३
शूद्र और शूकरपशु	२६४	विभूतिलक्षण-गन्धर्वतत्त्व	३२३
अमृत-मर्त्यलक्षणा पार्थिवसंस्था	२६५	विभूतिलक्षण-ग्रहतत्त्व	३२३
देवासुर प्रतिस्पर्द्धा	२६६	विभूतिलक्षण-पशुतत्त्व	३२३
विस्त्रस्त-पार्थिव प्रजापति	२६७	विभूतिलक्षण-जीवतत्त्व	३२४
षट्शुक्रात्मक पार्थिव विवर्त	२६७	विद्याचतुष्टयीलक्षणा-विद्याविभूति	३२६
पार्थिवाग्नि के विविध विवर्त	२६८	महाविभूतिलक्षणा-कामविभूति	३२७
पार्थिवाग्नि का अन्नादत्त्व	२६९	अनुष्ठानलक्षणा-कर्म विभूति	३२९
कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण	२७०	बन्धनलक्षणा-शुक्रविभूति	३३५
अग्निचितिरहस्य	२७२	गतिलक्षणा-प्राणविभूति	३३५
अर्क्य-सहाव्रत-उक्थ्य परिचय	२७२	जीवनयात्रा साधनलक्षणा	
वाक्साहस्री स्वरूप परिचय	२७३	ज्ञान-कर्मेन्द्रियविभूति	३३७
वाङ्मय स्तोमविवर्त	२७४	सर्वव्याप्तिलक्षणा-पूर्णन्द्रविभूति	३४०
लोकसाहस्री-स्वरूप परिचय	२७४	सत्यसंकल्पत्त्व विभूति	३४२
अदिति-दिति विवर्त	२७६	एकरसत्त्व विभूति	३४२
सर्वभूतान्तरात्मा	२८०	एकावस्थत्त्व विभूति	३४२
आत्म-ब्रह्म-देव-विभूतित्रयी	२८१	विश्वव्यापकत्त्व, विश्वसृष्टत्त्व विभूति	३४३
आत्मगत्यधिष्ठाता-सुपर्णात्मा	२८२	सर्वसाक्षित्व, सर्ववशित्व,	
परिच्छिन्न-मृत्युबन्धन	२८५	कर्माध्यक्षत्त्व विभूति	३४३
चामत्कारिक-पुरुषात्मा	२८५	पाप्माऽसंसृष्टत्त्व विभूति	३४४
प्राणात्मोपनिषत् की उपनिषत्	२८२	पारयात्री भोक्तात्मा	३४६
वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक विराट्		जीवात्मा की विभूतियाँ	३४७
के दर्शन	२८४	षडूर्म्मिस्वरूप परिचय	३५२
अर्थमूर्ति वैश्वानरात्मा	३०८	षडवस्थास्वरूपपरिचय	३५४
तैजसात्मा-क्रियामूर्ति:	३१२	अविद्यास्वरूपपरिचय	३५७
ज्ञानमूर्ति-प्रज्ञात्मा	३१२	बन्धस्वरूपपरिचय	३५७
वायुमूर्ति:-हंसात्मा	३१४	कर्मविपाकस्वरूपपरिचय	३६०
बाह्यात्मा-भूतमूर्ति	३१८	आशयस्वरूपपरिचय	३६१
सर्वज्ञ-अल्पज्ञसमतुलन	३२०	अपूर्णत्वस्वरूपपरिचय	३६१
विभूतिलक्षण 'ऋषि' तत्त्व	३२१	संसार (गमनागमन) स्वरूपपरिचय	३६३
विभूतिलक्षण-पितृतत्त्व	३२२	प्रकरणोपसंहार	३६४
विभूतिलक्षण-असुरतत्त्व	३२२		



श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्'

प्रथम खण्ड

परिलेख सूची

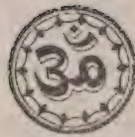
क्र०सं०	परिलेख	पृ०सं०	क्र०सं०	परिलेख	पृ०सं०
१.	त्रिगुणभावापन्नयज्ञपुरुष परिलेख	१६०-१६१	१५.	चिदात्मा प्रतिकृति	२६२-२६३
२.	सौरसम्बत्सरमण्डल परिलेख	२०२-२०३	१६.	भूतात्मा [पृथिवी] प्रतिकृति परिलेख	२६२-२६३
३.	पार्थिव सम्बत्सरमण्डल परिलेख	२०२-२०३	१७.	द्युर्दुमाधः शिव परिलेख	२६२-२६३
४.	अर्णवसमुद्रगर्भित भूपिण्ड परिलेख	२०२-२०३	१८.	अमृत-ब्रह्म-शुक्र परिलेख	२६२-२६३
५.	अधिदैवत-अधिभूत परिलेख	२०२-२०३	१९.	पार्थिव वषट्कार परिलेख	२७६-२७७
६.	शरीरकाग्नि (अध्यात्मिक सप्तपिण्डल) परिलेख	२०२-२०३	२०.	भूविर्वर्तम् परिलेख	२८०-२८१
७.	सर्वेश्वर कला परिलेख	२२०-२२१	२१.	दित्यदितिमण्डल परिलेख	२८०-२८१
८.	परमेश्वर प्रतिकृति	२४८-२४९	२२.	अव्ययसंस्था परिलेख	२८४-२८५
९.	महेश्वर प्रतिकृति	२४८-२४९	२३.	अक्षरसंस्था परिलेख	२८४-२८५
१०.	विश्वेश्वर प्रतिकृति	२४८-२४९	२४.	क्षरसंस्था परिलेख	२८४-२८५
११.	उपेश्वर प्रतिकृति	२४८-२४९	२५.	समष्टि परिलेख	२८४-२८५
१२.	ईश्वर प्रतिकृति	२४८-२४९	२६.	पुर्णान्द्र त्रिभूतिरूप कश्यप प्रजापति	३४६-३४७
१३.	अश्वत्थ प्रजापति परिलेख	२५२-२५३	२७.	ईशकला प्रदर्शन चित्रम्	३४६-३४७
१४.	सर्वप्रजापति परिलेख	२५२-२५३			



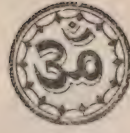
वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल जी शास्त्री

[वि. सं. १९६५—२०१७]





स्तुत्यात्मक—स्वरूपवर्णनात्मक
मांगलिक 'पितृस्वरूप' संस्मरण



पितृस्वरूपवर्णनात्मिका नैगमिकस्तुतिः

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।
पूषा नः पातु दुरिताहतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत ॥१॥
प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम ।
येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥२॥
त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् ।
तव प्रणीतो पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥३॥
अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा ।
रथं न दुर्गाद्विसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपत्सन् ॥४॥
नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः ।
इन्द्र एषां हंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥५॥
अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्रसेदुर्ऋतमाशुषाणाः ।
अश्मव्रजाः सुदुघा वज्रे अन्तरुदुस्त्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥६॥
अथा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥७॥
स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रे श्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥८॥
आ नः पवस्वः वसुमद्विरण्यवदश्ववद्गोमद्यवमत् सुवीर्यम् ।
यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥९॥
अरुरुचदुषसः पृश्निरप्रिय उक्षा विभक्ति भुवनानि वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः ॥१०॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैवा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥११॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥१२॥
अपेत वीत विच सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरदिभरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥१३॥
उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहंरिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥१४॥
महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।
समविव्यचरुत यान्यत्विषुरेषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥१५॥
द्विधा सूनवोऽसुरं स्वविदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा ।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥१६॥
य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन्परिवत्सरे बलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥१७॥
घ्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते ।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रुवुः ॥१८॥
यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत् एकशतं देवकर्मभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो प्र आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥१९॥
चाक्लृप्ते तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे ।
पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥२०॥
यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्या मर्त्या आविवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृलोके अस्य सुमतौ स्याम ॥२१॥

—प्रीयतामनया स्तुत्या पितृदेवता

- १—ऋक्सं० ६।७५। १० ॥ २—ऋक्सं० १।६२। २ ॥ ३—ऋक्सं० १।६१। १ ॥
४—ऋक्सं० १।१०६। ३ ॥ ५—ऋक्सं० ३।३६। ४ ॥ ६—ऋक्सं० ४।११। ३ ॥ ७—ऋक्सं०
४।२। १६ ॥ ८—ऋक्सं० ६।७५। १६ ॥ ९—ऋक्सं० ६।६६। ८ ॥ १०—ऋक्सं० ६।८३। ३ ॥
११—ऋक्सं० १०।१४। २ ॥ १२—ऋक्सं० १०।१४। ६ ॥ १३—ऋक्सं० १०।१४। ६ ॥ १४—
ऋक्सं० १०।१८। १३ ॥ १५—ऋक्सं० १०।५६। ४ ॥ १६—ऋक्सं० १०।५६। ६ ॥ १७—ऋक्सं०
१०।६२। २ ॥ १८—ऋक्सं० १०।६४। १२ ॥ १९—ऋक्सं० १०।१३। १ ॥ २०—ऋक्सं०
१०।१३। १६ ॥ २१—ऋक्सं० ८।४८। १२ ॥

श्राद्धानुगत-पितृयशोवर्णनात्मिका-आगमस्तुतिः

श्राद्धात् परतरं नान्यत्-श्रेयस्करमुदाहृतम् ।
 तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः ॥१॥
 तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि ।
 कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति ॥२॥
 आचारमाचरेत्तत्र पितृमेधाश्रितं नरः ।
 आयुषा-धन-पुत्रैश्च वर्द्धते नैव संशयः ॥३॥
 आयुः-पुत्रान्-यशः-स्वर्ग-कीर्त्ति-पुण्ड्रि-बलं-श्रियम् ।
 पशून्-सौख्यं-धनं-धान्यं-प्राप्नुयात् पितृपूजनात् ॥४॥
 अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पुत्र-पौत्रवान् ।
 अर्थवानर्थभोगी च श्राद्धकामो भवेदिह ॥५॥
 परत्र च परां पुण्ड्रि लोकांश्च विपुलान् शुभान् ।
 श्राद्धकृत् समवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः ॥६॥
 ब्रह्मे-न्द्र-रुद्र-नासत्य-सूर्या-ग्नि-वसु-मारुतान् ।
 विश्वेदेवान्-ऋषिगणान्-वयांसि-मनुजान्-पशून् ॥७॥
 सरीसृपान्-पितृगणान्-यश्चान्यद् भूतसंज्ञकम् ।
 श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् तर्पयत्यखिलं जगत् ॥८॥
 धनं-वेदान्-भिषक-सिद्धि-कुप्यं-गा-अप्यजाविकम् ।
 अश्वाना-युश्च-विधिवद्यः श्राद्धं सम्प्रयच्छति ॥९॥
 कृत्तिकादिभरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान् ।
 आस्तिकः श्रद्धधानश्च पितृन् श्राद्धेन तर्पिता ॥१०॥
 आयुः-प्रजां-धनं-विद्यां-स्वर्गं-मोक्षं-सुखानि च ।
 प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥११॥
 यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
 तत्तत् पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥१२॥

वसुरुद्रादितिसुता पितरः श्राद्धदेवताः ।
 प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितृन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥१३॥
 कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्राह्मचारिणः ।
 पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसम्पदः ॥१४॥
 पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
 उपासते सुतं जातं शकुन्ता इव पिप्पलम् ॥१५॥
 सन्तानवर्द्धनं पुत्रमुद्यतं पितृकर्मणि ।
 देवब्राह्मणसम्पन्नमभिनन्दति पूर्वजाः ॥१६॥
 तन्वन्ति पितरस्तस्य सुकृष्टैरिव कर्षकाः ।
 यद्गयास्थो ददात्यन्नं पितरस्तेन पुत्रिणः ॥१७॥
 नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम् ।
 पार्वणं चेति विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं बुधैः ॥१८॥
 कन्दमूलफलैर्वापि कर्त्तव्यं पितृतर्पणम् ।
 अन्यथा दारुणं शापं दत्त्वा यान्ति बुभुक्षिताः ॥१९॥
 दिवस्याष्टमे भागे मन्दी भवति भास्करः ।
 स कालः कुतपो ज्ञेयः पितृणां दत्तमक्षयम् ॥२०॥
 एवं सन्तर्पिताः कामैस्तर्पकांस्तपयन्ति च ।
 ब्रह्म-विष्णु-शिवा-दित्य-मित्रा-वरुण-नामभिः ॥२१॥

—स्मृतयः, पुराणानि च

राजर्षिमनुःसम्मतं श्राद्धानुगतपितृस्वरूपोपवर्णनम्

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
 ये च यैरुपचर्याः स्युनियमैस्तान्निबोधत ॥१॥
 मनोहैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
 तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥२॥
 विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
 अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥३॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
 सुपर्णकिन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥४॥
 सोमपा नाम विप्राणां, क्षत्रिमाणां हविर्भुजः ।
 वैश्यानामाज्यपा नाम, शूद्राणां च सुकालिनः ॥५॥
 सोमपास्तु कवेः पुत्राः, हविष्मन्तोऽङ्गिरसः सुताः ।
 पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्राः, वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥६॥
 अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
 अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥७॥
 य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्त्तिताः ।
 तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥८॥
 राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ।
 वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥९॥
 देवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।
 पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥१०॥
 अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ।
 विवेक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥११॥
 यद्यद्दाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
 तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥१२॥
 वसून् वदन्ति तु पितॄन्, रुद्राश्चैव पितामहान् ।
 प्रपितामहांस्तथादित्यान्, श्रुतिरेषा सनातनी ॥१३॥
 देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते ।
 दैवं हि पितृकार्य्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥१४॥

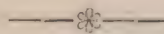
—मनुस्मृतिः

आर्य्यसर्वस्व-(पुराण)-सम्मतं पितृसर्वस्वरूपोपवर्णनम्

पितॄणां सम्भवं राजन् ! कथ्यमानं निबोध मे ।
 पूर्वं प्रजापतिर्ब्रह्मा सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥१॥
 एकाग्रमानसः सर्वास्तिन्मात्रा मनसा बहिः ।
 कृत्वा परमेकं ब्रह्म ध्यायन् सर्वेषु रूपकैः ॥२॥
 तस्यात्मनि तदा योगं गतस्य परमेष्ठिनः ॥
 तन्मात्रा निर्य्ययुर्देहाद् धूमवर्णकृतत्विषः ॥३॥
 'पिबाम' इति भाषन्तः सुरां सोममितोऽसकृत् ॥
 ऊर्ध्वं जिगमिषन्तो वै अधःसंस्थास्तपस्विनः ॥४॥
 तान् दृष्ट्वा सहसा ब्रह्मा तिर्य्यक्संस्थास्तदोमुखान् ॥
 भवन्तः पितरः सन्तु सर्वेषां गृहमेधिनाम् ॥५॥
 ऊर्ध्ववक्त्रास्तु ये तत्र ते नान्दीमुखसंज्ञिताः ॥
 इत्युक्त्वा तु तदा ब्रह्मा तेषां पन्थानमाकरोत् ॥
 दक्षिणायनसंज्ञन्तु पितॄणान्तु पितामहः ॥६॥
 तूष्णीं ससर्ज भूतानि तमूचुः पितरस्ततः ॥
 वृत्तिं नो देहि भगवान् ! यथा विन्दामहे सुखम् ॥७॥

ब्रह्मोवाच

अमावास्यादिनं वोऽस्तु तस्यां कुश-तिलो-दकैः ॥
 तर्पिता मानुषैस्तृप्तिं परां गच्छत नान्यथा ॥८॥
 तिला देयास्तथैतस्यामुपोष्य पितृभक्तिः ॥
 परमं तस्य सन्तुष्टाः परं यच्छत मा चिरम् ॥९॥



प्रवर्तन्ते वराः केचिद्देवानां सोमवर्द्धनाः ॥
 ते मरीच्यादयः सुताः सप्त स्वर्गे ते पितरः स्मृताः १० ॥
 चत्वारो मूर्त्तिमन्तो वै त्रयस्त्वन्ये ह्यमूर्त्तयः ॥
 तेषां लोकनिसर्गञ्च विस्तरेण निबोध मे ॥ ११ ॥
 धर्ममूर्त्तिधरास्तेषां त्रयोऽन्ये परमा गणाः ॥
 तेषां नामानि लोकाश्च कीर्त्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥
 लोकाः सन्तानकामाय यत्र तिष्ठन्ति भास्वराः ॥
 अमूर्त्तयः पितृगणास्ते वै पुत्राः प्रजापतेः ॥ १३ ॥
 विराजस्य प्रजाः श्रेष्ठास्ते 'वैराजा' इति स्मृताः ॥
 देवानां पितरस्ते हि तान् यजन्तीह देवताः ॥ १४ ॥
 एते वै लोकविभ्रष्टा लोकान् प्राप्य सनातनान् ॥
 पुनर्युगशतान्तेषु जायन्ते ब्रह्मवादिनः ॥ १५ ॥
 ते प्राप्य तां स्मृतिं भूयः सिद्धियोगमनुत्तमम् ॥
 चिन्त्ययोगगतिं शुद्धां पुनरावृत्तिदुर्लभाः ॥ १६ ॥
 एतेऽस्मिन् पितरः श्राद्धे योगिनां योगवर्द्धनाः ॥
 आप्यायितास्तु ते पूर्व्वं येऽपि योगबले रताः ॥ १७ ॥
 तस्मात् श्राद्धानि देयानि योगिनां योगिसत्तमैः ॥
 एष वै प्रथमः सर्गः सोमपानमनुत्तमः ॥ १८ ॥
 एते त एकतनवो वर्तन्ते द्विजसत्तमाः ॥
 भूर्लोकवासिनां याज्या भुवर्लोकनिवासिनः ॥ १९ ॥
 स्वर्गलोका मरीच्याद्यास्तेषां याज्या महर्गताः ॥
 कल्पवासिकसंज्ञानां तेषामपि जने स्थिताः ॥ २० ॥
 सनकाद्यास्ततस्तेषां वैराजास्तपसि स्थिताः ॥
 तेषां सत्यगताः प्रोक्ता इत्येषा पितृसन्ततिः ॥ २१ ॥
 सप्तधा सप्तलोकेषु आदिमन्वन्तरक्रिया ॥
 अन्येषां वसवः साध्या रुद्रादित्याश्विनाविति ॥ २२ ॥

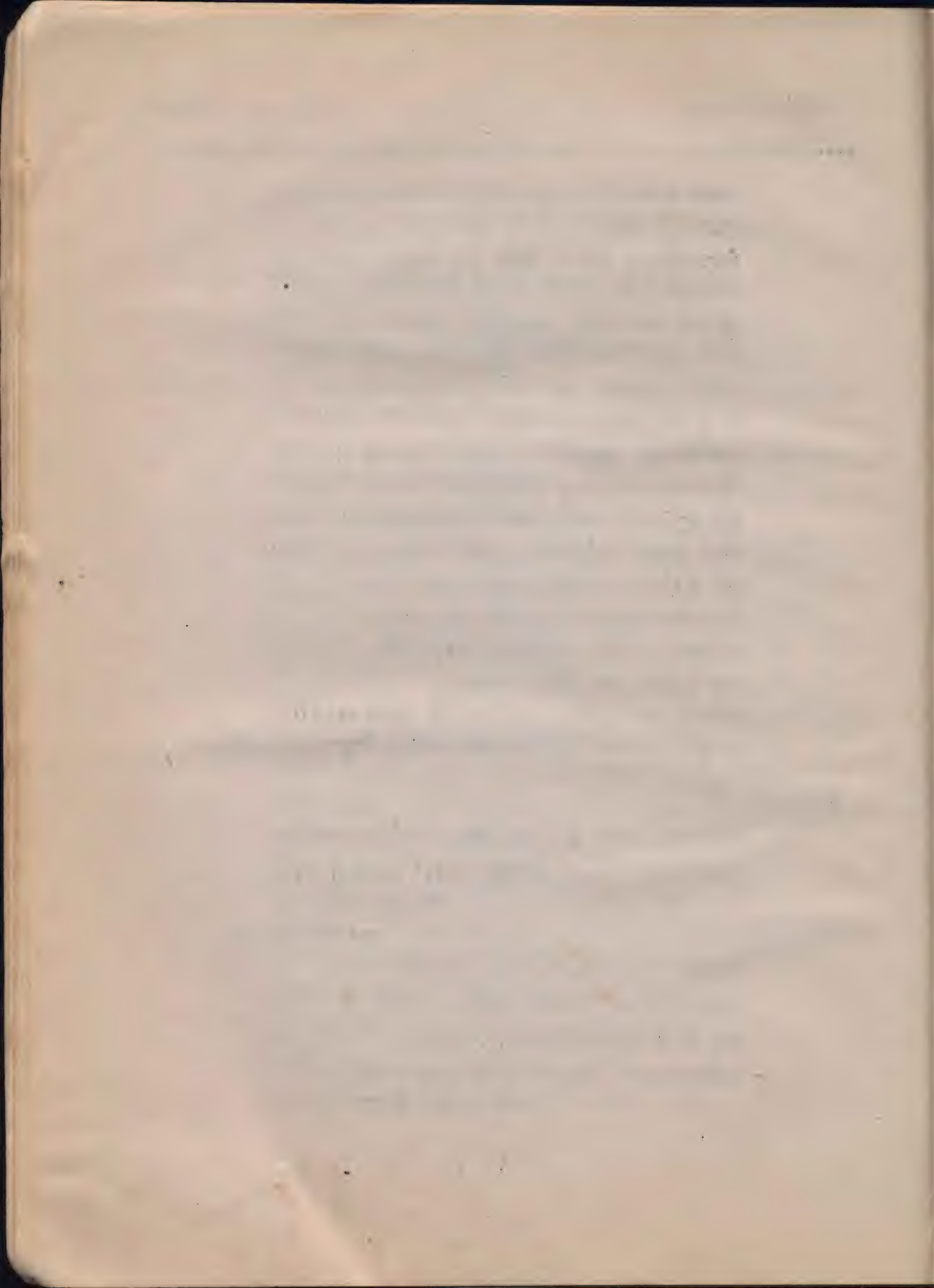
अग्रतः सर्ववर्णानां साधारण्येन संस्थिताः ॥
 ऋषयश्च तद्रूपम्ना इति सप्तविधा गणाः ॥२३॥
 तेषां कल्यास्तु संजाता महती पितृसन्ततिः ॥
 अग्निष्वात्ताश्च मारीचा वैराजा बर्हिसंज्ञिताः ॥२४॥
 सुकाला नाम पितरो वसिष्ठस्य प्रजापतेः ॥
 तेऽपि याज्यास्त्रिभिर्वर्णैर्न शूद्रेण पृथक् कृतम् ॥२५॥
 वर्णत्रयाभ्यनुज्ञातः शूद्रः सर्वान् पितृन् यजेत् ॥
 न तु तस्य पृथक् सन्ति पितरः शूद्रजातयः ॥२६॥
 मुक्तचेतनका ब्रह्मन् ! न दृश्यन्ते पितृष्वपि ॥
 विशेषशास्त्रदृष्ट्या तु पुराणानाञ्च दर्शनात् ॥२७॥
 एवं ऋषिस्तुतैः शास्त्रैर्ज्ञात्वा याजकसम्भवान् ॥
 स्वयं सृष्ट्या स्मृतिर्लब्धा पुत्राणां ब्रह्मणा ततः ॥२८॥
 परं निर्वाणमापन्नास्तेऽपि ज्ञानिन एव च ॥
 वैश्यादीनां कश्यपाद्या वर्णानां वसवादयः ॥२९॥
 अविशेषेण विज्ञेया गन्धर्वाद्या अपि ध्रुवम् ॥
 एष ते पैतृक सर्ग उद्देशेन महामुने !
 कथितो नान्त एवास्य वर्षकोट्या हि दृश्यते ॥३०॥
 (प्रीयतामनया पितृस्वरूपवर्णनात्मिकया पितृस्तुत्या श्राद्धदेवता)

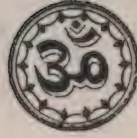
सर्वान्ते च—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आयुः पितरो न मर्त्याः ।
 ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा “महाँ” स्तस्मै ते काम-
 नम इत् कृणोमि ॥

अथर्वसंहिता ६।२।१६।

दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां, वेदाः—सन्ततिरेव च ।
 श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्तु ॥
 अन्नं च नो बहुभवेदतिथींश्च लभेमहि ।
 याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिश्म कञ्चन ॥
 गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम् !





खण्डचतुष्टयात्मक “श्राद्धविज्ञान”-ग्रन्थान्तर्गत

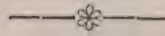
‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’

प्रथमखण्ड

१

पितृन्मस्ये निवसन्ति साक्षाद्ये देवलोके च तथान्तरीक्षे ॥
महीतले ये च सुरादिपूज्यास्ते मे प्रतीच्छन्तु मयोपनीतम् ॥१॥
पितृन्मस्ये परमात्मभूता ये वै विमाने निवसन्ति मूर्त्ताः ॥
यजन्ति यानस्तमलैर्मनोभिर्योगीश्वरा क्लेशविमुक्तिहेतून् ॥२॥
पितृन्मस्ये दिवि ये च मूर्त्ताः स्वधाभुजः काम्यकलाभिसन्धौ ॥
प्रदानशक्ताः सकलेप्सितानां विमुक्तदा येऽनभिसहितेषु ॥३॥

—श्रीमार्कण्डेयपुराणे







॥ ओंत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

श्राद्धविज्ञान [आत्मविज्ञानोपनिषत्]

मङ्गलपाठ

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं ।

न ऋते त्वत्क्रियते किञ्चनारे महामार्कं मघवञ्चित्रमर्चं ॥१॥

—ऋक्सं० १०।११२।६

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।

वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥२॥

तै० ब्रा० २।८।८।४

हे गणपते ! आप गणों में (महद्गणों, तथा स्तोतृगणों में) विराजिए, क्योंकि (विद्वान्) लोग आप ही को कवियों में श्रेष्ठतम मेधावी समझते हैं। अपिच बिना आपके (अनुग्रह के) लौकिक, अथवा वैदिक, कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता (इसलिए प्रत्येक कार्य के आरम्भ में आपका प्रथमस्मरण नितान्त अपेक्षित है)। हे महनीय गणपते ! “त्रिवृत् (६), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३)” इत्यादि विविध वाङ्मयस्तोमों से युक्त, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो हमारा यह वाङ्मयस्तोम (श्राद्धविज्ञान) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें ॥१॥

(१) “८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ अश्विनीकुमार” भेदभिन्न ३३ यज्ञिय आग्नेय देवदेवता, यच्चयावत् (२) सौम्यदेवता, (३) कर्मदेवता, (४) आत्मदेवता, (५) अभिमानी देवता, (६) पुरुषविध-चेतन (मनुष्य) देवता, (७) मन्त्रदेवता, (८) चान्द्रदेवता, ये अष्टविध देवता एकमात्र वाक्तरु को

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।

सा नो जुषाणोपयज्ञमागादन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥३॥

—तै० ब्रा० २।८।८।५

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं धना नृभिः ।

देवानां य पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥४॥

—ऋक्सं० २।२६।३।

आधार बना कर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् 'देवपात्रं वा यदेव वषट्कारः' के अनुसार वाङ्मय वषट्कार ही इनकी आधारभूमि है । २७ गन्धर्व, "पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज" भेदभिन्न ५ पशु, "अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज" भेदभिन्न चतुर्विध मनु, ये सब (भी) वाक्त्व को प्रतिष्ठित बना कर ही जीवित हैं । 'रोदसी-क्रन्दसी-संयती' नामक त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप, "भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः-सत्यम्" इन सात लोकों की समष्टिरूप सम्पूर्ण भुवन (लोक) वाक्-सूत्र में ही प्रोत हैं । इस प्रकार देवता, गन्धर्व, पशु, मनु, लोक, आदि रूप से जो वाक् 'अथो वागेवेदं सर्वम्' के अनुसार सर्वत्र व्याप्त हो रही है, 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस वाङ्मय पितृयज्ञलक्षण आद्विज्ञान निर्माण में) हमारी प्रार्थना सुनें ॥२॥

"अक्षरमिति [(१) अ-(२) क्ष-(३) रम्-इति] व्यक्षरम्" (तां० म० ब्रा० १०।५।१०) "वाग्-इत्येकाक्षरम्"—"एकाक्षरायै वाक्" इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तों के अनुसार वाग्रूप एकाक्षर ब्रह्म, किवा एकाक्षररूप वाग्ब्रह्म ऋतत्व (प्राणतत्त्व) से सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण 'ऋतस्य प्रथमजा' नाम से प्रसिद्ध है । ऋत की प्रथमजा यह वाग्देवी अनन्त वेदों की जननी है, अमृत (सोम) की उद्भवभूमि है । ऐसी यह वाग्देवी अमृत की वर्षा करती हुई (पितरप्राणतर्पक इस) वाग्यज्ञ में पधारे । अपिच हमारी (अपने अर्थविवर्त्त द्वारा) रक्षा करने वाली वाग्देवी हमारी यह वाङ्मयी प्रार्थना सुने का अनुग्रह करे ॥३॥

(आपोमय-पारमेष्ठ्यमण्डल में प्रतिष्ठित 'पवित्र' नाम से प्रसिद्ध आङ्गिरस-आग्नेय-देवताओं का तृप्तिकारक ब्रह्मणस्पति-सोम आग्नेय-देवाहुति होने से देवमूर्ति है, एवं स्वस्वरूप से—सौम्यरूप से—पितरप्राणात्मक है) इस प्रकार आग्नेय देवताओं, तथा सौम्य पितरों के पालयिता (आवासभूमिलक्षण) इस परमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति का जो यजमान हविर्द्रव्य से यजन करता है, वह "सर्वमापोमयं जगत्-लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः" के अनुसार आपोमय सम्पूर्ण लोकों से (जनसे-लोकस्तु भुवने जने), सम्पूर्ण प्रजा

अन्वारभेथामनुसरभेथामेतं लोकं श्रद्धधानां सचन्ते ।

यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥५॥

—अथर्व सं० ६।१२।३।

एतद्वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।

अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिल्लोके श्रद्धधानेन दत्तः ॥६॥

—अथर्व सं० ६।५।६६

से, अपने आप से, अपने पुत्रादिवंशजों से, तथा अपने सैवकवर्ग से अभीष्ट सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है । ब्रह्मणस्पति द्वारा पारमेष्ठ्य-अग्नेय-देवदेवता, तथा सौम्य-पितृदेवता, दोनों के यजन से यजनकर्त्ता सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी बन जाता है, यही मन्त्रार्थ निष्कर्ष है ॥४॥

हे दम्पती ! (यजमान, तथा यजमानपत्नी) आप दोनों परलोकहितसाधक कर्म को, तथा कर्म द्वारा प्राप्तव्य परलोक-फल को अपना लक्ष्य बना कर कर्म का आरम्भ कीजिए, आरम्भ कर्म में मनसा-वाचा-कर्मणा संयुक्त हो जाइए, क्योंकि देव-पितृयजनात्मक कर्म से प्राप्त होने वाले परलोक-फल को लक्ष्य बना कर ही, इस इन्द्रियातीत परलोकफल पर श्रद्धा करने वाले श्रद्धालुजन ही कर्म का अनुगमन करते हैं । इसलिए आप भी श्रद्धापूर्वक देवताओं, तथा पितरों का यजन कीजिए । आप दोनों के लिए स्थालीपाकादिलक्षण सुसंस्कृत, जो पक्व अन्न हविरूप से अग्नि में प्रक्षिप्त हुआ है, उसकी रक्षा के लिए आप प्रयत्नशील बनिए । अर्थात् अग्नि में प्रदत्त आहुतिद्रव्य द्वारा 'यावद्वित्तं तावदात्मा' के अनुसार आपके लिए परलोक-प्रतिष्ठात्मक जिस सुसंस्कृत दैवात्मा का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, उसे अपने श्रद्धाकर्म से आप सुरक्षित रखिए ॥५॥

जो यजमान अपने पिण्डपितृयज्ञ में अनन्य श्रद्धापूर्वक ब्रह्मौदनलक्षण 'पञ्चौदन' द्रव्य की आहुति देता है, उसकी इस प्रदत्त आहुति से इस भूलोक के अतिविदूर प्रतिष्ठित 'तृतीयद्युनाम' से प्रसिद्ध सौम्य-पितरप्राणमय पारमेष्ठ्यलोक से सम्बन्ध रखने वाली पितृज्योति प्राप्त हो जाती है, जो कि पितृ-ज्योति स्वगत २८ कल पितृसहोभाग द्वारा सप्तपुरुषपर्यन्त सन्तानभाव से वितत होती हुई (सन्तानभाव में परिणत होती हुई) लोकप्राप्तिबाधक तमःपुञ्जों का एकान्ततः विनाश कर देती है । पिण्डपितृ-यज्ञात्मक श्राद्धकर्म श्रद्धापूर्वक किये जाने से तृतीयद्युनिवासी पितरों का ज्योतिर्भाग सहोरूप से शुक्र में प्रतिष्ठित हो जाता है, एवं तद्द्वारा होनेवाली सन्तानपरम्परा से लोकप्रतिष्ठा सुरक्षित रहती है, यही तात्पर्य है ॥६॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥७॥

—ऋक् सं० १०।१५।१।१।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।

श्रद्धां हृदययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥८॥

—ऋक् सं० १०।१५।१।४।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।

श्रद्धां सूर्यस्य निमृचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥९॥

ऋक् सं० १०।१५।१।५।

ऋत्विक्लोग अपने देवयज्ञ-कर्म में श्रद्धा के द्वारा ही सौर-दिव्याग्नि का आकर्षण कर इसके समावेश से इन्द्र आहवनीयाग्नि का समिन्धन किया करते हैं, श्रद्धा से इस अग्नि में ज्वालोकस्थ प्राण-देवताओं के लिए आहुति दी जाती है, ऐसी श्रद्धा का, जो कि ऐश्वर्य के शिरोभाग में (ऐश्वर्यात्मक श्रीभाव की प्रतिष्ठा रूप सूर्य के ऊर्ध्वभाग में सौम्य परमेष्ठी में) प्रतिष्ठित है, मैं अपनी इस वाणी द्वारा (इस श्रद्धामय-श्राद्धविज्ञानात्मक निबन्ध-रचनाकर्म में) विस्तार कर रहा हूँ ॥७॥

यज्ञकर्त्ता यजमान (मनुष्य), तथा पार्थिव प्रवर्ष्यभाग से यजन करने वाले दिव्यप्राणात्मक देवता वायु से (वायुद्वारा प्रदत्त आहुतिद्रव्य से) सुरक्षित रहते हुए (अपनी इस रक्षा के लिए प्राण-वाय्वात्मिका) इस श्रद्धा की ही उपासना किया करते हैं । सम्पूर्ण प्राणी हृदयावच्छिन्न मन के संकल्प से (संकल्पसिद्धि के लिए) इसी श्रद्धा की उपासना किया करते हैं । क्योंकि श्रद्धा से ही अभीष्ट-फलसिद्धि होती है, (अतएव सब इसी श्रद्धा का अनुगमन करते हैं) ॥८॥

त्रिपवणात्मक अपने कर्मस्वरूप सम्पादनानुगत अहःकाल में (प्रातः से सायं पर्यन्त) हम प्रातःसवनात्मक प्रातःकाल में भी इसी श्रद्धा की आराधना करते हैं, माध्यन्दिनसवनात्मक मध्याह्न में भी इसी श्रद्धा का अनुगमन करते हैं, एवं सायंसवनात्मक सूर्यास्तकाल में भी इसी का अनुगमन करते हैं । हे श्रद्धे ! आप तत्तत् कर्मानुष्ठानों के प्रति हमें श्रद्धावान् बनाइए (यही उस श्रद्धा से हमारी वित्त-प्रार्थना है) ॥९॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।

प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥१०॥

—ऋक्सं० १०।१५।१।

श्रद्धा देवानधिवस्ते “श्रद्धाविश्वमिदं जगत्” ।

श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि ॥११॥

—तै० ब्रा० २।८।८।६।

पितरो मा विश्वमिदं च पृथिनिमातरो मरुतः स्वर्काः ।

ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रास्ते नो देवाः सुहवाः शर्म यच्छत ॥१२॥

—ऐ० आ० ५।१।१।

हे श्रद्धे ! दान देने वालों के लिए, तथा दान देने की इच्छा रखने वालों के लिए, दोनों के लिए आप अभीष्टफल प्रदान करें। हे श्रद्धे ! आप मेरा, मत्सम्बन्धी भोगार्थी बन्धुओं का, यज्ञकर्त्ता यजमानों का, सबका कल्याण करें (आपसे यही हमारी विनम्र प्रार्थना है) ॥१०॥

उक्त लक्षण यह सौम्य श्रद्धातत्त्व अपने सोमात्मक आहुतिभाव से सदा आग्नेय प्राणात्मक यज्ञिय देवदेवताओं का अनुगामी बना रहता है (श्रद्धा द्वारा ही देवप्राण की अध्यात्म में प्रतिष्ठा होती है) । अपने आपोमय पारमेष्ठ्य ‘श्रु’ लक्षण सत्यरूप से लोकमृष्टि की प्रवर्तिका भी यही श्रद्धा है, एवं पञ्चाहुति-क्रम से लोकप्रतिष्ठ प्रजामृष्टि की मूलप्रभवा भी यही श्रद्धा है। अतएव यह सम्पूर्ण विश्व (स्थावर मृष्टि) भी श्रद्धामय है, एवं सम्पूर्ण जगत् (जङ्गमलक्षणा प्राणिमृष्टि) भी श्रद्धात्मक ही है। हृदयस्थ सौम्य मन में चान्द्रनाडी द्वारा प्रतिष्ठित होती हुई यही श्रद्धा मानस कामनाओं की जननी है। ऐसी सर्वरूपा इस श्रद्धा को इस वाङ्मय (श्राद्धविज्ञानरूप) हविःप्रदान द्वारा मैं समृद्ध कर रहा हूँ ॥११॥

अग्निष्वात्ता-सोमसत्-बर्हिषत् नामक अन्नपितर, आज्यपा-सोमपा-हविर्भुक्-नामक अन्नादपितर, तथा ‘सुकाली’ नाम के अनुभयपितर मेरी, तथा सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करें। सूर्यरश्मिगत पृथितत्त्व से उत्पन्न पितरप्राण-सहयोगी महद्देवता भलीभांति पूजनीय हैं, (क्योंकि इन्हीं के द्वारा पितृकर्म सम्पन्न होता है) । साथ ही अग्निद्वारा आहुतिग्रहण करने वाले ‘हुतादे’ देवता, तथा यज्ञव ‘अहुतादे’ देवता, दोनों स्वसहयोगी महद्गणों के साथ, एवं महद्गणावच्छिन्न सर्वविध पितरों के साथ प्रार्थना पूर्वक इस वाग्यज्ञ में बुलाए जाते हुए हमारे लिए लोकसम्पत्-अवाप्तिलक्षण सुख प्रदान करें।

श्रोष्ठापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पविः ।

सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेन् ॥१३॥

ऐ० आ० ३।२।५।

कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य-यक्ष-राक्षस-गन्धर्व-पिशाच-इन्द्र-पितर-ब्रह्म-प्रजापति, आदि यन्त्रयावत् (चतुर्दशविध) भूतसर्गों के वाङ्मय प्रपञ्च की अधिष्ठात्री ('पितरो वाक्चमिच्छन्ति' के अनुसार पितृप्राणाकर्षिणी), वत्साच्छादन की भांति श्रोष्ठद्वय से सुरक्षित, छिद्ररहित-अतएव वज्रसदृश दृढ दन्तपङ्क्ति से घिरी हुई यह वाग्देवी इस वाङ्मयज्ञ (श्राद्धविज्ञान-निबन्ध) में मुझ से प्रिय-हित-मित-सत्य-वाणी का प्रयोग करावे ॥१३॥

॥ इति मङ्गलपाठः ॥

‘किमपि प्रास्ताविकम्’

जिस १‘श्रद्धा’ तत्त्व की आहुति से २‘सोम’ ३‘वृष्टि’ ४‘अन्न’ ५‘रेतः’ क्रम से पाचवीं आहुति में पुरुषसृष्टि का विकास हुआ है ❀, जो ‘श्रद्धा’ तत्त्व अपने आपोमय रूप से सम्पूर्ण विश्व-तथा विश्वप्रजापति का उपादान कारण है, जो ‘श्रद्धा’ तत्त्व त्रयीलक्षण सत्यमूर्ति-प्रतिष्ठाब्रह्म के साथ युक्त हो कर सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस ‘श्रद्धा’ तत्त्व की आहुति श्रद्धा-संस्मरण— से दिव्यलोकस्थ प्राणदेवता अपने सम्बत्सराग्नि को समिद्ध रखने में समर्थ हो रहे हैं, द्युलोकस्थ सूर्य-केन्द्र से भू-केन्द्र पर्यन्त वितत जिस ‘श्रद्धा’ सूत्र के द्वारा द्युलोकस्थ प्राणदेवता, तथा द्युलोकस्थ (‘प्रद्यौ’ नामक द्युलोक में प्रतिष्ठित) पितर भूलोकस्थ यजमानों से प्रदत्त स्व-स्व आहुतिद्रव्य प्राप्त करने में समर्थ बन रहे हैं, जिस ‘श्रद्धा’ तत्त्व के आधार पर अग्नीषो-मात्मक पाञ्चमहाभौतिक विश्व का स्वरूपसम्पादक आधिदैविक (प्राकृतिक) अग्नीषोमीय अग्निहोत्र प्रतिष्ठित है, जिस ‘श्रद्धा’ तत्त्व की अपनी स्वरूपरक्षा के लिए वायु से सुरक्षित (वायुमय-प्राणमय) देवता निरन्तर उपासना किया करते हैं, जो ‘श्रद्धा’ हृदयस्थ मन में प्रतिष्ठित होती हुई सर्वविध कामनाओं की जननी बन रही है—जो ‘श्रद्धा’ अपने ‘श्रत्’ लक्षण सत्यधर्म से सत्यभाव की मूलप्रतिष्ठा बन रही है, जो ‘श्रद्धा’ सूत्र अवरपुरुषों के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के द्वारा चन्द्रोर्ध्वभाग में प्रतिष्ठित प्रत-परपुरुषों के महानात्माओं को तृप्त कर पिण्डदान द्वारा ‘श्राद्धकर्म’ की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है, जिस ‘श्रद्धा’ तत्त्व के-संस्काराभाव-अशिक्षा-कुशिक्षा-परशिक्षा-निषिद्धकर्मनि-गमन-इत्यादि कारणों से-अभिभूत हो जाने के कारण मानववर्ग सत्यधर्म से विमुख से हो जाता है,—

❀—“इति तु पुञ्चाम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” —छां० उप० ८।६।१।

वैदिक विज्ञान के अस्तप्राय हो जाने से, कुछ एक शताब्दियों से पुष्पित-पल्लवित होने वाले वर्णाश्रमधर्मविरोधी 'सन्तमत' के आक्रमण से, आर्यधर्मविलुप्ति से, व्याजधर्मानुगामी अर्वाचीन वेदभक्तों की काल्पनिक वेदव्याख्याओं से, परराजतन्त्रानुगता आर्यसंस्कृतिविरोधिनी परशिक्षा के प्रबल आक्रमण से, सर्वोपरि अचिन्त्याप्रमेय कालपुरुष की महिमा के अनुग्रह से श्रद्धानुगत श्राद्धतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ, 'श्राद्धैतिकर्तव्यता' से एकान्ततः पराङ्मुख, भ्रान्त भारतीयों के मानसक्षेत्र में श्राद्धसूत्र प्रतिष्ठित करने के लिए 'श्राद्धविज्ञान निबन्ध' के आरम्भ में उसी विश्वरूपा 'श्रद्धादेवी' का संस्मरण करते हुए 'श्राद्धविज्ञान' आरम्भ किया जाता है।

ब्राह्म-अहोरात्र की एकोत्तरसप्तति (७१) चतुर्युगी में से प्रक्रान्त अष्टाविंशतितमा (२८ वीं) चतुर्युगी के सत्ययुग आरम्भ काल से कलियुग के आज के भोग्यकाल से लगभग ६०-७० वर्ष पहले तक भारतीय आस्तिक आर्यप्रजा का 'श्राद्धकर्म' के सम्बन्ध में जो श्रद्धा-आर्यप्रजाभिमत श्राद्धकर्म— विश्वास था, दुर्भाग्य से इन अतीत ६०-७० वर्षों से किसी एक आकस्मिक कलिवात्याहित भ्रूभावात् से वह शिथिल हो गया। फलतः 'देवकार्यं द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते' के अनुसार अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासादि लक्षण देवकार्य से भी कहीं विशेष महत्त्व रखनेवाला पिण्डपितृयज्ञात्मक पितृकार्य परप्रत्ययनेय कतिपय महाशयों की दृष्टि में अश्रद्धेय बन गया, जिसका दुष्परिणाम सङ्ग-दोष से आस्तिकश्रद्धालु प्रजावर्ग को भी भोगना पड़ रहा है। आर्यप्रजा का श्राद्धकर्म की इतिकर्तव्यता के सम्बन्ध में शास्त्राभिमत जो चिरन्तन श्रद्धा-विश्वास है, उसका निम्नलिखित शब्दों में अभिनय किया जा सकता है—

“स्थूलशरीर परित्यागानन्तर आतिवाहिक-अङ्गुष्ठमात्र-सूक्ष्मशरीर धारण कर—‘ये वै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति’ (कौपीतिकि० उप० १।२।२।) इत्यादि कौपीतिकि-सिद्धान्तानुसार प्रेतसंज्ञक ‘प्रत्यगात्मा’ (भोक्तात्मा) कर्मफल भोगने से पहले एक बार चान्द्रसम्बत्सरानुगत १३ महीनों में चन्द्रलोक में पहुँचता है। इसके साथ साथ ही आकृति-प्रकृति-अहंकृतिभाव-त्रयी का अधिष्ठाता, सत्त्व-रज-स्तमोगुणक, चतुरशीति (८४) कल ऋण-धनात्मक पित्र्य-सहःपिण्डों से नित्ययुक्त, शुक्रप्रतिष्ठ, ‘पितर’ संज्ञक ‘महानात्मा’ भी स्वप्रभव चन्द्रलोक के उर्ध्व भाग में उसी एक चान्द्रसम्बत्सर में प्रतिष्ठित हो जाता है। उत्तरायणानुगता स्वर्गलोकगति, तथा दक्षिणायनानुगता नरकलोकगति, दोनों आत्मगतियों के विभाजन, अतएव ‘एतद्वै लोकस्य द्वारं, यच्चन्द्रमाः’ (कौ० उप० १।२।३) इस श्रुति के अनुसार ‘द्वार’ (उभयलोकद्वार) नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा में जब प्रत्यगात्मा तथा महानात्मा, दोनों प्रेतात्मा पहुँच जाते हैं, तो अनन्तर महानात्मा तो स्वप्रतिष्ठालक्षण विधूर्ध्व भाग में ही प्रतिष्ठित रह जाता है, एवं कर्मभोक्ता प्रत्यगात्मा शुभाशुभ-कर्मफल भोगार्थ शुभाशुभ उत्तर-दक्षिण-मार्गों में से किसी एक मार्ग को स्वगति का निमित्त बनाता हुआ ‘देही कर्मसंगति गतः’ के अनुसार लोकान्तरानुगामी बन जाता है।

परलोकात्मक चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित पिता-पितामह-प्रपितामहादि के महानात्मा ही ‘प्रेत-पितर’ कहलाए हैं। इन्हें ही ‘मृतपितर’ कहा गया है। इन मृतपितरों के लिये, दूसरे शब्दों में परलोकगत

प्रेतसंज्ञक स्ववंशजों के लिये श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करना ही श्राद्धकर्म है। इस सम्बन्ध में आर्षप्रजा का यह दृढ़ विश्वास है कि, शास्त्रोक्त पद्धति से पुत्र-पौत्रादि वंशजों के द्वारा प्रदत्त पिण्ड-रस इन्द्रियातीत श्रद्धा-सूत्र द्वारा परलोकस्थ पितृ-पितामह-प्रपितामहादि की तृप्ति का कारण बनता है। प्रदत्त पिण्डरस (प्राणात्मकरस) से सबल बनता हुआ प्रेतात्मा पार्थिवाकर्षणजनित दुःख से युक्त अपनी 'अश्रुमुखा'वस्था को छोड़ता हुआ सुखपूर्वक चन्द्रलोक में पहुँच कर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है। 'गजच्छाया' से सम्बन्ध रहनेवाले कन्यागत-महालय-श्राद्धपक्ष में तत्तत् प्रेतपितरों की तत्तन्निधन-तिथियों में पुत्रादि द्वारा सम्पादित पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म से तत्तत् प्रेतपितर प्रतिवर्ण तृप्त हुआ करते हैं। श्राद्धान्न से तृप्त पितर श्रद्धासूत्र द्वारा भूपिण्डस्थ स्व-पुत्रादि के शुक्रस्थ पित्र्यसहः-पिण्डात्मक महानात्मा में जीवनीय-सन्ततिवितानात्मक-पित्र्यरस का आधान करते रहते हैं। इस आहित रस से प्रजातन्तुवितान अक्षुण्ण बना रहता है, फलतः वंशोच्छेद का अवसर नहीं आने पाता। जो अभिनिविष्ट परलोक जाते हुए, तथा परलोक में पहुँचे हुए प्रेतपितरों के निमित्त पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म नहीं करते, उनके प्रेतपितरों के पित्र्यसहः-पिण्ड क्षीण हो जाते हैं। उनके क्षीण हो जाने से तदभिन्न तत्पुत्रादि के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के पित्र्यसहः-पिण्ड क्षीण हो जाते हैं, शुक्र निर्बल हो जाता है। यही पिण्डक्षय इनके वंशोच्छेद का एक अन्यतम कारण बनता है। इस वंशोच्छिन्नि के साथ-साथ बुभुक्षित पितरों के अभिशाप से ये लोकसमृद्धि से भी वञ्चित रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, प्रजातन्तुवितान के लिये, तथा प्रेतात्मा को तृप्त कर उस तृप्ति के द्वारा उभयविध सौख्य प्राप्ति के लिये प्रत्येक श्रद्धालु श्रद्धानुसार परिग्रहों का संग्रह कर यथाविधि पिण्डानादि लक्षण श्राद्धकर्म का अनुगमन करता रहे। पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म के इन्हीं अतिशयों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

स्वर्ग-ह्यपत्य-सोजश्र-शौर्य-क्षेत्र-बलं तथा ।

पुत्र-श्रैष्ठ्यं च-सौभाग्यं-समृद्धि-मुख्यतां शुभाम् ॥१॥

प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनपि ।

अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम् ॥२॥

धनं वेदान् भिषक्सिद्धिं कुप्यं गा अप्यजाविकम् ।

अश्वानायुश्च विधिवद्यः श्राद्धं सम्प्रयच्छति ॥३॥

कृत्तिकादि-भरण्यन्तं स कामानानुयादिमान् ।

आस्तिकः श्रद्धधानश्च व्यपेतमदमत्सरः ॥४॥

वसुरुद्रादितिसूताः पितरः श्राद्धदेवताः ।
 प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितृन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥५॥
 आयुः, प्रजां, धनं, विद्यां, स्वर्गं, मोक्षं, सुखानि च ।
 प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पतामहाः ॥६॥

—याज्ञवल्क्यस्मृतिः आ० श्रा० १० ।

“गतानुगतिको लोको न लोकः पारमाधिकः” इस लोकसूक्ति से सम्बन्ध रखने वाली प्रचलित परिपाटी के अनुसार ग्रन्थारम्भ करने से पहले उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन करना आवश्यक हो जाता है । इसी आवश्यकता का अनुभव करते हुए हमें इस निबन्ध की आवश्यकता, सम्बन्ध में नाप्राप्त अप्रिय सत्य को लक्ष्य बनाते हुए निबन्ध रचना-कारणत्रयी तथा तत्सम्बन्ध में प्रथम कारण निदर्शन— का स्पष्टीकरण करना पड़ रहा है । उन तीनों कारणों में से प्रथम कारण की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

श्राद्धकर्म के आर्षप्रजाभिमत स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्व में जो कुछ कहा गया है, धार्मिक जगत सदा से उसी वक्तव्य का अनुगमन करता आ रहा है । पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म की वैदिकता में उसे कभी सन्देह नहीं हुआ । परन्तु विगत अर्द्धशताब्दी से इस आवश्यकतम वैदिक कर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोह होने लगे हैं । यों तो ऐसे ऐसे परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में साधारण-अज्ञजनों को सदा से ही व्यामोह होता चला आ रहा है, फलस्वरूप भारतीय आर्षधर्मानुगता (सनातनधर्मानुगता) आर्षप्रजा को सदा से ही सामयिक धर्मविप्लवों का सामना करना पड़ता है । तथापि वर्तमान शताब्दी का धर्मविप्लव अपना एक विशेष महत्त्व रखता है । साथ ही विगत शताब्दियों में परमतवादियों के धर्म पर जितने भी आक्रमण हुए हैं, उन सबकी अपेक्षा आज का आक्रमण अपेक्षाकृत कहीं अधिक भयावह बन रहा है । कारण यही है कि, आज तक इस मानवधर्म पर केवल बाह्य आक्रमण हुआ था, दूसरे शब्दों में अब तक सनातनधर्म को विधर्मियों का ही सामना करना पड़ा था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसे स्वधर्मानुयायियों के ही आक्रमण का लक्ष्य बनना पड़ रहा है, एवं इसी दृष्टि से यह आक्रमण अतीत आक्रमणों की तुलना में कहीं ज्येष्ठ बन रहा है । इस धार्मिक विप्लव के जहाँ अन्यान्य कई एक सामान्य कारण हैं, वहाँ यदि हम भूल नहीं कर रहे, तो सर्वश्री स्वामी दयानन्दजी ही एक मुख्य कारण माने जा सकते हैं । ‘अनृतसंहिता वै मनुष्याः’ (शत० १।१।१।१) इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जन्मतः अनृतसंहित होते हैं, स्वप्रभव ऋत के अनुग्रह से भ्रान्ति हो जाना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है । अतीतानागतज्ञ, विदितवेदितव्य, साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों की दिव्य दृष्टि जहाँ सर्वथा निर्भ्रान्त होती है, वहाँ केवल बाह्यदृष्टि के अनुगामी सामान्य मनुष्य इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में केवल अपनी बाह्यदृष्टि के आधार पर ‘इदमित्थमेव’ निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं । यदि वे स्वकल्पना के आधार पर इन परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में हठात् कुछ निर्णय करने की अनाधिकार

चेष्टा करने लगते हैं, तो उनकी यह चेष्टा आर्षप्रजा की में सर्वथा भ्रान्त, अतएव अप्रामाणिक ही उद्घोषित होती है। तत्त्वतः स्वामीजी मनुष्य थे, उनके पास ऋषिदृष्टि का आत्यन्तिक अभाव था। अतएव अपनी विशुद्ध बाह्यदृष्टि के आधार पर उन्होंने बाह्यजगत से सम्बन्ध रखने वाली सामाजिक त्रुटियों के प्रति जहां हिन्दू-जाति का उपकाराभास किया, वहां अपने मानव मुलभ अनाप अनृतभाव के कारण वेदशास्त्रसिद्ध धार्मिक-इतिकर्तव्यताओं के (वेदसिद्ध प्रतिमापूजन, अवतारवाद, श्राद्ध, षोडशसंस्कार, आदि के) सम्बन्ध में स्वयं वेदशास्त्र को ही आधार बना कर अपनी विशुद्ध-अनाप-अनृतभावापन्ना-कल्पना के आधार पर कुछ एक ऐसी भयङ्कर भूलें कर डाली हैं, जिनके प्रभाव से क्रियात्मक सनातनधर्म का एक प्रकार से गला घुट गया है। यह कौन जानता था कि, प्राच्य आर्षधर्म, आर्षसंस्कृति, आर्षसभ्यता, आदि प्राच्यविभूतियों के अन्तःप्रकाश को अपने चाकचिक्चयुक्त बाह्यप्रकाश से अभिभूत करने वाले पाश्चात्यशिक्षात्मक सौभाग्यसूर्य को पूर्णरूपेण विकसित होने के लिए एक भारतीय वेदभक्त ब्राह्मण के ही द्वारा इस प्रकार का सुपरिष्कृत धरातल उपलब्ध हो जायेगा। आत्म-परमात्मसत्ताज्ञान से वञ्चित, प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले वेदविरोधी चार्वाक लोग अज्ञानतावश—

“मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थ पाथेयकल्पना ॥”*

इत्यादि जिन कुतर्कमूलक कारणाभासों को सामने रखते हुए ‘पिण्डदानादिलक्षण’ श्राद्धकर्म का उपहास किया करते हैं, स्वामीजी ने उसी चार्वाकमूलक नास्तिकवाद जैसे जघन्यवाद का पोंबण करते हुए मृतपितृनिमित्तक पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म का खण्डन करने का दुस्साहस किया है। चार्वाकमत की समालोचना करते हुए, उक्त श्लोक को चार्वाक मत में उद्धृत करते हुए, चार्वाक के इस कथन की पुष्टि करते हुए उत्तरपक्ष में आगे जाकर स्वामीजी कहते हैं—‘ब्राह्मणों ने प्रेतकर्म अपना जीविकार्थ बना लिया है, परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है’ (देखिये—सत्यार्थप्रकाश, १२ स०। चा० मतमीमांसा, २१ वां संस्करण, २६४ पृ०, षवीं पंक्ति) ।

इसी प्रकार आर्षसभ्यता के अनन्य पक्षपाती, अनुद्वेगकरी ऋषिभाषा के अपने आपको पृष्ठपोषक मानने वाले, किन्तु उसी चार्वाकमतमीमांसा में सुप्रसिद्ध वेदव्याख्याता श्रद्धेय महीधरादि वेदभाष्यकारों के प्रति—‘हां भांड धूर्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्तता है, वेदों की नहीं’ (सत्या० २६४ पृ०। १०, ११ पंक्तियां) इस प्रकार की अशिष्ट-असभ्य-भाषा का प्रयोग करते

ऊँमरे हुए प्राणियों की तृप्ति का साधन यदि श्राद्ध (श्राद्धकर्म में मृतपितरों के लिए प्रदत्त पिण्डादिरूप श्राद्धान्न) है, तो विदेश यात्रा करने वाले जीवित प्राणियों के लिए पाथेय (मार्ग के भोजन) की कल्पना व्यर्थ है। फिर तो जिस द्वार से परलोकगत मृतप्राणियों को भोजन पहुंचा दिया जाता है, उसी द्वार से विदेशस्थ प्राणियों को भी तृप्त किया जा सकता है।

हुए शिष्टतम उन्हीं स्वामीजी ने अपने विश्वविख्यात 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नामक ग्रन्थराज में पंच-महायज्ञान्तर्गत पितृयज्ञ का निरूपण करते हुए अपने निम्नलिखित वेदशास्त्रसम्मत,—हां विष्णु वेदशास्त्रसम्मत ?—उद्गार प्रकट किए हैं—

“तस्य (पितृयज्ञस्य) द्वौ भेदौस्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयो श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान् पितृंश्च तर्पयन्ति, सुखयन्ति, तत्तर्पणम् । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते, तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत् कर्म संघट्यते, नैव मृतकेषु । कुतः । तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् । तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसंनिकर्षात् सर्वमेतत् कर्तुं शक्यते ।”*

(ऋ० भा० भू० पितृयज्ञविषय)

उक्त निदर्शन से प्रकृत में बतलाना यही है कि, जन्मानुगता जाति के अनुग्राहक परम्परा प्राप्त शुभसंस्कारों की कृपा से 'श्राद्ध' शब्द से तो स्वामीजी को प्रेम अवश्य है । परन्तु वेद—तत्त्वानभिज्ञता-नुगत स्वाभाविक अनृतसंस्कार के अनुग्रह से श्रुति-स्मृतिशास्त्रसम्मत पिण्डदानादि-लक्षण मृत-प्रेतात्मानुगता चिरकाल से चली आने वाली श्राद्धेतिकर्तव्यता से आप सहमत नहीं हैं, एवं इस अपनी अमान्यता की मान्यता के सम्बन्ध में मुख्य कारण आप यह बतला रहे हैं कि “वेदशास्त्र में श्राद्ध का विधान नहीं है” । शास्त्राभिमत तर्क (सु) से सम्बन्ध रखने वाले वाद का अनुगमन 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' के अनुसार जहां तत्त्वनिर्णायक माना गया है, वहां शास्त्रविरुद्ध तर्क (कु) से सम्बन्ध रखने वाला वाद दूर से ही प्रणम्य है । अतएव ऐसे खण्डन-मण्डनात्मक वाद से हमारे अन्तर्जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रतिपाद्य-विषय का युक्ति, तर्क, विज्ञान, सर्वोपरि आप्तप्रमाण के आधार पर प्रतिपादन कर देना ही हमारे कर्त्तव्य की कृतकृत्यता है । ऐसी दशा में स्वामीजी के श्राद्धकर्मविषयक अशास्त्रीय कल्पित सिद्धा-

*“इस पितृयज्ञ के तर्पण, और श्राद्ध, नामक दो भेद हैं । जिस कर्म से (मनुष्य) विद्वानों, देवताओं, ऋषियों, तथा पितरों का तृप्त करते हैं, उन्हें मुख पटुं चाते हैं, वह सुख कर्म तर्पण है । एवं जिस कर्म से श्रद्धापूर्वक इनकी सेवा की जाती है, उसे श्राद्धकर्म समझना चाहिए । यह कर्म जीवित पितर आदि के सम्बन्ध में ही उत्पन्न है, मरे हुएों के लिए नहीं । कारण ? मृत पितर जब हैं ही नहीं, तो उनकी सेवा करना, उनके लिए किए गए कर्म की उनके न रहने से व्यर्थता भी है । इसलिए श्राद्ध, तर्पण का उपदेश विद्यमान (जीवित) पितरों के लिए ही हुआ है । इस स्थिति में सेवक, और सेव्य (स्वामी) के सामने रहने से (विद्यमान रहने से) सेवादि सब काम चरितार्थ हो जाते हैं ।”

न्ताभास का इस विज्ञानप्रधान-शास्त्रीय निबन्ध में उल्लेख करना यद्यपि सर्वथा असामयिक, साथ ही कुछ एक अभिनिविष्ट सन्मित्रों के लिए उद्देगकर था, तथापि किसी कारण-विशेष से ही हमें इस निबन्ध-रचना-कारण-निदर्शन में ऐसे अप्रिय सत्य का आश्रय लेना पड़ा है। वेदशास्त्रसम्मत आर्षधर्म से विरोध रखने वाले चार्वाकादि नास्तिक ही यदि पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म के विरोधी होते, तो कोई हानि न थी। क्योंकि उनकी सहजसिद्धा आसुरी बुद्धि सदा से ही शाश्वत देवामुरसंग्राम की भांति दिव्य कर्मों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करती आई है। हानि की क्या कथा, उस परिस्थिति में तो 'श्राद्धविज्ञान' का रचनाप्रयास भी अनावश्यक था। परन्तु जब हम अपने ही समाज में, अपनी ही जाति में श्राद्धकर्म के सम्बन्ध में विरोध पाते हैं, दूसरे शब्दों में एक ही वेदशास्त्र को प्रमाणाधार मानने वाला धार्मिक जगत् ही जब श्राद्धकर्म के सम्बन्ध में अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखता है, तो उस परिस्थिति में—'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः'* इस लौकिक न्याय के अनुसार साधारण तटस्थ जिज्ञासु मनुष्य सन्देह में पड़ जाते हैं।

अपने आपको 'सनातनधर्मबलम्बी' कहने वाले आर्ष-महानुभाव भी श्राद्धकर्म को वैदिक कर्म मान रहे हैं, एवं तदनुसार अनुगमन कर रहे हैं। उधर अपने आपको 'आर्यसमाजी' उद्घोषित करने वाले महाशय-गण भी श्राद्ध की वैदिकता में यथाकथञ्चित् निष्ठा रख रहे हैं। मानते दोनों हैं, परन्तु इस मान्यता के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न भिन्न हैं। एक (स०) कहते हैं—'मृतपितरों के लिए पुत्रादि का श्रद्धा-सूत्र द्वारा पिण्डप्रदान करना श्राद्ध है।' दूसरे (आ०) कह रहे हैं—'जीवित पितरों को अन्न-वस्त्रादि से श्रद्धा-पूर्वक तृप्त करना ही श्राद्ध है।' निर्विवाद है कि, इस मतविरोध ने, किंवा धर्म (सनातनधर्म), तथा मत (आर्यमत) की प्रतिस्पर्धा ने आज जनसाधारण को संशयास्पद बना रखा है। इस 'गृहकलह,' किंवा दो ग्रहों के पारस्परिक 'ग्रहकलह' को शांत करने के लिए ही इस निबन्ध की आवश्यकता समझी गई है।

हमारा यह विश्वास ही नहीं, अपितु बड़ निश्चय है कि, यदि पाठकों ने दोषदृष्टि से भी एकबार 'श्राद्धविज्ञान-निबन्ध' को आलोचान्त देखने का कष्ट उठाया, तो उनके श्राद्ध-कर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जायेंगे। अज्ञानता ही मतभेद की जननी है, मतभेद ही सामाजिक संगठन का विच्छेदक है, समाजविच्छेद ही राष्ट्रीय निर्बलता का प्रवर्तक है, एवं निर्बल राष्ट्र ही सर्वस्वविधातिका परतन्त्रता के पाश में बद्ध होता है, जिसका प्रत्यक्ष निदर्शन आज का परतन्त्र भारतवर्ष है। 'हम ज्ञानबल के अनुग्रह से निष्पक्षपात बनते हुए यथार्थस्थिति पर पहुँच कर परस्पर का विरोध छोड़ दें, विरोध-परिहार द्वारा अपने असंगठित समाज को सुसंगठित बनाते हुए स्वतन्त्रात्मान करने के अधिकारी बनें' श्राद्धविज्ञान-रचना की कारणावली में यही प्रथम कारण-निदर्शन है।

* "एक ही धर्म, किंवा धर्मों में स्थाणु, तथा पुरुषलक्षण अनेक विरुद्ध ज्ञानों का जब उदय हो जाता है, तो ऐसी दशा में—'स्थाणुर्वा वा' इत्याकारक सन्देह उत्पन्न हो जाता है।"

पञ्चभौतिक विश्व में जितने भी जङ्गम प्राणी हैं, उन सब में 'मनुष्य' प्राणी का स्थान सर्वोच्च माना गया है। इस सर्वोच्चता का एकमात्र कारण यही है कि, अन्य जङ्गम-प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में ज्ञानशक्ति विशेष मात्रा से विकसित रहती है। इसी ज्ञानशक्ति के प्रभाव द्वितीयकारण निदर्शन — से अपने ज्ञानानुगत पराक्रम से अपना प्रभुत्व जमा लेता है। कि बहुना, स्वज्ञान बल से ही इसने विश्व की समस्त चर-अचर विभूति को अपना भोग्य बना रक्खा है। ज्ञानशक्ति ही पुरुषत्व है, ज्ञानविहीन पुरुष पुच्छविषाणहीन पशु है। जिस प्रकार सप्तवितस्ति-कायात्मक, वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति ईशप्रजापति अपने ज्ञानबल से सम्पूर्ण विश्व का भोक्ता बन रहा है, एवमेव ईश्वरसंस्था में मुक्त यच्चयावत् ईश्वरांशों का प्रवर्ग्यरूप से अपनी अध्यात्मसंस्था में संग्रह करता हुआ—'पुरुषो वै प्रजापतेर्न दिष्टम्' (शत० १ कां० १५ अ० १ कं०) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति के अनुसार प्रजापति के समकक्ष बन कर यह पुरुष सर्वत्र स्वसत्ता की व्याप्त किए हुए है।

यद्यपि सृष्टि-विज्ञानानुसार पुरुष में जन्म से ही इतर प्राणियों की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का आधिक्य रहता है, तथापि इसके पूर्ण विकास के लिए शिक्षाशास्त्र का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। ऊर्ध्व-प्ररोहित होने की जन्मतः शक्ति रखते हुए भी वृक्षादि जैसे जलसिञ्चन के बिना विकसित नहीं हो सकते, एवमेव बिना बाह्यशिक्षा के जन्मतः प्रतिष्ठित भी ज्ञानशक्ति का विकास असम्भव है। अशिक्षित मनुष्य की ज्ञानशक्ति मुकुलित रहती है, मेघाच्छन्न सूर्यवत् उसकी स्वज्ञानरश्मियों का प्रसार अवरुद्ध रहता है। जो दशा एक पशु की है, वही दशा एक यथाजात अशिक्षित मनुष्य की है। कर्त्तव्यविवेकशून्य ऐसे मनुष्य की दृष्टि किसी पूर्ण (वास्तविक) तत्त्व की ओर न जाकर शून्य (निरर्थक) भावों की ओर ही मुहुर्मुहुः आकर्षित होती रहती है, अतएव (मुहुर्मुहुःरनुगता शून्यसमतुलिता 'ख' दृष्टि से) ऐसा अशिक्षित यथाजात 'मूर्ख' कहलाया है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना आवश्यक होगा कि, मनुष्य जैसी शिक्षा का आश्रय लेता है, उसका हृदयावच्छिन्न मन, एवं तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि, दोनों का विकास तदनुरूप ही होता है। शिक्षा मनुष्य के हृद्य जगत का निर्माण करनेवाला एक अव्यर्थ-यन्त्र है। भारतवर्ष ने अपनी आर्षसभ्यता-संस्कृति-साहित्य-के विकासकाल से आरम्भ कर अद्यावधि अनेक आक्रमणों का सामना किया। उदाहरण के लिये वेदविरोधी-बौद्धमत को ही लीजिये। शताब्दियों तक बौद्धसंस्कृति की छत्रच्छाया में रहता हुआ भी भारतवर्ष अपनी वैदिक-संस्कृति से पराङ्मुख न हुआ। इसका एकमात्र कारण था 'शिक्षायन्त्र पर उसका अपना आधिपत्य'। यही कारण था कि, बौद्धमत में दीक्षित 'देवानांप्रिय' प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की राजसभा में जो सम्मान बौद्धभिक्षुओं को प्राप्त था, वही सम्मान आर्षधम्मनियामी ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ। अपने प्रबल तर्कवाद से नास्तिकों के युक्तिवाद का समूल विनाश कर विलुप्तप्राय आर्षधर्म को पुनः स्थापित करनेवाले भगवान् शङ्कराचार्य, प्रातःस्मरणीय कुमारिलभट्ट, अद्वेय मण्डनमिश्र, जगदीश्वर के प्रति—

ऐश्वर्यमदमत्तो हि मामज्ञाय वर्त्तसे ।

उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥*

इस प्रकार की गर्वोक्ति का प्रयोग करनेवाले, अपने सुप्रसिद्ध 'कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ द्वारा ईश्वर-सत्ता के संस्थापक, तर्कशास्त्रपारङ्गत सर्वश्री उदयनाचार्य, आदि कई एक महापुरुषों को उसी परम्परासिद्ध-स्वशिक्षा-सन्तान के बल पर तत्कालीन भारतवर्ष ने जन्म दिया । आगे जाकर दुर्भाग्य से इस आर्षसंस्कृति को यवनमत का सामना करना पड़ा । यह आक्रमण बौद्ध आक्रमण से कहीं भयङ्कर सिद्ध हुआ । कला के अन्यतम शत्रु नरराक्षसों ने कला को विध्वस्त किया, देवप्रतिमाएँ तोड़ी गई, देश का मौलिक साहित्य अग्निज्वाला को समृद्ध करने में सहायक बनाया गया, आर्यललनाओं का सतीत्व छीना गया, अबोध बच्चे जीवितदशा में ही दीवारों में चुना दिए गए । यह सभी कुछ अकाण्ड ताण्डव हुआ, परन्तु सौभाग्य से इस युग में भी आततायियों की दृष्टि से हमारा शिक्षायन्त्र यथाकथञ्चित् बचा रह गया । फलतः इस युग में भी हमारी मौलिक सभ्यता इस आक्रमण को सहने में सर्वात्मना समर्थ हो गई । प्रतिभासम्पन्न कवियों के अतिरिक्त वर्णाश्रमधर्मात्मक आर्षधर्म के अनन्य समर्थक महात्मा तुलसीदास, भक्तप्रवर सूरदास, सर्वश्री सन्त तुकाराम, समर्थ रामदास स्वामी, श्रीज्ञानेश्वर महाराज, सूक्तिवर कबीर आदि महापुरुषों ने उसी भयावह युग में उसी शिक्षानुग्रह से इस देश को अलंकृत किया । स्वनामधन्य हम्मीर, प्रताप, छत्रसाल, शिवाजी, गुरुगोविन्दसिंह, आदि क्षत्रियवीरों ने अपनी इसी आर्षशिक्षा के बल से यवनों की प्रबलशक्ति को छिन्न भिन्न किया, और इस प्रकार 'स्वधर्म' निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' आदर्श की अनुगामिनी आर्षप्रजा ने इस भयबन्धन से पुनः मुक्तिलाभ प्राप्त कर लिया । परन्तु.....

इस 'परन्तु' का अतीत इतिहास सभी इतिहासों की सीमा का अतिक्रमण करने वाला सिद्ध हुआ । कहने के लिए यवनक्रमणजनित भय से हमारा त्राण करने वाले, अतएव हमारे परम हितैषी पाश्चात्य महानुभावों की किसी शुभ मुहूर्त में भारत वसुन्धरा के वक्षस्थल पर पादप्रतिष्ठा हुई । जिस

४३ ऐसी किंवदन्ती है कि, एक बार उदयनाचार्य श्रीजगदीश के दर्शनार्थ पधारे । उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि, जगदीशविग्रह (मूर्ति) उन्हें साक्षात् रूप से दर्शनों का सौभाग्य प्रदान करें । अनेक बार मानसिक प्रार्थना करने पर भी जब उन्हें साक्षात् दर्शन न हुए, तो अन्त में आवेश के कारण उनके मुख से निकल पड़ा कि—“हे जगदीश ! आज तू अपने ऐश्वर्य के मद में पड़ कर मेरा तिरस्कार (उपेक्षा) कर रहा है । परन्तु तुझे यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जब बौद्धलोग तेरी सत्ता (ईश्वर सत्ता) उखाड़ने के लिए सामने आते हैं, तो उस समय तेरी सत्ता मेरे अधीन रहती है” । अर्थात् मैं न रहूँ, तो संसार तुझे मानना छोड़ दे । सुनते हैं—भक्त की इस शुद्धहृदय से निकलने वाली भक्तिपूर्ण अन्तर्वेदना के बल से भगवत्प्रतिमा ने साक्षात् रूप से उदयनाचार्य को दर्शन दिए ।

प्रकार सप्तगोलकयोग से, किंवा ऐन्द्रविद्युत् के आघात से समस्त भूपिण्ड कम्पित हो उठी। कहना नहीं होगा कि, यह आक्रमण पूर्व के दोनों आक्रमणों से कहीं भयङ्कर था। परम राजनीतिज्ञ लार्ड मेकॉले महोदय ने भारतवर्ष की पावनभूमि पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रसार के साधनभूत भवननिर्माण की मूलभित्ति (नींव) रखने के अनन्तर स्वदेश (इंग्लैन्ड) वासी अपने किसी वन्धु को निम्नलिखित आशय का एक पत्र प्रेषित किया था—

‘मित्र ! आज मैंने भारतवर्ष ऐसा शिक्षालय स्थापित कर दिया है, जिस में शिक्षा ग्रहण करने वाले भारतीय आचार, व्यवहार, सभ्यता, आदि में सर्वात्मना यूरोपियन बन जायँगे । रह जायँगे केवल नाममात्र के लिए भारतीय’ ।

सचमुच उस दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की उक्त भविष्यवाणी आगे जाकर सर्वथा चरितार्थ हुई। पाश्चात्यशिक्षा ने भारतीय नवयुवकों का हृदय और का और ही बना दिया, जोकि हृदयस्थान सभ्यता, संस्कृति, जातीयता, आदि स्व-भावों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इन शिक्षालयों में अपनी आयु के सारभाग की आहुति देने वाले, अपने जन्मदाता-अभिभावकों की सञ्चित सम्पत्ति का सदुपयोग (?) करने वाले हमारे इन नवयुवकों ने प्रतिफल में प्राप्त क्या किया ? श्रूयताम् !

‘तुम्हारे पूर्वज निरे जङ्गली थे, विज्ञानशून्य थे, असभ्य थे, अग्नि-वायु-वृष्टि-आदि जड़ पदार्थों के पूजक थे। जो कुछ भी उन्नति हुई है, इसी युग में, एकमात्र हमारे अनुग्रह से ही हुई है। खाना, पीना, सोना, उठना, चलना, फिरना, वेषभूषा धारण करना, सभ्यसमाज में बैठ कर सभ्यता का वर्तव्य करना, आदि सम्पूर्ण मानवधर्मों (सभ्यताओं) के प्रथम प्रवर्तक एकमात्र हम ही हैं। हमने तुम्हें पशु से मनुष्य बनाया है, हमने तुम्हारे देश की अराजकता दूर की है, जो अराजकता तुम्हारे यहां आने से आज तक दूर न हुई थी। हां, स्मरण रखना, भारतवर्ष तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं। तुम लोगों ने बाहर (पामीर) से आकर इस देश पर अपना अधिकार जमा लिया है (इसलिए आज हम भी अपने अपूर्व गुण-बल से इस पर अपना अधिकार प्रतिष्ठित करने में कोई आपत्ति नहीं समझते !!!)। तुम्हारा धर्म ब्राह्मणों की स्वार्थलीलामात्र है। इसी अवैज्ञानिक कल्पित धर्म के अनुगमन से आज तक तुम उन्नति से वञ्चित रहे। अब इस हमारे शिक्षा-साम्राज्य के आश्रय से तुम्हें जीवन की सफलता का अनुभव होगा’ ।

आचार-व्यवहार में परतन्त्रता का आदेश देने वाली, किन्तु विचार स्वातन्त्र्यप्रदान करने वाली, अतएव मानवीयमन के विकास की अनन्य साधनभूता भारतीय आर्षशिक्षा की प्रतिद्वन्द्विता में राजनीति का बाना पहन कर उपस्थित होने वाली पाश्चात्यशिक्षा ने आर्षशिक्षा से ठीक विपरीत अपना दृष्टिकोण बनाया। इस ने आचार-व्यवहार में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की, तथा विचारों में पूर्णरूप से परतन्त्र बना

डाला। आचार-व्यवहार की स्वतन्त्रता से एक ओर जहाँ हमने भारतीय आचार-व्यवहारों का एकान्ततः परित्याग कर प्रतीच्यदेशाभिमत आचार-व्यवहारों का अनुगमन करते हुए व्यक्तिगतरूप से अपने आपको परतन्त्र बना डाला, वहाँ दूसरी ओर स्वविचारपारतन्त्र्य से उन्हीं के विचारों का अनुगमन करते हुए हमने अपने आध्यात्मिक जगत् को भी परतन्त्रता के निविड़पाश में बद्ध कर डाला। इस प्रकार बाह्य, तथा अन्तः, उभयथा हम परतन्त्र बन गए। आज न हमारे पास अपने आचार-व्यवहार हैं, न अपने विचार। उभयविध दासता से आज हमें अपनी अतीत स्मृतियाँ भी मिथ्या प्रतीत होने लगी हैं। इस प्रकार वर्तमान शिक्षायन्त्र के अनुग्रह से आज हम स्व-भाव से एकान्ततः विदूर पहुँच चुके हैं, एवं यही वर्तमान शिक्षा की सबसे बड़ी देन है।

आचार-व्यवहारपारतन्त्र्यगर्भिता विचारस्वतन्त्रतात्मिका स्वतन्त्रता मानवीय मन का जन्म सिद्ध अधिकार है। संसार की कोई भी आसुरीशक्ति (भौतिकबल) अधिक समय तक इस पर अपना अधिकार नहीं रख सकती। फलतः चरमसीमा पर पहुँच कर भारतीयक्षेत्र ने भी करवट बदली, और देश ने एक स्वर से सस्यश्यामला मातृभूमि का यशोगान आरम्भ किया। परन्तु एक सब से बड़ी भूल, हाँ सब से बड़ी भूल उन गायकों ने कर डाली, अथवा तो चिरकाल से विकृत संस्कारों के अनुग्रह से स्वतःएव वह भूल हो पड़ी। जिनकी हृत्तन्त्री से स्वतन्त्रता का झङ्कार विनिर्गत हुआ, उनकी हृत्तन्त्री पूर्वकथनानुसार शिक्षादोष से आक्रान्त थी। मलिन दर्पण से विनिर्गत रश्मियाँ जिस प्रकार स्वस्वरूप से स्वच्छ-शुक्ल रहती हुई भी संसर्गदोष से मलिन रहती हैं, एवमेव परशिक्षाक्रान्ता हृत्तन्त्री से विनिर्गत स्वतन्त्रता का निनाद भी कालान्तर में परतन्त्रता का ही साधक सिद्ध हुआ। इस परतन्त्रतात्मिका स्वतन्त्रता का पहला मुष्टिप्रहार उस आर्षभ्यसता पर ही हुआ, जिस की रक्षा ही एतद्देशीय स्वातन्त्र्य का बीजमन्त्र है।

आज भारतवर्ष में स्वतन्त्रता की लहर 'बीचतरङ्ग' न्याय से इतस्ततः प्रवाहित है। आबाल-वृद्ध-वनिता, सभी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार देश आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र हो रहा है। परिणामस्वरूप वर्तमान राज्यसत्ता के साथ असहयोग किया जा रहा है, तत्प्रदर्शनार्थ विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हो रहा है। 'सुस्वागत' ! ! ! । परन्तु साथ-साथ स्वतन्त्रता के अनन्य-पोषक आर्षधर्म का, तदनुगामिनि आर्षशिक्षा का उपहास करना भी परमपुरुषार्थ माना जा रहा है। 'महद्दुःखास्पदम्' ! ! ! । सर्वत्र एक स्वर से यही सुनाई पड़ रहा है कि,—'हमारे पतन का, हमारी परतन्त्रता का एकमात्र कारण हमारा धर्म (सनातनधर्म), तथा तत्प्रवर्तक-पोषक-समर्थक ब्राह्मण ही हैं। स्पृश्यास्पृश्य, सहशिक्षा, विधवा परिणय, आदि को धर्मविरोध उद्धोषित करने वाले स्वार्थमूलक इसी सनातनधर्म ने, एवं तत्पृष्ठपोषक स्वार्थी पण्डितों ने ही समाजस्वरूप का मूलोच्छेद करते हुए राष्ट्र-पारतन्त्र्य का बीजवपन किया है'। कलकत्ता में होने वाली कांग्रेस में देश के एक प्रमुख व्यक्ति ने तो यहां तक आगे बढ़ने का दुस्साहस कर डाला था कि,—'जब तक इन शास्त्रों को अग्नि में नहीं जला दिया जायगा, तब तक देश कभी स्वतन्त्र न हो सकेगा'।

भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा ने लोक, प्रजामृष्टि-निर्माण के लिए सर्वप्रथम वेदशास्त्र का आविर्भाव किया। सहसा वेदशास्त्र को छीन कर अमुर पाताल में जा छुपे। वेदशास्त्र के बिना मृष्टिक्रम अवरोद्ध हो

गया । अन्तोगत्वा भगवान् विष्णु को मत्स्यावतार धारण कर वेदशास्त्र का उद्धार करना उड़ा । एवं तब कहीं ब्रह्मा विश्वनिर्माण कर्म में समर्थ हो सके । इस प्रकार आर्षदृष्टिकोण से जो आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) न केवल भारतवर्ष का ही, अपितु सम्पूर्ण त्रैलोक्य का स्वरूपरक्षक बन रहा है, उसे अग्निसात् करके स्वतन्त्रता का आह्वान करने वाले ये स्वतन्त्रतावादी क्या प्रलयकाल को निमन्त्रण नहीं दे रहे ? जिस आर्षशास्त्रसिद्ध यज्ञकर्म के बल से देवताओं ने असुरों को परास्त कर अपनी विलुप्त स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की, वही आर्षशास्त्र आज इन स्वतन्त्रता प्रेमियों की दृष्टि में अनन्य बाधक प्रतीत होता हुआ क्या 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' को चरितार्थ नहीं बना रहा ?

स्वतन्त्रता-प्रेमियों की वह कौन सी समा न होगी, जहां आर्षशास्त्र, तत्प्रवर्तक ऋषिगण, तन्मूलक सनातनधर्म, तत्पोषक पण्डितवर्ग, तदनुगामिनी आर्षप्रजा का अवाच्यवादों से सत्कार (?) न किया जाता हो ? साथ ही आर्षधर्मपोषक विद्वानों को 'पुराणपन्थी' रूढ़ियों के गुलाम स्वतन्त्रता के शत्रु' आदि सदुपाधियों से विभूषित न किया जाता हो ? आज तो यह धर्मविरोध यहां तक बढ़ गया है कि, जिन देश के सर्वमान्य नेताओं का अपना प्रधान लक्ष्य एकमात्र असहयोगानुगमन था, वे भी इसी ओर सर्वतोभावेन झुक रहे हैं । पवित्र देवमन्दिरों में अवरवर्णों का बलात्कार से प्रवेश कराने में, उनके हित-व्याज से धारासभाओं (Legislative Assembly) में राजनियम (Law) बनवाने में ही आज हमारे इन देशनेताओं की सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय, किंवा निरर्थक क्षय हो रहा है । यह सब अकाण्डताण्डव क्यों हो रहा है ? उत्तर एकमात्र वही शिक्षायन्त्र । वर्तमान शिक्षा ने आर्षप्रजा के दिव्य-संस्कारपुञ्ज को आवृत कर लिया है । आज हमारे उक्त (विम्ब) का स्वरूप दूषित हो गया है । दूषित उक्त से दूषित अर्क (मनोभावनाएं) निकल रहे हैं* स्वसंस्कृतिरक्षक आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) ज्ञान से एकान्ततः शून्य, शास्त्र-सिद्ध-मनःसंस्थास्वरूपनिर्मापक आहार-विहारदिलक्षण आचार पारतन्त्र्य का सर्वथा तिरस्कार करने वाले, अन्नदोष को गुणपक्ष में स्थापित करने वाले, सर्वोपरि यावज्जीवन परशिक्षाश्रोत में प्रवाहित रहने वाले महानुभावों के उक्त से यदि उक्त प्रकार के धर्म-विरोधी अर्क निकलें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । वर्चस्व-तेजोयुक्त ज्ञानबल ही हमारे अन्तर्जगत का 'स्व' भाग है, एवं 'स्व-तन्त्र' से सम्बन्ध रखने वाली आचार-व्यवहार-पारतन्त्र्यगमिता विचारस्वातन्त्र्यमूला स्वतन्त्रता ही 'स्व-तन्त्र' (आत्मतन्त्र) को सुरक्षित रखने वाली वास्तविक स्वतन्त्रता है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा एकमात्र आर्षशास्त्र, तथा तदनुगामिनी आर्षशिक्षा ही मानी गई है । आर्षशिक्षानुगत ज्ञानबल ही ब्रह्मबल है, (ज्ञानगुप्ति से) ओजपूर्ण बना हुआ कर्मबल ही क्षत्रबल है, ब्रह्म-क्षत्र (ज्ञान कर्म) से सुगुप्त अर्थबल ही विड्बल है । जहां वर्तमान शिक्षा विशुद्ध अर्थतन्त्र को अपना प्रधान लक्ष्य बनाती हुई जड़तामूलिका साम्राज्य-लिप्सा का समर्थन कर रही है, वहां आर्षशिक्षा ब्रह्म के (ज्ञान के) आधार पर क्षत्र (कर्म) द्वारा विड् (अर्थ) का नियन्त्रण करती

*अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ (मनुः ५।४)

हुई धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों का समर्थन कर रही है, एवं यही भारतीय आर्षशिक्षा की संक्षिप्त रूपरेखा है, जिसका अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। हमारा यह केवल विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ़ निश्चय है कि, जब तक मानसिक दासता से देश उन्मुक्त नहीं हो जाता, तब तक अन्य प्रयत्नसहस्रों से भी वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। भारतीय दृष्टिकोण से मानसिकदासता से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूलिका सहजज्ञानशक्ति का विकास ज्ञानशक्तिविकास का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूला आर्षशिक्षा का अनुगमन, जो आर्षशिक्षा एकमात्र आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) में, एवं तन्मूलक स्मृति, पुराणादितर शास्त्रों में उपवृंहित हुई है। जब तक उक्तलक्षण आर्षशिक्षा का अनुगमन न किया जायगा, तब तक स्वयं जगदीश्वर भी हमें स्वतन्त्र न बना सकेंगे। देश का सौभाग्य है कि, देशनेता भी वर्तमान शिक्षा से आज संतुष्ट दिखाई देने लगे हैं। जैसा कि उक्तार्कस्वरूप द्वारा पूर्व में कहा गया है, नेताओं का ध्यान अभी केवल शिक्षा-प्रणाली की ओर ही आकर्षित हुआ है। परन्तु वह प्रणाली कैसी हो? शिक्षा कौनसी हो? इत्यादि प्रश्न अभी उनके लिए असमाधेया प्रश्नावली ही बन रही है।

व्यक्तिन्तरक्षक स्वानुगत आचार, व्यवहार, सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य, आदि को जला-ज्वलि समर्पित करते हुए अपनी मौलिक जातीयता को स्मृतिगर्भ में विलीन कर हमें जो 'स्वतन्त्रता' प्राप्त होगी, उससे हमारा स्वतन्त्र सुरक्षित रहेगा? अथवा विनष्ट हो जायगा? इन प्रश्नों की मीमांसा मुकुलितनयन बन कर उन स्वतन्त्रता प्रेमियों को ही करना चाहिए। 'हम हम बने रहें, और फिर स्वतन्त्रता प्राप्त करें' यही वास्तविक स्वतन्त्रता कहलाएगी। हमारी सामान्य दृष्टि में—'एक परतन्त्र अश्व का गर्दभ बनकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अपेक्षा उसका अपने अश्वरूप से स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करना कहीं अधिक श्रेयः पन्था है।' अस्तु इस पराधिकार चर्चा करने का न तो हमें अधिकार ही है, न योग्यता ही है। प्रस्तुत वक्तव्य से निवेदन केवल यही करना है कि, जिस क्षण से हमारा शिक्षायन्त्र परायत्त बना है, उसी क्षण से हमारी परतन्त्रता का श्रीगणेश हुआ है। वर्तमान शिक्षाप्रणाली ने, शिक्षाप्रणाली में स्वीकृत वर्तमान ऐतिहासिक ग्रन्थों ने, वर्तमान (पाश्चात्य) विज्ञान के आधार पर समुद्भूत विविध आविष्कारों ने भारतीय प्रजा के मानस जगत में इस विश्वास को दृढ़मूल बना दिया है कि, यदि उन्नति का कोई श्रेष्ठ मार्ग है, तो वह है एकमात्र पाश्चात्यशिक्षा! पाश्चात्य सभ्यता !! पाश्चात्य आचार-व्यवहार !!!

वर्तमान शिक्षा की अप्रतिहृति के अनुग्रह से हम अपने स्वरूप को भूल गए, आत्मविस्मृतिमूलक हमारे दुर्भाग्य का यह उल्लास, तथा मुख्य कारण। भारतीय विद्वानों की अनन्य कृपा का प्रहार दूसरा कारण। आर्षसाहित्यमूला आर्षशिक्षा, आर्षशिक्षामूलक आर्षधर्म (वर्णाश्रमधर्म), आचार, व्यवहार, संस्कृति, सभ्यता, आदि ऐसे दृढ़ दुर्ग माने गए हैं, जिन्हें विश्व की कोई भी प्रबलशक्ति स्थानच्युत नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में प्रश्नोत्थान स्वाभाविक बन जाता है कि, जबकि हम अपनी अभेद्य आर्षप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित थे, तो आर्षप्रतिष्ठा की तुलना में सर्वथा अप्रतिष्ठित पाश्चात्यप्रतिष्ठा ने आर्षप्रतिष्ठा का

आसन क्यों, एवं कैसे छीन लिया ? यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, अपनी निर्बलता ही पराक्रम-साफल्य का प्रधान कारण है। अवश्य ही जिस युग में पाश्चात्यशिक्षा ने हमारे यहाँ का आतिथ्य ग्रहण किया, हम अपनी आर्षशिक्षा को या तो भुला चुके होंगे, अथवा तो उसका व्याज से आचरण कर रहे होंगे। अन्यथा आगन्तुक परशिक्षाक्रमण कभी हमें अपनी आर्षशिक्षा-प्रतिष्ठा से च्युत नहीं कर सकता था।

हमारे उपदेशक विद्वान् अपने उपदेशों की प्रथम भूमिका में ही यह घोषणा करते हैं कि, पाश्चात्यशिक्षा के प्रभाव से भारतीय नवयुवकों का श्रद्धा-विश्वास सनातनधर्मविशेषों से हट गया है। इस सम्बन्ध में हमारे ये विद्वान् बन्धु यह भूल जाते हैं कि, पाश्चात्यशिक्षा के साथ साथ स्वयं हमारा भी इस अश्रद्धान में परोक्ष, तथा प्रत्यक्षरूप से पूर्ण सहयोग है। पहले तो हमारा उपदेश ही केवल वाचिक है, उस पर आर्षशास्त्र को हमने दूर से ही प्रणम्य मानते हुए अपने उपदेशों को और भी अधिक शून्यं शून्यं बना लिया है। कर्तव्य की प्रतिच्छाया से भी वञ्चित, आर्षशास्त्र की सर्वथा उपेक्षा करने वाले, सर्वापरि सामयिक सन्तमत (सम्प्रदायवाद) के अभिनिवेश से सम्पुटित ऐसे उपदेशों, तथा उपदेशक विद्वानों के रहते यदि पाश्चात्य शिक्षा स्वाक्रमण में सफल हो जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य है।

अङ्गीभूत आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) के रहस्य ज्ञान का अधिकार प्रदान करने के लिए जिन 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष' इन ६ अङ्ग-शास्त्रों ने जन्म लिया था, कुछ एक शताब्दियों से भारतीय विद्वानों ने इन अङ्ग-शास्त्रों के, उनमें भी विशेषतः व्याकरणशास्त्र के अध्ययनाध्यापन को ही प्रधानता दे रखी है। वेदाङ्ग-ज्योतिष का स्थान मयासुरोपवृंहित अर्वाचीन ज्योतिष ने ग्रहण कर रखा है। षडङ्गों में से शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ये चारों अङ्गशास्त्र भी स्मृतिगर्भ में विलीन हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-साहित्यादि ने भी अपनी प्रभुता प्रतिष्ठित कर रखी है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञानप्रधान अङ्गीभूत वेदशास्त्र का सर्वथा तिरस्कार कर नाममात्र के लिए अङ्गशास्त्र, विशेषतः काव्य-साहित्य परिशीलन में ही अपने सम्पूर्ण जीवन की आहुति देने वाला आज का विद्वत्समाज आर्षधर्म के मौलिकरहस्यज्ञान (उपपत्तिज्ञान) से सर्वथा पराङ्मुख हो रहा है। यदि विशेष अनुग्रह हुआ, तो स्मृति-ग्रन्थों पर धर्म-परिशीलन की सीमा समाप्त मान ली जाती है। सम्भवतः हमारे उन मान्य विद्वानों से यह तिरोहित नहीं है कि, स्मृतिग्रन्थ केवल अनुशासक ग्रन्थ हैं। 'ऐसा करो, ऐसा न करो, जब करो, तब करो' इत्यादि रूप से तत्तदुपादेश कर्मों की विधि (आज्ञा) बतलाने वाला, तथा तत्तदनुपादेय शास्त्रविरुद्ध कर्मों का निषेध करने वाला विधि-निषेधात्मक ग्रन्थ है। वहाँ आपकी—'ऐसा ही क्यों करें, ऐसा क्यों न करें' इन जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। कारण उपपत्ति बतलाना स्मृतिशास्त्र के अधिकार से सर्वथा बहिर्भूत है। यदि भूज से कोई स्मृतिशास्त्र से 'क्यों ?' प्रश्न कर बैठता है, तो वह—'नास्तिको वेदनिन्दकः' कह कर उसका तिरस्कार कर देता है।

वात यथार्थ है। प्रधान न्यायालय अपने कनिष्ठ अधिकारी (मातहत) को यह आज्ञा देता है कि, तुम इस आशय का एक आज्ञापत्र प्रजा में वितरित कर दो कि, 'आज से एक सप्ताह पर्यन्त कोई भी व्यक्ति रात्रि के ११ बजे पीछे मकान से बाहर न निकाले। यदि कोई इस राजाज्ञा का उल्लङ्घन

करेगा, तो वह दण्डनीय समझा जायगा' । आज्ञानुसार कनिष्ठ अधिकारी प्रजा में आज्ञापत्र वितरण कर देता है । कोई भी व्यक्ति इस कनिष्ठ अधिकारी से, जिसका एकमात्र कर्त्तव्य है—प्रधान न्यायालय से निकले आज्ञापत्र को वितरण कर देना—यह नहीं पूछता कि—'अमुक आज्ञापत्र क्यों निकाला गया, क्यों आज्ञा दी गई ?' यदि कोई मूर्खतावश पूछ बैठता है, तो इसे यही उत्तर मिलता है कि—'मैं नहीं जानता, प्रधान न्यायालय से पूछो' । ठीक यही परिस्थिति श्रुति-स्मृतिशास्त्रों के सम्बन्ध में समझिए । श्रुतिशास्त्र अपनी अपौरुषेयता के सम्बन्ध से स्वतः प्रमाण बनता हुआ जहाँ प्रधान न्यायालय है, वहाँ स्मृतिशास्त्र 'श्रुतेरिवाथ स्मृतिरन्वगच्छत्' के अनुसार श्रुत आज्ञाओं का अनुगमन करता हुआ कनिष्ठ अधिकारी है । वेदविहित (वेदाज्ञासिद्ध) धर्म का आदेशमात्र देना ही उसके अपने अधिकारक्षेत्र की अन्तिम सीमा है । यदि उस से कोई जिज्ञासु सद्भावना से उपपत्तिज्ञान के सम्बन्ध प्रश्न करता है, तो वह उत्तर देता है—

अर्थकामेवसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥

—मनुः २।१३।

तात्पर्य मनुवचन का यही है कि, "जिन्हें धर्म के धर्मत्वलक्षण उपपत्तिज्ञान-रहस्यज्ञान की जिज्ञासा है, उन्हें वेदशास्त्र का ही स्वाध्याय करना चाहिए । वहीं से प्रत्येक स्मार्त्त-धर्मदेश के 'क्यों' ? का समाधान प्राप्त हो सकेगा" । जैसा कि निवेदन किया गया है, भारतीय विद्वानों ने वेदार्थ के अध्ययनाध्यापन से अपने आपको उदासीन बना रखा है । व्याकरणादि का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर इधर-उधर की कुछ एक स्मृतियों का आलोडन-विलोडन कर ऐसे ही अर्द्धदग्ध महानुभाव देश के धर्म-आचार्य बने हुए हैं । संशय करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है । साथ ही जब तक संशयनिवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक संदिग्ध विषय पर श्रद्धा एवं विश्वास का उदय भी सम्भव नहीं है । एक ऐसा नवयुवक, जिसने यावज्जीवन पाश्चात्य-शिक्षा का अनुगमन किया हो, जिसे प्रत्येक विषय युक्ति-तर्क-विज्ञान के आधार पर ही समझाए गए हों, तब तक स्वधर्म सिद्धान्तों पर कभी पूर्ण श्रद्धा नहीं कर सकता, जब तक कि उसे धर्म का वैज्ञानिकरहस्य युक्ति-तर्क द्वारा नहीं समझा दिया जाता । स्वयं मनुभगवान् ने भी 'यस्तर्कणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (मनुः १२।१०६) इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में वेदार्थोपयोगी तर्कवाद को धर्मपरिज्ञान के सम्बन्ध में एक आवश्यक साधन स्वीकार किया है ।

नवशिक्षा-दीक्षित एक नवयुवक स्वभावतः उत्पन्न सन्देह-निवृत्ति के उद्देश्य से जिज्ञासा रूप से धर्माचार्यों की सेवा में विनीतभाव से, अथवा तो अपने स्वाभाविक उच्छृङ्खलभाव से पहुँचता है, और प्रश्न करने लगता है कि—'भगवान् ! मृतप्राणियों को निमित्त बनाकर श्राद्धकर्म क्यों किया जाता है ? लाखों कोस दूर बैठे प्राणी (पितर) ब्राह्मणभोजन से क्यों कर तृप्त हो जाते हैं ? पूर्व शरीर को छोड़ कर प्राणी जब तत्काल नवीन शरीर धारण कर लेता है, तो ऐसी अवस्था में श्राद्ध किस की तृप्ति के लिए किया जाता है ? एक के उत्पन्न होने से, तथा एक के मर जाने से उस जात-मृत के सभी वंशज अस्पृश्य क्यों मान लिए जाते हैं ?' उत्तर में हमारे आचार्य महोदय शास्त्रीय (स्मार्त्त) प्रमाण उद्धृत

करते हुए—“शास्त्र ऐसा आदेश देता है, इसलिए ऐसा ही करना न्याय है” इस सूक्ति से वे उस आगन्तुक जिज्ञासु की जिज्ञासा शांत करना चाहते हैं। “शास्त्र ऐसा आदेश क्यों देता है?” इस सम्बन्ध में आप सर्वथा तटस्थ बने रहते हैं। यदि जिज्ञासु अधिक आग्रह करता है, तो आचार्य महोदय कुछ ही पड़ते हैं, एवं भूताविष्ट बनकर—“तुम तो पाश्चात्यशिक्षा संसर्ग में पड़ कर नास्तिक बन गए, तुम्हें शास्त्रों पर विश्वास नहीं रहा, जाग्रो तुम्हारे साथ सम्भावण करने में भी हमें प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ेगा” इस प्रकार मत्तप्रलाप करने लगते हैं। इस भर्त्सना का परिणाम यह होता है कि, उस जिज्ञासु को यह विश्वास कर लेना पड़ता है कि,—“वास्तव में सनातनधर्म केवल काल्पनिक जगत् है, ब्राह्मणों के स्वार्थ-साधन का द्वार मात्र है। भला यावज्जीवन धर्मशास्त्र का स्वाध्याय-मनन करने वाले विद्वान् भी जब धर्माज्ञाओं के सम्बन्ध में युक्तियुक्त समाधान नहीं कर सकते, तो ऐसी दशा में इस धर्म की काल्पनिकता में क्या सन्देह रह जाता है”। सचमुच आज इस एक महत्त्वपूर्ण कारण से भी धर्म-विश्वास उत्तरोत्तर शिथिल होता जा रहा है।

यद्यपि हम मानते हैं कि उपपत्तिविज्ञानात्मक रहस्यज्ञान सर्वसाधारण के परिज्ञान की वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति रहस्यज्ञान प्राप्त करके ही धर्म का आचरण करे, यह सर्वथा असम्भव है। ‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ’ (गी० १६।२४) इत्यादि भगवदादेशानुसार शास्त्रीय वचनों पर अनन्यनिष्ठा रखते हुए—‘महाजनो येन गतः स पन्थाः’ इस न्याय के अनुगमन में ही सर्वसाधारण का कल्याण है। लक्ष्यैकचक्षुष्कता की तुलना में लक्षणैकचक्षुष्कता ही सिद्धि का अन्यतम द्वार माना गया है। यह सब कुछ जानते हुए भी वर्तमान युग के लिए हम उपपत्तिज्ञान-प्रचार को आवश्यकतम साधन माने बिना नहीं रह सकते। इसके अतिरिक्त यदि उपपत्तिज्ञान सर्वथा अनावश्यक ही होता, तो स्वयं वेदशास्त्र में, तथा वेदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में स्थान-स्थान पर उपपत्तिज्ञान का स्पष्टीकरण ही उपलब्ध न होता। ब्राह्मणग्रन्थ प्रतिपादित प्रत्येक ऋत्यर्थकर्म, तथा पुरुषार्थकर्म की इतिकर्त्तव्यता के साथ-साथ ‘तद्यत्-अप उपस्पृशति, मेध्या वा आपः’ पवित्रं वा आपः’ मेधयो भूत्वा व्रतमुपायानीति,

आहवनीय, तथा, गार्हपत्य के मध्य में खड़े होकर आचमन करना ही ‘अप-उपस्पर्श’ कर्म है। क्यों आचमन किया जाता है? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, पानी मेध्य (सङ्गमनीय) है, पवित्र (दोषमार्जक) है। उधर अपने स्वाभाविक अनृतभाव से पुरुष अमेध्य, तथा अपवित्र है। ऐसी अमेध्य-अपवित्र अध्यात्मसंस्था में मेध्य-पवित्र यज्ञसंस्कार तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, जब तक कि वह किसी उपाय विशेष से मेध्य, तथा पवित्र न बना ली जाय। इसी उद्देश्य से अप-उपस्पर्श कर्म किया जाता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन ‘शतपथब्राह्मण-विज्ञानभाष्य’ में निरूपित है।

२ नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले !

कारणाद्धर्ममन्विच्छन् स लोकान्पुनते शुभान् ॥

ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म आचरेत् ।

अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे ॥

पवित्रपूतो ब्रतमुपायानीति, तस्माद्वा अप उपस्पृशति' (शत० १।१।१।१) इत्यादि रूप से उपपत्तिप्रकरण भी समाविष्ट रहता है। यही क्यों, स्वयं वेदशास्त्र ने ही एक स्थान पर यह स्पष्ट किया है कि, "जो कर्म मनोयोगलक्षणा 'श्रद्धा' के, कार्य-कारण-सम्बन्धपरिज्ञानात्मिका 'विद्या' के तथा उपपत्तिज्ञानलक्षणा 'उपनिषत्' के सहयोग से किया जाता है, वह अतिशयरूप से फलप्रद होता है, जैसा कि—'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छां० उप० १।१।१०) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। इसी आधार पर कारणविज्ञान को श्रेयःप्राप्ति का तथा कर्मसौष्ठव का अन्यतम कारण माना गया है। जिस वर्तमानयुग में प्राच्य-प्रतीच्य सभ्यताओं का संघर्ष चल रहा हो, भौतिक, अतएव क्षणिक, अतएव दुःखप्रवर्त्तक, अतएव शून्यं शून्यं-लक्षण जिस विज्ञानशास्त्र को लेकर प्रतीच्य-संस्कृति का निगारण करने के लिए आज मुंह बाए खड़ी हो, ऐसे विपम युग में 'विषस्य विषमौषधम्'—'कण्टकं कण्टकेनैवोद्धरेत्' इत्यादि लोकन्यायों का अनुगमन करते हुए तो यह सर्वथा आवश्यक हो जाता है कि, प्राणात्मक-अतएव नित्य, अतएव आनन्दप्रवर्त्तक, अतएव पूर्ण-पूर्ण-लक्षण भारतीय वेदविज्ञानात्मक आश्रय ग्रहण किया जाय। बिना ऐसा किए उक्त संघर्ष से प्राच्यसंस्कृति का त्राण पाना कठिन ही नहीं, अपितु सर्वथा असम्भव है। भौतिक महासंग्राम के कारण आज भारतवर्ष संव्रस्त है। परमात्मानुग्रह से जिस दिन संग्रामसाधक-घातक शस्त्रप्रपञ्च निधनावस्था को प्राप्त हो जायगा, उसी दिन संसार कुछ क्षणों के लिए एक बार शान्ति का श्वास ले सकेगा। परन्तु कुछ ही समय पीछे इस अतीत युद्ध से भी कहीं भयङ्कर सांस्कृतिक-संघर्ष का सूत्रपात होगा। तत्तद्वाष्ट्र अपनी अपनी संस्कृतियाँ लेकर इस संघर्ष में भाग लेंगे। इस अहमहमिका में जिस राष्ट्र की संस्कृति सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी, वही प्रमुख स्थान पा सकेगी, शेष संस्कृतियाँ उस प्रमुख संस्कृति के उदर में समाविष्ट हो जायँगी, एवं वही समय युद्ध का अन्तिम निर्णायक समय माना जायगा। क्या उस सांस्कृतिक संघर्ष से भारतराष्ट्र अपने आप को बचा सकेगा? कभी नहीं, इसे इच्छा से नहीं, तो अनिच्छा से योग देना पड़ेगा, एवं तब इसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि, "मैं इस संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए कौन सी संस्कृति का अनुगमन करूँ"। वर्तमान युग के देशनेता भले ही हमारे कथन की आज उपेक्षा कर दें, परन्तु उन्हें कालान्तर में ही यह अनुभव करना पड़ेगा कि, भावी संघर्ष में विजय प्राप्त करने का एकमात्र साधन होगा नित्यविज्ञानप्रधान-शाश्वतशान्तिप्रदाता आर्पसाहित्य, एवं तन्मूला आर्पसंस्कृति। इस भावी दृष्टिकोण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि, कारणविज्ञानात्मक आर्पसाहित्य का अधिक से अधिक प्रचार किया जाय। सांस्कृतिक संघर्ष को थोड़ी देर के लिए उपेक्षणीय भी मान लिया जाय, तब भी अपने अभ्युदय के नाते भी इसकी आवश्यकता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

वैज्ञानिक तत्त्वों के विलुप्तप्राय हो जाने से ही ईश्वरीय-प्राकृतिक-नित्य-सनातन-मानवधर्म आज मतवादरूप में परिणत होता हुआ शान्ति-प्रवृत्ति के स्थान में कलहप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। एक 'बाहु गुरुजो' के नाम पर समस्त सिक्ख सम्मिलित हो जाते हैं, एक पैगम्बर के नाम पर सम्पूर्ण यवन प्रजा का संघटन सम्भव है। परन्तु सनातनधर्म के पास ऐसा आज एक भी उद्घोष नहीं है, जिस के आधार पर वह समस्त सम्प्रदायों का एकसूत्र में संगठन कर सके। केवल वैदिक विज्ञान ही एक ऐसा

शङ्ख नाद है, जिस के आह्वान पर सम्पूर्ण सम्प्रदाएं समवेत हो सकती हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिक संगठन के ताते भी विज्ञानतत्त्व का प्रचार-प्रसार आवश्यक बना रहा है।

इस विज्ञाननिधि के विस्मृतप्राय हो जाने से ही उस परम वैज्ञानिक अनादि सनातनधर्म की आज 'ख्रीष्ट' -जैन-बौद्ध-मोहम्मदीय' आदि मतवादों के साथ तुलना की जा रही है। उस वृद्धातिवृद्ध-प्रपितामह को इन वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रों की कक्षा में लाकर इन के साथ उसके औचित्य-अनौचित्य का समतुलन किया जा रहा है। सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। उसी के सुपुत्रों द्वारा इन मतवादों की तुलना में इसे न केवल स्थान ही नीचा दिया जाता, अपितु उसका अपमान भी किया जा रहा है, उसके प्रति अवाच्यवादों का प्रयोग किया जा रहा है। 'ईसामसीह कैसे थे? बड़े महात्मा थे, बुद्ध कैसे थे? अहिंसा, दया के अवतार थे,' सुस्वागतम्। हां, तो आर्षधर्म प्रवर्तक ऋषि कैसे थे? बड़े स्वार्थी थे, मानव सभ्यता के अन्यतम शत्रु थे, पक्षपाती थे, यह है आज की उस समालोचना का निष्कर्ष, जिसके समर्थक निबन्धों को पढ़कर आज भारतीय नवयुवक अपनी प्रतिभा का सदुपयोग (?) कर रहे हैं। सौभाग्य कहिए, अथवा दुर्भाग्य, कोई सा ही सामयिकपत्र (समाचारपत्र) बचा होगा, जो आए दिन धर्म्मज्ञाओं की, तत्प्रवर्तक महर्षियों की, तदनुगामी सनातनधर्म्मविलम्बियों की निन्दा से अपने श्रीमुख पर कालिख न पोतता होगा? वह समाचारपत्र ही क्या, जिस के प्रत्येक अङ्क में धर्म्मविरुद्ध कार्यों के दो चार समाचार समाविष्ट न हों। आज तो हमारा यहाँ तक पतन हो गया है कि हमने अपने मनोरञ्जक चित्रपटों में भी धर्म्मनिन्दा को अपना प्रधान लक्ष्य बना लिया है, और ऐसे ही चित्रपट आज हमारे लिए विशेष आकर्षण की वस्तु बने हुए हैं। देश-नेताओं के कर-कमलों के द्वारा उद्घाटित कतिपय सामाजिक चित्रपटों में रुढ़िवाद के नाश पर भारतीयवर्णाश्रमधर्म्म पर उसी के प्रसूनों द्वारा जो प्रसूनवृष्टि देखने सुनने में आती है, वह एक प्रकार से हमारी संस्कृति की पतन की ही सूचिका मानी जायगी। एवमेव पाश्चात्य-संस्कृति की अरुणप्रतिभा से युक्त भारतीय नवयुवकों में से कोई सा ही ऐसा सौभाग्यशाली युवक बच रहा होगा, जो प्रातः सायं उठते-सोते अपने इस पूज्य का उपहासादि साधनों से सत्कार न करता होगा।

छोड़िए पाश्चात्यशिक्षा दीक्षितों की बात। विद्वानों में से भी ऐसा कोई विरला ही विद्वान् होगा, जो अन्तःकरण से सनातनधर्म्म के प्रत्येक आदेश के सामने अपना मस्तक विनम्र कर देता होगा। जो विद्वान् अपने आपको प्राच्यसंस्कृति के अनन्यपोषक कहते हैं, जो 'कट्टर सनातनधर्म्मी' उपाधि से अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं, जो आए दिन सभामञ्चकाष्ठों का अपने ताण्डवनृत्य से दर्पदलन करते हुए अहमहमिका-कर्म से चाणूरमुष्टिप्रसङ्ग का स्मरण कराते हुए अर्थशून्य सनातनधर्म्मसभाओं को ऋणग्रस्त बनाने का पुण्यसञ्चय करते रहते हैं, धर्म्म के जयघोषों से जो छावापृथिवी (आकाशपाताल) के विच्छेद को हटाते रहते हैं, ऐसे उपदेशकों से यदि उनका ही कोई अन्तरङ्ग व्यक्ति धर्म्मज्ञाओं के जब कभी सन्देहात्मक प्रश्न कर बैठता है, तो उनके मुखविवर से भी यही उत्तर निकलता है कि, 'ऐसा प्रश्न करना व्यर्थ है। हम स्वयं जब कभी विचार करते हैं, तो ऐसा ही प्रतीत होता है, मानो यह सब केवल कल्पना का ही साम्राज्य हो। परन्तु क्या करें, सर्वसाधारण के द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, तथा

आजीविका-निर्वाह के लिए ज्ञान ब्रूक कर आत्मा को धोका देना ही पड़ता है'। जब अपने घर की ही यह दुर्दशा है, तो नवशिक्षित, तथा अन्यमतावलम्बी सनातनधर्म पर यदि आपेक्ष करते हैं, तो इस में उनका क्या अपराध है। वे तो जिज्ञासू हैं, वास्तविक तत्त्वपिपासू हैं। जब विद्वान् उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकते, अपितु पुरस्कार में विद्वानों की ओर से उन्हें 'नास्तिक' की उपाधि प्राप्त होती है, तो वे क्यों न सनातनधर्म से विमुख होंगे। इसी परिस्थिति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, आज सनातनधर्म पर जनता का जो अविश्वास बढ़ता जा रहा है, उसका एक कारण वेदतत्त्वानभिज्ञ, अतएव उपपत्ति-ज्ञानशून्य (रहस्यज्ञानशून्य) इन पण्डितम्हनों के तथा 'आचार्य' उपाधि-बिभूषित धर्माध्यक्षों के द्वारा धर्मोपदेश का सञ्चालित होना भी है।

'अविद्यायानन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।

दंष्ट्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥'

—कठोपनिषत्—१।२।५।

उक्त औपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार स्वयं लक्ष्यच्युत ये धर्मरक्षक अन्य मुग्ध श्रद्धालु समाज का भी अन्धकूप में निक्षेप कर रहे हैं। सभी क्षेत्रों में आज उक्त वचन चरितार्थ हो रहा है। सभी नेता हैं, सभी पण्डित हैं, सभी उपदेशक हैं, सभी सुधारक हैं, सभी सब कुछ हैं। अन्धों का समुदाय अन्धों की मार्ग दिखा रहा है। ऐसी स्थिति में 'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः' के अनुसार इन रक्षकों से भक्षित आर्पसंस्कृति अद्यावधि कैसे बच रही, यही एक महाआश्चर्य है।

शिक्षा हमारे हाथ से जाती रही, यह अविश्वास का पहला कारण। वेदस्वाध्याय का परित्याग कर अन्य ग्रन्थों में आयुः समाप्त करने वाले अयोग्य विद्वानों, तथा धर्माचार्यों के हाथ में धर्मसूत्र (धर्म की वागडोर) का चला जाना अविश्वास का दूसरा कारण। इन दोनों कारणों में से प्रथम कारण की चिकित्सा कई एक प्रतिबन्धकों से शीघ्र सम्भव नहीं है। देश अपनी पादप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर स्वस्वरूप को सुरक्षित रखता हुआ जब पहले स्वतन्त्रता प्राप्त करले, तब इसे शिक्षा-स्वातन्त्र्य उपलब्ध हो, एवं आर्पसाहित्य का जब पूर्ण प्रचार हो, तब कहीं स्वतन्त्रताप्राप्त प्रतिष्ठाबल प्राप्त हो। ऐसी परिस्थिति में 'वर्तमान दशा में वर्तमान शिक्षा पर हमारा स्वतन्त्ररूप से नियन्त्रण हो जायगा, एवं हम उसमें ऐच्छिक परिवर्तन कर सकेंगे' यह खपुष्पसम केवल कल्पना ही रह जाती है। दूसरा उपाय है—वैदिक-विज्ञान का प्रचार प्रसार। इस नवीन युग के सम्मुख जब तक धर्म के प्रत्येक अंश की उपपत्ति (वैज्ञानिक रहस्य) उपस्थित नहीं करदी जायगी, तब तक उलझा हुआ धर्मविश्वास पुनः प्रतिष्ठित न हो सकेगा। 'नवीनमार्गानुयायी अपने मौलिक साहित्य की वैज्ञानिकता का स्वरूप समझते हुए उसकी आवश्यकतम उपादेयता स्वीकार करें, तद्द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठाबल पर स्वलक्ष्य सिद्धि में सफलता प्राप्त करें, तथा विद्वानों की वैदिक-विज्ञान की ओर प्रवृत्ति हो, एवं तदाश्रयद्वारा वे जनता की वास्तविक धर्मभावनाओं को पुष्पित-पल्लवित करें, 'श्राद्धविज्ञान' व्याज से इन्हीं उद्देश्यों

की सिद्धि के लिए 'श्राद्धविज्ञाननिबन्ध' उपस्थित हो रहा है' यही श्राद्धविज्ञान रचना-कारणत्रयी में से दूसरे कारण का संक्षिप्त निदर्शन है।

सनातनधर्मावलम्बी आर्य-प्रजावर्ग का आज हम तीन भागों में श्रेणि-विभाग मान सकते हैं, एवं उन्हें क्रमशः राष्ट्रीयवर्ग, विद्वद्वर्ग, साधारणश्रद्धालुवर्ग, इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। राष्ट्रीय वर्ग की दृष्टि में राष्ट्रनिर्माण में, राष्ट्रोन्नति में, किंवा राष्ट्र के स्वतन्त्रतायज्ञ में धर्म सर्वथा अनपेक्षित तत्त्व है। प्रत्युत यह वर्ग धर्म को राष्ट्रोन्नति तथा समाजोन्नति, दोनों का तृतीय कारण निदर्शन— एक महान् प्रतिबन्धक मानने की भूल कर रहा है, जबकि राष्ट्र शब्द का सर्व-प्रथम जन्मदाता ही सनातनधर्म माना गया है। इस सम्बन्ध में हमारा अपना तो यह भी विश्वास है कि, सनातनशास्त्र, तथा तदनुगत सनातनधर्म को मूलप्रतिष्ठा बनाए बिना कम से कम भारतराष्ट्र का अभ्युदय तो एकान्ततः असम्भव ही है। सामान्य-राष्ट्रीय विधानों के अतिरिक्त आर्य-शास्त्र प्रवर्तक महर्षियों ने प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर कुछ एक ऐसे गुप्त कारणों का अन्वेषण किया है, जिनके रहते राष्ट्र कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। साथ ही उन कारणों को दूर कर राष्ट्र-स्वातन्त्र्य के लिए एक विशेष प्रकार के वैज्ञानिक-कर्म का भी आविष्कार किया है, जो कि कर्म ब्राह्मणग्रन्थों में 'राष्ट्रभूत' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

राष्ट्र क्यों निर्बल हो जाता है ? निर्बल-राष्ट्र पराक्रमण का सामना करने में असमर्थ होता हुआ कैसे परतन्त्र हो जाता है ? ब्राह्मण-श्रुति ने पहिले इन प्रश्नों का समाधान किया है। बतलाया गया है कि, अर्थशक्तिरहित विद्वेरीय राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप है। अर्थ ही राष्ट्र है। जिस राष्ट्र का अर्थबल क्षीण हो जाता है, निश्चयेन वह राष्ट्र अर्थाभाव में पराक्रमण सहने के साधनों से वञ्चित होता हुआ परतन्त्र बन जाता है। अतः राष्ट्र-स्वरूप-रक्षा के लिए अर्थ-स्वातन्त्र्य सर्वप्रथम अपेक्षित है। प्रश्न उपस्थित होता है कि, राष्ट्र का अर्थबल कैसे सुरक्षित रखा जाय ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुति ने 'ब्रह्म-क्षत्र' नामक द्वन्द्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। ब्रह्मवीर्य राष्ट्र का ज्ञानबल है, क्षत्रवीर्य राष्ट्र का कर्मबल है। ज्ञान-सहकृत कर्म ही अर्थरूप राष्ट्र का, किंवा राष्ट्ररूप अर्थ का स्वरूप—रक्षक है। जब राष्ट्र का ज्ञानबल अभिभूत हो जाता है, तो ज्ञानानुगत कर्मबल सर्वथा उच्छृङ्खल बन जाता है। ज्ञानवञ्चित ऐसा उच्छृङ्खल कर्म अर्थरक्षा में असमर्थ होता हुआ निश्चयेन राष्ट्रपारतन्त्र्य का प्रवर्तक बन जाता है। अतएव आवश्यक है कि, अर्थरक्षा के लिए कर्मगुप्ति का आश्रय लिया जाय, एवं कर्मसौष्ठव के लिए ज्ञानगुप्ति को मूलप्रतिष्ठा बनाया जाय। इस प्रकार ज्ञानशक्तिरूप ब्रह्म, तथा क्रियाशक्तिरूप क्षत्र, इन दो रक्षकों की सत्ता में ही अर्थशक्तिरूप विद् (राष्ट्र) सुगुप्त रहता हुआ बलवान् रह सकता है, एवं ऐसे ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत अर्थलक्षण राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कोई भी शक्ति आक्रमण नहीं कर सकती।

विचार करने पर वर्तमान परतन्त्रता का यही एक मुख्य कारण हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है। भारतवर्ष के पास आज भी अर्थबल (कौष) की कमी नहीं है। परन्तु दुःख है कि, वह अपनी इस

अर्थशक्ति का अपने राष्ट्रनिर्माण में अणुमात्र भी उपयोग नहीं कर सकता। क्यों हमारी अर्थशक्ति पर परराष्ट्रों का एकान्त स्वत्वाधिकार प्रतिष्ठित हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है। तमोगुणप्रधाना अर्थशक्ति सभी राष्ट्रों के लिए आकर्षण की वस्तु है। जब तक यह अर्थशक्ति रजोगुणप्रधाना क्रियाशक्ति, तथा सत्त्वगुणप्रधाना ज्ञानशक्ति से सुरक्षित रहती है, दूसरे शब्दों में जब तक राष्ट्र के ज्ञानबल, सेनाबल, दोनों अपने अधिकार में रहते हैं, तब तक उसका अर्थबल सुरक्षित रहता है, एवं तब तक राष्ट्र की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। ज्ञानबलप्रवर्तक देश के ब्राह्मणवर्ग ने जिस दिन से वेदगुप्ति का परित्याग किया, उसी दिन से ज्ञानानुगत क्षत्रबल क्षत्रियों के हाथ से निकल गया। दोनों से वञ्चित अर्थ—अरक्षित रहता हुआ पर-गिद्धों का बलि बन गया। इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि, अर्थलक्षणराष्ट्र की स्वरूपरक्षा एकमात्र ब्रह्म-क्षत्र मिथुन पर ही अवलम्बित है।

भारतवर्ष का ब्रह्म-क्षत्र बलात्मक मिथुनभाव क्यों निर्बल हो गया ? इस प्रश्न का तात्त्विक कारण बतलाती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है कि, जिस राष्ट्र में से प्राकृतिक प्राणदेवताओं का विनिर्गम हो जाता है, उस राष्ट्र का ब्रह्म-क्षत्रात्मक मिथुनभाव निर्बल बन जाता है। '१अग्नि-२ऋषधि, १सूर्य-२मरीचि, १चन्द्रमा-२नक्षत्र, १वात-२ऋषः, १यज्ञ-२दक्षिणा, १मन-२ऋक्साम,' ये ६ युग्म ब्रह्म-क्षत्र मिथुन के स्वरूप रक्षक माने गये हैं। अतएव 'एते देवा राष्ट्रभृतः' के अनुसार ये ही प्राणदेवता राष्ट्रस्वरूप के धारण करने वाले माने गए हैं। इनमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वात, यज्ञ, मन, ये ६ देवता ब्रह्मवीर्य के संरक्षक हैं, एवं ऋषधि, मरीचि, नक्षत्र, ऋषः, दक्षिणा, ऋक्साम, ये ६ देवता क्षत्रवीर्य के संरक्षक हैं। ऋषि कहते हैं कि, जिस राष्ट्र को परतन्त्र देखो, विश्वास करो उस राष्ट्र का ज्ञानानुगत ब्रह्मबल, तथा कर्मानुगत क्षत्रबल, दोनों जर्जरित हैं। एवं जिस राष्ट्र को ब्रह्म-क्षत्र-वीर्य से वञ्चित देखो, विश्वास करो उस राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्रवीर्य संरक्षक दोनों बल उक्त ६ओं द्वन्द्वदेवताओं के अनुग्रह से वञ्चित हो गए हैं। ऐसी स्थिति में यदि तुम्हें अपनी राष्ट्र की प्रतिष्ठा पुनः अपेक्षित है, तो राष्ट्र में ब्रह्म-क्षत्र को पुनर्जीवित करना पड़ेगा। इसके लिए उन द्वन्द्वदेवताओं का अपने राष्ट्र में समावेश करना आवश्यक होगा, एवं इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए 'राष्ट्रभृत्' नामक यज्ञप्रक्रिया का अनुगमन करना पड़ेगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

‘अथातो राष्ट्रभृतो जुहोति-राजानो वै राष्ट्रभृतः। ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति। एता ह देवताः सुता एतेन सवेन येनैतत् सोष्यमाणो भवति, ता एवैतत् प्रीणाति। ताऽअस्या इष्टाः प्रीता एतं सबमनुमन्यन्ते, ताभिरनुमतः सूयते। यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते, स राजा भवति। न स यस्मै, न तत्। राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति, राजान उऽएते देवाः, तस्मादेता राष्ट्रभृतः’ ॥१॥

‘मिथुनानि जुहोति । मिथुनाद्वाऽअधि प्रजातिः । यो वै प्रजायते, सराष्ट्रं भवति । अराष्ट्रं वै स भवति, यो न प्रजायते । तद्यन्मिथुनानि राष्ट्रं बिभ्रति, मिथुना उऽएते देवाः । तस्मादेता राष्ट्रभृतः’ ॥२॥

‘१अग्निर्गन्धर्वः, २तस्यौषधयोऽप्सरसः । १सूर्यो गन्धर्वः, २तस्य मरीचयोऽप्सरसः । १चन्द्रमा गन्धर्वः, तस्य २नक्षत्राण्यप्सरसः । १वातो गन्धर्वः, तस्य २आपोऽअप्सरसः । १यज्ञो गन्धर्वः, तस्य २दक्षिणा अप्सरसः । १मनो गन्धर्वः, तस्य २ऋक्सामान्यप्सरसः । आशासते-इति-नोऽस्त्वित्थं । स न इदं ब्रह्म-क्षत्रं पातु-इति । तस्योक्तो बन्धुः’ ॥३॥

—शत० ६ कां० ४ अ० १ ब्रा० १

सर्वप्रथम ज्ञानशक्ति-प्रवर्तक ब्रह्मबल, तदनुगत क्रियाशक्ति-प्रवर्तक क्षत्रबल, ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत-अर्थशक्तिप्रवर्तक विड्वल, तीनों राष्ट्र की प्रधान सम्पत्तियाँ हैं, यह उक्त कथन से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है । साथ ही यह भी स्वतः सिद्ध है कि, अर्थबलोपेक्षया क्रियाबल श्रेष्ठ है, सर्वापेक्षया ज्ञानबल ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है । ज्ञानबलोपासक ब्रह्मवीर्यप्रधान (जात्याब्राह्मण) ब्राह्मणवर्ग वेदगुप्ति द्वारा स्वब्रह्मवर्चसे राष्ट्र की जानानुगता ब्रह्मविभूति सुरक्षित रखने वाला माना गया है । क्रियाबलोपासक क्षत्रवीर्यप्रधान क्षत्रियवर्ग ब्रह्मद्वारा (ब्राह्मण द्वारा) प्राप्त ज्ञानप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ रथ, अश्व आदि बाह्यबल के द्वारा, धनुषादि शस्त्रबल के द्वारा बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करता हुआ राष्ट्र की क्रियानुगता क्षत्र-विभूति का रक्षक माना गया है । ब्रह्म-क्षत्रबलों से सुगुप्त, अतएव ‘गुप्त’ इस उपाधि से विभूषित अर्थबलोपासक विड्वीर्यप्रधान वैश्यवर्ग कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य-द्वारा स्व-सञ्चित अर्थ का ब्रह्म-क्षत्र के आदेशानुसार राष्ट्रनिर्माण में उपयोग करता हुआ राष्ट्र की विड्विभूति का संरक्षक माना गया है । इन तीनों पुरुषविभूतियों के अतिरिक्त कृषिकर्मोपयुक्ता दुधारी गाएँ, सबल अनड्वान्, आदिलक्षण पशुसम्पत् भी नितान्त अपेक्षित है । वीर्यानुगता द्विजातिप्रजा (ब्रा० क्ष० वै० प्रजा) की रक्तशुद्धि के लिए राष्ट्र की नारी-सम्पत्ति का भी निर्दुष्ट रहना परम अपेक्षित है । सर्वोपरि प्रकृति का निरापद बना रहना भी अत्यावश्यक है, जिसके लिए प्राकृतधर्म (सनातनधर्म) का अनुगमन सतत अपेक्षित माना गया है । धर्मानुष्ठान से प्रकृति राष्ट्र के अनुकूल रहती है, पूर्वोक्त ब्रह्म-क्षत्रप्रवर्तक देवताद्वन्द्वों का अनुग्रह सुरक्षित रहता है, कलतः समय पर वृष्टि होती है, औषधि-वनस्पतियों का परिपाक होता रहता है । इसी प्राकृतिक अनुग्रह से ब्रह्मक्षत्र-विड्वलत्रयी, पशुबल, आदि राष्ट्रोपयोगी सभी साधन पुष्पित परलबित बने रहते हैं । और इन सब साधन-सामग्रियों से राष्ट्र का योग (सम्पदप्राप्ति), तथा क्षेम (प्राप्तसम्पत्ति का संरक्षण) भलीभाँति होता रहता है । एक स्वतन्त्र

राष्ट्र की स्वतन्त्रतासाधक इन्हीं यच्चयावत् साधन-सामग्रियों का केवल अपने एक स्तुतिमन्त्र से विश्लेषण करते हुए राष्ट्रस्वातन्त्र्य के अनन्यप्रेमी वेदमहर्षि कहते हैं—

❖ 'आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधो महारथो जायताम्
दोग्ध्रीधेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः

सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु

फलवत्यो न औषधयः पच्यन्ताम्

योग-क्षेमो नः कल्पताम्'

—यजुःसंहिता २२ अ०। २२ मं०।

जिस प्रकृति के द्वारा सम्पूर्ण चराचर-विश्व का एक सुव्यस्थित क्रम से सञ्चालन हो रहा है, वही प्रकृतितत्त्व उपनिषच्छास्त्र में 'अन्तर्यामी' कहलाया है। प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाले इसी प्रकृतितत्त्व से चूँकि तद्वस्तु-विवर्त्त का नियतभाव से नियमन होता रहता है, अतएव इसे—'अन्तस्तिष्ठन् नियमयति' निर्वचन से 'अन्तर्यामी' कहना अन्वय बनता है। वस्तुकेन्द्र 'हृदयम्' कहलाया है। इस हृदय में प्रतिष्ठित अन्तर्यामी 'हृ' लक्षण आदानधर्म से 'द' लक्षण विसर्गधर्म से, एवं 'यम्' लक्षण नियमनधर्म से आगति-गति-स्थिति-भावों द्वारा अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्डों का स्वरूपरक्षक बन रहा है। हृदय में 'हृ-द-य' रूप से प्रतिष्ठित यही अन्तर्यामी अपनी नियत-एकरूप-वृत्ति से 'नियतिः सत्यम्' कहलाया है। यही अनिरुक्त हृदय प्रजापति है, जिसका—प्रजापतिश्चरति गर्भे०' (यजुः सं० ३१।१६) इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी अन्तर्यामी, हृत्प्रतिष्ठ, हृ-द-य-मूर्ति प्रजापति (प्रकृतितत्त्व) का विश्लेषण करते हुए ब्राह्मणश्रुति ने कहा है—

'एष प्रजापतिर्यत्-हृदम् । एतद् ब्रह्म, एत सर्वम् । तदेतत्त्र्यक्षरं—'हृदय' मिति (हृ-द-यम्-इति) । 'हृ' इत्येकमक्षरम् । अभिहरन्त्यस्मैस्वाश्रान्ये च, य एवम् वेद । 'द' इत्येकमक्षरम् । ददन्त्यस्मै—स्वाश्रान्ये च, य एवं वेद । 'यम्'

❖ मन्त्र की त्रिणद वैज्ञानिक व्याख्या 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षात्मक-प्रथमखण्ड' में देखनी चाहिए ।

इत्येकमक्षरम् । एति स्वर्ग-लोकं, य एवं वेद । तद्वं तदेतदेव तदास-सत्यमेव ।
स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद 'सत्यं ब्रह्म' ति, जयतीमाँल्लोकान् । सत्यं
ह्येव ब्रह्म ।'

—शत० १४ कां ८५० ४,५ ब्रा०

वेत्थ नु त्वं तमन्तर्यामिणं-य इमं च लोकं, परं च लोकं, सर्वाणि च
भूताति अन्तरो यमयति, इति । यः (हृदये) तिष्ठन् अन्तरो यमयतीति, स त-
ऽआत्मा अन्तर्यामी, अमृतः' ।

—शत० १४।६।७। ब्रा०

हृदयस्थित 'हृ-द-य' मूर्ति इस सत्यप्रजापति की नियतित्वृत्ति ही 'धर्म' है । जिस वस्तु के केन्द्र में उपाधि-भेदभिन्न जैसा अन्तर्यामी-सत्य प्रतिष्ठित है, वह वस्तु तदनुरूपावृत्ति से ही युक्त रहता है । पानी अपने सत्यधर्म से सदा निम्नगामी ही रहता है, अग्नि अपने सत्यधर्म से सदा ऊर्ध्वगामी ही रहता है, वायु तिर्यग्गामी ही रहता है । यही उपाधिकृत प्राकृतिक नित्य धर्मभेद है, यही स्व-धर्म है, यही स्वधर्म तद्वस्तु का स्वरूप रक्षक है । प्राकृतिक अविचाली भाव ही सत्य है, यही धर्म है । अतएव 'यो वै धर्मः, सत्यं वै' (शत० १४।४।२।६) इत्यादि रूप से उक्थरूपेण हृदय में प्रतिष्ठित सत्यलक्षण अन्तर्यामी का तथा अकरूप से बहिविनिःसृत धर्मलक्षणा बाह्यवृत्ति का अभेद मान लिया गया है । अन्तर्यामी-सत्य के धर्मलक्षण प्राकृतिक तत्त्व का विश्लेषण करने वाला प्राकृतिक शास्त्र ही आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) है, अतएव यह शास्त्र अपौरुषेय माना गया है । इस अपौरुषेय शास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित श्रौतस्मार्त्तलक्षण सनातनधर्म ही प्राकृतिक धर्म है, जिस की नित्यसिद्धा वर्णावर्णमृष्टि के आधार पर धर्मभेदरूपेण व्यवस्था हुई है । वर्णानुगति से ही यह वेदाज्ञासिद्ध प्राकृतिक सनातनधर्म 'वर्णाश्रमधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है । इस प्राकृतिक नित्यधर्म का जब आर्षप्रजा परित्याग कर देती है, तो तत्सम्बद्धा प्रकृति कुपित हो जाती है । प्रकृतिकोप से शान्तिसंवाहक देवता-द्वन्द्व कुपित हो जाते हैं । फलतः राष्ट्रसमृद्धि विनाशोन्मुखा बन जाती है, जिसका प्रत्यक्ष निदर्शन समृद्धिगूण्य वर्त्तमान भारतराष्ट्र बन रहा है । इस दृष्टिकोण से भी धर्म की राष्ट्रसमृद्धि में भली भाँति उपयोगिता सिद्ध हो जाती है । जो राष्ट्रवादी भारतीय धर्म के इस मौलिक-प्राकृतिक-सत्य-स्वरूप से अपरिचित रहते हुए सनातनधर्म तथा धर्मरहस्यप्रतिपादक वेदशास्त्र को राष्ट्र के अशुभदय में प्रतिबन्धक मान रहे हैं, वचा यह उनका राष्ट्रसमृद्धि-विनाशक प्रौढिवाद नहीं है?

अस्तु. राष्ट्रीयवर्ग किस अज्ञात कारण से धर्म का प्रतिबन्धक मान रहा है ? इस प्रश्न की मीमांसा में न पड़ते हुए क्रमप्राप्त दूसरे विद्वद्गं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । संस्कृतज्ञ विद्वान् धर्म का परिशीलन करते हुए भी आर्षशास्त्र की उपेक्षा से धर्म के रहस्यज्ञान से वञ्चित

होते हुए एक प्रकार से व्याजपूर्वक धर्माचरण (धर्माचरण का ढोंग) कर रहे हैं सच पूछिए तो ऐसे विद्वानों की कृपा से ही राष्ट्रीयवर्ग धर्म से विमुख हुआ एवं होता जा रहा है। अम्युदय (ऐहलौकिक), एवं निःश्रेयस (पारलौकिक) साधक धर्म के आचरण का उद्घोष करने वाले विद्वानों की जैसी प्रवृत्ति आज देखी सुनी जाती है, सचमुच वह एक उद्देश्यकर समस्या है। मानसिक दासता का जैसा पूर्ण विकास विद्वद्गर्ग में उपलब्ध हो रहा है, खोजने से भी अन्यत्र उपलब्ध न होगा। अर्थपाश में बाँध कर आप विद्वानों से यथेच्छ धर्मव्यवस्था प्राप्त कर सकते हैं। कणलोभग्रस्त विद्वान् पातकी से पातकी व्यक्ति को भी धर्म-रक्षक, धर्माचार्य, आदि उपाधियों से अलङ्कृत कर सकते हैं। स्वार्थवश सत्य का गला घोट देना आज इनकी स्वाभाविकचर्या बन रही है। आत्माभिमान आज इनके लिए दूर से ही प्रणम्य बन रहा है। यही कारण है कि, आज इस वर्ग के प्रति सभी वर्ग अश्रद्धात्मक अवाच्यवादों का प्रयोग करते नहीं अघा रहे।

तीसरा क्रमप्राप्त अस्मदादि साधारण मनुष्यों का श्रद्धानुवर्ग है। यह वर्ग शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखता है। कुतर्कियों के तर्कजाल का समुचित उत्तर देने की क्षमता न रखता हुआ भी यह आस्तिकवर्ग चिरन्तन संस्कारवश, तथा संस्कारविधातिका पाश्चात्य-शिक्षासंसर्ग के अभावात्मक अनुग्रह से अद्यावधि स्वधर्म पर यथाकथञ्चित् प्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो यह है कि, इस श्रद्धानु-वर्ग की आस्था के बल पर ही अद्यावधि धर्मनिष्ठा यथाकथञ्चित् प्रक्रान्त है। आस्तिकवर्ग की इस सहज श्रद्धा का हृदय से अभिनन्दन करते हुए हम उससे यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि, जो कर्म, जो धर्म बिना ज्ञान का आश्रय लिए केवल प्रणाली (ग्रन्थःप्रणाली) का अनुगामी बना रहता है, कालान्तर में उसमें शैथिल्य आ जाता है। उदाहरण के लिए श्राद्धकर्म ही पर्याप्त होगा। श्राद्ध के मौलिक रहस्यज्ञानभाव से आज श्राद्धेतिकर्तव्यता में अनेक दोषों का समावेश हो गया है। जहाँ श्राद्धकर्म के लिए-अपराह्णः पितृणाम् के अनुसार अपराह्ण (मध्याह्नोत्तर) काल नियत है, वहाँ 'पूर्वाह्णे वै देवानाम्' के अनुसार देवकर्म के लिए नियत पूर्वाह्ण से पहिले ही श्राद्धेतिकर्तव्यता पूरी करली जाती है। पिण्डप्रदान ही श्राद्धकर्म की मुख्य प्रतिष्ठा है। पिण्डगत सौम्यप्राण ही श्रद्धासूत्रद्वारा श्रद्धासूत्र के आधार पर वितत पुत्रादिगत श्रद्धाभाव से परलोकस्थ प्रेम पितरों की तृप्ति का कारण माना गया है। इधर आज केवल अङ्गकर्म्यात्मक ब्राह्मणभोजन कर्म को ही प्रधानरूपेण श्राद्ध का स्वरूपसमर्पक माना जा रहा है। वैध-विधि से वञ्चित ऐसा कर्म न केवल व्यर्थ ही जाता, अपितु ऐसा अवैध कर्म अम्युदय के स्थान में प्रत्य-वायजनक बन जाता है। देवता का आह्वान न करना कहीं उत्तम पक्ष है। परन्तु संकल्पद्वारा देवता का आह्वान कर उसका सत्कार न करना अनर्थ का ब्रीजवपन करना है। "मैं आज पिण्डपितृयज्ञ करूँगा" इस मानससंकल्प से प्राणात्मक पितृदेवता श्रद्धासूत्र द्वारा परलोक से आकर श्राद्धकर्त्ता यजमान की आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इनकी तृप्ति का प्रधान साधन पिण्डगत सौम्यप्राण है। यदि इन्हें वह प्राप्त नहीं होता, तो अभिशाप देते हुए पितर पराङ्मुख हो जाते हैं।

कितने एक महानुभावों के मुख से श्राद्धकर्म की उपपत्ति के सम्बन्ध में यह भी कहते सुना गया है कि, 'सामाजिक मैत्री सुरक्षित रखने के लिए ही वर्ग में १५ दिन भोजन कराने के लिए नियत कर दिए गए हैं।' इस प्रकार अज्ञानतावश नवीन नवीन कल्पनाओं के आधार पर आज प्रत्येक कर्म विरुद्ध-

भावानुगत होता हुआ अम्युदय के स्थान में सर्वनाश का कारण बन रहा है। जो महानुभाव श्रद्धा-यज्ञादि नहीं करते, लोकसम्पत्ति की दृष्टि से वे सुखी देखे जाते हैं। इधर श्रद्धादि शास्त्रीय कर्मों की अनुगामीनी प्रजा दुःखी देखी मुनी जाती है। इसका क्या कारण ? 'यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः, स धर्मः' कहते हुए महर्षियों ने धर्म-प्रवृत्ति को उभयलोक-सुखावाप्ति का कारण बतलाया है। हो रहा है इसके ठीक विपरीत। इसी विप्रतिपत्तिका बड़ा सुन्दर समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एक बार भारतीय श्रद्धानुवर्ग ने अश्रद्धावश यज्ञकर्म का परित्याग कर दिया। उन्होंने देखा कि, जो यज्ञानुष्ठान करते हैं-वे दुःखी देखे जाते हैं, एवं जो यज्ञानुष्ठान नहीं करते-वे सुखी-समृद्ध देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह संकल्प कर डाला कि, आज से अपने किसी भी यज्ञकर्म का अनुगमन न करेंगे। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, जिस प्रकार वर्तमान युग में 'धर्मरूपा दुःख पा रहे हैं, पापात्मा लोकवैभव से युक्त हो रहे हैं' इस भावना से जैसे मानव समाज की धर्ममार्ग पर अश्रद्धा बढ़ती जा रही है, ठीक इसी हेतु के आधार पर पुरायुग में भी मानवसमाज यज्ञादिकर्म-कलाप के प्रति अश्रद्धा करता हुआ इसे छोड़ बैठा। जब स्वर्गाधिपति इन्द्र के पास ये समाचार पहुँचे, तो उन्होंने मानवसमाज की अश्रद्धा दूर करने के लिए स्वर्गुरु बृहस्पति को भारतवर्ष भेजा। बृहस्पति के सामने जब मनुष्यों ने अपनी अश्रद्धा का 'य उ यजन्ते-ते पापीर्यसो भवन्ति, य उ न यजन्ते-ते श्रेयसो भवन्ति। किं काम्या यजमहि,' यह कारण उपस्थित किया, तो बृहस्पति ने अनुमान लगा लिया कि, अवश्य ही इन्होंने यज्ञ-कर्म में किसी विरुद्ध कर्म का समावेश कर डाला है। फलतः बृहस्पति ने आदेश दिया कि, अब एक बार तुम हमारे सामने यज्ञ करो। मनुष्यों ने आदेशानुसार यज्ञवेदि का निर्माण किया, त्रेताग्नि-कुण्ड बनाए। इसी कर्म-परम्परा में बृहस्पति ने देखा कि यज्ञसञ्चालक ऋत्विजों ने वेदि पर कुशा बिछाने से पहिले ही वेदि का स्पर्श कर डाला है। बृहस्पति बोल पड़े कि, हे मनुष्यो ! इसी दोष से अम्युदयसाधक यज्ञ ने तुम्हारा अनिष्ट किया है। कुशास्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श करने से वेदिनिर्ममाणार्थ खोदी गई भूमि का हिंसक प्राण तुम्हारे अध्यात्मयज्ञ में प्रविष्ट हो गया। इसीसे तुम्हारा यज्ञस्वरूप विकृत हो गया। सावधान ! आगे से भूलकर भी बहिस्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श न करना। दर्भविद्युत् से जब वेदिगत् हिंसक विद्युत् शांत हो जाय, तभी तुम वेदिका स्पर्श कर सकते हो। आदेशानुसार मनुष्यों ने ऐसा ही किया, एवं इस वेद्यनवमर्शपूर्वक होने वाले यज्ञानुष्ठान से मनुष्य यज्ञ न करने वालों की अपेक्षा सुसमृद्ध बन गए' (देखिए-शत० १।२।५ ब्रा०) ॥

उक्त ब्राह्मणख्यान से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, धर्मतत्त्व का किसी परोक्ष-अचिन्त्या-प्रमेय-शक्ति से सम्बन्ध है। इसमें न तो माननीय कल्पना का समावेश ही सम्भव है, एवं न साधारण भी भूल का ही यहाँ समादर है। जिस प्रकार थोड़ी सी असावधानी से विद्युत्तयन्त्र प्रकाश-प्रदान के स्थान में प्राणों का संग्राहक बन जाता है, एवमेव थोड़ा भी इतस्ततः करने से वही धार्मिक-कर्मकलाप अम्युदय के स्थान में सर्वनाश का कारण बन जाता है। यदि एक स्वर-दोष से इन्द्रशत्रुवृत्र द्वारा इन्द्रवधार्थ होने वाले यज्ञ में इन्द्र के स्थान में स्वयं यज्ञकर्त्ता वृत्र मारा जा सकता है, तो अवश्यमेव धर्मरूपाओं के सम्बन्ध में होने वाली भूलें हमें अम्युदय से बर्खित रखने के साथ साथ हमारा महा अनिष्ट भी कर सकती

हैं। वही वेदशास्त्र है, वे ही मन्त्रों में वे ही अव्यय शक्तियाँ निहित हैं, वे ही पद्धतिग्रन्थ हैं। फिर क्या कारण है कि, आज हमारे अनुष्ठान सकल नहीं होते?। आज यह कौन विश्वास करा सकता है कि, ब्राह्मणवर्ग कर्म-निर्वाह की कथा तो दूर, मन्त्रों का भी ठीक ठीक उच्चारण कर सकता है? ऐसी दशा में अपने प्रजापराधजनित दोष से उत्पन्न नाशकारिणी दशा का उत्तरदायित्व धर्म पर डाल देना क्या न्यायपक्ष है? सनातनधर्मावलम्बियों की इसी भूल ने इन्हें अन्य मतवादियों की तुलना में हीन-वीर्य बना रक्खा है। अन्वयमतावलम्बी तत्कालिक लोकवैभव से बाह्य-दृष्ट्या तुष्टवत प्रतीत हो रहे हैं। परन्तु हम धर्म का व्याज से आचरण करते हुए धर्म को धोका देकर उभयतः भ्रष्ट हो रहे हैं। इस पतन से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है तत्त्व-कर्मकलापों की मौलिक उपपत्तियों का परिज्ञान प्राप्त करना। उपपत्तिज्ञान से ही हम कर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचय प्राप्त कर सकते हैं। तभी कर्म की अनुरूपता का अनुगमन सम्भव हो सकता है, एवं तभी कर्मानुष्ठान फलप्रद बन सकता है। 'श्रद्धालुवर्ग स्वशक्त्यनुसार शालीय कर्म-कलाप के उपपत्तिज्ञान द्वारा यथाविधि कर्मों का अनुष्ठान करे, एवं तद्द्वारा यथोक्त फलभाक् बने' यही श्राद्धविज्ञाननिबन्ध की रचनाकारणवरी के अन्तिम (तृतीय) कारण का संक्षिप्त निदर्शन है। सर्वान्त में प्रसङ्गात् एक स्वार्थमूलक कारण का दिग्दर्शन करा देना भी अप्रासङ्गिक न माना जायेगा। आज से ८ वर्ष पहले श्रद्धेय पितुःश्री (बालचन्द्रशास्त्री) का परलोकगमन हुआ। ज्येष्ठ भ्रातुःश्री के द्वारा और्ध्वदैहिक-कर्म की इतिर्निव्यता सम्पन्न हुई। उस असहायवस्था में यह संकल्प हुआ कि, दिवङ्गत प्रेतात्मा की तृप्ति के लिये तुम्हें भी किसी अर्थानिपेक्ष अनुष्ठान का अनुगमन करना चाहिए। अन्ततोगत्वा—'पितरो वाक्यमिच्छन्ति' इस सिद्धान्त के आधार पर यही निश्चय किया गया कि, पितुःश्री के वार्षिक श्राद्धोपलक्ष में वाङ्मय निबन्ध ही श्रद्धापूर्वक समर्पित किया जाय। पितृप्रजापति की सहजसिद्ध अनुकम्पा से वह संकल्प पूरा हुआ, एवं यही श्राद्धविज्ञानरचना-संकल्प का एक मुख्य कारण बना।

श्राद्धविज्ञान-निबन्ध-रचनाकारण के सम्बन्ध में निवेदन किया गया। अब निबन्ध-प्रतिपाद्य विषयों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराती हुई प्रस्तावना उपरत होती है। आर्षप्रणाली के अनुसार सम्पूर्ण वेदशास्त्र (मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र) 'ज्ञातव्य, कर्त्तव्य,' भेद से दो भागों में विभक्त प्रतिपाद्यविषय हुआ है। वेद के जिस भाग में ज्ञातव्य विषयों का प्रतिपादन हुआ है, वह दिग्दर्शन — 'ज्ञातव्य-वेद' है। 'स्तुति-विज्ञान-इतिहास' ये तीन ज्ञातव्य विषय हैं। 'ऋक्-यजुः साम-अथर्व' नाम की ११३१ संहिताओं में इन्हीं तीन ज्ञातव्य विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, अतएव संहितात्मक वेदभाग को 'ज्ञातव्य वेद' कहा जा सकता है, जोकि 'ब्रह्म'- 'मन्त्र' आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। गृहस्थाश्रमानुगत 'कर्मयोग,' वानप्रस्थानुगत 'भक्तियोग,' एवं संन्यस्ताश्रमानुगत 'ज्ञानयोग,' ये तीन योग कर्त्तव्यात्मक हैं। 'विधि' नामक ब्राह्मणभाग में कर्मयोग का, 'आरण्यक' नामक ब्राह्मणभाग में भक्तियोग का, तथा 'उपनिषद्' नामक ब्राह्मणभाग में ज्ञानयोग का प्रतिपादन हुआ है। शतायुःपुरुष ब्रह्मचर्याश्रम में 'छन्दांसि नियतः पठेत्' इस मानवादेश के अनुसार ज्ञातव्यलक्षण ब्रह्मवेद का, तथा कर्त्तव्यलक्षण-विधि-आरण्यक-उपनिषदात्मक ब्राह्मणवेद का अध्ययन समाप्त कर क्रमशः आगे के तीनों आश्रमों में कर्म-भक्ति-ज्ञानस्वरूप कर्त्तव्यों का अनुगमन करता हुआ अपना

जन्म सफल बनाने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार ज्ञातव्य-कर्तव्यात्मक वेदशास्त्र के द्वारा सर्वस्वसिद्धि हो जाती है, जैसा कि-‘सर्ववेदान्त प्रसिद्धयति’ इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है।

उक्त कथन से प्रकृत में यही बतलाना अभीष्ट है कि, वेदशास्त्रसिद्ध ‘श्राद्ध’ पदार्थ भी ज्ञातव्य-कर्तव्य-भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। श्राद्धपदार्थ की (कर्म की) इतिकर्तव्यता ‘कर्तव्यात्मक श्राद्ध’ है, जिसका स्मृति, निबन्धादि ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। दूसरे शब्दों में ‘श्राद्ध कैसे करना चाहिए?’ इस प्रश्न का समाधान करने वाली श्राद्धमयूख, श्राद्धविवेक, श्राद्धमंजरी, आदि निबन्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित श्राद्धकर्म की पद्धति ‘कर्तव्यात्मकश्राद्ध’ है। श्राद्धकर्मान्तर्गत कर्तव्य कर्मों का मौलिक रहस्य क्या है? श्राद्धकर्म एवरूपेण कबों किया जाता है? श्राद्ध से पितर कैसे तृप्त हो जाते हैं? इत्यादि प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाला वेदशास्त्रसिद्ध उपपत्ति-विज्ञान ही ‘ज्ञातव्यात्मक श्राद्ध’ है। दूसरे शब्दों श्राद्धकर्म का मौलिक विज्ञान ही ‘ज्ञातव्यात्मकश्राद्ध’ है। इन उभयविध श्राद्ध-पदार्थों में से कर्तव्यात्मक श्राद्धपदार्थ (श्राद्धपद्धति) के लिए स्वतन्त्र निबन्ध लिखना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि पद्धति के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के द्वारा शतशः निबन्ध लिखे जा चुके हैं। दूसरा ज्ञातव्य-भाग बच रहता है। अवश्य ही श्राद्धकर्म की वैज्ञानिक उपपत्ति के सम्बन्ध में आज कोई ऐसा स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहा, जिसमें श्राद्ध-विज्ञान का एकत्र स्पष्टीकरण किया गया हो। एकमात्र इसी लक्ष्य से प्रस्तुत निबन्ध को ‘श्राद्ध-विज्ञान’ का प्रधान लक्ष्य माना गया है। चूंकि इसमें ज्ञातव्यात्मक-श्राद्ध-विज्ञान का ही प्रतिपादन हुआ है, अतएव इसे ‘श्राद्धविज्ञान’ नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ समझा गया है।

‘श्राद्धविज्ञान’ यह खण्डचतुष्टयात्मक सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम है। इस ‘श्राद्धविज्ञान’ नामक एक निबन्ध (ग्रन्थ) में विषयप्रतिपादन-सुविधा की, तथा प्रतिपाद्य विषयावगति की दृष्टि से ‘चार खण्ड’ रखे गए हैं। प्रत्येक खण्ड में कई एक ‘अवान्तरप्रकरण’ हैं। प्रत्येक अवान्तर प्रकरण में अनेक ‘परिच्छेद’ हैं, एवं प्रत्येक परिच्छेद में अनेक ‘वैज्ञानिक तत्त्वों’ का विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार श्राद्धविज्ञान, तदन्तर्गत चार खण्ड, खण्डान्तर्गत अवान्तर प्रकरण, अवान्तर प्रकरणान्तर्गत परिच्छेद, परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिकतत्त्वविश्लेषण, इस दृष्टि से विषयों का विभाजन हुआ है। प्रकृत में जिन विषयों का ‘तत्रैते विषया निरूपिता दृष्टव्याः’ रूप से दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, वे अवान्तरप्रकरणान्तर्गत ‘परिच्छेद’ हैं। परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिक विषयों की सूची प्रत्येक खण्ड के आरम्भ में ‘विषयसूची’ नाम से समाविष्ट हुई है।

‘श्राद्धविज्ञान’ निबन्ध में जितने भी विज्ञानात्मक अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है, उन्हें ‘उपनिषत्’ नाम से व्यवहृत किया गया है। आज दिन विद्वत्समाज में ‘उपनिषत्’ शब्द वेद के अन्तिम भागात्मक ‘ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डका’ दि ग्रन्थों में ही निरूढ़ माना जा रहा है। परन्तु हमारी दृष्टि में

‘उपनिषत्’ शब्द सर्वथा यौगिक* है। मौलिक उपपत्ति-वक्ष्य विज्ञान-सिद्धान्त के सम्यक् परिज्ञान से हमारा आत्मा प्रतिपाद्य विषय की ओर निश्चितरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। दूसरे शब्दों में मौलिक रहस्य-परिज्ञान से प्रतिपाद्य विषय की सत्यता पर श्रद्धा-विश्वास करते हुए उसकी इतिकर्तव्यता (अनुष्ठान) में हम प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी आधार पर-‘उप-(विषयसमीपे)-नि-(नितरां-निश्चयेन) सीदति-’ (प्रतिष्ठितो भवत्यात्मा यद्योपपत्त्या, सा उपपत्तिस्तस्य विषयस्य, कर्मणो वा-उपनिषत्’ इत्यादि निर्वचन के अनुसार विषयप्रवृत्तिहेतुभूता विज्ञानात्मिका मौलिक उपपत्ति को ‘उपनिषत्’ कहना अन्वर्थ बन जाता है। पाश्चात्य भाषा में जिस अर्थविशेष के लिए ‘प्रिन्सिपल’ (Principle) शब्द प्रयुक्त हुआ है, यावनी-भाषा जिस अर्थ में ‘उसूल’ शब्द का प्रयोग कर रही है, ठीक उसी अर्थ में आर्यभाषा ने ‘उपनिषत्’ शब्द के इस यौगिकार्थ को स्वीकार करने से ही ‘यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति’-‘अरण्यमियास पुनरेयात्’-‘तस्योपनिषदहमिति’-‘सत्यस्योपनिषच्छ्रद्धा’-‘तस्य वा एतस्याग्नेर्वागोपनिषत्’ इत्यादि आप्तवचनों में पठित ‘उपनिषत्’ शब्द का समन्वय किया जा सकता है। इसी यौगिकार्थ के आधार पर गीतास्मृति का ‘भगवद्गीतोपनिषत्’ नाम से व्यवहृत करना सुसङ्गत बनता है। यदि उपनिषच्छब्द केवल वेदान्त (वेद के अन्तर्भाग रूप ईशादि ग्रन्थों) में ही निरूढ होता, तो गीता को उपनिषत् कहना सर्वथा असङ्गत बन जाता। प्रस्तुत श्राद्धविज्ञाननिबन्ध के सभी अवान्तरप्रकरण चूंकि उपपत्ति-ज्ञान का विश्लेषण करते हुए उपनिषच्छब्द के यौगिकार्थ से समतुलित हैं। एकमात्र इसी आधार पर उन अवान्तर प्रकरणों को-‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’-‘पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्’-‘सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्’-‘आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्’ इत्यादि रूप से ‘उपनिषत्’ नामों से व्यवहृत करना उचित मान लिया गया है।

सम्पूर्ण निबन्ध ४ खण्डों, तथा (लगभग २० × ३० अठपेजी साइज के) १८०० (अठारह सौ) पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। तत्तुःखण्डात्मक इस श्राद्धविज्ञान में त्रिन अवान्तर वैज्ञानिक विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, उनका विशेष परिचय तत्तत् खण्डों के स्वाध्याय पर निर्भर है। एवं सामान्य परिचय तत्तत् खण्डों के आरम्भ में उद्धृत विषयसूची पर निर्भर है। प्रकृत प्रस्तावना में उनका दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है। निबन्ध समाविष्ट चारों खण्ड क्रमशः निम्नलिखित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

खण्डचतुष्टयात्मक-श्राद्धविज्ञान—

१—आत्मविज्ञानोपनिषत् (प्रथमखण्ड) ।

२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् (द्वितीयखण्ड) ।

*इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन त्रिखण्डात्मिका-उपनिषद्विज्ञानभाष्यश्रुतिका’ के प्रथम खण्डान्तर्गत ‘उपनिषच्छब्दरहस्य’ नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् (तृतीयखण्ड) ।

४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् (चतुर्थखण्ड) ।

१—आत्मविज्ञानोपनिषत् (प्रथमखण्ड)—

एतन्नामक प्रथमखण्ड में आत्मस्वरूप का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण हुआ है। 'अखण्डसखण्ड' से आत्मा के दो मुख्य विवर्त हैं। इन दोनों में अखण्डात्मा सर्वधर्मशून्य, सर्वव्यापक, अतएव वाङ्मनस-पथातीत, अतएव च एकान्ततः शास्त्रानधिकृत है। दूसरा सखण्ड आत्मा सर्वधर्मोपपन्न है। यह सखण्ड आत्मविवर्त महामाया, योगमायादि मायिक निबन्धनों से आठ विवर्तभावों में परिणत हो रहा है। शरीर-भिन्न-आत्मसत्तावाद ही श्राद्धकर्म की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव आरम्भ में आत्मा के स्वरूप का परिचय कराना ही आवश्यक समझा गया है। 'शरीर ही आत्मा है?', अथवा आत्मतत्त्व शरीर से पृथक् है?'—'यदि आत्मा व्यापक है, तो उसकी परलोकगति कैसे सम्भव है?'—यदि आत्मा पूर्वं शरीर के साथ ही अन्य शरीर धारण कर लेता है, तो पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म किस के उद्देश्य से किया जाता है?'—'पार्वणादि श्राद्ध किस आत्मा के लिए विहित है?'—'गयाश्राद्ध किस आत्ममुक्ति का कारण बनता है?' इत्यादि यच्चयावत् आत्मस्वरूपविषयिणी जिज्ञासाओं का वैज्ञानिक समाधान करने वाले 'आत्म-विज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में निम्नलिखित अवान्तर प्रकरणों तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है:—

१—आत्मविज्ञानोपनिषदि—(प्रथमखण्डात्मिकायाम्)—

१—अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्—प्रथमा

२—अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया

३—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्—तृतीया

४—विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्—चतुर्थी

५—महदात्मविज्ञानोपनिषत्—पञ्चमी

६—प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्—षष्ठी (तत्र)

१—वैश्वानरात्मविज्ञानोपनिषत्

२—तैजसात्मविज्ञानोपनिषत्

३—प्राज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्

} —प्रत्यगात्मोपनिषत् (१)

- | | | |
|---------------------------|---|-----------------------|
| ४—हंसात्मविज्ञानोपनिषत् | } | —प्रेतात्मोपनिषत् (२) |
| ५—बाह्यात्मविज्ञानोपनिषत् | | —शरीरात्मोपनिषत् (३) |

१—श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’ नामक प्रथमखण्ड—

आत्मविज्ञानोपनिषदि—(प्रथमखण्डात्मिकायाम्)—

१—‘अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्’—प्रथमा

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|----------------------------------|----------------------------|
| १—आत्मस्वरूपजिज्ञासा | १२—काल के विचालीभाव |
| २—नास्तिकाभिमत आत्मस्वरूप | १३—मन्वन्तरविज्ञान |
| ३—आस्तिकाभिमत आत्मस्वरूप | १४—लयकालमीमांसा |
| ४—आस्तिकों का तत्त्ववाद | १५—नित्यानित्यविवर्त |
| ५—स्वयम्भू प्रजापति का आत्मोपदेश | १६—ब्रह्म का त्रेधा वितान |
| ६—व्यासाभिमत आत्मतत्त्वपरीक्षा | १७—ब्रह्म की अनन्त विभूति |
| ७—हमारी अध्यात्मसंस्था | १८—मायोपाधिक पुरुषब्रह्म |
| ८—सृष्ट्यनुगता आगमद्वयी | १९—मायोपाधिक प्रकृतिब्रह्म |
| ९—अहोरात्रस्वरूपदिग्दर्शन | २०—षोडशकल अमृतब्रह्म |
| १०—मनुतत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन | २१—प्रणवब्रह्म के चार पाद |
| ११—मनु और मन्वन्तर | २२—अमृतात्मस्वरूपपरिचय |

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चैयमात्मविज्ञानोपनिषदि—‘अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्’ प्रथमा

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

२—‘अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्’ द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|------------------------------|--------------------------------|
| १—ब्रह्म की विकारमृष्टि | ६—उपलब्धिलक्षण वेदात्मा |
| २—बाङ्मय अव्यक्तात्मा | ७—त्रिःसत्यप्रजापति |
| ३—अव्यक्तात्मा के तीन विवर्त | ८—त्रित्वप्रवर्तक अव्यक्तात्मा |

- ४—नियतिलक्षण अन्तर्गामी ६—अव्यक्तात्मा का प्रकृतिभाव
५—ऋतसत्यलक्षण सूत्रात्मा १०—प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चैयमात्मविज्ञानोपनिषदि 'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

३—'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|---|-----------------------------|
| १—पारमेष्ठ्यतत्त्वपरिचय | ७—परमेष्ठी का प्रथमविवर्त |
| २—आत्मसोपानपरम्परा | ८—विश्वप्रकृतिभूत यज्ञपुरुष |
| ३—अदः, इदं-विवर्त | ९—यज्ञात्मा के विविध विवर्त |
| ४—यज्ञात्मस्वरूप परिचय | १०—आध्यात्मिक यज्ञात्मा |
| ५—यज्ञात्मा के यज्ञ-चित् नामक दो विवर्त | ११—यज्ञ का योनिभाव |
| ६—यज्ञात्मक विष्णु का स्वरूप परिचय | १२—त्रयीमय त्रिगुणात्मा |

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चैयमात्मविज्ञानोपनिषदि—'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

४—'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|-------------------------------------|---------------------------------|
| १—परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अव्यक्तत्व | ६—सूर्यात्मक क्षत्ररुद्र |
| २—विश्वस्य हृदयम् | ७—सौर अन्नादाग्नि के तीन विवर्त |
| ३—सोम, चित्, इन्द्र, विभूतियाँ | ८—सूर्यमूलक देवात्मा |
| ४—यज्ञप्रवर्तक विश्वात्मा | ९—सूर्यमूलक विज्ञानात्मा |
| ५—यज्ञ के विविध विवर्त | १०—धिषणा तथा प्राणविवर्त |

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चैयमात्मविज्ञानोपनिषदि—'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

५—‘महानात्मविज्ञानोपनिषत्’ पञ्चमी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|------------------------------|-------------------------------------|
| १—महान् की महत्ता | ८—विश्वयोनिलक्षण ‘महानात्मा’ |
| २—महोदेव, और ‘महान्’ | ९—सुषुप्त्यधिष्ठाता ‘महानात्मा’ |
| ३—सोम-चिदात्मक ‘पितर’ | १०—आकृति-अहंकृतिलक्षण ‘महानात्मा’ |
| ४—त्रिविध ज्ञानविवर्त | ११—सत्त्व-रज-स्तमोलक्षण ‘महानात्मा’ |
| ५—प्रजापतिविवर्तत्रयी | १२—चान्द्र-‘महानात्मा’ |
| ६—त्रिगुणात्मक ‘पुरुषब्रह्म’ | १३—चान्द्र-‘प्रज्ञानात्मा’ |
| ७—एकाक्षरलक्षण ‘महद्ब्रह्म’ | प्रकरणोपसंहार |

समाप्ता चैयमात्मविज्ञानोपनिषदि—‘महानात्मविज्ञानोपनिषत्’ पञ्चमी

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

६—‘प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्’ षष्ठी

(तत्रैता आत्मोपनिषदो व्याख्याता द्रष्टव्याः)

- | | |
|------------------------------|--------------------------|
| १—वैश्वानरात्मविज्ञानोपनिषत् | } प्रत्यगात्मोपनिषत् (१) |
| २—तैजसात्मविज्ञानोपनिषत् | |
| ३—प्रज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् | |
| ४—हंसात्मविज्ञानोपनिषत् |] → प्रेतात्मोपनिषत् (२) |
| ५—बाह्यात्मविज्ञानोपनिषत् |] → शरीरात्मोपनिषत् (३) |

(तस्यामेतस्यां षष्ठ्या-पञ्चात्मोपनिषदात्मिकायां-‘प्राणात्मविज्ञानोपनिषदि’ निम्न-विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|---|-------------------------------------|
| १—अविज्ञान-क्षणिकविज्ञानमूला भ्रान्ति | ६—सीमाभावप्रवर्तक ‘माया’ परिग्रह |
| २—विभिन्नपक्षसमर्थन | ७—कलाप्रवर्तक ‘कला’ परिग्रह |
| ३—व्याख्यादोषमूल आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति | ८—सगुणभावप्रवर्तक ‘गुण’ परिग्रह |
| ४—आत्मभेदस्वरूपपरिचय | ९—सविकारभावप्रवर्तक ‘विकार’ परिग्रह |
| ५—आत्मपरिग्रहमूलक आत्मस्वरूपभेद | १०—सावरणभावप्रवर्तक ‘आवरण’ परिग्रह |

- ११—साञ्जनभावप्रवर्तक 'अञ्जन' परिग्रह
 १२—विभूति, पाप्मा, परिचय
 १३—विराट् प्रजापति
 १४—महेश्वर की सर्वव्याप्ति
 १५—सर्वधर्म्मोपपन्न पुरुषात्मा
 १६—प्रजापतिचतुष्टयी
 १७—जीवात्मस्वरूपोपक्रम
 १८—चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास,
 १९—योग-बन्ध-विभूति
 २०—विदित, अविदित, उभयातीत, आत्मविवर्त
 २१—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः
 २२—शब्दब्रह्मविवर्त
 २३—विश्वामुवनानि
 २४—रुद्रत्रैलोक्य
 २५—दक्षिणामूर्तिशिवतत्त्व
 २६—वायुवेष्टित भूपिण्ड
 २७—अन्नादप्रकृति, और भूपिण्ड
 २८—पार्थिक 'एमूषवराह'
 २९—शूद्र, और शूकरपशु
 ३०—अमृत-मृत्युलक्षणा पार्थिवसंस्था
 ३१—देवासुरप्रतिस्पर्द्धा
 ३२—विस्मस्त पार्थिवप्रजापति
 ३३—षट्शुक्रात्मक पार्थिवविवर्त
 ३४—पार्थिवाग्नि के विविध विवर्त
 ३५—पार्थिवाग्नि का अन्नादत्त्व
 ३६—कृष्णाजिन, और पुष्करपर्ण
 ३७—अग्निचितिरहस्य
 ३८—अर्क, महाव्रत, उक्थ्य परिचय
 ३९—'वाक्साहस्री' का स्वरूप परिचय
 ४०—वाङ्मयस्तोमविवर्त
 ४१—'लोकसाहस्री' का स्वरूप परिचय
 ४२—'अदिति-दिति-विवर्त
 ४३—सर्वभूतान्तरात्मा
 ४४—आत्मा, ब्रह्मा, देव, विवर्त
 ४५—आत्मगत्यधिष्ठाता सुपर्णपक्षी
 ४६—परिच्छिन्न मृत्युबन्धन
 ४७—चामत्कारिक पुरुषात्मा
 ४८—प्राणात्मोपनिषत् की उपनिषत्
 ४९—वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्तिविराट्-दर्शन
 ५०—अर्थमूर्ति वैश्वानरात्मा (उपनिषत्)
 ५१—क्रियामूर्ति 'तैजसात्मा' (")
 ५२—ज्ञानमूर्ति 'प्राज्ञ आत्मा' (")
 ५३—वायुमूर्ति 'हंसात्मा' (")
 ५४—भूतमूर्ति 'ब्राह्म्यात्मा' (")
 ५५—सर्वज्ञ-अल्पज्ञ-समतुलन
 ५६—विभूतिलक्षण 'ऋषि' तत्त्व
 ५७— " 'पितर' तत्त्व
 ५८— " 'असुर' तत्त्व
 ५९— " 'देव' तत्त्व
 ६०— " 'मनु' तत्त्व
 ६१— " 'गन्धर्व' तत्त्व
 ६२—विभूतिलक्षण 'ग्रह' तत्त्व
 ६३— " 'पशु' तत्त्व
 ६४—विद्याचतुष्टयीलक्षणा 'विद्याविभूति'
 ६५—महाविभूतिलक्षणा 'कामविभूति'
 ६६—अनुगमनलक्षणा 'कर्मविभूति'

६७—बन्धलक्षणा 'शुक्रविभूति'	७७—पारयात्री भोक्तात्मा
६८—गतिलक्षणा 'प्राणविभूति'	७८—जीवात्मविभूति प्रदर्शन
६९—साधनलक्षणा 'ज्ञान-कर्मद्रियविभूति'	७९—पडवस्था स्वरूप परिचय
७०—सर्वव्याप्तिलक्षणा पूर्णोन्द्रविभूति'	८०—अविद्या-स्वरूप
७१—सत्यसंकल्पत्वविभूति	८१—बन्ध-स्वरूप
७२—एकरसत्वविभूति	८२—कर्मविपाक-स्वरूप
७३—एकावस्थत्वविभूति	८३—ग्राशय-स्वरूप
७४—विश्वव्यापकत्व-सृष्टत्वविभूति	८४—अपूर्णत्व-स्वरूप
७५—सर्वसाक्षित्व, वशित्व, कर्माध्यक्षत्व-विभूति	८५—संसार (गमनागमन) स्वरूप
७६—पाप्माऽसृष्टत्वविभूति	प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि-पञ्चात्मविज्ञानोपनिषदात्मिका-प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्'पण्ठी

समाप्तश्चायमात्मविज्ञानोपनिषदात्मकः श्राद्धविज्ञानान्तर्गतः

प्रथमः खण्डः

२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् (द्वितीयखण्ड)—

एतन्नामक द्वितीय-खण्ड में वैज्ञानिक-दृष्टि से 'पितृ' तत्त्व का विश्लेषण हुआ है। 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में जिन आठ आत्मस्वरूपों का विवेचन हुआ है, उनमें से 'महानातात्मविज्ञानोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में प्रतिपादित 'महानात्मा' ही पिण्डदानादिलक्षण पार्वणादिश्राद्धकर्मों को प्रतिष्ठा है। सौम्यशुक्राधारेण प्रतिष्ठित महानात्मा में चतुरशीतिकम पितृप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी पितृप्राणसमष्टि की तृप्ति के लिए श्राद्धकर्म विहित है। 'अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-मेव से त्रिसंस्थ बने हुए पितृप्राण का मौलिक स्वरूप क्या है?' —ताग्दीपुण-पार्वण-अध्रमुल्ल-नामक पितरों का क्या स्वरूप है?' —'अग्निषत्-सोमसत्-वर्हिषत्-नामक अस्मात्मक पितर, आग्यपा-सोमपा-हविर्भू-कनामक आशादात्मक पितर, सुकाली-नामक अनुभय पितर अपना कैसा स्वरूप रखते हुए कहाँ प्रतिष्ठित रहते हैं?' क्या करते हैं?' —'वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त शिशिर-भेदभिन्न ऋतुपितरों का क्या स्वरूप है?' क्यों उन्हें 'ऋतुपितर' कहा गया?' —'पितृप्राण की मूलप्रतिष्ठाकूप अतएव-'पितृणां पितरः' नाम से प्रसिद्ध पितृदेवताओं का क्या स्वरूप है' इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान के अतिरिक्त आरम्भ में ही प्रस्तुत प्रकरण (२ खण्ड) में उन श्रौत-स्मार्त-प्रमाणों का भी संग्रह हुआ है, जो विस्पष्ट भाषा में 'मृतपितृ-श्राद्धकर्म' का समर्थन कर रहे हैं। श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक इस द्वितीयखण्ड में निम्नलिखित पाँच अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि— (द्वितीयखण्डात्मिकायाम्)—

१—प्रमाणोपनिषत्

२—पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्

३—दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

४—ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

५—प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

२—श्रीद्विज्ञानान्तर्गत—'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक द्वितीयखण्ड—

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—(द्वितीयखण्डात्मिकायाम्)—

१—'प्रमाणोपनिषत्'—प्रथमा

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—आर्षप्रजा की शास्त्रनिष्ठा

७—प्रमाणचतुष्टयी

२—'प्रमाण' शब्द मीमांसा

८—वृद्धव्यवहार की प्रामाणिकता

३—शाब्दी-दृष्टि, युक्ति,

९—श्रीद्विज्ञानान्तर्गत प्रामाण्यवाद

४—स्वतः, परतः प्रामाण्यवाद

१०—वेदसंहितोक्त प्रामाण्यवाद

५—प्रत्यक्षप्रमाण के दो विवर्त

११—ब्राह्मणभाष्योक्त प्रामाण्यवाद

६—शब्दप्रामाण्यवाद

१२—शास्त्रीयप्रश्नमीमांसा

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—'प्रमाणोपनिषत्' प्रथमा

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

२—'पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—अमृतात्मब्रह्म का सिंहावलोकन

३—लेखात्मिका पुरविभूति

२—सृष्टिविवर्त समतुलन

४—त्रयीब्रह्म का वैभव

- | | |
|-------------------------------------|----------------------------------|
| ५—ब्रह्म की 'स्वात्' विभूति | २२—आत्मसत्यस्वरूपपरिचय |
| ६—पितृप्राणप्रतिष्ठात्मकतत्त्व | २३—नाभि, प्रधि, भावद्वयी |
| ७—पितृलक्षण पवित्रसोम | २४—सर्वप्रतिष्ठातत्त्व |
| ८—भृगुद्वारा विजातीयप्राणाप्रवृत्ति | २५—सर्वाग्रज सत्यतत्त्व |
| ९—अङ्गिरा के ३३ विवर्त | २६—अग्नित्रयी-मीमांसा |
| १०—दाम्पत्यभावमूलक विराट्पुरुष | २७—सोमत्रयीमीमांसा |
| ११—अमृत, सत्य, यज्ञ-त्रयीमीमांसा | २८—यमस्वरूपपरिचय |
| १२—संस्कार्य विष्वविवर्त | २९—अग्नि-सोम की अभिन्नता |
| १३—ऋषि-पितृ-देव-प्राणत्रयी | ३०—अङ्गिरा-भृगु-यम-का पितृत्व |
| १४—बाह्य जगत् | ३१—तत्त्वाभिव्यक्ति |
| १५—प्राकृतिकपितृप्राणमीमांसा | ३२—तत्त्वद्वयी की व्यापकता |
| १६—पर, मध्यम, अवर-पितृत्रयी | ३३—अग्निविभूतिप्रदर्शन |
| १७—त्रिविधपितृप्राण की मूलप्रकृति | ३४—वायुविभूतिप्रदर्शन |
| १८—ब्रह्म की ऋत-सत्य-मृष्टि | ३५—आदित्यविभूतिप्रदर्शन |
| १९—सत्तास्वरूपपरिचय | ३६—मनु, यम, मृत्युविभूतिप्रदर्शन |
| २०—विष्टुतिस्वरूपपरिचय | ३७—दशविध सोमविभूतिप्रदर्शन |
| २१—ष्टुतिस्वरूपपरिचय | प्रकरणोपसंहार |

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—'पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि —

३—'दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|--------------------------------|-----------------------------|
| १—दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपक्रम | ५—सप्त दिव्याः पितरः |
| २—सौम्यासः पितरः | ६—आत्मब्रह्म की सप्तपुरुषता |
| ३—अङ्गिरसः पितरः | ७—विरोधाभास, एवं तन्निराकरण |
| ४—सुस्वधाः पितरः | प्रकरणोपसंहार |

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—“दि० पि० विज्ञानोपनिषत्” तृतीया

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

४—‘ऋतुपितृस्वरूपविज्ञोपनिषत्’ चतुर्थी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|-------------------------|-------------------------------|
| १—ऋतुपितृस्वरूपविज्ञासा | ८—ऋतुसम्बन्धी राशिचक्र |
| २—दिग्विभागप्रदर्शन | ९—यज्ञानुगतपञ्चर्तुविज्ञान |
| ३—ऋतु, और ऋत्विक् | १०—षड्ऋतुस्वरूपविज्ञान |
| ४—दशविध अग्निविवर्त | ११—उद्ग्राभ, निग्राभ, तारतम्य |
| ५—त्रिंशद्विध सोमविवर्त | १२—ऋतुकालानुगत प्रजाविवर्त |
| ६—प्रयोजिका धर्मत्रयी | १३—ऋतुपितृस्वरूपपरिचय |
| ७—ऋतुसर्गमीमांसा | १४—ऋतुपितरों की सप्तपुरुषता |

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि ‘ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्’ चतुर्थी

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

५—‘प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्’-पञ्चमी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|-------------------------------|------------------------------|
| १—लोकानुगत पितृस्वरूपपरिचय | ६—त्रैगुण्यभावानुगत पितर |
| २—आधिकारिक, कार्मिक, पितृषट्क | ७—नान्दीमुखपितृस्वरूपमीमांसा |
| ३—सौम्यपितृस्वरूपपरिचय | ८—पार्वणपितृस्वरूपमीमांसा |
| ४—‘आयन्तु नः पितरः’ | ९—अश्रुमुखपितृस्वरूपमीमांसा |
| ५—प्रजोत्पादक पितर | १०—प्रेतपितृस्वरूपपरिचय |

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि-प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् पञ्चमी

समाप्तश्चायं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदात्मकः श्राद्धविज्ञानान्तर्गतो

द्वितीयः खण्डः

३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् (तृतीयखण्ड)—

एतन्नामक तृतीयखण्ड में महानात्मा से सम्बन्ध रखने वाले, बीजीपुरुष से आरम्भ कर उसकी सप्तम सन्तति पर्यन्त वितत होने वाले साप्तपौरुष-सापिण्ड्यभाव का ही वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। सप्त पुरुष पर्यन्त वितत प्रजातन्तु का क्या स्वरूप है ? — पुत्रोत्पादन, पार्वणादिश्राद्ध, गयाश्राद्धादि से श्राद्धकर्त्ता पितृऋण से कैसे विमुक्त हो जाता है ? — 'गोत्रसापिण्ड्य, विवाहसापिण्ड्य, दायदसापिण्ड्य, आदि सापिण्ड्यभावों की मूलप्रतिष्ठा क्या है ?' पितृऋण का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ? — प्रजातन्तुप्रवर्त्तक पितृप्राणात्मक सहःपिण्डों का क्या स्वरूप है ? — 'सप्तम पुरुष के अनन्तर सपिण्डता क्यों निवृत्त हो जाती है ?' — 'गोत्र का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?' — 'समानगोत्रों में विवाह सम्बन्ध क्यों निषिद्ध माना गया है ?' — पिण्डभाजः—लेपभाजः—प्रेतपितरों का क्या स्वरूप है ? — 'प्रेतपितृनिमित्त प्रवृत्त पिण्ड, एवं गोदानादि, विदूरस्थ प्रेतपितरों के समीप कैसे पहुँच जाते हैं ?' — 'अघाशौच—सूतकाशौच—शावाशौच—आदि आशौचों का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?' — सम्पूर्ण वंशजों में आशौच सम्बन्ध कैसे संक्रान्त हो जाता है ? — इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान का विश्लेषण करने वाले प्रस्तुत तृतीय खण्ड में निम्नलिखित अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—(तृतीयखण्डात्मिकायाम्)—

१—प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्

२—ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्

३—आशौचविज्ञानोपनिषत्

३—श्रीअद्विज्ञानान्तर्गत—'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड—

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—(तृतीयखण्डात्मिकायाम्)

१—'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—विषयोपक्रम

२—महानात्मानुगत पितृत्व

३—प्रजातन्तुप्रतिष्ठाकरण महानात्मा

४—भूतसम्परिष्वक्त महानात्मा

५—महानात्मा का आविर्भावक

६—औपपातिक कर्मात्मा

७—'रेतो' मय कर्मात्मा

८—'इरा' रसमय कर्मात्मा

९—प्रपदप्रतिष्ठ कर्मात्मा

१०—'करारविन्देन पदारविन्दम्'

- | | |
|-----------------------------------|---|
| ११—कर्ममात्मा के तीन जन्म | २२—सहः के आह्निकादि चार पिण्ड |
| १२—रेत, योनि, रेतोधा, | २३—सहोभाग का पितृप्राणात्मकत्व |
| १३—कौपीतिक का 'विचक्षण' तत्त्व | २४—शुक्रक्षयमीमांसा |
| १४—'सम्बत्सरस्य प्रतिष्ठा' | २५—अपत्य-पत्य-पुरुषमीमांसा |
| १५—'मासि मासि वोऽशनम्' | २६—पितृसोमयज्ञद्वारा ऋणप्रवृत्ति |
| १६—दधि, घृत, मधु-लक्षण कर्ममात्मा | २७—पितृधनावापमीमांसा |
| १७—आत्मविवर्तसम्परिष्वक्ति | २८—आवापपिण्ड, बीजपिण्ड मीमांसा |
| १८—चन्द्रलोकानुगत महानात्मा | २९—निवाप, पितृ, तन्य, पिण्डत्रयी |
| १९—गमनस्थिति-विश्लेषण | ३०—आत्मधन, आत्मऋण, स्वरूपमीमांसा |
| २०—गोत्रसृष्टिमीमांसा | ३१—तन्तुवितानसम्बन्धी प्रमाणवाद |
| २१—पितृसहःस्वरूपविज्ञान | ३२—महर्षि 'बृहदुक्थ' का प्रजातन्तुवितान-विज्ञान |

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—'प्रजातन्तुविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

२—'ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|---------------------------------------|---|
| १—पञ्चविध ऋणस्वरूपविज्ञान | १०—श्राद्धकर्मनिगुत आनृण्यविज्ञान (३) |
| २—प्रजोत्पादनानुगत आनृण्यविज्ञान (१) | ११—तन्तुलक्षण श्राद्धकर्त्ता का स्वरूपपरिचय |
| ३—मात्रानुगत ऋणतत्त्ववितान | १२—देवयज्ञस्वरूपमीमांसा |
| ४—'ऋणमस्मिन् संनमयति' | १३—'श्रद्धा' का तात्त्विकस्वरूपविज्ञान |
| ५—द्वादशविध पुत्रस्वरूपपरिचय | १४—श्रद्धामय 'श्रद्धासूत्र' |
| ६—प्रजोत्पादनादेश | १५—श्रद्धासूत्रानुगत 'श्राद्धकर्म' |
| ७—पुत्रमाहात्म्यप्रदर्शक वैदिक आख्यान | १६—श्रद्धातारतम्य से श्रद्धासूत्र में तारतम्य |
| ८—सापिण्डीकरणानुगत आनृण्यविज्ञान (२) | १७—प्राकृतिक हेतु से श्रद्धासूत्र का उपचयापचय |
| ९—पितृतन्तु का ताना, बाना, | १८—अमावास्या, और पूर्णिमा |

- | | |
|--|--------------------------------------|
| १६—अमावास्यानुगत श्राद्धकर्म | २८—श्राद्धानुगत ब्राह्मणभोजनमीमांसा |
| २०—सन्ततिनिरोधकपितृदोष (१६) | २९—गयाश्राद्धानुगत आनूष्यविज्ञान (४) |
| २१—श्रौताख्यान द्वारा श्राद्धविज्ञान का स्पष्टीकरण | ३०—खण्डात्माश्रयों का यथास्थान विलयन |
| २२—प्राणविद्यामूलक श्राद्धकर्म | ३१—गयाप्राणात्मक आगन्तुक महानात्मा |
| २३—श्राद्धकर्मनुगत श्रौतपरिभाषाविज्ञान | ३२—गयाप्राणात्मक आत्मा की क्लान्ति |
| २४—श्राद्धोपकरणों की सोमात्मकता | ३३—मुग्धप्रेतपितरों की भोग्यसामग्री |
| २५—प्रेतात्मतृप्तिप्रवर्तक श्राद्धकर्म | ३४—पितृसम्पत्, और पितृतृप्ति |
| २६—श्राद्धकर्मभेदमीमांसा | ३५—गयाक्षेत्र का वैज्ञानिक स्वरूप |
| २७—श्राद्धानुगत कालतत्त्वमीमांसा | ३६—गयाश्राद्धद्वारा प्रेततृप्ति |

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—‘ऋणमोक्षनोपायविज्ञानोपनिषत्’ द्वितीया
सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

३—‘आशौचविज्ञानोपनिषत्’—तृतीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

किमपि प्रास्ताविकम्

- | | |
|-------------------------------------|---------------------------|
| १—आशौचपात्रस्वरूपमीमांसा | (१) विवाहसापिण्ड्य |
| २—आशौचस्वरूपमीमांसा | (२) दायसापिण्ड्य |
| ३—अघाशौचस्वरूपमीमांसा | (३) आशौचसापिण्ड्य |
| ४—आशौचत्रयीमीमांसा | (४) पिण्डस्वरूपसिंहावलोकन |
| ५—स्पर्शस्पर्शमीमांसा | ख—विद्याकृतसम्बन्धसूत्र |
| ६—कर्तव्याकर्तव्यमीमांसा | ग—यज्ञकृतसम्बन्धसूत्र |
| ७—आशौचनिमित्तमीमांसा (आशौचोपपत्तिः) | घ—संसर्गकृतसम्बन्धसूत्र |
| ८—सम्बन्धसूत्रमीमांसा | प्रकरणोपसंहार |
| क—योनिकृत सम्बन्ध सूत्र | |

समाप्ता चेयं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—‘आशौचविज्ञानोपनिषत्’ तृतीया
समाप्तश्चायं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदात्मकः श्राद्धविज्ञानान्तर्गतः—

तृतीयः खण्डः

४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् (चतुर्थखण्ड) —

एतन्नामक चतुर्थ-खण्ड में कर्मात्मा से सम्बन्ध रखने वाली गति का ही वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है । “नित्य-क्रम-गतियों का क्या स्वरूप है ?”—आत्मलोक कौन-कौन से हैं ?—“किन कर्मों से आत्मा किन लोकों में जाकर क्या-क्या फल भोगता है ?”—“पन्था, कर्म, नाडी, आकाश, छन्द, आतिवाहिक, आदि आत्मगतिनिमित्तों का क्या स्वरूप है ?”—“ब्रह्मपथ, देवपथ, पितृपथ, यमपथ, आदि मार्ग कहां कहां व्यवस्थित हैं ?”—“परामुक्ति, अपरामुक्ति, समवलय, क्षीणोदक, भूमोदक, कैवल्य, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य आदि उत्तम गतिभावों का क्या स्वरूप है ?”—“कृष्णमार्ग, शुक्लमार्ग, परोजामार्ग, अगतिमार्ग, आदि मार्ग अपना क्या स्वरूप रखते हैं ?”—“ब्रह्मगति-प्रवर्त्तक ब्रह्माश्वत्थ, तथा कर्मगतिप्रवर्त्तक “कर्माश्वत्थ, का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?”—इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विवेचन करने वाले प्रस्तुत चतुर्थ (अन्तिम) खण्ड में निम्नलिखित एक प्रकरण तथा ८ परिच्छेदों का समावेश हुआ है:—

४—श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—‘आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्’ नामक चतुर्थखण्ड—

१—‘आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्’ प्रथमैव

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

सन्दर्भसङ्गति

- | | |
|--------------------------------|------------------------------|
| १—गतिस्वरूपपरिचय | ५—गत्यारूढ प्रत्यगात्मा |
| २—आत्मगतिविषयिणी प्रश्नपरम्परा | ६—आत्मोत्क्रान्ति के निमित्त |
| ३—आत्मगतिमूलक आत्मस्वरूपपरिचय | ७—आत्मोत्क्रान्ति के परिचायक |
| ४—प्रश्नपरम्परा का समाधान | ८—आत्मगति के निमित्त |

- | | | |
|-----------|--------------|---------------------------|
| क—पन्थानः | घ—छन्दांसि | * आतिवाहिकपरिशिष्टः |
| ख—कर्माणि | ङ—देवताः | छ—आकाशः |
| ग—नाड्यः | च—आतिवाहिकाः | ज—लोकाः (आत्मगतिस्थानानि) |

- | | |
|---------------------|-------------------|
| (१) नित्यगतिस्थानम् | (३) आगतगतिस्थानम् |
| (२) क्रमगतिस्थानम् | प्रकरणोपसंहार |

समाप्ता चेयं चतुर्थखण्डात्मिका—‘आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्’ प्रथमा
समाप्तश्चायमात्मगतिविज्ञानोपनिषदात्मकः श्राद्धविज्ञानान्तर्गतः—

चतुर्थः खण्डः

प्रतिपाद्य विषयदिग्दर्शनानन्तर प्रतिपादन शैली, तथा भाषादृष्टि के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है, एवं उस समय तो यह आवश्यकता और भी अधिक अपेक्षित हो जाती है, जब कि कई एक सम्माननीय महानुभावों के इस सम्बन्ध में प्रतिपादनशैली तथा भाषादृष्टि— अनेक प्रकार के सुभाव हमारे सम्मुख उपस्थित होते रहते हैं। 'हमारे प्रत्येक ग्रन्थ में एक ही विषय की अनेक बार पुनरावृत्ति रहती है। प्रतिपाद्य विषयों के अतिरिक्त समालोचनात्मक अनावश्यक विषयों का समावेश रहता है, जो उभयपक्ष में प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न कराते हैं। भाषा ठेठ 'पण्डिताऊ' होती है, संस्कृत-शब्द प्रचुरमात्रा से समाविष्ट रहते हैं। ग्रन्थ का आकार आवश्यकता से अधिक बृहत् होता है' ये ही वे कतिपय सुभाव हैं, जिन के लिए हम उन नीर-क्षीरविवेकी महानुभावों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हैं।

मान्य बन्धुओं द्वारा उद्धाटित दोषों को स्वीकार करते हुए इस सम्बन्ध में हमारी ओर से यही निवेदन करना श्रेय रह जाता है कि, शताब्दियों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से विलुप्त प्राप्त जिस 'आर्षविज्ञान' को हमने जीवन का लक्ष्य बनाया है, उसके सम्बन्ध में प्रत्येक दशा में हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, आर्षमर्यादा की रक्षा के नाते प्रतिपादनशैली, तथा भाषादृष्टि, दोनों की मूल-प्रतिष्ठा आर्षशैली ही बनाई जाय। इन्द्रियातीतविषयप्रधान आर्षविज्ञान के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में आर्ष महर्षियों ने एक ही विषय के पुनः पुनरावर्त्तन को सर्वथा उपादेय माना है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित ब्राह्मण भाग ही पर्याप्त होगा। पाठक देखेंगे, आरम्भ में 'अन्तर्यामी' के सम्बन्ध में श्रुति ने जो विषय उद्धृत किया है, विषय समाप्ति पर्यन्त वही विषय बार-बार उद्धृत हुआ है —

१—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः' । २—'यो ऽप्सु तिष्ठन् अद्भ्योऽन्तरः, यमापो न विदुः, यस्यापः शरीरं, योऽपोऽन्तरो यमयति, स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः' । ३—'यो ऽग्नौ तिष्ठन्' । ४—'य आकाशे तिष्ठन्' । ५—'यो वायो तिष्ठन्' । ६—'य आदित्ये तिष्ठन्' । ७—'यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्' । ८—'यो दिक्षु तिष्ठन्' । ९—'यो विद्युति तिष्ठन्' । १०—'य स्तनयित्नौ तिष्ठन्' । ११—'यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्' । १२—'यः सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्' । १३—'यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन्' । १४—'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' । १५—'यः प्राणे तिष्ठन्' । १६—'यो वाचि तिष्ठन्' । १७—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' । १८—'यः श्रोत्रे तिष्ठन्' । १९—'यो मनसि तिष्ठन्' । २०—'यस्त्वचि तिष्ठन्' ।

२१-‘यस्तेजसि तिष्ठन्०’ । २२-‘यस्तमसि तिष्ठन्०’ । २३-‘यो रेतसि तिष्ठन्०’ । २४-‘य आत्मनि तिष्ठन्०’ ।

—शत० ब्रा० १४।६।७।

यद्यपि इसका यह तात्पर्य नहीं कि, सर्वलोकोपकारक भाषा-ग्रन्थों में भी ठीक वैदिकशैली का अनुकरण करते हुए प्रत्येक विषय का पुनः पुनः आवर्तन किया जाय । तथापि प्रधान, तथा स्वतन्त्रविषय निरूपण करते समय अवश्यमेव कुछ एक सामान्य परिभाषाओं का प्रतिपादन, तथा सिंहावलोकन करना आवश्यक हो जाता है । ऐसा न करने पर ग्रन्थ सर्वथा लक्ष्यहीन बना रह जाता है । हम तो समझते हैं, दृष्टिकोण भेद से प्रतिपादित ये परिभाषा-प्रकरण सर्वसाधारण के लिए विशेष हितकर ही होते हैं । हां, जिन महानुभावों का लक्ष्य एकमात्र मनोरञ्जन ही है, साथ ही अन्यान्य अर्थसाधक लौकिक कार्यों में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण जिन्हें बुद्धिगम्य, अतएव ‘यत्तदग्रे विषमिव’ न्याय से कटुवत् प्रतीयमान आर्षसहित्य-स्वाध्याय के लिए समय ही न मिलता हो, उनके लिए अवश्यमेव हमारा प्रयास व्यर्थ बन सकता है, जिस व्यर्थता को हम अपने लिए ‘दृष्टापत्ति’ मानते हैं । जो इस विषय के जिज्ञासु हैं, परमात्मानुग्रह से जिन्हें ऐसे साहित्य-स्वाध्याय की सुविधा प्राप्त है, साथ ही जन्मान्तरीय, किंवा ऐहिक संस्कारानुग्रह से जो आर्षशैली से परिचित हैं, उनके लिए पुनरुक्तिमूला यह आर्षशैली कदापि उद्वेग का कारण नहीं बन सकती ।

दूसरे समालोचनात्मक सुभाव के सम्बन्ध में इसलिए विशेष वक्तव्य अनावश्यक है कि, सत्यास-त्यविवेक की दृष्टि से शिष्टभाषानुगत समालोचना-प्रसङ्ग ग्रन्थ का आवश्यक अङ्ग माना गया है । ‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’ न्याय से यत्र तत्र संक्षेप से निरूपित समालोचना-प्रसङ्ग परम्परया मूल-विषय का समर्थन ही कर रहे हैं । यदि श्राद्ध-तत्त्व प्रतिपादनप्रसङ्ग में हम श्राद्ध की अवैदिकतासिद्ध करने वाले भावों का दिग्दर्शन करा देते हैं, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती । अपना मन्तव्य, भले ही वह शास्त्र विरुद्ध ही क्यों न हो-स्वभावतः प्रेयः पदार्थ है । उसका उद्धाटन करना अवश्य ही तत्पक्षानु-यायी के लिए थोड़ी देर के लिए उद्वेगकर बन जाता है । परन्तु यही उद्वेग कालान्तर में उसे सत्यनिष्ठा भी बना देता है ।

तीसरे भाषानुगत सुभाव के सम्बन्ध में हम क्या कहें, जब कि भाषाज्ञान से हम सर्वथा वञ्चित है, और सम्भवतः अपने आवश्यक वेदस्वाध्यायकर्म में बिघ्न उपस्थित कर भाषा-पाठशाला में प्रविष्ट होना भी हम अपने लिए असम्भव मानते हैं । वर्तमान युग में ‘हिन्दी’ मातृभाषा है, तत्पुत्रत्वेन उसके ओढ़ का आश्रय ग्रहण करना स्वाभाविक है । पुत्र जिस वृत्ति से भी माता का आश्रय ग्रहण करे, माता स्वयं उसे संभाल लेती है । जहाँ तक हमारा विश्वास है, आर्षदृष्टिकोण से जिस हिन्दी को भारतवर्ष की (न कि हिन्दुस्तान की) मातृभाषा कहना उचित है, उसका आश्रय हमें प्राप्त हुआ है । हमने प्रयास किया है कि, कलिवाह्याहित भञ्जभावातों से मातृभाषा के स्वरूप को यथासम्भव सुरक्षित रखा जाय । यदि समुद्रपार की विदेशी भाषाएँ हमारे अन्तस्तल में स्थान पा सकती हैं, तो कोई कारण नहीं आर्षप्रजा

बोड़े से प्रयास से अपनी चिरसंस्कारानुगता भुसंस्कृता मातृभाषा के अवबोध में सफलता प्राप्त न कर सके। 'आन्नाश्च सिक्ताः, पितरश्च प्रीणिताः' न्याय से हमारे ये निबन्ध प्रतिपाद्य विषयों के साथ साथ-आर्पणशैली, आर्पणभाषा, आदि के भी परिचायक बनें, यही प्रधान-लक्ष्य है, एवं इस लक्ष्य के प्रति जितने भी सामयिक सुभाव हैं, वे सब आगन्तुकधर्मलक्षण-पर धर्मस्थानीय बनते हुए न केवल भयावह ही हैं, अपितु स्वधर्म (आर्पणधर्म) के स्वरूपविघातक भी हैं। फलतः—'स्वधर्मे-निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः' न्याय से उक्त सुभाव हमारे लिए दूर से ही प्रणम्य हैं।

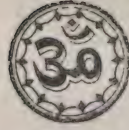
सर्वान्त में प्रास्ताविक-वक्तव्य समाप्त करते हुए केवल यह कहना शेष रह जाता है कि, प्रस्तुत 'श्राद्ध विज्ञान' ग्रन्थ आज से लगभग ७ वर्ष पहिले ही सम्पन्न हो गया था। परन्तु कई एक सामयिक विप्रतिपत्तियों के कारण इसे प्रकाशित न किया जा सका। पितृदेवता के श्रद्धासूत्रानुगत अव्यर्थ अनुग्रह से चिरकालानन्तर यह वाङ्मय पिण्डपितृयज्ञ सम्पन्न होने जा रहा है। प्रस्तुत प्रस्तावनोपसंहार— प्रस्तावना के साथ 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमखण्ड ही सर्वप्रथम प्रकाशित हो रहा है। आर्पणप्रजा का आवश्यक सहयोग ही आगे के तीन खण्डों के प्रकाशन का प्रधान निमित्त है, और प्रतीक्षामय दृढ़ विश्वास है कि, आर्पणप्रजा अवश्य ही इस प्रधान निमित्त का शीघ्र स्वरूप सम्पादन करेगी।

हम अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुए हैं ? इसका निर्णय भार तो विचारशील पाठकों पर ही निर्भर है। हाँ, अपनी ओर से इस सम्बन्ध में यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि, अत्यावश्यक श्राद्धकर्म के सम्बन्ध में आज जो कुतर्कवाद प्रचलित हैं, वेद को निमित्त बना कर धार्मिक जगत् की श्रद्धा पर जो आघात किया जा रहा है श्रद्धालु जनता इस पर प्रत्यय के मोह जाल में बद्ध होकर जिस पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म से विमुख होती जा रही है, ये सब विप्रतिपत्तियाँ ब्रह्म अंशों में इस निबन्ध से हट जायँगी। किसी पर आक्षेप न करते हुए वैदिकविज्ञानदृष्टि से, प्रधानतः श्रौतप्रमाणों का आश्रय लेते हुए, साथ ही तर्क, तथा युक्तिवाद को भी लक्ष्य बनाते हुए 'श्राद्धविज्ञान' सम्पन्न हुआ है। यद्यपि अनृतसंहित मनुष्य से भ्रान्ति हो जाना उसका स्वाभाविक धर्म है। परन्तु सद्भावना, अथवा कृपावना, उभयथा प्रदर्शित उस भ्रान्ति के मंशोधन के लिए अन्तरात्मा सदा सचद्व है।

विधेयः—

मोतीलाल शर्मा

भारद्वाजः (गौड़ः)



अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत

‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’

प्रथमखण्ड

१

- १—अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्—प्रथमा
 २—अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया
 ३—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् —तृतीया
 ४—विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्—चतुर्थी
 ५—महदात्मविज्ञानोपनिषत् —पञ्चमी
 ६—प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् —षष्ठी

—*—

स्वयमेवात्मानमात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम !
 भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! ॥१॥
 मत्तः परतपं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !
 मयि सर्वभिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥२॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १०-१५।७-७।

१—आत्मस्वरूपपरिचयः—(स्वमूर्तिः सर्वात्मा)

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषेति चिन्त्वा ।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥१॥
—श्वे० उ० १।२।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥२॥
—श्वे० उ० १।३।

तमेकैर्नेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शताद्वारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिविश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥३॥
—श्वे० उ० १।४।

पञ्चस्त्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्त्ता पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाषड्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥४॥
—श्वे० उ० १।५।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥५॥
—श्वे० उ० १।६।

य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णानेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥६॥
—श्वे० उ० १।७।

बृहच्च तद्विव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्वहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥
मुण्डक० उ० ३।१।७।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

—मुण्डक० उ० ३।१।८।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।

प्राणंश्चित्तं सर्व्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

—मुण्डक० उ० ३।१।९।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।

तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मात्—

“आत्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः” ॥

—मुण्डक० उ० ३।१।१०।

- (१) — { १—अधिदैवतम्—महामायावच्छिन्नश्चिदात्मा (पूर्णमदः)
२—अध्यात्मम्—योगमायावच्छिन्नश्चिदंशः (पूर्णमिदम्)

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—‘आत्मविज्ञानोपनिषदि’ प्रथमायां

“अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्”

प्रथमा

अमृतात्मा—पुरुषात्मा—‘षोडशीप्रजापतिः’

१—निष्कलः परात्परः (१)

२—पञ्चकलोऽव्ययः (५)

३—पञ्चकलोऽक्षरः (५)

४—पञ्चकल आत्मक्षरः (५)

सोऽयं चतुष्कलः, षोडशकलो वा पुरुषात्मा-षोडशी

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः 'परमात्मे' त्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय 'ईश्वरः' ॥२॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १५ अ० ११६, १७, १

१-अमृतात्मस्वरूपपरिचयः—(विद्या-कर्ममयो गूढोत्मा)

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो 'अमृतस्य' नाम ।

यो मा ददाति स इ देव मावदहमन्नमन्नमदन्तमग्नि ॥१॥

—सामसं० पू० ६।३।

अहमिद्धि पितुः परि मेधा 'मृतस्य' जग्रह ।

अहं सूर्य इवाजनि ॥२॥

—सामसं० पू० २।२।

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं 'पुरुषेण' सर्वम् ॥३॥

—श्वे० उ० ३।६

वेदाहमेत 'मजरं पुराणं' सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।

जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥४॥

—श्वे० उ० ३।२१।

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।

एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं' वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥५॥

—ऋक्सं० ८।१८।२

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म 'तदेवामृत' मुच्यते ।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तद् नात्येति कश्चन-एतद्वैतत् ॥६॥

—कठोपनिषत् २।३।१

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥७॥

—श्वे० उ० ३।१६

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं 'पुरुषं' महान्तम् ॥८॥

—श्वे० उ० ३।१६।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु 'महेश्वरम्' ।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥९॥

—श्वे० उ० ४।१०।





अमृतात्मब्रह्मणे नमः

अमृतात्मा-षोडशीप्रजापतिः

‘अमृतं ब्रह्म’ त्र्युपास्य

ईशावास्थमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

—ईशोपनिषत् *

श्राद्ध कर्म की मूलप्रतिष्ठा (शरीर से) भिन्नात्मसत्तावाद ही माना गया है । ‘आत्मा पञ्चभौतिक मर्त्य शरीर से भिन्न तत्त्व है, अमृतलक्षण नित्य पदार्थ है । स्थूलशरीर परित्यागान्तर आत्मा अङ्ग ण्ठमात्र आतिवाहिक शरीर (सूक्ष्मशरीर) धारण कर आत्मस्वरूपजिज्ञासा— शुभाशुभ कर्मानुसार शुभाशुभ उदक (फल) भोगने के लिए शुभाशुभ लोकान्तरों में गमन करता है’ इस सिद्धान्त की मान्यता के आधार पर ही श्राद्धकर्म प्रतिष्ठित है । निधनान्तर परलोक गमन करते हुए, एवं चान्द्रसम्बत्सरान्तर परलोक में पहुँचे हुए प्रेतात्मा को पिण्डदानादि से तृप्त करना ही सिद्धान्तपक्ष में ‘श्राद्धकर्म’ है । इस सिद्धान्तपक्ष की रक्षा एकमात्र शरीर-भिन्न नित्य-आत्मसत्ता-स्वीकृति पर ही अवलम्बित है । आस्तिक शास्त्रों (उपनिषदादि) में उपवर्णित आत्मस्वरूप सर्वसाधारण के लिए दुरधिगम्य है यही कारण है कि, आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में नाना प्रवाद पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं । एक ही आत्मतत्त्व के उन सोपाधिक विविध रूपों के सम्यक् परिज्ञान के बिना श्राद्ध-कर्माधिष्ठाता आत्मा का स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना कठिन है । अतएव प्रतिपाद्य श्राद्ध-विज्ञान के आरम्भ में ही आत्मस्वरूपपरिचय विजिज्ञास्य बन जाता है, जिसका स्पष्टीकरण आवश्यकरूप से अपेक्षित है ।

विजिज्ञास्य आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में चिरकाल से दार्शनिक विद्वानों में मतभेद चला आ रहा है । आत्मानुगत उन यच्चयावत् मतवादों को ‘आस्तिक-नास्तिक-’ इन दो वादों में अन्तर्भूत माना जा सकता

* इस मन्त्र के राजनीति, धर्मनीति, विज्ञाननीति, भेद से तीन अर्थ हुए हैं । देखिए—‘ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य’ १ खण्ड १ मन्त्रभाष्य ।

है। शरीरातिरिक्त आत्मसत्ता स्वीकार करने वाला विद्वद्गर्ग 'आस्तिक' नास्तिकाभिमत आत्मस्वरूप— नाम से, तथा शरीरात्मवादी लौकायतिकवर्ग 'नास्तिक' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। दोनों ही मतवाद पुरातन हैं।* स्वयं ऋग्वेदसंहिता में 'सद्वाद, असद्वाद' नाम से दोनों का उपवृंहण हुआ है। अस्तिलक्षण 'ब्रह्म' तत्त्वोपासक विद्वद्गर्ग 'ब्राह्मण' कहलाता है, नास्तिलक्षण 'श्रम' (कर्म) तत्त्वोपासक लौकायतिकवर्ग 'श्रमणक' कहलाया है। ब्रह्मात्मक 'रस' तत्त्वानुगामी ब्राह्मणवर्ग में, श्रमात्मक 'बल' तत्त्वानुगामी श्रमणकवर्ग में सदा से प्रतिस्पर्द्धा चली आ रही है। ब्राह्मणवर्ग 'सरोवर' को दृष्टान्त मानता हुआ आत्मनित्यता का समर्थन कर रहा है, एवं श्रमणक वर्ग 'रथ' को दृष्टान्त बनाता हुआ शरीर को ही आत्मा मान रहा है। दोनों मतवादों में से प्रथम 'श्रमणकवाद' (नास्तिकवाद) का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाता है।

आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में श्रमणों का यह कहना है कि,—“यातायातसाधनभूत 'रथ' सर्वथा अनित्य, तथा जड़ पदार्थ है। 'धुरा, चक्र, कस्तम्भी, प्रउय, ईषा,' आदि कतिपय परिगणित अवयवों की समष्टि ही रथ है। जब तक यह समष्टि बनी रहती, तभी तक 'रथ' (अवयवी) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, गतिमान् बना रहता है। जिस दिन इसके धुरा-चक्र-आदि अवयव ग्रन्थिवन्धन से पृथक् हो जाते हैं, उसी क्षण रथ की स्वरूपविच्युति हो जाती है। रथरूप अवयवी चक्रादिरूप अवयवों से पृथक् तत्त्व नहीं है। अपितु जिस प्रकार अनेक वृक्षों की समष्टि 'वन' है, अनेक आप्यकणों का समूह 'सरोवर' है, अनेक क्रियाओं का का कूट 'द्रव्य' है, एवमेव धुर-चक्रादि अनेक अवयवों की समष्टि ही 'रथ' रूप में परिणत हो रही है। जिस दिन अवयवों का ग्रन्थिवन्धन टूट जाता है, उसी दिन उसी काल में अवयवी का भी विनाश हो जाता है। अनेक अवयवों के समन्वय से जो 'रथ' कहलाता था, अवयवों के श्लथ हो जाने पर, श्रवण नष्ट हो जाने पर वह 'रथ' नाम का पदार्थ लोकान्तर में नहीं जाता, अपितु अवयवों का नाश ही उस का विनाश है। यही अवस्था आत्मा की है। 'रस-अमृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-त्वक्-चर्म'-आदि अनेक अवयवों की समष्टि ही शरीर है। यही शरीर आत्मा है। यही अवयवी है। इन अवयवों के समन्वय से तात्कालिक अपूर्व क्रियाभाव उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार यन्त्र के अवयव (पुर्जे) पृथक् पृथक् कर देने से यन्त्र की क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है, एवमेव शरीर के अवयवों के पृथक्-करण से क्रिया अवलुप्त हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में केवल क्रियाधर्म को देख कर आत्मा को शरीर से पृथक् माना, साथ ही में उस को नित्य मानना सर्वथा भ्रान्ति है। जिस प्रकार अवयवी रूप रथ परलोक में नहीं जाता, एवमेव शरीर के नष्ट हो जाने पर अवयवी रूप आत्मा का परलोकगमन मानना, साथ ही में उसे शरीर से पृथक् नित्य तत्त्व मानना सर्वथा असङ्गत है” इस प्रकार नास्तिक लोग कई एक हेत्वा-भासों के आधार पर स्वतन्त्र आत्मसत्ता का विरोध करते हुए 'रथवत्' शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं।

*इन सदसद्वाददि पुरातन वादों का वैज्ञानिक विवेचन 'गीताभाष्यभूमिका' २ खण्ड 'ख' विभाग 'ब्रह्मकर्मपरीक्षा' में देखना चाहिए।

आस्तिक मतानुसार आत्मा शरीर से सर्वथा पृथक्, एवं नित्य तत्त्व है। एक सरोवर में पानी भरा हुआ है। चातुर्मास्य (चौरासा) समाप्त होने पर सरोवर का सारा पानी सूख जाता है। क्या सरोवर का पानी नष्ट हो गया ? कदापि नहीं ; दक्षिणाकाशस्थ जलशोषक आस्तिकाभिमत आत्मस्वरूप— 'अगस्यप्राण' के सहयोग से "नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्" (वै० द० ५।२।६) इस कणाद सिद्धान्त के अनुसार सूर्य ने नाड़ी रूप अपनी रश्मियों से सारे पानी को खींच कर उसे वाष्परूप (वायुरूप) में परिणत कर विशाल अन्तरिक्ष में वायुधरातल पर प्रतिष्ठित कर लिया है। वस जिस प्रकार सरोवर का पानी सूक्ष्मरूप में परिणत होकर लोकान्तर में चला जाता है, नष्ट नहीं होता, ठीक इसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर यह जीवात्मा भी सूक्ष्मशरीर धारण कर लोकान्तर में चला जाता है। अपि च वाष्परूप में परिणत होकर लोकान्तर में जाने वाले वायुरूप पानी का जैसे हम चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, साथ ही में वह कि प्रदेश प्रतिष्ठित हुआ, यह भी नहीं देख पाते, एवमेव शरीरसत्ताकाल में क्रियादि धर्मों से जिस आत्मा का हम एक प्रकार से प्रत्यक्ष कर रहे थे, शरीरत्यागानन्तर वही सूक्ष्मावस्थापन्न होता हुआ न शरीर से निकल कर शरीर से निकल कर लोकान्तर में जाता हुआ ही दिखाई देता, एवं न जिस लोक में वह जाकर प्रतिष्ठित होता है, वह लोक एवं स्वयंलोकी आत्मा ही दिखाई पड़ता। इस प्रकार ऐसे-ऐसे दृष्टान्तों द्वारा आस्तिक विद्वान् 'सरवत्' आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् एवं नित्य मान रहे हैं।

आस्तिक विद्वान् केवल नित्य आत्मतत्त्व की ही सत्ता स्वीकार नहीं करते, अपितु अनित्यशरीर भी इनकी दृष्टि में एक तत्त्व है। इन परमवैज्ञानिकों का कहना है कि, संसार के प्रत्येक, पदार्थ में हम प्रतिक्षण परिवर्तन देख रहे हैं। इस क्षणिक परिवर्तन के साथ-साथ एक आस्तिकों का तत्त्ववाद— अपरिवर्तनीय अक्षण नित्यभाव का भी साक्षात्कार कर रहे हैं। उदाहरण के लिए उत्पन्न शिशु को ही लीजिए। उत्पत्तिकाल से आरम्भ कर मृत्युकाल पर्यन्त इस शिशु की 'शिशु-पौगण्ड-बाल-किशोर-तरुण-युवा-प्रौढ़-स्थविर-वृद्ध-दशमी'—ये १० अवस्थाएं होती हैं। इन दशों में से प्रत्येक अवस्था की अवान्तर अनेक अवस्थाएं हो जाती हैं। इन अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ-साथ 'रसामृद्धमांसमेदादि' शरीरधातु भी बदलते रहते हैं। आगे जाकर इस परिवर्तन का विश्राम क्षणिक भाव पर माना गया है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। क्षण भी एक काल है, स्थिरभाव है। वस्तुतः उक्त परिवर्तन की इस क्षण भाव के साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। वह परिवर्तन तो "रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव" के अनुसार अपने जैसा आप ही है। यह सब कुछ होने पर भी व्यवहार-सौकर्य के लिए उक्त परिवर्तन को "क्षणिक" शब्द से व्यवहृत कर दिया गया है। इसी क्षणिक परिवर्तन के कारण प्रतिक्षण वस्तु नए-नए रूप धारण करती रहती है। वस्तु का जैसा स्वरूप पूर्वक्षण में रहता है, उत्तरक्षण में उस स्वरूप का सर्वथा अभाव है। यदि यह परिवर्तन क्षणिक न होता, तो एक प्रादेश का शिशु प्राप्तवयस्क होने पर कभी साढ़े तीन हाथ का न बनता, साथ ही में इस के शरीर में कभी विविध अवस्थाओं का उदय न होता। इन्हीं सब कारणों से हम शरीर को प्रतिक्षण परिवर्तनशील मानने के लिए तैयार हैं।

इस परिवर्तन के साथ-साथ ही एक अपरिवर्तनीय स्थिरभाव का भी साक्षात्कार हो रहा है। इसी स्थिरभाव के लिए 'स एवायं' (यह वही है) यह प्रत्यभिज्ञा होती है। देवदत्त जन्म काल में भी है, मृत्युकाल में भी है, मरे बाद भी है। तभी तो तीनों कालों के साथ सामान्यरूप से-देवदत्त उत्पन्न हुआ है, देवदत्त मरने वाला है, देवदत्त मर गया, इस प्रकार देवदत्त का सम्बन्ध पाया जाता है। शरीर बदलता है, आत्मोपलक्षित देवदत्त नहीं बदलता। प्रतिक्षण बदलते हुए भी शरीर के 'यह वही देवदत्त है, जिसे हमने बचपन में जयपुर में देखा था' इस प्रकार 'वही' भाव नहीं बदलता। इस प्रकार परस्पर में अत्यन्तविरुद्ध दो भावों का एक ही पदार्थ में समन्वय हो रहा है। परिवर्तनशील क्षणिक पदार्थ 'शरीर' है, अपरिवर्तनीय अक्षय नित्यतत्त्व 'आत्मा' है। दोनों का समन्वितरूप ही 'अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूत-संस्था' है।

अपि च—क्रिया प्रतिक्षण परिवर्तनशीला है। परिवर्तनशीला इस क्रिया की स्थिति (स्वरूप-सत्ता) तब तक सर्वथा अनुपपन्न है, जब तक कि इस का कोई अपरिवर्तनीय स्थिर आधार न मान लिया जाय। उधर क्षणमात्र ठहरनेवाली स्वयं क्रिया-क्रिया का आधार बन नहीं सकती। इस युक्तिवाद के आधार पर भी क्षणिक क्रिया के साथ नित्य तत्त्व का समन्वय मानना पड़ता है। उसी नित्य तत्त्व को आधार बना कर क्रियात्मक बलतत्त्व अपनी चिति (समूह) के कारण 'नाम-रूप-कर्म' भेद से तीन स्वरूपों में परिणत होकर 'संभूतिभाव' को प्राप्त होता हुआ 'वस्तु' नाम से व्यवहृत होता है। जब तक क्रियात्मक बल पर उस निष्क्रिय आ-मरूप रस-तत्त्व का अनुग्रह रहता है, तभी तक चितिभावापन्न नामरूपकर्मत्मक उस बल की 'संभूति' है। रसानुग्रह-परित्याग ही उस का विनाश है। संभूति और विनाश, दोनों का एक ही स्थान पर समन्वय हो रहा है। इसी समन्वय-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।*

विनाशेन मृत्युं तोर्त्वा सम्भूत्याऽऽमृतमश्नुते ॥—३० उपनिषत् १-४।

शरीर अनेक बलों की समष्टि होने से 'काय' (निकाय-समूह) नाम से प्रसिद्ध है। इन-अनन्त बल का शासक प्रभु एक रस-तत्त्व (आत्मा) है। 'वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मनो-बुद्धि-हस्त-पाद-उपस्थ' आदि सारे अवयव 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' इस ग्याय के अनुसार परस्पर में सर्वथा पृथक् हैं। "तेषामिष्टानि विहितानि धामशः" (ऋक सं० १।१६४।१५) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सब के धाम (स्थान) एवं इष्ट (विषय) नियत हैं। इन भिन्नों में एक अभिन्न तत्त्व (आत्मा) सामान्य-रूप से व्याप्त हो रहा है। आंख देखती है, काम सुनते हैं, जिह्वा स्वाद लेती है, नाक सूंघता है, पैर

* इस विषय का विशद विवेचन 'ईशोपनिषद् हिन्दो-विज्ञान-भाष्य' के उक्त मन्त्रभाष्य में देखना चाहिए।

चलते हैं, हाथ काम करते हैं, मन मनन करना है, बुद्धि विचार करती है। व्यवहार होता है—मैं देखता हूं, मैं-सुनता हूं, मैं स्वाद ले रहा हूं, मैं सूँघता हूं, मैं चलता हूं, मैं काम कर रहा हूं, मैं-मनन करता हूं, इत्यादि। इस प्रकार सर्वथा विभिन्न चक्षुः प्राणादि के साथ यह “मैं” (आत्मा) युक्त हो रहा है। इसी आधार पर इस “मैं” (अहम्) तत्त्व को, किंवा आत्मतत्त्व को शरीरावयवों से पृथक् मानना आवश्यक, एवं वास्तविक हो जाता है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि, नास्तिकवर्ग ‘प्रजातन्त्ररूपा संघशक्ति’ को प्रधान मानता है, एवं आस्तिकवर्ग ‘राजतन्त्ररूपा प्राजापत्यशक्ति’ को प्रधानता देते हुए संघशक्ति का स्वागत करता है। जिस दृष्टि से इन दोनों दलों ने आत्मा के स्वरूप का विचार किया है, वही दृष्टि ‘दर्शन’ नाम से प्रसिद्ध है। नास्तिकदर्शन, एवं आस्तिकदर्शन, दोनों ही आचार्यभेद से निम्नलिखित रूप से ६-६-भागों में विभक्त माने गए हैं।

नास्तिकदर्शन और उसके प्रवर्त्तक	आस्तिकदर्शन और उसके प्रवर्त्तक
१—चार्वाकदर्शन—	१—न्यायदर्शन—गोतम
२—माध्यमिकदर्शन—	२—वैशेषिकदर्शन—कणाद
३—योगाचारदर्शन—	३—सांख्यदर्शन—कपिल
४—सौत्रान्तिकदर्शन—	४—कर्ममीमांसादर्शन—जैमिनि
५—वैभाषिकदर्शन—	५—ब्रह्ममीमांसादर्शन—व्यास
६—आर्हतदर्शन—	७—योगदर्शन—पतञ्जलि

वस्तुतस्तु वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मदर्शन नास्तिक, आस्तिक, भेद से कुल ६ भागों में ही विभक्त समझने चाहिए। तीन नास्तिकदर्शन हैं, एवं तीन ही आस्तिकदर्शन हैं। नास्तिकत्व की मूलप्रतिष्ठा ‘असद्बल’ है, अस्तितत्त्व की मूलभित्ति ‘सद्बल’ है। रस ‘अमृत’ है, बल ‘मृत्यु’ है। अमृत-मृत्यु की समष्टि ही आत्मप्रपञ्च है। इसे अस्तिरूप से भी देखा जा सकता है, एवं नास्तिकरूप से भी देखा जा सकता है। ‘मनः-प्राण-वाक्’ ये तीन अमृतकलाएँ हैं, तीनों की समष्टि ही ‘अस्ति’, किंवा ‘सत्ता’ है। ‘नाम-रूप-कर्म-’, ये तीन मृत्युकलाएँ हैं। इन तीनों की समष्टि ही ‘नास्ति’ है। मृतराँ आत्मदृष्टि, किंवा आत्मदर्शन का संभूय ६ भागों में ही पर्यवसानसिद्ध हो जाता है।

अपि च ईश्वर प्रजापति पूर्णेन्द्र होने से वस्तुलाकार (गोलाकार) है। अतएव इसे ‘सर्वतः पाणि-पाद, सर्वतोऽक्षिशिरोमुख’ कहा जाता है। गोलाकार वस्तु को ६ भागों में विभक्त करके ही सर्वात्मना देखा जा सकता है। इन दृष्टियों में तीन दृष्टियों का बलात्मक नास्तिकभाग के साथ सम्बन्ध है, एवं तीन

ही दृष्टियों का रसात्मक अस्तिभाग के साथ सम्बन्ध है। इस दृष्टि से भी दर्शन कुल ६ ही होते हैं। अस्तु, कुछ भी हो, इस अप्राकृतिक दर्शन-प्रसङ्ग का उपवृंहण करना अप्राकृतिक है। उक्त दर्शन चर्चा से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, आत्मा के सम्बन्ध में भारतवर्ष में सदा से दो मतवाद चले आ रहे हैं।

जो महानुभाव नास्तिकवाद के अनुयायी हैं, जिन्होंने शरीर को ही आत्मा समझ रक्खा है, जो—
“भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः” के उपासक हैं, उनके लिए कुछ भी वक्तव्य नहीं है। श्रद्धेय उदयनाचार्य के निम्नलिखित शब्दों में ऐसे दयनीय महानुभावों की कल्याण-कामना करते हुए, एवं आस्तिकवर्ग की ओर से जगदीश्वर से यामीयातना के निरोध की प्रार्थना करते हुए स्वान्तः सुखार्थ आत्म-प्रकरण आरम्भ किया जाता है। आस्तिकों के महाप्रतिनिधि सर्वश्री उदयनाचार्य अपने सुप्रसिद्ध ‘न्याय-कुसुमाञ्जलि’ ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

इत्येवं श्रुति-नीतिसंग्लवजलंभूयोभिराक्षालिते ।

येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ॥

किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः ।

काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः ॥१॥

अस्माकं तु—

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी—

त्यद्वाऽऽनन्दनिधे ! तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ॥

तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां-

याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यतनाः ॥२॥

—न्या० कु० ५ स्तवक १८-१९ श्लोक ।

ईश्वरसत्ता पर विश्वास करने वाले, शरीर से पृथक् नित्य आत्मतत्त्व को स्वीकार करने वाले, वेदशास्त्र-सिद्ध आत्मा की आगति-गति पर श्रद्धा करने वाले ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के मतानुसार श्राद्धकर्म अवश्यमेव श्रद्धा की वस्तु है। ‘ऋज्याश्च’ ऋषि के दौहित्र, ‘जेन्दावस्था’ के रचयिता, पारसीधर्म के प्रवर्तक ‘श्रीजरथुस्त्र’ भी आत्मसत्ता स्वीकार नहीं करते थे। आसुरधर्म को प्रधान मानते हुए वे आरम्भ में शरीर को ही आत्मा समझते थे। संयोगवश भ्रमण्डल की परिक्रमा करते हुए एक बार भगवान् ‘बाद-

रायण (व्यास) उधर जा निकले । ॐजेन्द्रावस्ता में यह उल्लेख मिलता है कि “व्यास के आगमन से पहले ही वहाँ आकाशवाणी हुई कि, हे जरथुस्त्र ? हिन्दुस्तान से एक महानुद्धिमान् व्यास नाम का ब्राह्मण तुम से शास्त्रार्थ करने आ रहा है ।” फलतः व्यास भगवान् वहाँ (आर्यायण, वर्तमान में ईरान) पहुंचते हैं, एवं अपने योगबल के द्वारा जरथुस्त्र को शरीर से अतिरिक्त आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करवाते हैं । तभी से जरथुस्त्र ने अपने धर्मग्रन्थ में यह आदेश दिया है कि “वास्तव में आत्मा शरीर से पृथक् पदार्थ है, एवं शरीर त्यागानन्तर वह स्वकर्मनुसार शुभाशुभ लोकों में गमन करता है । उसके निमित्त उसके पुत्रादि को अन्नदानादि करना चाहिए ।” इस प्रकार वैदिक काल में भी कुछ एक महानुभाव आत्मसत्ता स्वीकार करने लगे थे । विगत शताब्दी में कई एक पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से आत्मा का अमरत्व स्वीकार किया है । उनमें से स्वनामधन्य ‘सुकरात, पाइथागोरस, प्लेटो, प्रसिद्ध जर्मन् विद्वान् ‘शेगल’ निरन्तर ‘अनहलक’ (अहं ब्रह्मास्मि) का उद्घोष करने वाले दिव्यप्रेमी ‘मन्सूर’ आदि कतिपय महानुभावों के नाम उल्लेखनीय हैं । आज तो ‘मिस्मरेजम’ द्वारा मृतात्मा का आह्वान तक सफल सिद्ध हो चुका है । आगत आत्मा जिज्ञासु के प्रश्नों का यथावत् समाधान करता है । स्वनामधन्य ‘डी०-बी० ऋषि’ की कृपा से हरिद्वार में हमें भी एक बार कुछ एक मृतात्माओं के संसर्ग का अवसर मिला है । यद्यपि साधारण मनुष्य इस रहस्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, साथ ही में—‘अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते’ के अनुसार प्रत्यक्षदृष्ट घटनाओं के सम्बन्ध में भी वे गजनिमीलिका किया करते हैं, परन्तु विचारशील मनुष्य शीघ्र ही आत्मसत्ता पर विश्वास करने लगते हैं । छान्दोग्य उपनिषत् में बड़ी युक्ति के साथ आत्मसत्ता सिद्ध की गई है । प्रसंगोपात्त उस ग्राह्योक्त को उद्धृत कर देना भी अनुचित न होगा ।

भारतीय वैदिक सभ्यता के आदि प्रवर्तक भगवान् स्वयम्भू प्रजापति थे । जिसे आज ‘एशिया माइनर’^१ कहा जाता है, वहीं पर प्रजापति निवास करते । देवत्रिलोकी में रहने वाले देवता (मनुष्य-देवता), एवं अफ्रीकादि असुरत्रिलोकी में रहने वाले असुर, दोनों ही इन को स्वयम्भूप्रजापति का पितृतुल्य समझ कर इनका आदर करते थे, एवं इनका अनुशासन मानते थे ।

आत्मोपदेश— देवता, और असुर, दोनों ही परम्पराया यह सुनते आ रहे थे कि “जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान जाता है, वह सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ भ्रमण करता है, एवं उस (आत्मजानी) की कोई कामना व्यर्थ नहीं जाती” । इसी प्रलोभन से देवता, और असुर, दोनों को ही ‘अजर-अमर-अभय-क्षुत्पिपासा रहित आत्मा के वास्तविक स्वरूप जानने

ॐ “वैव हिन्द वाजगते ।” “अकनू विरहमने व्यास नाम, अज् हिन्द ग्रामद, वसदान के आकिल चुना नेस्त ।” (जरथुस्त की ६५ वीं आयत ।) “चं व्यास हिन्दी बलख ग्रामद । गस्तस्य जरतुस्तरा बखर्वाद” (१६ वीं आयत) ।

१ इस विषय का विशद ऐतिहासिक विवेचन ‘शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत भुवनकोशविज्ञान’ में देखना चाहिए ।

की जिज्ञासा हुई । आत्मस्वरूप-सम्बन्धिनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए देवताओं की ओर से 'इन्द्र', एवं असुरों की ओर से 'कायाध्वज विरोचन' दोनोंः समित्-पाणी बन कर स्वयम्भूप्रजापति की सेवा में पहुँचे । अभी दोनों ही आत्मोपदेश श्रवण के अयोग्य थे । फलतः प्रजापति ने दोनों को आज्ञा दी कि, तुम (आत्मविशुद्धयर्थ) पहिले ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत पालन करो ! आज्ञानुसार योग्यता-संपादन करने के लिए दोनों ने ही ३२ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत का सम्यग्रूप से अनुष्ठान किया । ३२ वर्ष समाप्त हो जाने पर पुनः समित्पाणी बन कर दोनों प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए । "बोलो क्या चाहते हो ?" प्रजापति के यह पूछने पर उत्तर में दोनों ने ही बड़े विनीतभाव से 'सत्यकाम-सत्यसंकल्प-जरामरणछुत्-पिपासा-शोक-मोह-आदि पाप्माओं से रहित आत्मस्वरूप की जिज्ञासा प्रकट की । आत्मा का साक्षात्कार करवाते हुए प्रजापति कहते लगे कि "हे इन्द्र, विरोचन ! तुम अपनी दोनों आँखों में जो एक (प्रतिबिम्बित) पुरुष देखते हो, वही आत्मा है" । हमारे सामने जब कोई मनुष्य खड़ा होता है, तो हमारी दोनों आँखों में उस का चित्र चित्रित हो जाता है । इसी की ओर प्रजापति का लक्ष्य था । जब प्रजापति ने अक्षिपुरुष (प्रतिबिम्बित पुरुष) को आत्मा बतलाया, तो कुछ काल के अनन्तर दोनों प्रश्न करने लगे कि "भगवान् । पानी में और काँच में जो हम अपना प्रतिबिम्बित रूप देखते हैं, वह क्या है ?" उत्तर में प्रजापति ने कहा कि "अरे ! यह भी वही है, जो कि ज्वक्षु में पुरुष बतलाया गया है ।" आगे जाकर प्रजापति ने कहा कि "अच्छा ठहरो हम तुमको आत्मज्ञान का और भी सरल उपाय बतलाते हैं । पानी से भरे हुए एक उदशराव (मृत्पात्र) में अपने आपको देखो । यदि करने से आत्मा का स्वरूप तुम्हारी समझ में आ जाय, तो अच्छा है, यदि नहीं तो फिर पूछना" । आज्ञानुसार दोनों ने ऐसा ही किया । प्रजापति ने पूछा—'क्या देखा' उत्तर मिला—'भगवन् ! हमने पानी में अपने शरीर को ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित देखा' । प्रजापति ने कहा कि "अब तुम सुन्दर सुपरिष्कृत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो कर उदशराव की ओर देखो" । आज्ञानुसार दोनों ने ऐसा ही किया । प्रजापति के 'क्या देखा ? यह प्रश्न करने पर उत्तर मिला कि 'भगवन् ! वेशभूषा से सुपरिष्कृत अपने आप को उस पानी में हमने ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित देखा" । प्रजापति ने कहा "अब अब तुम आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान गए । जिसे तुमने पानी में देखा है, वही आत्मा है" । दोनों की जिज्ञासा शान्त हुई । दोनों अभिवादन कर वापस लौट आए । उन के लौट जाने पर प्रजापति ने विचार किया कि "दोनों ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बिना पहचाने ही चले गए । दोनों में से जो इस शरीररूप आत्मोपनिषत् पर विश्वास कर लेगा, निःसन्देह वह पराभव को प्राप्त होगा । अर्थात् हमारे कथनमात्र पर विश्वास कर जो शरीर को ही आत्मा समझ बैठेगा, उस का पतन अवश्यभावी है ।"

* प्राचीन समय में जिज्ञासु प्रादेश परिमित समिधा साथ में लेकर गुरु के सम्मुख खड़ा हो जाता था । इससे वह यही सूचित करता था कि, मैं आप का शिष्य बनना चाहता हूँ । यदि गुरु उसे योग्य समझते थे, तो उसके हाथ से समिधा ले लेते थे, अन्यथा योग्यतासम्पादनानुकूल उपाय बतला देते थे । प्रादेशमित समिधा क्यों हाथ में ली जाती है ? इस विषय का वैज्ञानिक रहस्य 'उपनिषद्विज्ञानभाष्य-भूमिका' प्रथम खण्ड में देखना चाहिए ।

इधर प्रजापति उक्त विचार कर रहे थे, प्रजापतिकृत शरीरलक्षण आत्मोपदेश का मनन करते हुए असुरप्रतिनिधि विरोचन असुरमण्डली में पहुँचे। विरोचन के हृदय में आज पूर्ण शान्ति थी। मानों उसे आज वास्तव में आत्मज्ञान हो गया हो। इस प्रकार अपने आपको आत्मज्ञान के सम्बन्ध में कृतकृत्य मानता हुआ विरोचन असुरमण्डली को सम्बोधित कर कहने लगा कि—“हे भाइयों ! इस भौतिक शरीर का ही नाम आत्मा है, इसी को समुन्नत करो, इसी की अर्हतिश आराधना करो। इसी की उपासना से परमानन्द मिल जाता है।” विरोचन का अभिप्राय यही था कि, जैसे बने वैसे शरीर को सुखी रखो। खाओ ! पीओ !! मौज उड़ाओ !!! “यदि अमुक वस्तु खा लेंगे तो शरीर अवश्य तुष्ट होगा, परन्तु आत्मा मलिन हो जायगा। परलोक बिगड़ जायगा” आज से ऐसे उपदेशों को केवल कल्पना समझो। विश्वास करो कि, शरीर से अतिरिक्त कोई नित्य आत्मतत्त्व नहीं है। अपितु शरीर ही आत्मा है।

“दान का फल यहाँ नहीं मिलता, अपितु परलोक गत आत्मा दानातिशय का उपभोक्ता बनता है। श्रद्धापूर्वक ‘गुरु-देवता-पितरों’ की उपासना से परलोक सुधरता है। ज्योतिष्मोम यज्ञ से आत्मा त्रिणाचिकेत स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है। यद्यपि उक्त ‘दान-श्राद्ध-यज्ञादि’ कर्मों का प्रत्यक्ष में कोई फल नहीं दीखता, परन्तु परलोक में सब का फल मिलता है” शरीरातिरिक्त आत्मवादियों का यह दृढ़ विश्वास है। परन्तु जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, उनकी दृष्टि में ‘यज्ञ-तप-दान श्राद्ध’ आदि सब निरर्थक हैं। वे लोग इन सब को केवल स्वार्थियों की स्वार्थ-लीला समझते हैं। “विरोचन के आदेश से शरीर को ही आत्मा समझने वाले असुरों ने उक्त सब शास्त्रीय कर्मों पर अश्रद्धा की” अतएव तभी से यज्ञादि पर अश्रद्धा रखने वाली सम्प्रदाय ‘आसुर सम्प्रदाय’ नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी आधार पर आज भी जो दान नहीं करते, गुरु-देवता की उपासना नहीं करते, श्राद्ध पर विश्वास नहीं करते, यज्ञादि नहीं करते, ऐसे अददान, अश्रद्धदान अयज-गानों के लिए विद्वान् कहा करते हैं कि “अरे यह तो आसुरभाव से युक्त है, असुर सम्प्रदाय का अनुयायी है।” असुरों ने ही तो शरीर को आत्मा समझ कर दानादि को अनुपयुक्त समझा है। शरीररूप आत्मोपनिषत् “आसुरीउपनिषत्” है।

विरोचन ने जब असुरों से कहा कि शरीर ही आत्मा है, तो तब से उन्होंने शव को न जलाने की प्रथा को ओर भी दृढ़ कर दिया। आत्मा के निकल जाने पर भी उनका विश्वास है कि, अभी आत्मा ज्यों विद्यमान है, केवल मूर्च्छाभास है। अतएव वे लोग अन्न-वस्त्र आभूषणादि उपकरणों के साथ मुर्दों को सुरक्षित स्थान में रख देते हैं, जलाते नहीं। आगे जाकर श्रुति कहती है कि—“इन असुरों का ऐसा विश्वास है कि, ऐसा करने से इसे परलोक में मुख मिलेगा।” सुप्रसिद्ध ‘ग्रामिनिया’ स्थान में एक बार महा-देवासुरसंग्राम हुआ था। वहाँ पर युद्ध में जो असुर मरते थे, उन्हें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर वहीं नियत सुरक्षित स्थानों में रख देते थे। शमशानभूमि के लिए आसुरीभाषा में ‘अर्मक’ शब्द नियत है, एवं जहाँ शव रखा जाता है वह स्थान (कबरिस्तान) “बैल” नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रतिष्ठित असुर होते थे, उन के लिए बड़े-बड़े प्रासाद बनाए जाते थे। उनमें चिरकाल तक के लिए पर्याप्त भोग्य

सामग्री रक्खी जाती थी। वही महाशिवस्वान ऋग्वेद में "महावैल" ॐ नाम से प्रसिद्ध है, एवं अवर-कोटि के असुरों का शवस्थान "वैल" नाम से प्रसिद्ध है। वैल, एवं महावैल रूपा शमशान भूमि ही 'अर्मक' नाम से प्रसिद्ध है। इसी 'अर्मक' के सम्बन्ध से यह स्थान 'आमिनिया' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पुरात्त्ववेत्ताओं ने आज ऐसे कई स्थानों का अन्वेषण कर यह सिद्ध कर दिया है कि, वास्तव में पुरायुग में शव रखने के लिए बड़े-बड़े स्थान बनाए जाते थे, एवं वहाँ खाद्य-वस्त्रादि उपकरण सामग्री प्रचुर मात्रा में रक्खी जाती थी। उस युग की रक्खी हुई जीर्ण शीर्ण वस्तुएँ आज भी उपलब्ध हो रही हैं।

आत्मसत्ता का वास्तविक स्वरूप न समझने वाले अमुर-सम्प्रदायानुयायी मनुष्य आज भी मुर्दों को पुष्पमालादि से अलंकृत कर गाड़ते मात्र हैं। बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि 'भस्मान्तं शरीरम्' (ईशोपनिषत्) सिद्धान्त को मानने वाले आत्मनित्यवादी आस्तिक भी आसुरभावापन्न यवनों के संसर्ग से शव को बस्त्रालङ्कारादि से सुसज्जित कर बाजे गाजे के साथ उसे शमशानभूमि में ले जाते हैं। उन्हें यह नहीं गुना देना चाहिए, कि—“प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणोति, संस्कुर्वन्ति, एतेन ह्यमुं-लोकं जेष्यन्ती मन्थन्ते” इस श्रौतकथन के अनुसार यह आसुरसम्प्रदाय है। इससे कोई फल नहीं है।

यह तो हुई असुरों की कथा। अब इन्द्र की दशा पर दृष्टि डालिए। प्रजापति के पास से लौट कर इन्द्र देवतार्थों के पास न गए। अपितु मार्ग में ही एक स्थान पर ठहर गए, एवं प्रजापति के बतलाए हुए आत्मस्वरूप पर विचार करने लगे। उन्होंने अपनी बुद्धि से विचार किया कि, प्रजापति ने शरीर को आत्मा बतलाया है। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती। यदि हम सुन्दर वस्त्र पहन कर पानी में देखते हैं, तो उसमें वैसी ही परछाई पड़ती है। यदि आँख बन्द कर देखते हैं, तो प्रतिबिम्ब की भी आँखें मिच जाती हैं। यदि कटे हुए हाथ से देखते हैं, तो प्रतिबिम्ब भी काटे हाथ वाला हो जाता है। इन सब परिस्थितियों से तो यही सिद्ध होता है कि, यदि हमारा हाथ कट गया, तो उतना आत्मा कट गया, आँखें फूट गईं, तो आत्मा अन्धा बन गया। ये बातें आत्मा के सम्बन्ध में समझ में नहीं आती। प्रजापति ने तो आत्मा को 'अमृत-अभय-नित्य-अविनाशी' बतलाया था। परन्तु मैं तो उक्त लक्षणों से इसे सर्वथा भयरूप देख रहा हूँ, मरणधर्मा पा रहा हूँ। सम्भवतः प्रजापति का अभिप्राय कुछ ओर ही होगा। हमन ने आत्मस्वरूप समझने में अवश्य भूल की है। इन्द्र वापस लौटे। सन्निपाती बन कर पुनः प्रजापति के सामने विनीत भाव से खड़े हुए। प्रजापति ने पूछा कि—“मधवन् ! तुम तो विरोचन के साथ-साथ ही कृतकृत्य होकर लौट गये थे। हम ने तो समझा था कि, तुम्हारा समाधान हो गया। फिर वापस लौटने का क्या कारण ?” इन्द्र के हृदय में आत्मा के सम्बन्ध में जो सन्देह हुआ था, उसका विश्लेषण करते हुए इन्द्र ने कहा कि, भगवन् आपने (प्रतिबिम्बरूप) जिस आत्मा का स्वरूप बतलाया है, वह तो नाशवान् है, सभय है। इस आत्मा का लक्षण बतलाते हुए आपने कहा था कि, आत्मा नित्य है, अपहृतपाप्मा है। उत्तर में प्रजापति ने कहा कि, मधवन् ! हमने आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ

ॐ अवासां मधवञ्जहि शर्धो यातुमतीनाम् ।

वैलस्थानके अर्मके महावैलस्थे अर्मके ॥—ऋक् सं० १ मं० ११३३ सू० १३ मन्त्र ।

कहा था, ठीक कहा था। हमने कभी शरीर को आत्मा नहीं बतलाया। तुम्हारे समझने में भूल हुई है। अच्छा, कोई चिन्ता नहीं। ३२ वर्ष पर्यन्त पुनः ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करो। तत्पश्चात् तुम्हारे लिए आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करूंगा। आज्ञानुसार इन्द्र ने पुनः ३२ वर्ष तक उसी कठिनतम व्रत का अनुष्ठान किया। अनुष्ठान समाप्त हो जाने पर प्रजापति की सेवा में इन्द्र उपस्थित हुए।

प्रजापति ने इन्द्र को लक्ष्य कर कहा कि, मधवन् ! जिस आत्मा को हमने आरम्भ में चक्षुद्वारा बतलाते हुए 'चाक्षुषपुरुष' कहा था, आगे जाकर उदशराव के दृष्टान्त से प्रतिबिम्ब द्वारा जिस आत्मा का परिज्ञान करवाया था, वास्तव में वही आत्मा है। यदि तुम इस दृष्टान्त से न समझे, तो 'स्वप्नजगत्, (सपने की दुनिया) पर दृष्टि डालो, तुम्हारा समाधान हो जायगा। तुम रात्रि में स्वप्न देखा करते हो। स्वप्न में तुम्हारा शरीर तो जहाँ का तहाँ रहता है, किन्तु आत्म तत्त्व बाहर घूमा करता है। 'रथ-स्त्री-अन्न-पानादि महिमाओं से युक्त होकर वह इतस्ततः विचरा करता है। वही स्वप्नद्रष्टा महात्मा अभय-अमृत-भावापन्न आत्मा है।" प्रजापति के उक्त आत्मोपदेश को हृदयङ्गम कर इन्द्र वापस लौटे। परन्तु अभी वे देवताओं के पास न जाकर मार्ग में ही विचार करने लगे कि-"इस बार प्रजापति ने स्वप्न-द्रष्टा को आत्मा कहा है। यद्यपि यह ठीक है कि, शरीर के क्षत विक्षत होने पर स्वप्नद्रष्टातत्त्व क्षत विक्षत नहीं होता, शरीर के दोष उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। स्वप्नावस्था में एक व्यक्ति मर जाता है। साथ ही में वह अपने मरे हुए शरीर को ही देखा भी करता है। इस से उसका शरीर से पार्थक्य भी सिद्ध हो जाता है इस प्रकार शरीरात्मवाद में जो भय था, वह तो यहाँ नहीं है। तथापि हम देखते हैं कि, इस स्वप्नद्रष्टा को स्वप्नावस्था में अन्य व्यक्ति यथेच्छ पीड़ा पहुँचा सकता है। स्वप्नद्रष्टा पर स्वप्न में प्रहार होता है, वह मार दिया जाता है। यद्यपि वह मरता नहीं, परन्तु मरने की प्रतीति होने लगती है। भौतिक जगत् के आक्रमण स्वप्नद्रष्टा में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। पुत्रादिमरण का उसे शोक होता है। अपि च दुःख से पीड़ित होकर स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में कभी-कभी रोने भी लगता है, अतएव जगने पर अश्रु बिन्दू उपलब्ध होते हैं। उधर आत्मा अजर है, अभय है, अशोक है, अपिपास है, अमृत है। इधर स्वप्नद्रष्टा सभय, सशोक मरण धर्मा है। इसे प्यास लगती है, भूख लगती है। ऐसी अवस्था में स्वप्नद्रष्टा को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। प्रवश्य ही प्रजापति के तात्पर्य समझने में हमने फिर भूल की है।

उक्त संदेहों के निराकरण के लिए इन्द्र समित्पाणी बन कर पुनः प्रजापति की सेवा में उपस्थित होते हैं, एवम् अपने संदेह का उल्लेख करते हुए कहते हैं, 'भगवन् ! जिस स्वप्नद्रष्टा को आपने आत्मा बतलाया है, वहाँ भी मैं अभिलषित फल नहीं देखता'। अर्थात् आत्मा के जिस विशुद्ध अमृत-अभय रूप को मैं जानना चाहता था, उसे न जान सका। प्रजापति ने उत्तर दिया कि "मधवन् ! हमने जिसे स्वप्न-द्रष्टा कहा है, वह अवश्यमेव आत्मा है। तुम हमारे आभ्यन्तर अभिप्राय को यथावत् समझ न सके। अस्तु, कोई चिन्ता नहीं। ३२ वर्ष तक और एक बार ब्रह्मचर्य का अनुगमन करो। पश्चात् आत्मा के मौलिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करूंगा"। आज्ञानुसार पुनः ३२ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर समित्पाणी इन्द्र प्रजापति के सामने उपस्थित हुए। आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए प्रजापति

ने कहा कि मधवन् ! जो आत्मतत्त्व आँखों में रहता है, जो महीषान बनकर स्वप्न देखा करता है, एवम् जो तत्त्व सुषुप्तिकाल में संप्रसादभाव को प्राप्त होता हुआ स्वप्नज्ञान से विमुक्त हो जाता है, जिस अवस्था में सम्पूर्ण बाह्य-आम्यन्तर विषयों से जिसका सम्बन्ध टूट जाता है, सुषुप्ति का अधिष्ठाता संप्रसादमूर्ति वही तत्त्व आत्मा है। वह अमृत है, अभय है।" इन्द्र सन्तुष्ट हुए, वापस लौटे, परन्तु अभी देवताओं के पास न जाकर प्रजापति द्वारा निर्दिष्ट आत्मस्वरूप पर विचार करने लगे। वहाँ भी भय ने इन्द्र का पीछा न छोड़ा। इस में भी उन्हें भय दिखलाई पड़ा।

इन्द्र ने विचार किया, "सुषुप्ति अवस्था में जो तत्त्व रहता है; प्रजापति ने उसे आत्मा कहा है। परन्तु यह बात भी समझ में नहीं आती। यह अवस्था तो सर्वशून्यावस्था है। इस में तो 'अहमस्मि' (मैं हूँ) इस अपनी सत्ता का भी ज्ञान नहीं रहता। साथ ही में ज्ञान-साधक सम्पूर्ण भौतिक विषयों का भी इस अवस्था में आत्यन्तिक अभाव रहता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था में आत्मा विनाश की ओर झुका रहता है। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति-प्रवस्था युक्त तत्त्व को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। अवश्य मैं अपने ही बुद्धिदोष से प्रजापति के वास्तविक अभिप्राय को यथावत् नहीं समझने पाता।" इस प्रकार अपने आप की प्रतारणा करते हुए इन्द्र समित्पारी बन कर पुनः प्रजापति के समीप उपस्थित हुए। पुनः ३२ वर्ष के व्रतानुष्ठान का आदेश हुआ। परमवीर देवेन्द्र ने पुनः ३२ वर्ष का अनुष्ठान किया। अनन्तर आत्मस्वरूप जिज्ञासा प्रकट की। इन्द्र का यह अद्भुत वैर्य, एवम् वास्तविक जिज्ञासा देखकर प्रजापति हृदय से प्रसन्न होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहने लगे—

मधवन् ! यह शरीर मर्त्य है, मृत्युधर्म्म से नित्य आक्रान्त है। ऐसा मरणधर्म्मा यह शरीर उस अमृत-शरीर -आत्मतत्त्व का अधिष्ठान है। इस मरणधर्म्माविच्छिन्न शरीर से युक्त होने के कारण सोपाधिक बनता हुआ शरीरावच्छिन्न अमृतात्मा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले प्रियाप्रियभाव से नित्य आक्रान्त हो रहा है। तुम उसे शरीरावच्छिन्न समझ रहे हो। जब तक आत्मा, और शरीर का तुम विवेक नहीं कर लोगे, तब तक प्रियाप्रिय (पुण्यापुण्य-सुख-दुःख-शोकमोह-लक्षण इन्द्रभाव) से कभी छुटकारा नहीं पा सकोगे। विनाशधर्म्म शरीर का है। आत्मा का नहीं है। 'वाक्षुपुरुष, स्वप्नद्रष्टा, सुषुप्ति का अधिष्ठाता' तीनों एक तत्त्व है, यह अवश्य ही आत्मा है। परन्तु तुमने अब तक इसे शरीर की दृष्टि से देखा है। अतएव आत्मा के इन तीनों विवर्त्तों में तुम्हें भय के ही दर्शन हुए। इसलिए हम सर्वान्त में तुम्हें यह आदेश कर देते हैं कि, तुम आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् समझा करो। जिस दिन तुम्हारा यह विवेक दृढ़मूल बन जायगा, उस दिन तुम अपने आप आत्मा के वास्तविक विशुद्ध रूप को समझ लोगे। आत्मा स्वयं विज्ञाता है — 'विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्'। तुमने हमसे आत्मा का विशुद्ध रूप पूछा। आत्मा कभी विशुद्ध रहता नहीं। अतः हमें सोपाधिक भावों को आगे कर तटस्थ लक्षणों द्वारा आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन करना पड़ा। सोपाधिक रूपों में भय की आत्यन्तिक निवृत्ति वास्तव में नहीं है। अतः तुम्हारा पुनः पुनः संदेह करना ठीक था। परन्तु हम इस से अधिक शब्द द्वारा कहने में असमर्थ। वह तो स्वानुभवेकगम्य है — "सो जाने जेहि देहि जनाई" — "ममैवेपवृणुते तेन लभ्यः"। बात यथार्थ है। 'शर्करा-मिश्री-इक्षुरस-द्राक्षा' सभी तो मधुर हैं। हम अपने पाठकों से पूछते हैं कि, इनकी मधुरता में जो

अन्तर है, वह शब्द द्वारा बतलाइये ? 'जिद्धा जानती है, कह नहीं सकते' यही उत्तर होगा । जब लौकिक बिषयों के स्पष्टीकरण में भी शब्द की गति रुक जाती है, तो फिर उस लोकातीत आत्मतत्त्व का विश्लेषण शब्द द्वारा कैसे संभव हो सकता है । आत्मतत्त्व की इसी अनिवर्चनीयता, एवं स्वानुभवैकगम्यता का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमैवेष्ट वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष्ट आत्मा विवृणुते तनं स्वाम् ॥**

कठोपनिषत् १।२।२।

“आप आत्मा के सम्बन्ध में बड़े-बड़े व्याख्यान देते हैं, आप बहुत बुद्धिमान हैं, आप रात-दिन तपश्चर्या में रत रहते हैं, आपने पर्याप्त विद्याध्ययन किया है, उपदेश सुने हैं, परन्तु इन सबसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता । ‘यज्ञ-तपो-दान लक्षण निष्कामकर्म के प्रभाव से जिस दिन आवरण हट जाता है, उस दिन ‘तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति’ (गी० ४।३८) के अनुसार अपने आप आत्मदेवता आप पर अनुग्रह कर देते हैं । उस योगी का आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर उसके सामने रख देता है” ।

“परलोक कोई वस्तु नहीं है । संपत्ति ही सुख का मूल है । जिसे (आत्मा) कभी आंखों से नहीं देखा, उसे मानकर सांसारिक सुख छोड़ बैठना मूर्खता है । आत्म-परमात्म-परलोक-आगति-गति-पाप-पुण्य श्राद्ध-दान-यज्ञ-तप-ये सब अकर्मण्यों की लीला है” इस प्रकार के कुतर्कों से आत्मतत्त्व का तिरस्कार करने वालों की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए, साथही में उन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिए कारुणिक महर्षि आदेश करते हैं—

**न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्बशमापद्यते मे ॥१॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः ।
आश्रय्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्रय्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥२॥**

१—सांसारिक धन के मोह से उन्मत्त बने हुए उस बालबुद्धि की दृष्टि में परलोकगति कोई वस्तु नहीं है । वह अभिमानी, जो अभिमानवश “यही लोह है, परलोक कोई वस्तु नहीं है” यह कड़ा करता है, वही बार-बार मेरे (यमलक्षणमृत्युचक्र) वश में आया करता है ॥

२—बहुत उपदेश सुनने से भी जिसका स्वरूप ज्ञान नहीं होता, सुन कर भी कितने ही मनुष्य उसके ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं । आत्मस्वरूप को बतलाने वाला, इसे पहचानने वाला, एवं इस का साक्षात्कार करने वाला कोई विरला ही है ।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात् ॥३॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वाहङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रेष्ठा ॥४॥

कठोपनिषत् १।२।६-६।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥५॥

कठोपनिषत् १।२।२२।

इस प्रकार प्रजापति ने उक्त रूप से तटस्थ लक्षण द्वारा इन्द्र को आत्मसाक्षात्कार करवाया । प्रजापति के अनुग्रह से इन्द्र आत्मा के वास्तविक रूप को यथावत् हृदयङ्गम कर पूर्ण-सन्तुष्ट होकर देव-मण्डली में लौट आए । (देखिए छां० उपनिषत् ८।७, ८, ९, १०, ११, १२ खं०)

उक्त आख्यान के सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न शेष रह जाता है कि, “प्रजापति ने आत्मस्वरूप बतलाने में आरम्भ में इन्द्र की बन्धना क्यों की ? जिस तत्त्व का विश्लेषण उन्होंने सर्वान्त में किया, उसे आरम्भ में ही क्यों न बतला दिया” ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में पहले तो हम यही कहेंगे कि, प्रजापति ने आत्मा के सम्बन्ध में जितने उत्तर दिये, वे सब यथार्थ थे । उदाहरण के लिए पहले चक्षु में प्रतिबिम्बित पुरुष को ही लीजिए । प्रजापति ने कहा था कि, हमारी आंखों में तुम्हें जो पुरुष दिखलाई पड़ता है, वही आत्मा है । हमारी आंखों में तभी तक अन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब विकसित रहता है, जब तक कि आत्म-सत्ता रहती है । मुर्दे की आंख में कभी अन्य मनुष्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता । शरीर को ही आत्मा मानने वालों से हम पूछते हैं कि, यदि शरीर ही आत्मा है, तो किस प्रकार जीवित अवस्था में

३. यह आत्म तत्त्व किसी साधारण व्यक्ति का कहा हुआ नहीं है । चिरन्तन काल के ध्यानयोग से प्राप्त होने वाला आत्मावबोध सुगम नहीं है । यह आत्मधर्म सूक्ष्म है, स्वानुभवैकगम्य होने से इस के सम्यक् परिज्ञान के लिए अन्य (गुरु आदि) के उपदेश के अतिरिक्त ओर गति नहीं है ॥

४—कुतर्कों से यह आत्मभावना कभी नहीं हटानी चाहिए । तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि साक्षात्कृतधर्मा दूसरे आप्त मनुष्यों से कही हुई यह उपदेश द्वारा सर्वथा उपयुक्त होती है । अर्थात् आत्म-ज्ञान के लिए आप्तोपदेश का आश्रय लेना परम आवश्यक है । हमने तुम्हारे ज्ञानोदय के लिए ही इतना कष्ट उठाया है ।

५—इस विषय का विशद विवेचन ‘कठविज्ञानभाष्य’ में देखना चाहिए ।

पुरुष की आंखों में अन्य पुरुष प्रतिबिम्बित होता है, उस प्रकार शवशरीर की आंखों में प्रतिबिम्ब क्यों नहीं प्रतिष्ठित होता ? इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको शरीर से सर्वथा भिन्न प्रतिबिम्बग्राहक एक तत्त्व विशेष (आत्मा) मानना पड़ेगा। जब वह उत्क्रान्त हो जाता है, तो प्रतिबिम्ब का उदय नहीं होता। प्रतिबिम्बित पुरुष को आत्मा बतलाने का अभिप्राय यही था कि, जिस तत्त्व के आधार पर यह प्रतिबिम्ब स्वरूप में प्रतिष्ठित है वही ग्राहकतत्त्व आत्मा है। 'मरने के अनन्तर प्रतिबिम्ब क्यों नहीं रहता' यदि इन्द्र यह विचार करते, तो उन्हें आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता।

अपि च सर्वाङ्गशरीर में चक्षुरिन्द्रिय ही आत्मविकास का मुख्य द्वार है। शरीर की 'श्री' (कान्ति-शोभा) चक्षुरिन्द्रिय पर ही निर्भर है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, एक चतुर शिल्पी के द्वारा बनाई गई पाषाणप्रतिमा के जब तक चक्षुर्गोलक में कृष्णकनीनिका नहीं बना दी जाती, तब तक मूर्ति महा-भयावह प्रतीत होती है। बिना चक्षुःसम्बन्ध के पाषाण-प्रतिमा शव-समान दिखलाई पड़ती है। चक्षुःसम्बन्ध होते ही मूर्ति जीवित सी हो उठती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो मूर्ति अभी मुख से कुछ कहने वाली है। इस प्रकार एक जीवित मनुष्य का शरीर जहाँ अभयभाव से आक्रान्त रहता है, वहाँ वही शरीर आत्मा के निकल जाने पर भयावह प्रतीत होने लगता है। इस भय की मूल प्रतिष्ठा चक्षुर्गोलक ही है। शवशरीर की आँखें ही भय का कारण बनती हैं। क्यों ? उत्तर वही 'आत्मश्री' है। चक्षु ही सत्य आत्मा की प्रधान प्रतिष्ठा होने से 'सत्य' कहलाया है। चक्षु ही आत्मयश की विकास भूमि होने से 'यश' कहलाया है। जैसा कि—“एतद्ब्रवं मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः” (ऐ० ब्रा० १।६।), “चक्षुर्व प्रतिष्ठा” (शत० १४।१।२।३।) “चक्षुरेव यशः” (गो० ब्रा० पू० भा० ५।१५।) इत्यादि श्रुत वचनों से भी चाक्षुषपुरुष का आत्मत्व सिद्ध होता है।

अपि च वास्तव में 'चाक्षुषपुरुष' का ही नाम आत्मा है, जो कि आत्मा (विज्ञानात्मा) उप-निषदों में 'दक्षिणाक्षिपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। आत्मतत्त्व का अभिमानी देवता इन्द्र है। यह उक्था-त्मक विज्ञान, यह विज्ञानवन इन्द्रतत्त्व उक्थ रूप से हृदयस्थ प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्क (रश्मि) रूप से दक्षिण नेत्र पर्यन्त वितरित रहता है। इसीके लिए श्रुति कहती है—

यदेतन्मण्डलं तपति, यश्चैष रुक्म-इदं तच्छुबलमक्षन् । अथ यदेतर्वाचि-
र्दीप्यते, यश्चैतत् पुष्करपर्णमिदं तत् कृष्णमक्षन् । अथ य एष एतस्मिन् मण्डले
पुरुषः, यश्चैष हिरण्मयः पुरुषोऽयमेव स-योऽयंदक्षिणोऽक्षन् पुरुषः” शत० १०।५।२।६

इसी इन्द्रतत्त्व से कृतात्मा इन्द्र ने आत्मा का स्वरूप पूछा, प्रजापति ने प्रतिबिम्बित पुरुष के व्याज से इसी आत्मरूप चाक्षुषपुरुष को सामने रख दिया। इन्द्र की उधर दृष्टि न गई, यह दूसरी बात है, परन्तु प्रजापति के उत्तर में किसी प्रकार के क्षोदक्षेम का अवसर नहीं है।

आगे जाकर प्रजापति ने उदशरावस्थ प्रतिबिम्ब को सामने रक्खा। मिट्टी का पात्र है, उस में पानी भरा हुआ है, उस पर शरीर का प्रतिबिम्ब है। आत्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में इससे अन्य अनुरूप

दृष्टान्त नहीं मिल सकता। यदि इस दृष्टान्त के वास्तविक रहस्य को समझ लिया जाता है, तो निःसन्देह आत्मस्वरूप परिज्ञात हो जाता है। हमारा शरीर पार्थिवभाग-प्रधान है, मृण्मय है, दूसरे शब्दों में मिट्टी का उदशराव है। लोम-केश-नखाग्रों को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में रस रूप पानी भरा हुआ है। पारमेष्ठ्य 'महान्' आपोमय है, रसमय है। 'षोडशी-पुरुष' नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा का प्रतिबिम्ब (चिदाभास) इसी महद्ब्रह्म पर प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि—“मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्” (गी० १४।३) इत्यादि स्मृतिवचन से स्पष्ट है। मृण्मयशरीररूप पात्रस्थ अवस्था महद्ब्रह्म जहाँ तक व्याप्त है, “यावानु वै रसस्तानात्मा” (शत० ब्रा० ७।२०, ४ अ० १ ब्रा० ११ क० १) के अनुसार वहाँ तक चिदंश (आत्मा) व्याप्त रहता है। इसी चिदाभास का नाम जीवात्मा है। दूसरे शब्दों में उदशरावरूप शरीर में चिद्रूप पुरुष प्रतिबिम्बित है। इन्द्र यदि इस परिस्थिति को समझ लेते, तो उन्हें आगे सन्देह करने का अवसर न मिलता। इस प्रकार इस उपदेश की सत्यता भी अक्षुण्ण ही माननी पड़ती है।

तीसरा उपदेश स्वप्नद्रष्टा से सम्बन्ध रखता है। प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित सौर विज्ञानात्मा ही ही (मनोऽवच्छेदेन) स्वप्नद्रष्टा है। इन्द्रियों के द्वारा मन पर आए वासनारूप सांस्कारिक विषयों को विज्ञानात्मा स्वप्नावस्था में देखा करता है। मन चान्द्र है, विज्ञान सौर है। दोनों ही जड़ हैं। विज्ञान (बुद्धि) का विज्ञानत्व उसी चिज्ज्योति पर निर्भर है। विज्ञान-ज्योति से प्रज्ञानमन प्रकाशित रहता है। चिदात्मा से विज्ञान प्रकाशित रहता है। विज्ञानात्मा द्रष्टा नहीं है, अपितु विज्ञानप्रतिष्ठ चित्प्रकाश द्रष्टा है। चिदाभासलक्षण आत्मा ही वास्तव में स्वप्नद्रष्टा है, किंवा सर्वद्रष्टा है—“तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।” (मुण्डकोपनिषत् २।२।१०।) ऐसी अवस्था में द्रष्टा को आत्मा बतलाना यथार्थ ही है। इन्द्र ने शुद्ध द्रष्टा पर लक्ष्य न देकर मनोद्वयवच्छिन्न दृष्टि डाली। ‘भय-शोक-मृत्यु-क्षुधा-पिपासा-मोह’ आदि मन के लक्षण हैं, न कि द्रष्टा के। यदि इन्द्र शुद्ध द्रष्टाभाव पर दृष्टि डालते, तो उन्हें वास्तव में आत्मबोध हो जाता। उसी द्रष्टा अंश को सबसे पृथक् छोट कर बतलाते हुए प्रजापति ने अन्त में कहा है कि—“जो सुप्तावस्था में जाकर किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता, वही आत्मा है।” विज्ञानात्मा जब प्रज्ञानात्मा को साथ लेकर ‘पुरीतति नाडी’ में चला जाता है, तो उस अवस्था में स्वप्न का भी अभाव हो जाता है। उस समय केवल शुद्ध द्रष्टा का साम्राज्य रहता है। इन्द्र ने शङ्का की थी कि, ‘यह तो उसकी विनाशावस्था है, उस समय उसे अपना स्वरूपज्ञान ही नहीं रहता।’ परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

“यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुं दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति—ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्।”

—वृ० आ० उप० ४।३।२३।

इत्यादि के अनुसार द्रष्टा त्रिकालाबाधित है। भौतिक विषय ही तो देखने की वस्तु हैं। जब इस अवस्था में विषय ही नहीं, तो फिर देखे किसे। इस अवस्था में तो यह आत्मतत्त्व अपने विशुद्धरूप

से अपने आप में ही डूबा हुआ रहता है। अतएव 'स्वमपीतो भवति' (छान्दोग्य उप० ६।८।१।) के अनुसार इस अवस्था के लिए 'स्वपिति' कहा गया है—(प्रश्नोपनिषत् ४।२)। 'द्वितीयाद्वैभयं भवति' (वृ०-आ० उप० १।४।२।) "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते-अथ भयं भवति" (तैत्ति० उप० २।७) इत्यादि औपनिषद् सिद्धांतों के अनुसार जब तक द्वैत बना रहता है, तब तक अवश्य ही भय का सञ्चार रहता है। इन्द्रदेव शरीरदृष्टि से ही उसे देख रहे थे। क्योंकि शरीरावच्छिन्न, किंवा विषयावच्छिन्न आत्मतत्त्व शरीर के सभय होने से भयाक्रान्त सा ही दिखलाई पड़ता है। सुपुष्टि में इन सब विप्रतिपत्तियों का अभाव है। इसी शोकातिग आत्मस्वरूप का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है—

“स्वप्नेन शारीरमभिप्रहृत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।

शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः ॥ १ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।

स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः ॥ २ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।

उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ ३ ॥

—वृ० आ० उप० ४।३।११, १२, १३।

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा, अपहतपाप्माऽभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद्वा अस्यैतदाप्तकाम-मात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्।”

—वृ० आ० उप० ४।३।२१,

इसी विणुद्ध रूप को लक्ष्य में रखकर प्रजापति ने आगे जाकर कहा है कि, “जब तक तुम्हारी दृष्टि शरीर पर है, तब तक भय है, तभी तक प्रियाप्रिय का सम्बन्ध है। शरीररूप बल भाग से दृष्टि हटाओ, आत्मरूप रसभाग पर दृष्टि डालो। तभी तुम्हें अभयपद प्राप्त होगा।”

उक्त आख्यान से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, आत्मा अवश्य ही शरीर से अतिरिक्त नित्य पदार्थ है, एवं वह शुभाशुभ फल भोगने के लिए आतिबाह्यिक शरीर धारण कर लोकान्तर में गमन करता है।

वेदान्त वचनों (उपनिषद्बचनों) का समन्वय करने वाले 'अक्षरब्रह्म'-प्रतिपादक 'शारीरक दर्शन' के आरम्भ के दो अध्यायों में परमतनिरूपण, एवं तन्निराकरण पुरःसर 'आत्म-अनात्म-भाव' के विवेक

व्यासाभिमत आत्मतत्त्व
परीक्षा

का 'व्यासभगवान्' ने विशद् रूप से निरूपण किया है। वहाँ यह सिद्ध किया गया है कि, "आत्मा शरीर से भिन्न पदार्थ है। नाम-रूप-कर्म की समष्टि शरीर है, यह सर्वथा असत् है। एवं अस्ति-भाति-प्रिय (सत्ता-चेतना-आनन्द) की समष्टि आत्मा है, यह सर्वथा सत् है। यह सदात्मा यथाविद्य, यथाकर्म नवीन शरीर धारण करता रहता है।" इस प्रकार वहाँ यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया गया है कि, पूर्व शरीर को छोड़ने के अनन्तर यह आत्मा अवश्य ही दूसरा शरीर धारण करता है, एवं इस सूक्ष्मशरीर को धारण कर आत्मा लोकान्तर में गमन करता है। इसी 'आत्मगति' का निरूपण करते हुए निम्नलिखित व्याससूत्र हमारे सामने आते हैं।

१—"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।"

२—"व्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ।"

३—"प्राणगतेश्च ।"

४—"अग्न्यादिगतिश्रुतिरिति चेन्न, भाक्तत्वात् ।"

५—"प्रथमेश्वरणादिति चेन्न, ता एव ह्युपपत्तेः ।"

६—"अश्रुतत्वादिति चेन्न, दृष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।"

७—"भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ।"

—शारीरकदर्शन ३ अ० । १ पा० । १-२-३-४-५-६-७-सुत्र

प्राचीन व्याख्याताओं ने उक्त 'आरोहोपक्रमाधिकरण' का जो अर्थ किया है, पहले हम उसीकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

१—"अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति" (वृ० आ० उप० ४।४।१।) यहाँ से आरम्भ होकर "अन्वन्-वतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" (वृ० आ० उप० ४।४।४।) इस वाक्य पर समाप्त होने वाली बृहदारण्यक-श्रुति से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि, सेन्द्रिय, समनस्क, मुख्यप्राणयुक्त, विद्याकर्म पूर्वप्रज्ञा-आदि परिग्रहों से युक्त यह जीवात्मा (कर्मभोक्ता भोक्तात्मा) पूर्व देह को छोड़ने के अनन्तर अवश्य ही देहान्तर धारण करता है। द्वितीय देह धारण करने वाला बतलाने वाली उक्त बृहदारण्यक-श्रुति ने— "स एतास्तेजोमात्राः सम्भवादधानः" (वृ० आ० उप० ४।४।१।) इत्यादि रूप से जाते हुए जीवात्मा के साथ तेजोमात्रा ही सम्बन्ध बतलाया है। उक्त वाक्य में भूतभाग का गमन अश्रुत है। अतः सिद्ध होता है कि द्वितीय देह धारण करने वाला जीवात्मा इस पञ्चभौतिक स्थूल शरीर को छोड़ता हुआ भूतमात्रा से अपरिष्वक्त (पृथक्) होता हुआ ही लोकान्तर में गमन करता है। इस पर बादरायण कहते हैं कि, ऐसा

नहीं है। तेजोमात्रा के साथ-साथ ही जीवात्मा के साथ भूतमात्रा का भी सम्बन्ध रहता है। इसी सिद्धांत को दृढ़ करते हुए व्यास कहते हैं—

“तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति, संपरिष्वक्तः—प्रश्ननिरूपणाभ्याम्”

“पूर्व शरीर छोड़ने के अनन्तर जीवात्मा अवश्यमेव नवीन शरीर धारण करता है” जब (पूर्व-के दो अध्यायों से) यह सिद्ध हो गया है—तो मानना पड़ेगा कि, जीवात्मा भूतमात्राओं से संपरिष्वक्त होकर ही लोकान्तर में रंहण करता है—(जाता है)। क्योंकि ताण्ड्यश्रुति में पञ्चाग्निविद्याप्रकरण में ‘उद्दालक’ और ‘प्रवाहण’ के परस्पर में होने वाले आत्मगति-सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों से यही सिद्ध होता है। इस प्रश्नोत्तरों के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक सुप्रसिद्ध हैं—

“तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद् ब्रूह्येतदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित् ।

स प्राह जीवः करणावसादे संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः ॥

ताण्ड्यश्रुतौ गौतमजैविलीयप्रश्नोत्तराभ्यां प्रथितोऽयमर्थः ॥”

उद्दालक प्रवाहण से प्रश्न करते हैं—“वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” (छान्दो० उप० ५।३।३।) (यदि जानते हो तो बतलाओ ! पानी पाँचवीं आहुति में कैसे पुरुष बन जाता है ?)। श्रुति उत्तर देती है—“चान्द्रमण्डल में श्रद्धा नाम का पानी व्याप्त हो रहा है। “चन्द्रमा अप्सवन्तरा सुपर्णो धावते दिवि” (यजुःसं० ३४।९०।) के अनुसार उसी श्रद्धासमुद्र में चन्द्रमा परिभ्रमण किया करता है। इस अर्बुप ‘श्रद्धातत्त्व’ की द्यु रूप ‘आदित्याग्नि’ (दिव्याग्नि) में आहुति होती है, इससे ‘सोम’ उत्पन्न होता है। सोम की ‘पर्जन्याग्नि’ में आहुति होती है, इससे ‘वृष्टि’ (स्थूलपानी) उत्पन्न होती है। वृष्टि की ‘पार्थिव अग्नि’ में आहुति होती है, इससे ‘अन्न’ उत्पन्न होता है। अन्न की ‘वैश्वानर पुरुष’ में (मानवशरीर में व्याप्त पुरुष नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर अग्नि में) आहुति होती है, इससे ‘रेत’ (शुक्र) उत्पन्न होता है। रेत की ‘योवाग्नि’ (स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय शोणित) में आहुति होती है, इसी आहुति से ‘पुरुष’ उत्पन्न होता है। इस प्रकार ‘द्यु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-योवा’ इन पाँच अग्नियों में क्रमशः ‘श्रद्धा-सोम-वृष्टि-अन्न-रेत’ इन पाँच आहुतिद्रव्यों की आहुति होती है। इसमें पाँचवीं रेत-आहुति में वही श्रद्धारूप आपः क्रमशः रेतोरूप में परिणत होकर पुरुष का आरम्भक (उपादान) बनता है।” (छाँ० उ० ५।३।) ‘पानी पाँचवीं आहुति में कैसे पुरुष बन जाता है ?’ इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

उक्त प्रश्नोत्तर-प्रकरण से अवरोहक्रम में (ऊपर से नीचे की ओर आने में) पानी को पुरुष का उपादान बतलाया गया है। ऐसी अवस्था में यदि आरोहक्रम में (नीचे से ऊपर की ओर जाने में) पानी का जीवात्मा के साथ गमन न माना जायगा, तो अवरोहक्रम में पानी से पुरुष की उत्पत्ति मानना सर्वथा असंगत हो जायगा। कारण स्पष्ट है। उक्त श्रुति के अनुसार पुरुषसृष्टि का उपादान बनते-बनते सारा पानी यहाँ आ गया। यहाँ से आप पानी का ऊर्ध्वगमन मानते नहीं। ऐसी परिस्थिति में प्रथमा सृष्टि

के अनन्तर आगे पुरुषसृष्टि का मार्ग अवरुद्ध हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। सृष्टि-प्रलय-प्रवाह नित्य है। इससे सिद्ध हो जाता है कि, जिस प्रकार अवरोहक्रम में पानी उपादान बनता है, एवमेव आरोहक्रम में भी पानी जीवात्मा के साथ लोकान्तर में जाता है। पानी भौतिक पदार्थ है। अतएव हम कह सकते हैं कि, जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से संपरिष्वक्त होकर ही लोकान्तर में जाता है।” प्रथम सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ १ ॥

२—उक्त कथन के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। पूर्व की प्रश्नोत्तर-श्रुति से केवल अर्बुत का ही गमन सिद्ध होता है। परन्तु अर्थ किया जाता है—“भूतसूक्ष्मैः सह संपरिष्वक्तो गच्छति” यह अर्थ कैसे संगत हुआ?, इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“आत्मकत्वात्”

पुरुषदेह के आरम्भक पानी आत्मक है। “तासां त्रिवृतं त्रिवृतं-एकैकां करवाणि” (छाँ० उप० ६। ३। ३।) इस छान्दोग्य-श्रुति के अनुसार पानी त्रिवृद्भावापन्न है। इस त्रिवृत्करण प्रक्रिया के कारण केवल पानी में भी सब भूतों का समावेशन है। वेदान्तदर्शन की पञ्चीकरण-प्रक्रिया ही उपनिषदों में त्रिवृत्करण नाम से प्रसिद्ध है। मार्ग-भिन्न है, फलितार्थ समान है। ‘तेज-अप्-अन्न’-इन तीनों के त्रिवृत्करण से ‘पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश’ इन पाँच महाभूतों का जन्म हुआ है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

१-तेजः	१-तेजः	सत्यम् (१)	}	आकाशः (१)
	२-आपः	तपः (२)		
	३-अन्नम्	जनत् (३)		
२-आपः	१-तेजः	महः (४)	}	वायुः (२)
	२-आपः	स्वः (५)		
	३-अन्नम्	भुवः (६)		
३-अन्नम्	१-तेजः	पृथिवी (५)	}	पृथिवी (५)
	२-आपः	भूः (७)		
	३-अन्नम्			

उक्त प्रक्रिया के अनुसार अप्रतत्त्व में तेज भी है, अन्न भी है। शुद्ध आपः रसमात्रा नाम से प्रसिद्ध ‘गुणभूत’ है, यही ‘तन्मात्रा’ है। गुणभूत नाम से प्रसिद्ध इन तन्मात्राओं से ‘अणुभूतों’ का विकास हुआ

* इस त्रिवृत्करण प्रक्रिया का विशद विवेचन मनः-प्राण-वाक्-रूप से ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

है। अणुभूतों के समन्वय से 'रेणुभूतों' का विकास हुआ है, एवं रेणुभूतों के यौगिक सम्मिश्रण से महाभूत उत्पन्न हुए हैं। महाभूतों से सत्त्व (अस्मदादि प्राणी) उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक महाभूत पञ्चीकृत है। प्रत्येक महाभूत में इतर चारों भूतों का गौणरूप से समन्वय रहता है। ऐसी स्थिति में पुरुष-सत्त्वोपादानभूत आपः नाम के महाभूत को हम पाँचों भूतों की समष्टि मानने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार पानी के व्यात्मक होने से केवल पानी का ही आरोह-अवरोह यह सूचित करता है कि, आत्मा पाँचों सूक्ष्म भूतों से युक्त होकर ही आरोहावरोहक्रम का भोक्ता बनता है।

एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि पाँचों ही भूत पुरुषशरीर के आरम्भक हैं, तो फिर 'आपः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि रूप से केवल पानी को ही पुरुष का आरम्भक क्यों माना गया ?' फिर तो 'महाभूतानि पुरुषवचसो भवन्ति' यह कहना चाहिए था।" इस प्रश्न का समाधान करते हुए व्यास कहते हैं—“भूयस्त्वात्”। यद्यपि देहारम्भक द्रव्य सार्वभौतिक (पाञ्चभौतिक) है, तथापि पुरुष की उत्पत्ति में पानी ही प्रधान, एवं अधिक मात्रा में रहता है। शुक्रशोणित के मिथुनभाव से पुरुष उत्पन्न हुआ है। शुक्र भी तरल पदार्थ है, शोणित भी तरल पदार्थ है। बीजरूप शुक्र-शोणित में द्रवभाग ही अधिक है। एवं—“आपो द्रवाः स्निग्धाः” (वै० द० २।१।२) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार यह द्रवता पानी का ही धर्म है। अपि च सौम्यशुक्र 'भृगु' है, आग्नेय शोणित 'अङ्गिरा' है। एवं—“आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्” (गोपथ ब्रा० पू० २।३६) इस आथर्वण सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही अप्रधान हैं। अतएव अप्रधान शुक्र-शोणित के समन्वय से उत्पन्न पुरुष-शरीर में अन्य भूतों की अपेक्षा पानी ही अधिकमात्रा में उपलब्ध होता है। इस प्रकार सब भूतों के रहने पर भी—वैशेष्यात्तु-तद्वादस्तद्वादः” (शा० द० २।४।२२ सू०) के अनुसार इतर भूतों का नाम निर्देश न कर 'आपः पुरुषवचसो भवन्ति' यही कह दिया गया—द्वितीयं सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ २ ॥

३—प्रश्न होता है कि, परलोक जाते हुए आत्मा के साथ सूक्ष्मभूत भी रहते हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?, किस आधार पर यह अनुमान लगाया गया ?, उत्तर देते हैं 'प्राणगतेऽतमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामन्ति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (वृ० ब्रा० उप० ४।४।२।) इत्यादि श्रुतियाँ शरीर से उत्क्रान्त जीवात्मा के साथ मुख्यप्राण, एवं इतर अनूचीन प्राणों की भी उत्क्रान्ति बतला रही हैं। दूसरे शब्दों में जीवात्मा के साथ प्राणों का गमन बतलाया जा रहा है। प्राणतत्त्व बिना भूत के कभी भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। प्राण, एवं भूत का परम्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवित दशा में हम प्राणों को भूतों के साथ नित्ययुक्त देखते हैं, साथ ही में उत्क्रान्तिकाल में प्राणगति सुनी जाती है, फलतः प्राणगति ही भूतगति के अनुमान के लिए पर्याप्त कारण बन जाती है, तीसरे सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ३ ॥

४—“प्राणगति के कारण भूतगति का अनुमान किया जाता है” यह पूर्वसूत्र से सिद्ध किया गया। इस अनुमान के सम्बन्ध में थोड़ीसी विप्रतिपत्ति है। उक्त अनुमान तभी अन्वर्थ बन सकता है, जबकि प्राण, एवं प्राणों की जीवात्मा के साथ गति सिद्ध हो जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है। “यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः, चक्षुरादित्यः” (३२।१३।) के अनुसार जब पुरुष मर जाता

है, तो इस की बागिन्द्रिय स्वप्रभव अग्नि में, प्राणेन्द्रिय वायु में, चक्षुरिन्द्रिय आदित्य में लीन हो जाती है। इस प्रकार तत्तत् प्राणों (इन्द्रियों) की स्वप्रभव-रूप अग्नि वायु-आदित्यादि प्रभवदेवताओं में अपीति (लय) सुनी जाती है। जब प्राण स्वप्रभवों में लीन हो जाते हैं, तो ऐसी अवस्था में जीवात्मा के साथ प्राणों का गमन सिद्ध नहीं होता। फलतः “प्राणगतेश्च”, यह पूर्वोक्त अनुमान नहीं बन सकता।” भूतगति के सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति, एवं उसके निराकरण का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अग्न्यादिगतिश्रुतिरिति चेन्न, -भाक्तत्वात्”

श्रुति वचनों में भी परस्पर गौणमुख्यभाव का समादर करने वाले व्याख्याता उक्त सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि —“यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्य बागग्निमप्येति” यह अग्न्यादिश्रुति यद्यपि तत्तत् प्राणों की तत्तत् प्रभव अग्न्यादि देवताओं में अपीति बतला रही है, परन्तु इस अग्न्यादि श्रुति को ‘भाक्त (गौण)’ समझना चाहिए। “औषधिर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः (बृ० ब्रा० उप० ३।२।१३) यह श्रुति भी उसी प्रकरण में पढ़ी हुई है। इस श्रुति का तात्पर्य यही है कि, पुरुष के लोम मरने के अनन्तर औषधियों में एवं केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं। क्या यह कथन ठीक है?। अग्नि सम्बन्ध से प्रत्यक्ष में दग्धकेश-लोमों का औषधि-वनस्पतियों में लय मानना कैसे संगत हो सकता है। देखते-देखते भस्मीभूत हो जाने वाले केशःलोमों का औषधि-वनस्पतियों के साथ क्या सम्बन्ध। केवलश्रुति ने कह दिया है। जिस प्रकार यह श्रुति गौण है, एवमेव “यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्य०” यह भी केवल कहना ही कहना है। जिस प्रकार औषधि वनस्पतियाँ केश-लोमों की उपकारक मात्र हैं, एवमेव अग्नि-वायु आदि देवता वाक् प्राणादि इन्द्रियप्राणों के उपकारक मात्र हैं। दोनों श्रुतियाँ उपकारभाव का ही प्रतिपादन कर रही हैं। अग्न्यादिश्रुति गौण है, “तमुत्क्रामन्तंप्राणोऽतूत्क्रामति” इत्यादि उत्क्रमणश्रुति ही मुख्य है। श्रुति में “अनु” शब्द पड़ा है। इसका “अनुलक्ष्य” यही अर्थ हो सकता है। फलतः प्राणगतिप्रतिपादका श्रुति की मुख्यता से ही पूर्वोक्त “प्राणगतेश्च” यह अनुमान ठीक बन जाता है”। चतुर्थ सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ४ ॥

५—“प्रथमसूत्रार्थ-प्रकरण में प्रतिपादित पञ्चाग्निविद्या में युरूप (आदित्यरूप) प्रथमाग्नि में श्रद्धा की आहुति बतलाई गई है। इसी श्रद्धा-शब्द के आधार पर पानी से पुरुष का उपादान मान लिया गया है। वस्तुतः देखा जाय, तो पानी से पुरुष की उत्पत्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती। कारण स्पष्ट है। प्रथमाग्नि में आहुति होने वाले द्रव्य को “श्रद्धा” कहा गया है, न कि आपः (पानी)। आपः शब्द प्रथमाग्नि-सम्बन्ध में सर्वथा अश्रुत है। ऐसी दशा में श्रद्धा शब्द से अश्रुत पानी का ग्रहण कैसे किया जा सकता है? जब पानी का ग्रहण अनुपपन्न है, तो भूतसूक्ष्मों का सम्बन्ध भी सर्वथा अनुपपन्न है” इसी आशंका का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“प्रथमेऽश्ववणादिति चेन्न, ता एवह्युपपत्तेः”

यद्यपि द्युरूप प्रथमाग्नि के सम्बन्ध में 'आपः' शब्द सर्वथा अश्रुत है, वहाँ आपः न कहकर श्रद्धा का ही उल्लेख हुआ है, तथापि वहाँ के श्रद्धा शब्द को पानी का ही वाचक मानना न्यायसंगत होता है। क्योंकि गोतम का—“आपः पुरुषवचसो भवन्ति” यह प्रश्न था। उत्तरश्रुति ने इसी प्रश्न का समाधान किया है। उक्त प्रश्न की संगति तभी बन सकती है, जब कि उत्तरश्रुति के श्रद्धा शब्द को 'अप्' परक मान लिया जाय। अपिच श्रद्धा को अप्परक मानते हुए ही पञ्चाग्निविद्या का उपसंहार करते हुए श्रुति ने—“इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर दिया गया है कि प्रकृत का श्रद्धा शब्द पानी का ही वाचक है। अपिच सामान्यदृष्टि से लौकिक व्यवहार में यद्यपि श्रद्धा-शब्द का प्रत्ययविशेष के साथ ही सम्बन्ध देखा जाता है “हम आप पर श्रद्धा करते हैं” इससे सेवकत्व प्रकट किया जाता है, तथापि श्रद्धा शब्द से आपः का ग्रहण भी उपपन्न माना जा सकता है। “आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणो”—“अपः प्रणयति” (शत० ब्रा० १।१।१।१।२) श्रद्धा वा आपः” (तै० ब्रा० ३।२।१।४।१) इत्यादि श्रुतिर्वा स्पष्ट ही श्रद्धातत्त्व को 'आपः' शब्द से व्यवहृत कर रही हैं। इन्हीं सब कारणों से हम प्रकृत श्रद्धा शब्द से अवश्य ही 'आपः' का ग्रहण कर सकते हैं। पाँचवें सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥५॥

६—“श्रद्धा शब्द से पानी का ग्रहण पूर्वसूत्र से यद्यपि सिद्ध हो जाता है, परन्तु पुनः एक महा-विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। पञ्चाग्निविद्या-प्रकरण से केवल यही सिद्ध होता है कि, श्रद्धा नामका पानी पाँचवीं आहुति में पुरुषशरीर का उपादान बनता है, एवं प्रतिसंचर-क्रम में वह पानी पुनः श्रद्धारूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार उक्त श्रुतिप्रकरण से तो केवल पानी का ही अवरोह-आरोह सिद्ध होता है। 'जीवात्मा पानी को साथ लेकर (भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर) लोकान्तर में जाता है' यह सर्वथा अश्रुत है। अर्थात् श्रुति में यह कहीं निर्दिष्ट नहीं है कि, पानी के साथ जीवात्मा भी जाता है। ऐसी दशा में जीवात्मा की गति ही जब अश्रुत है, तो फिर “भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर जीवात्मा लोकान्तर में जाता है” यह सिद्ध करने के लिए पञ्चाग्निविद्या का उल्लेख करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।” इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आगे जाकर सूत्रकार कहते हैं—

“अश्रुतत्वादिति चेन्न, इष्टादिकारिणां प्रतीतेः”

अतत्त्व ही श्रद्धादि क्रम से पुरुषरूप में परिणत होता है। तत्संपरिष्वक्त जीवगमन नहीं करते हैं, यही मानना ठीक है, क्योंकि आपोवत् उक्त श्रुति में जीव का श्रवण नहीं है” कदाचित् कोई यह कहे, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। इष्टादि कर्म करने वाले जीवों का गमनागमन इतर श्रुतियों से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। तात्पर्य यह है कि—“अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते, ते धूममभिसंभवन्ति” इस रूप से उपक्रम कर पितृयागमार्ग से श्रुति जीवात्मा की—पितृलोकादाकाशं, आकाश-चन्द्रमसं, एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति, तस्मिन् यावत् संपातमुपित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्, (छां० उ० ५।६।) इत्यादि रूप से चन्द्रलोक में गति, एवं वहाँ से पुनरावृत्ति बतला रही है। “तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति” (छां० ५।४।२)

इस श्रुति-सामान्य से प्रकृत में अवश्य ही श्रद्धा के साथ जीवात्मा का गमन सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यही है कि, अग्निहोत्रादि करने वाले कर्ममें आहुवनीयाग्नि में सोम की आहुति देते हैं। यही सोमाहुति सूक्ष्मरूप में परिणत होकर इन कर्मों के आश्रित रहती है। दूसरे शब्दों में श्रद्धा-युक्त आहुतिमय आपः जीवों से परिवेष्टित होकर ही लोकान्तर में जाती है। फलतः श्रद्धा के साथ जीव की गति सिद्ध हो जाती है।

७—जीवात्मा लोकान्तर में भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर जाता है, यह तो सिद्ध हो गया। परन्तु लोकान्तर में जाकर यह शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है, इस सम्बन्ध में थोड़ी सी विप्रतिपत्ति है। अथवा यों कहिए कि, कर्मफल भोगने के लिए ही तो जीवात्मा की परलोक में गति बतलाई जाती है। जब निम्नलिखित श्रुति वचन के अनुसार जीवात्मा का फल भोगना ही सिद्ध नहीं होता, तो उसकी गति मानना ही व्यर्थ हो जाता है। “एष सोमो राजा, तद्देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति” (छा० ५।१०।४) इत्यादि श्रुति सोम को देवताओं का अन्न बतलाती है। उक्त छान्दोग्य श्रुति के साथ “ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति, तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति” (बृ०-आ० ६।२।१६) इस बृहदारण्यक श्रुति की समानता है। उक्त श्रुति से यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार सोमत्व को आकाशस्थ, किंवा परलोकस्थ देवता खाया करते हैं, तथैव परलोकगत जीव भी सोमसाहचर्य से इन देवताओं के अन्न बन जाते हैं। जब जीव स्वयं देवताओं के भोग्य हैं, तो ऐसी अवस्था में ये भोक्ता (कर्मफल भोक्ता) कैसे बन सकते हैं?, इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति”

उक्त बृहदारण्यक श्रुति ने सोमवत् यद्यपि इन जीवों को भी देवताओं का अन्न बतलाया है, परन्तु इनका यह अन्नत्व भाक्त (गौर) समभक्ता चाहिए। खाने पीने की वस्तुओं को ही अन्न नहीं कहा जाता, अपितु सामान्य भोगमात्र को ‘अन्न’ शब्द से व्यवहृत किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रजा राजा का अन्न कहलाती है, पशु, अस्मदादि मनुष्यप्रजा के अन्न माने गए हैं। इस अन्नभाव का तात्पर्य यही है कि, प्रजा पर राजा का अधिकार है। प्रजा से राजा को करादि ग्रहण द्वारा सुख मिलता है। हम पशुओं से लाभ उठाते हैं। पशु स्वतन्त्र नहीं रह सकते। इस प्रकार प्रजा, और पशुओं का अन्नत्व पारतन्त्र्य लक्षण ही है। चर्वण-निगरणादि-लक्षण अन्नत्व का यहाँ सर्वथा अभाव है। एवमेव परलोकगत जीवात्मा वहाँ के अधिष्ठाता प्राण-देवताओं द्वारा शासित होते हैं। एतावता ही राजा-प्रजा-वत् बृहदारण्यक श्रुति ने जीवों को इनका अन्न बतला दिया है। अपि च—“न वै देवा अग्निं गतिं न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति” (छा० उप० ३।६।१) इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट ही देवताओं को चर्वण-निगरण लक्षण अन्न मर्यादा से भी बहिर्भूत मान रही हैं। जिन्हें आत्मा का परिज्ञान नहीं होता, ऐसे अनात्मवित् जीव ही परलोक में जाते हैं, एवं इस अनात्मभाव के कारण इन्हें देवताओं का भोग्य बनना पड़ता है, जैसे कि आत्मस्वरूप न जानने वाले गौ-अश्ववादि पशु हमारे भोग्य बने रहते हैं। जीवात्मा के इसी पारतन्त्र्य प्रवर्तक अनात्मलक्षण पशुभाव को दिखलाती हुई श्रुति कहती है—

“अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद ।

यथा पशुः, एवं स देवानाम्”

—वृ० आ० उप० १।४।१०।

जीवनपर्यन्त केवल इष्टादि कर्मों में ही रत रहने वाले ये जीवात्मा ज्ञानसमुच्चित मुक्तिप्रवर्तक निष्काम कर्म से पराङ्मुख रहते हैं। इसी विशुद्ध कर्म के प्रभाव से इसकी आत्मविद्या आवृत हो जाती है। एतावता ही इन्हें गौरवरूप से देवभोग्य अन्न मान लिया गया है। यह सब कुछ होने पर भी इनका भोक्तृत्व भी बना रहता है। श्रुति में स्पष्ट ही इनका भोक्तृत्व देखा जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः, स एकः कर्मदेवानामानन्दः । ये कर्मणा देवत्वमभिसंजयन्ते ।” “स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते” इति ।

—वृ० आ० उप० ४।३।३३।

इस प्रकार अपूणवदोपात्त भूतसूक्ष्म एवं प्राणों से संपरिष्वक्त जीवात्मा का कर्मफल भोगने के लिए लोकान्तर में जाना उक्त ‘आरोहोपक्रमाधिकरण’ से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है ।

प्राचीन व्याख्याताओं ने उक्त अधिकरण की जिस प्रकार से उत्थानिका मानी है एवं अधिकरण के सात सूत्रों के जो अर्थ किए हैं, उनका संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया गया । अब वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृत अधिकरण का विचार किया जाता है । वैज्ञानिक लोग प्राचीन मत में थोड़ा सा संशोधन आवश्यक समझते हैं । उनके मतानुसार उक्त अधिकरण की उत्थानिका भी दूसरी है एवं सूत्रार्थों में भी कहीं कहीं थोड़ा बहुत अन्तर है, जैसा कि निम्नलिखित प्रकरण से स्पष्ट हो रहा है ।

—आरम्भ के दो अध्यायों में परमतनिराकरणपूर्वक (सांख्यादिमत निराकरण) भगवान् व्यास ने वेदान्ताभिमत (औपनिषद्) आत्मा का स्वरूप बतलाया है । बादरायण के मतानुसार भौतिक-शरीर के आरम्भक ‘भूत-प्राण-इन्द्रियादि’ सबमे विलक्षण, विशुद्ध तत्त्व-विशेष ही आत्मा है । ऐसी स्थिति में प्रेत्यभाव के सम्बन्ध में “शरीर छोड़ने के अनन्तर यह आत्मा शरीरात्मक भूतप्राणादि से पृथक् होकर ही परलोक में जाता है” यही मानना पड़ेगा । परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि निरूपाधिक विशुद्ध आत्मा स्वस्वरूप से सर्वथा व्यापक है, एवं व्यापक तत्त्व का शरीर से निकल कर विशुद्धरूप से गमन बन नहीं सकता । उधर आत्मा की लोकान्तर में प्रतिपत्ति शास्त्र-सम्मत है । ऐसी स्थिति में क्या माना जाय ? , इसी प्रश्न का निराकरण करते हुए व्यास कहते हैं—

“तदन्तरप्रतिपत्तौ रहति-संपरिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम्”

“आत्मा शरीर से बाहर निकल कर लोकान्तर में जाता है” यह मान लेने पर, दूसरे शब्दों में आत्मा का बहिर्मण्डल के साथ सम्बन्ध मान लेने पर विशुद्ध रूप से इसका उत्क्रमण कथमपि संभव नहीं है। अतः मानना पड़ता है कि, यह आत्मा भूतसूक्ष्मों से संपरिष्वक्त होकर ही लोकान्तर में जाता है। “पूर्वशरीर के छूट जाने पर भी शरीरारम्भक भूत-प्राण-इन्द्रियादि कितने ही पदार्थों से संश्लिष्ट होकर ही आत्मा गमन करने में समर्थ होता है।” यह बात उद्दालक और प्रवाहण के प्रश्न प्रतिवचन से सिद्ध है। वहाँ पर पानी को पुरुष का उपादान बतलाया गया है। यदि शुद्ध जीवात्मा ही लोकान्तर में जाये, तो पुनः जन्म ग्रहण करता हुआ भी वह शुद्ध रूप से ही पृथिवी पर आवे। ऐसी दशा में पानी को पुरुष का उपादान बतलाना सर्वथा असङ्गत हो जाय। इन्हीं सब परिस्थितियों से यह सिद्ध हो जाता है कि, आत्मा भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर ही जाता है।

२-३-५-६-७ इन सूत्रार्थों के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। यदि कुछ है भी, तो वह विस्तारभय से छाड़ा जाता है। वक्तव्य है—“अग्न्यादिगतिश्रुतिरिति चेन्न-भाक्त्वात्” इस चतुर्थ सूत्र के सम्बन्ध में। “शेषं कोपेन पूरयेत्”—अशक्तास्तत् पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते” इत्यादि वचनों की आराधना छोड़कर विचार कीजिए। श्रौत वैज्ञानिक रहस्यों का निष्पक्षपातदृष्टि से अवलोकन कीजिए। आपको मानना पड़गा कि—“पुराणमित्येव न साधु सर्वम्” यह वचन वास्तव में बहुत सोच समझ कर कहा गया है। उक्त सूत्रार्थ के सम्बन्ध में आज हम एक ऐसे व्यक्ति की समालोचना करने चले हैं, जो विद्वत् समाज में मूढन्य माना जाता है। हमारे हृदय में भी उस महापुरुष के प्रति कम श्रद्धा नहीं है। फिर भी “शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि” इस सूक्ति का हम निरादर नहीं कर सकते। पूर्व प्रकरण में चतुर्थ सूत्र का अर्थ बतलाते हुए हम कह आए हैं कि, भगवान् ‘शङ्कराचार्य’ के मतानुसार “यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं बागप्येति” (वृ० ३।२।१३।) इत्यादि श्रुति उसी प्रकार गौण है, जैसा कि—“औषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः” (वृ० ३।२।१३।) इत्यादि श्रुति गौण अर्थ का प्रतिपादन कर रही है। अपने अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर आचार्य कहते हैं—“लोम और केशों का औषधि वनस्पतियों में अप्यय नहीं देखा जाता।” तात्पर्य्य इस कथन का यही है कि, जैसे श्रुति ने लोम-केशों का औषधि-वनस्पतियों में लय बतलाया है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। केश लोमों को हम शव के साथ साथ प्रत्यक्ष में जलता हुआ देखते हैं। बस जिस प्रकार लोम केश का औषधि वनस्पतियों में अप्यय बतलाने वाली उक्त श्रुति गौण है, एवमेव “यत्रास्य पुरुषस्य” इत्यादि अग्न्यादिगति श्रुति भी गौण अर्थ का ही प्रतिपादन कर रही है। ऐसी अवस्था में अग्न्यादि श्रुति का—“अग्निं वायुं आदित्यादि देवता वाक्-प्राणं चक्षुः आदि इन्द्रिय प्राणों की अधिष्ठात्री देवता है, वागादि की उपकारिकाएं हैं” इस उपकार भाव को सूचित करने के लिए ही “वागादि अग्नि आदि की ओर जाते हैं” यह कह दिया गया है। “वस्तुतः अग्न्यादि में वागादि का अप्यय नहीं है”—आचार्य की दृष्टि में यही अभिप्राय है। आचार्य के मतानुसार उक्त अग्न्यादि श्रुति एवं औषध्यादि श्रुति, दोनों गौण हैं एवं “तमुक्तामन्तं प्राणोऽनृतं तमिति” इत्यादि उत्क्रमण श्रुति ही मुख्य है।

इस प्रकार भगवान् शंकर के मतानुसार व्याससूत्र में पठित “भाक्त्वात्” पद का गौण अर्थ है। वैज्ञानिक श्रुति के सम्बन्ध में उक्त अर्थ मानने में अणुमात्र भी सहमत नहीं हैं। श्रुतियों में गौण-

मुख्यभाव मानना सर्वथा अनुचित है। श्रुति कोई अलङ्कारशास्त्र नहीं है, जहां मिथ्याकल्पनाओं का यथाभिरुचि समावेश मान लिया जाय। अपितु श्रुति साक्षात्कृतधर्मावृत्तियों का अपार्षदृष्टि से देखा हुआ निश्चित अर्थ है। “अमुक विषय गौण है, अमुक विषय मुख्य है, इसे सत्य समझो, इसे केवल कल्पना समझो” श्रौतशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करना भी अपने आपको प्रत्यवायी बनाना है। जब श्रुति ही गौणमुख्यभाव का आश्रय लेगी, तो निःसंदिग्ध अर्थ का प्रतिपादन कौन करेगा? अपने इसी निःसंदिग्ध भाव को सूचित करती हुई, सर्वत्र मुख्यार्थभावना को ही दृढमूल बनाती हुई स्वयं श्रुति ही एक स्थान पर कहती है।

❀ सं पूषन् विदुषा नय यो अज्जसानुशासति ।

य एवेदमिति ब्रवत् ॥ १ ॥

समु पूषणा गमेमहि यो गृहां अभिशासति ।

इम एवेति च ब्रवत् ॥ २ ॥

—ऋक्सं० ६।५८।१-२।

श्रुति जो कुछ कहती है, अक्षरशः सत्य है। श्रुति का प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय मुख्य अर्थ से ही सम्बन्ध रखता है। श्रौत वचनों में गौणभाव का, शून्यकल्पना का किञ्चित् भी समावेश नहीं है। जिस औपध्यादि श्रुतिवचन को शङ्कराचार्य गौणभाव का प्रतिपादक समझते हैं, हमारी दृष्टि में वह मुख्यार्थ का ही निरूपण कर रही है।

हमारे शरीर में जितने भी रोमकूप हैं, उन सब का नाक्षत्रिक प्राणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। चान्द्रमण्डल नक्षत्रयुक्त है। अतएव चन्द्रमा को उडुपति माना गया है। जिस समय गर्भाशय में डिम्ब ‘कलल’ रूप में परिणत रहता है, उसी समय नक्षत्रों की निराकार प्राणात्मिका रश्मियाँ इसमें प्रविष्ट होकर सुषिर (छिद्र) उत्पन्न कर देती हैं। वे ही छिद्र ‘रोमगर्त’ किंवा ‘रोमकूप’ नाम से प्रसिद्ध होते हैं। जितने भोग्य नक्षत्र हैं, हमारे शरीर में उतने ही रोमगर्त हैं। चान्द्र सौम्य-प्राणावच्छिन्न नक्षत्रों की रश्मियों से ही रोमकूपों का निर्माण होता है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

* हे पूषा देवता मुझे (जिज्ञासु को) आप ऐसे विद्वान् से मिलाइये ! जो बड़ी सरल रीति से समझाता है, एवं जो (प्रत्येक विषय के लिए) “यह ऐसा ही है” इस प्रकार निःसंदिग्ध रूप से प्रतिपादन करता है।

“एभ्यो लोमगर्त्तभ्य ऊर्ध्वानि ज्योतींस्थान् । तद्यानि तानि ज्योतींषिः
एतानि तानि नक्षत्राणि । यावन्त्येतानि नक्षत्राणि, तावन्तो लोमगर्त्ताः । यावन्तो
लोमगर्त्तास्तावन्तः सहस्रसंवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ।”

—शत० ब्रा० १०।४।४।२। इति

रोमकूप नक्षत्रप्राणयुक्त चान्द्रप्राण-प्रधान होते हुए सीमाप्रधान हैं । ‘सोमो वै राजा ओषधीनाम्’
(तै० ब्रा० ३।१।१७।१।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण औषधियों का उपादानकारण नक्षत्र-
प्राणावच्छिन्न चान्द्रसोम ही है । औषधियों में सौर रस (आग्नेयरस) न हो, यह बात तो नहीं है,
परन्तु इनमें प्रधानता चन्द्रसोम की ही रहती है, अतएव औषधियों को सोमरस ही मान लिया जाता है ।
सौर ऊष्मा (सौरअग्नि) गर्भित चान्द्रसोम ही औषधियों का आरम्भक बनता है । औषधियों का
स्थूल दृश्य भाग सौम्य है, इनके गर्भ में सौर अग्नि प्रतिष्ठित रहता है, अतएव “ओषं (ऊष्मभावं सौराग्नि
स्वगर्भं) धत्ते” इस व्युत्पत्ति से इन्हें ‘औषधी’ कहा जाता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति
कहती है—

“(प्रजापतिः) तां (आहुतिं) व्यौक्षत् (अप्रावत्यजत्) ओषधय-
इति (ब्रुवन्), तत ओषधयः समभवन् । तस्मादोषधयो नाम ।”

—शत० २।२।४।१। इति ।

इन औषधियों की शारीराग्नि में आहुति होती है । इससे अग्नि प्रज्वलित हो जाता है । यह
अग्निगर्भित सोम ही सजातीय सम्बन्ध के कारण रोमकूपों से निरन्तर बाहर निकला करता है । बाहर
से रुद्रवायु (रुक्षवायु-यमवायु) का आघात होता है । इस आघात से रोमद्वारों पर आया हुआ सोम-
गुणक रुधिरमूर्ति वह अग्नि जम जाता है । इस प्रकार रोमकूपों से बाहर निकल कर रुद्रवायु की रुक्षता
से जमने वाला, सौराग्निगर्भित औषधि नाम से प्रसिद्ध चान्द्ररस ही हमारी रोमावलियाँ हैं । औषधिरस
ही रोमावलियाँ बनता है । वास्तव में औषधियाँ ही (भुक्त औषधि लक्षण अग्निगर्भित सोमरस ही)
लोमों का प्रभवस्थान है ।

जिस प्रकार औषधियों का निर्माण चान्द्रसोम से होता है, एवमेव वनस्पतियों में सौर-अग्नि की
प्रधानता है । यहां सोम गर्भ में है । सोमगर्भित सौर अग्नि ही वनस्पतियों का उपादान कारण है । वन-
स्पतियों की आहुति से शारीराग्नि प्रज्वलित रहता है । अग्नि बाहर निकलता है, रुद्रवायु के आघात से
जमकर वहीं केशरूप में परिणत हो जाता है । लोमों में जहाँ सौम्य प्राण की प्रधानता थी, अतएव लोम
जहाँ अस्थिर, सूक्ष्म, मृदु थे, वहाँ इन केशों में अग्नितत्त्व प्रधान है एवं ये घन हैं, स्पर्श में कर्कश हैं । केश
अग्नि का मूलभाग है, अग्नि से निवारित है । इसी निवारण भाव से (अग्नि से निवारित होने से)
इन्हें ‘वार’ किंवा ‘वाल’ कहा जाता है । जिस प्रकार मनुष्य अपने मूलभाग से घृणा करता है । अतएव
जिसके शरीर पर जितने अधिक केश होते हैं, उसे उतनी ही कम ठंड लगाती है । केशों से घृणा करने

वाला अग्नि शरीर से बाहर नहीं निकलता। अतएव शीत का सामना करने के लिए जितना अग्नि चाहिए, केशों से अवबद्ध उतना अग्नि शरीर में प्रतिष्ठित रह जाता है। केशादि से विनिर्मित जिस कम्बल को लोकभाषा में गरम कहा जाता है, विज्ञानदृष्टि से वह केशनिर्मित कम्बल महाठंडा है, अग्नि का उच्छिष्ट है। फिर भी जो इसे गरम कहा जाता है, इसका कारण यही है कि, कम्बल के आवरण से स्वमल से घृणा करने वाला अग्नि अन्तर्मुख बन जाता है। फलतः शीत का अनुभव नहीं होता। कहना यही है कि, वनस्पतिरस केशों का एवं औषधिरस लोमों का प्रभवस्थान है।

पृथिवी के गर्भ में प्रज्वलित रहने वाला अक्षाग्नि पृथिवी का आत्मा है। सम्पूर्ण भूपिण्ड इस आत्मा का शरीर है। भूपिण्ड में इतस्ततः व्याप्त रहने वाली औषधि-वनस्पतियाँ इस पार्थिव प्रजापति के केश-लोम हैं। वनस्पतियाँ केश हैं, औषधियाँ लोम हैं। यही स्थिति अध्यात्मसंस्था की है। 'अग्नि-वायु-इन्द्र प्रधान वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ' की समष्टि जीवात्मा है। पाञ्चभौतिक पार्थिव पिण्ड इसका शरीर है। लोम औषधियाँ हैं, केश वनस्पतियाँ हैं। शरीर परित्यागानन्तर ये केश-लोम अग्नि सम्बन्ध से विश-कलित होकर भूपिण्ड में सर्वत्र व्याप्त औषधि-वनस्पति-प्राणों में चले जाते हैं। दोनों का स्वप्रभवस्थानों में विलयन हो जाता है। पार्थिव प्रजापति के रोमगर्तों से औषधियाँ निकलती हैं, इन औषधियों से हमारे लोम बने हैं। इसी लोमविज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

“प्रजापतेर्विस्त्रस्तस्य यानि लोमान्यशीयन्त, ता इमा औषधयोऽभवन्”

—शत० ७।४।२।११।

पूर्व कथनानुसार औषधियों में वनस्पतिप्रभव सौर अग्नि गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव—
“औषधिवनस्पतयो वै लोमसु श्रिताः” (तै० ब्रा० ३।१०।८।७।) इत्यादि से कहीं-कहीं लोम के साथ औषधि-वनस्पति, दोनों का सम्बन्ध मान लिया जाता है। हम कह आए हैं कि, लोम में सोम की प्रधानता है, एवं केशों में अग्नि की प्रधानता है। उधर—‘पवित्रं ते विततं ब्रह्माणस्पते’ (ऋक० सं० १।८।३।१।) के अनुसार गाङ्गेयस्वरूप संपादक सोमत्व को पवित्र माना गया है। यद्यपि केशवत् लोम भी अग्नि का ही मल है, तथापि सोम की प्रधानता के कारण लोम भाग उस प्रकार दोषसंक्रान्त नहीं बनते, जैसे कि अग्निबलप्रधान केश आत्मा को अग्नेय्य अणुचि बना डालते हैं। शरीरगत अणुचिभाव का बढ़ सम्बन्ध इन केशों के साथ ही होता है। इसी विज्ञान के आधार पर दीक्षित केवल केश-श्मश्रु ही कटवाता है। अतएव च आशौच शुद्धि के लिए केश मुण्डन का ही विधान है* ।

उक्त विवेचन से विज्ञ पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि केश और लोम वास्तव में प्राणा-पेक्षया स्वप्रभवभूत औषधि वनस्पति-प्राणों में ही लीन होते हैं। इस प्रकार “औषधिर्योमानि-वनस्पतीन्-

*उपवास में फलाहार का विधान, अन्न का निषेध क्यों किया गया? औषधि मन का, वनस्पति बुद्धि का आरम्भ कैसे बनती है? इन सत्र विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत ब्रतौपायनमीमांसा प्रकरण में देखना चाहिए।

केशाः" इत्यादि जिस श्रुति की गौणता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य इसके आधार पर अग्न्यादि श्रुति की गौणता सिद्ध कर रहे हैं वह कैसे श्रुतिसम्मत मानी जा सकती है? अब हमारे लिए केवल प्रश्न यह बच जाता है कि, "यदि औषध्यादिश्रुति गौण अर्थ का निरूपण न कर मुख्यार्थ का ही प्रतिपादन करती है, तो अग्न्यादिश्रुति में पढ़े हुए 'भाक्त्वात्' का क्या अर्थ है? उत्तर में हम यही निवेदन करेंगे कि— 'तस्य वा एतस्य हृदयस्य देवमुषयः" (छा० उप० ३।१३।१।) इस छान्दोग्य श्रुति के अनुसार हृदय में 'अग्नि'-'वायु'-'आदित्य'-'दिक्-सोम' ये पाँच प्राण देवता नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। इन पाँचों मौलिक प्राण-देवताओं के आधार पर 'भक्ति (भाग-अंश-अवयव)' रूप से कमशः 'वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन ये पाँच इन्द्रियप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में इन्द्रियप्राण भाक्त संबन्ध से उन देवताओं के आश्रित हैं। जब आत्मा शरीर से उत्क्रान्त होता है, तो पाँचों इन्द्रियप्राण भी भूतसूक्ष्मों से युक्त रहते हुए उक्त पाँचों देवताओं की भक्ति (अवयव) बने हुए ही आत्मा के साथ साथ उत्क्रान्त होते हैं। "पाँचों प्राण अपने पाँचों देवताओं की भक्तियाँ हैं, इसी भक्तिभाव का स्पष्टीकरण करती हुई— "यत्रास्य पुरुषस्माग्निं वागप्येति" इत्यादि अग्निश्रुति हमारे सामने आती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि, इन वागादि का उत्क्रान्त आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किंवा वागादि का अपने प्रभव में अप्यय हो जाता है, अपितु उक्त श्रुति का तात्पर्य यही है कि जिस-प्रकार उत्क्रान्त आत्मा के साथ भूतसूक्ष्मों का सम्बन्ध रहता है, भूताधिष्ठाता इन्द्रियप्राणों का समन्वय रहता है, एवमेव इन प्राणों के आधारभूत देवता भी संपरिपक्व रहते हैं। 'देवता, प्राण, भूतसूक्ष्म, विद्या, कर्म, पूर्वजन्म' आदि सारी सामग्रियों से संपरिपक्व होकर ही आत्मा 'रंहति' कहा गया है। यही कारण है कि, अन्य श्रुति ने भूतप्राणवत् उक्त देवताओं का भी आत्मा के साथ गमन बतलाया है, जैसा कि महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—

“विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः, प्राणा, भूतानि, संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।

तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमाविवेश" ॥

—प्रश्नोपनिषत् ४।११

इस प्रकार उक्त प्रकरण से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, "भूतसूक्ष्म, मुख्यप्राणानुगृहीत इन्द्रियप्राण, इन्द्रियप्राणाधिष्ठाता अग्निवायवादि देवता, इन सबसे युक्त होकर ही आत्मा लोकान्तर में जाता है ।"

पूर्व प्रतिपादित 'आरोहोपक्रमाधिकरण' से बतलाना हमें यही था कि, आर्पसाहित्य का सर्वमान्यदर्शन (वेदान्त दर्शन) आत्मा को शरीर से भिन्न तत्त्व मानता है, एवं स्थूल शरीर परित्याग के अनन्तर वह इसे

* "जीवभूतां महाबाहो यथेवं धार्यते जगत्" इस स्मार्त सिद्धांत के अनुसार 'पराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध 'अक्षर' ही जीवात्मा है। इस अक्षर रूप जीवात्मा के साथ प्रज्ञानसंपरिपक्व विज्ञान, भूत, प्राण, देवता आदि का नित्य सम्बन्ध रहता है। इस विषय का विषद विवेचन "प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य" में देखना चाहिए।

हमारी अध्यात्मसंस्था सूक्ष्मशरीर धारण कर कर्मफल भोगने के लिए लोकान्तर में गमन करने वाला मानता है। ऐसी अवस्था में आस्तिक कहलाने वाले किसी भी आर्य व्यक्ति को आत्मा की नित्यता, उसके परलोक गमन एवं वहां पर शुभाशुभ फल भोगने के सम्बन्ध में अविश्वास नहीं हो सकता। लोकान्तर में जाने वाले 'प्रेत' यंत्रक आत्मा को श्रद्धामूत्र द्वारा अग्नादि से तृप्त करना ही श्राद्धकर्म है। श्राद्ध का शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है अपितु आत्मा के साथ सम्बन्ध है। मृतरां श्राद्धकर्म पर तिष्ठा प्राप्त करने से पहिले आत्मा को शरीर से पृथक् मान लेना, साथ ही में उसकी लोकान्तर गति में विश्वास कर लेना आवश्यक हो जाता है। हमारा यह निबन्ध नास्तिकों के बुद्धिदोष का सम्यक् रूप से परिमार्जन करता हुआ आस्तिकों की श्रद्धा को दृढमूल करने में पर्याप्त रूप से सहायक सिद्ध होगा।

“आत्मा अखण्ड है, व्यापक है। न उसकी आगति है, न गति है। न कभी वह जन्म लेता, न कभी मरता। जिस स्थान पर चिद्ग्राहक वीध्र (स्वच्छ स्निग्ध) पदार्थ रहता है, उसी स्थान पर प्रतिबिम्बित होकर वह चमक पड़ता है। सम्पूर्ण रोदसी त्रैलोक्य में सूर्य व्यापक है। यह सब कुछ होने पर भी सभी स्थानों में, सभी काल में वह प्रकट नहीं होता। आप पानी का पात्र रख दीजिए, वहीं प्रतिबिम्ब रूप से सूर्य प्रकट हो जायगा। पात्र तोड़ दीजिए, प्रतिबिम्बित सूर्य जहां का तहां विलीन हो जायगा। ठीक यही स्थिति ईश्वर एवं तदंशभूत जीवों की समझिए। सम्पूर्ण विश्व में ‘परमात्मा’ नाम से प्रसिद्ध ईश्वरतत्त्व समानरूप से व्याप्त हो रहा है। “तेनेदं पूर्ण-पुरुषेण सर्वम्।” जहाँ-जहाँ उसे वीध्र महत्सोम मिलता है, प्रतिबिम्बरूप से वहाँ वहाँ वह प्रकट हो जाता है। महत्सोमावच्छिन्न इसी प्रतिबिम्बभाव का नाम जीव है। महद्भेद से जीवों में भेद है। जिस प्रकार एक पात्र के टूट जाने से केवल तत्पात्रस्थ प्रतिबिम्बित सूर्य का ही परज्योति में लय होता है, अन्य प्रतिबिम्बों पर इस दशा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, एवमेव एक महत् पात्र के विच्छिन्न होने से केवल उसी संस्था का लय होता है। अन्य जीव संस्थाएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित रहती हैं। अपिच जिस प्रकार प्रतिबिम्बित सूर्य कोई अपूर्वभाव नहीं है, न वह कहीं से आया है, न वह कहीं जायेगा, उद्बोधक, किंवा अभिव्यञ्जक सामग्री के उपस्थित हो जाने पर वह उसी स्थान पर प्रकट हो जाता है एवं आधार के नष्ट हो जाने पर वहीं उन्मुग्धावस्था में परिणत हो जाता है। एवमेव त्रैलोक्य व्यापक आत्मा का प्रतिबिम्बभूत जीव न कहीं से आता है, न कहीं जाता है। महत् के आ जाने से वह वहीं प्रकट हो जाता है। अन्यथा वहीं विलीन हो जाता है—“इहैव समबलीयन्ते।” व्यापक आत्मा का गमना-गमन का अभाव, श्राद्धकर्म की सुलभिति (जड़) को कम्पित करने के लिए पर्याप्त नहीं है? जब न वह कहीं जाता, न कहीं से आता तो फिर किस का जन्म?, विसका मरण?, किसका लोकान्तर में गमन?, किसका श्राद्ध?, सभी मत्तप्रलाप-कोटि में आ जाते हैं।

यदि अभ्युपगमवाद से, किंवा तुष्यदुर्जनन्याय से थोड़ी देर के लिए आत्मा का लोकान्तर में गगन मान भी लिया जाता है, तब भी श्राद्धभक्तों का समाधान नहीं हो सकता। आत्मगति का स्वरूप बतलाते हुए, उस समय की अवस्था का चित्रण करते हुए भगवान् व्यास ने एक स्थान पर कहा है—

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।

यथा तृणजलौकेयं देही कर्ममार्गं गतः ॥ —श्रीमद्भागवत

तृणजलौका (चातुर्मास्य में उत्पन्न होने वाला, प्रान्तीय भाषा में 'केंचुआ' नाम से प्रसिद्ध जन्तु-विशेष) जब आगे के भाग से आगे की भूमि पकड़ लेता है, तब वह पिछली जमीन छोड़ता है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा तभी अपने पूर्वशरीर को छोड़ता है, जबकि वह अपनी स्वरूप रक्षा के लिए पहले नवीन शरीर ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य इसका यही है कि, पूर्वशरीर से निकलते निकलते वह नवीन शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। दूसरा शरीर इस के लिए पहले से तय्यार रहता है। पहले को छोड़ता जाता है, दूसरे में प्रविष्ट होता जाता है। पूर्वशरीर का परित्याग, उत्तर-शरीर का ग्रहण, दोनों काम समान काल में होते हैं। "प्रथम शरीर धारण करते ही द्वितीय शरीर धारण कर लेता है" इसका तात्पर्य यही मानना पड़ता है कि, वह जीवात्मा पूर्व योनि को छोड़ कर अन्य योनि में चला जाता है। इस प्रकार तृणजलौका-न्याय से योन्यन्तर में गए हुए उस जीव के साथ इसके पुत्रादिका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में उसे श्राद्ध द्वारा हम किसी प्रकार की सहायता पहुंचावें, यह सर्वथा असंगत है! मान लीजिए, कर्मविधान के वैचित्र्य से किसी का आत्मा अश्व-शूकरादि किसी योनिविशेष में प्रविष्ट हो गया। क्या पुत्रादि द्वारा प्रदत्त श्राद्धाभ इस पशु को मिलेगा?, क्या हमारा श्राद्धकर्म पशुयोनि में प्रविष्ट अश्ववादि पशुओं की तृप्ति का कारण बनता है?, भला एक प्रमत्त के अतिरिक्त कौन विचारशील ऐसे अवैज्ञानिक, युक्तिविरुद्ध श्राद्धकर्म पर विश्वास करेगा।

अच्छा, हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लेते हैं कि, आत्मा स्थूलशरीर छोड़ने के अनन्तर पञ्चादि योनियों में न जाकर सूक्ष्म (आतिवाहिक) शरीर धारण कर लोकान्तर में जाता है, एवं यह भी मान लेते हैं कि हम कोई आपत्ति नहीं समझते कि, परलोकगत आत्मा के साथ इसके वंशधरों का ध्वडा-सूत्र द्वारा सम्बन्ध बना रहता है। यह सब कुछ मान लेने पर भी श्राद्धकर्म तो सर्वथा अप्रतिष्ठित ही रहता है। कारण स्पष्ट है। स्वस्वरूप से व्यापक आत्मा को स्वकर्मवश परिच्छिन्न होना पड़ता है। कर्मों के तारतम्य से ही इसे यथावसर सुख दुःख का भागी बनना पड़ता है। साथ ही प्रत्येक जीवात्मा अपने अपने शुभ अशुभ कर्मों का अपने आप उत्तरदायी है। "एक कर्म करे, दूसरा उसका फल भोगे" कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह सर्वथा असंभव है। कर्म की इसी नियत एवं वैयक्तिक व्यवस्था को लक्ष्य में रख कर "देही कर्ममार्गं गतः" यह कहा गया है। इसी आधार पर निम्नलिखित सूक्ति प्रचलित है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

स्वकर्मसूत्रप्रथितो हि लोकः ॥

जब यह बात है, तो अपने कर्मभोग से परलोक गए हुए, कर्मानुसार सुख दुःख भोगते हुए प्राणी को एक तटस्थ व्यक्ति श्राद्धादि से तृप्त करने का क्या अधिकार रखता है? यदि पुत्रादि द्वारा प्रदत्त अन्न से प्राणी तृप्त हो जाता है, तो कर्मसिद्धान्त छिन्न भिन्न हो जाता है। यदि उसने बुरे कर्म किए होंगे, तो अवश्यमेव उसे क्षुधा-पिपासा-यामीयातना-आदि जनित दुःख भोगने पड़ेंगे। यदि शुभ

कर्म किए होंगे, तो विधि विधान उसे स्वयं सुखी बना देगा। फलतः उक्त कर्म सिद्धान्त के आधार पर भी श्राद्धकर्म की निःसारता सिद्ध हो जाती है।

अपिच, श्राद्धकर्म का फल बतलाने वाले आचार्यों ने कहा है कि, जो मनुष्य विधिपूर्वक श्राद्ध करता है, उस का वंश कभी नष्ट नहीं होता। उसकी सम्पत्ति, आयु, कीर्ति, सब कुछ समृद्ध रहते हैं। बिलकुल मिथ्या ! सर्वथा कल्पना !! श्राद्ध करने वाले थोड़े, न कर वाले बहुत। श्राद्ध करने वाले भी निःसन्तान, दुःखी, अल्पायु देखे जाते हैं, न करने वाले भी बहु-सन्तानयुक्त, सुखी, दीर्घायु होते हैं। इस वैषम्य का क्या कारण ?

इस प्रकार आत्म-सम्बन्धी इस श्राद्धकर्म के सम्बन्ध में अनेक संदेह उपस्थित होते हैं। इन सब सन्देहों का मूल कारण है—आत्मा का यथावत् न जानना। यदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लिया जाता है, तो पूर्वोक्त सन्देहों का कोई मूल्य नहीं रहता। यद्यपि उपनिषदादि शास्त्रों में आत्म का स्वरूप सर्वथा निर्णीत है, परन्तु जैसा कि हम प्राक्कथन में निवेदन कर चुके हैं, वेदार्थपरिशीलन के अभाव से, साथ ही में साम्प्रदायिक मताभिनिवेश से आज उन सद्ग्रन्थों का सदाशय सर्वथा विलुप्त-सा हो गया है। एक ही शास्त्र का चिन्तन करने वाले भारतीय विद्वानों ने अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैला रखी हैं। सब अपने अपने मताभिनिवेश में पड़ कर धर्म का स्वरूप विकृत कर देश का सर्वनाश करने पर तुले हुए हैं। वर्तमान युग की इसी क्षुद्रस्वार्थमयी मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए महात्मा तुलसीदास ने कहा है :—

हरित भूमि तृण संकुल, समुभि परै नहीं पन्थ ।

जिमि पाखण्ड विवाद तें, लुप्त भए सद ग्रन्थ ॥

—तु० रा० कि० कां० २२ दो० ।

इन्हीं सब विषम समस्याओं को श्राद्धविज्ञान में बिघ्नभूत देखकर सर्वप्रथम हमने 'आत्म-विज्ञानोपनिषत्' लिखना आवश्यक समझा है। आत्मस्वरूप परिज्ञान के बिना श्राद्धसम्बन्धी उक्त सन्देहों का निराकरण कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है।

व्याख्याताओं के मताभिनिवेश की कृपा से आज दिन विद्वानों ने आत्मशब्द से किसी अखण्ड-तत्त्व का ग्रहण कर रखा है। उनका विश्वास है कि, आत्म अखण्ड बनता हुआ भी चिदाभासरूप से सखण्ड दिखालाई पड़ता है। इधर वैज्ञानिकों का कहना है कि, अखण्डतत्त्व को तो आत्मा कहना ही अशुद्ध है। 'अहं' शब्द वाच्य आत्मा सर्वथा सखण्ड है। वह भी एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, अपितु प्रति शरीर में संख्या में १५-१५ हैं। हम 'आत्मा' नहीं हैं, अपितु 'आत्मग्राम' हैं। "पन्द्रह आत्माओं की समष्टि अहं पदार्थ है" यह सुनकर सम्भव है, आजकल के कल्पना रसिक विद्वान् हमारे उक्त सिद्ध अर्थ को केवल कल्पना ही समझने लगे। परन्तु हमारा दृढ़ निश्चय कि, जिन १५ सखण्ड आत्माओं का इस प्रकरण में हम दिग्दर्शन कराने वाले हैं, उनकी प्रामाणिकता में अणु मात्रसंदेह का अवसर नहीं है।

साथ ही हमें यह भी विश्वास है कि, यदि उन्होंने आद्योपान्त इस 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' को पढ़ने का कष्ट किया, तो चिरकाल से चली आने वाली वेदविरुद्ध एकात्मवाद की भावना ('कर्म-उपासना-श्राद्ध' आदि की अपेक्षा से) सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जायगी, एवं उन्हें बाध्य होकर अनेकात्मवादानुगृहीत एकात्मवाद पर विश्वास करना पड़ेगा ।

वैज्ञानिकों ने आत्मा के १—'अखण्डात्मा,' २—'परात्परात्मा,' ३—'षोडशीपुरुषात्मा,' ४—'यज्ञ-पुरुषात्मा,' ५—'विराट्पुरुषात्मा,' ये पाँच प्रधान विवर्त माने हैं । इन पाँचों का ही निरूपण आगे होने वाला है । प्रकृत में केवल इनके विवर्तभावों को जान लेना ही पर्याप्त होगा । उक्त पाँचों आत्मविवर्तों में पाँचवां 'विराट्पुरुषात्मा' 'ईश्वर' एवं 'जीव' भेद से दो प्रकार का है । दोनों में प्रत्येक के १५-१५ विवर्त हैं । इन पन्द्रहों आत्माओं की समष्टि "प्राकृतात्मा" नाम से प्रसिद्ध है । पन्द्रह आत्माओं की समष्टि 'ईश्वरविराट्' (महाविराट्) है एवं पन्द्रह आत्माओं की समष्टि ही 'जीवविराट्' (क्षुद्रविराट्) है । इनकी प्रतिष्ठा 'यज्ञ-पुरुषात्मा' है । यज्ञात्मा की सत्ता 'षोडशीपुरुषात्मा' पर निर्भर है । पुरुषसत्ता परात्परात्मा पर प्रतिष्ठित है । सब की परमप्रतिष्ठारूप 'अखण्डात्मा,' किंवा अखण्डब्रह्म है । यज्ञात्मा पर प्रतिष्ठित रहने वाले, प्राकृतात्मा नाम से प्रसिद्ध पन्द्रह सखण्डात्मा वेद में तिम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं । इनके सम्यक् परिज्ञान से सब सन्देह मिट जाते हैं, इसी अक्षरानुगृहीत खण्डात्मविज्ञानज्ञान-जनित फल का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।२।८

प्राकृतात्मविवर्तपरिलेख

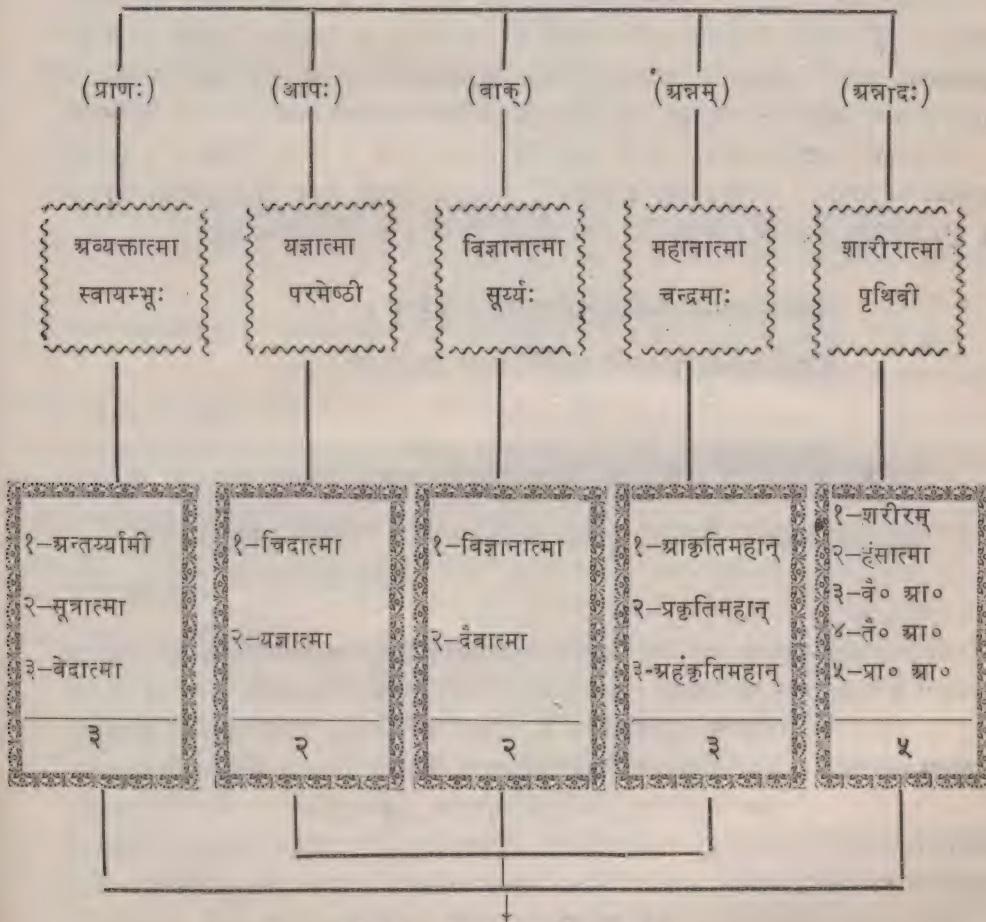
५	५	५
<p>स्वायम्भूवाः ३ { १-अन्तर्यामी २-सूत्रात्मा ३-वेदात्मा }</p> <p>स्वयम्भूः</p> <p>पारमेष्ठ्यो २ { ४-चिदात्मा ५-यज्ञात्मा }</p> <p>परमेष्ठी</p>	<p>सौरो २ { १-विज्ञानात्मा २-दैवात्मा }</p> <p>सूर्यः</p> <p>चान्द्राः { ३-आकृतिमहान् ४-प्रकृतिमहान् ५-अहंकृतिमहान् }</p> <p>चान्द्रमाः</p>	<p>भौमः १ { १-बाह्यात्मा २-हंसात्मा }</p> <p>वायव्यः १ { ३-वैश्वानरात्मा ४-तैजसात्मा }</p> <p>पार्थिवः ३ { ५-प्राज्ञात्मा }</p> <p>भूपिण्डः</p> <p>भूवायुः</p> <p>उरुयापृथिवी</p>

ईश्वर शरीर में 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी' में पाँच मुख्य प्राकृतात्मा हैं। इन पाँचों का '३-२-२-३-५' यह क्रम है। १ 'प्राण'-प्रकृतिप्रधान 'स्वयम्भू' की '१ अन्तर्यामी,' '२ सूत्र,' '३ वेद,' ये तीन कलाएँ हैं। २ 'अप'-प्रकृतिप्रधान 'परमेष्ठी' की '१ चित्' '२ यज्ञ,' ये दो कलाएँ हैं। ३ 'वाक्' की

आत्मवंशावली-

मूलाधारः सर्वव्यापको विश्वव्यापकः पुरुषः षोडशी

अमृतात्मा



“अध्यात्मसंस्था”

प्रकृतिप्रधान 'सूर्य' की '१ विज्ञान,' २ प्राणदेवता, 'ये दो कलाएं हैं। ४ 'अन्न'-प्रकृतिप्रधान 'चन्द्रमा' में '१ आकृति,' '२ प्रकृति,' '३ अहंकृति' भेदभिन्न महत्सोम का साम्राज्य है, एवं ५ 'अन्नाद्'-प्रकृतिप्रधान 'पृथिवी' में '१ चित्वाग्नि,' '२ वायु,' '३ वैश्वानर,' '४ हिरण्यगर्भ,' '५ सर्वज्ञ,' इन पांच कलाओं की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार संभूय पांच विवर्तों के पन्द्रह विवर्त हो जाते हैं। ईश्वरसंस्था की स्वयम्भू आदि पांच प्रधान कलाएं अध्यात्मसंस्था में क्रमशः 'अव्यक्तात्मा-यज्ञात्मा-विज्ञानात्मा-महानात्मा-शारीरात्मा (प्राणात्मा)' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। '१-अन्तर्यामी, २-सूत्रात्मा,' इन तीनों खण्डात्माओं की समष्टि प्राणप्रकृतिप्रधान स्वायम्भुव १ अव्यक्तात्मा है। प्राकृतात्माधिकरण का यही पहला १ 'अव्यक्तात्मा-धिकरण' है। '१ चिदात्मा'-२ यज्ञात्मा की समष्टि-अपप्रकृतिप्रधान पारमेष्ठ्य २ 'यज्ञात्मा' है। यही दूसरा २ 'यज्ञात्माधिकरण' है। १-विज्ञानात्मा, २-दैवात्मा की समष्टि वाक्प्रकृतिप्रधान सौर ३-विज्ञानात्मा' है। यही तीसरा '३ विज्ञानात्माधिकरण' है। १ आकृति-२ प्रकृति-३ अहंकृति की समष्टि अन्नप्रकृतिप्रधान चान्द्र '४ महानात्मा' है। यही चौथा ४ 'महदात्माधिकरण' है। १-बाह्यात्मा-२ हंसात्मा ३-वैश्वानरात्मा-४-तैजसात्मा-५-प्राज्ञात्मा, इन पांचों की समष्टि अन्नादप्रकृतिप्रधान पार्थिव ५ शारीरात्मा है। यही पांचवां ५ शारीरात्माधिकरण है, जैसा कि तत्तदधिकरणों में स्पष्ट हो जायगा। इन सब खण्डात्माओं का आधार (इनकी अपेक्षा से अखण्ड) सोलहवां षोडशी पुरुष ही 'अमृतात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। क्रमप्राप्त सर्वप्रथम इसी की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।

मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

—शत० ब्रा० १०।५।१।४।

यदस्ति किञ्चित् तदिदं प्रतीमोऽविचालि शश्वत्स्थमनाद्यनन्तम्।

प्रतिक्षणान्यान्य-विकार-मृष्टि-प्रवाहवत्तद् द्विविरुद्धभावम् ॥

—श्रीगुरुप्रणीत संशयतदुच्छेदवाद १।१।

श्रद्धाविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले निरूपणीय आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में उपस्थित होने वाले १५ आत्मविवर्तों में से मूलाधार, सर्वव्यापक, विश्वव्यापक, 'अमृत' संज्ञक षोडशीप्रजापति का ही सर्वप्रथम दिग्दर्शन कराया जाता है। 'यदस्ति किञ्चित्' इत्यादि वचन के अनुसार सृष्ट्यनुगता आगमद्वयी अमृत-मृत्युलक्षण, स्थिति-गतिलक्षण, ज्योतिस्तमोलक्षण, अनिरुक्त-निरुक्तलक्षण, इत्यादि दृष्टिभेद से विविधभावापन्न इस महाविश्व की ओर यदि हम दृष्टि डालते हैं, तो वहां हमें दो भावों के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त है। आप समष्टिरूप से विश्व को देखिए, अथवा व्यष्टिरूप से प्रत्येक पदार्थ पर भिन्न-भिन्न रूप से दृष्टि डालिए, उभयथा आपको परस्परात्यन्त विरुद्ध दो भावों के दर्शन होंगे। साक्षी के लिए लोकसाक्षी, जगच्चक्षुः सूर्य को सामने रख लीजिए। सूर्य ने अपनी ज्योति से त्रैलोक्य को प्रकाशित कर रक्खा है। मृष्टिविद्या के ज्ञाता वैज्ञानिक महर्षियों के

मतानुसार सूर्य्य *की उत्पत्ति विश्व की उत्पत्ति है, सूर्य्य की स्थिति विश्व की स्थिति है, एवं सूर्य्य का विनाश विश्व का विनाश है। सूर्य्यस्थिति-काल 'अहःकाल' है, यही 'अहरागम' नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य्यविनाश-काल रात्रिकाल है, यही 'रात्र्यागम' नाम से प्रसिद्ध है। सृष्टिलक्षण महा अहःकाल ही श्रुतियों में "पुण्याह" नाम से व्यवहृत हुआ है। यही 'ब्रह्मादिन' नाम से प्रसिद्ध है। सर्वसाधारण के समझे हुए अहः (दिन) का, एवं उस महाकालात्मक पुण्याह का स्वरूप समान है, अपने (मनुष्य) अहः के स्वरूप-ज्ञान से पुण्याह का स्वरूपज्ञान गतार्थ हो जाता है केवल काल परिमाण में तारतम्य है। अहोरात्र की (दिन रात की) पष्टि (६०) घटिका (घड़ी) मानी गई हैं, एवं 'मुहूर्त्तौ घटिकाद्वयम्' इस सिद्धान्त के अनुसार दो घड़ी का एक मुहूर्त्त माना गया है। इस व्यवस्था से अहोरात्र के त्रिंशत् (३०) मुहूर्त्त हो जाते हैं। १५ मुहूर्त्त अहःकाल है, १५ मुहूर्त्त रात्रिकाल है। इन में एक मुहूर्त्त का भोग प्रातःसन्ध्या में हो जाता है, एवं एक मुहूर्त्त का भोग सायंसन्ध्या में हो जाता है। इस प्रकार दो मुहूर्त्त दोनों सन्ध्या-कालों में चले जाते हैं। शेष २८ मुहूर्त्त रह जाते हैं। इन में १४ मुहूर्त्त का दिन है, १४ मुहूर्त्त की रात्रि है। चौदह मुहूर्त्तात्मक अहःकाल में सूर्य्य प्रकाशित रहता है, एवं चतुर्दश मुहूर्त्तात्मक रात्रिकाल में सूर्य्य हम से पृथक् हो जाता है।

अहः एवं रात्रि क्या पदार्थ है?, इस प्रश्न का उत्तर है—'इन्द्रगर्भित सौरसावित्राग्नि', एवं 'पार्थिवसोम'। दिन में सौर अग्नि की प्रधानता रहती है, एवं रात्रि में पार्थिव कृष्णसोम का साम्राज्य रहता है। सोम दाह्य पदार्थ है, अग्निदाहक है। दिन में इस दाहक अग्नि के सम्बन्ध से विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त सोम जलने लगता है। "त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ" (ऋक् सं० १।६१।२२) के अनुसार अग्नि में आहुत प्रज्ज्वलित सोम ही प्रकाश का कारण बनता है। रात्रि में दाहक सौर अग्नि का अभाव रहता है, अतएव रात्रि में प्रकाश नहीं होने पाता। इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, अहः आग्नेय है, रात्रि सौम्या है। अहः काल में पितृस्थानीय सूर्य्य अपनी प्राणप्रधान रश्मियों से हमारे रस को जितनी मात्रा में आकर्षित कर लेता है, रात्रिकाल में सोम द्वारा उतना रसभाग हमें पुनः प्राप्त हो जाता है। अतएव इसे 'रात्रि' कहा जाता है। रात्रि क्या है, दात्री है। वर्तमान में बिद्वत्समाज में 'अहोरात्र-पक्ष-मास-चातुर्मास्य-अयन-संवत्सर' आदि शब्द काल के वाचक माने जा रहे हैं। विद्वानों का यह व्यवहार सर्वथा अवैज्ञानिक है। उक्त सभी शब्द अग्नि-सोम की तत्त्वद्विशेष अवस्थाओं के ही नाम हैं। अग्निगतत्व ही अहः, शुक्लपक्ष-उत्तरायण संवत्सर है। सोमगतत्व ही रात्रि-कृष्णपक्ष-दक्षिणायन है। १२ घण्टे-१५ दिन-६ मास-१ वर्ष में अग्नि का भोग होता है, अतएव अहःपक्षादि शब्द आगे जाकर गौणविधि से काल के वाचक बन गए हैं।

* शिरःप्रधान स्वयम्भूमूलासृष्टि, हृदयप्रधान सूर्य्यमूलासृष्टि, पादप्रधान पृथिवीमूलासृष्टि, भेद से ऋषियों ने सृष्टिविद्या को तीन भागों में विभक्त मान रखना है। इन तीनों में हिरण्यगर्भ महर्षि के मतानुसार सूर्य्य ही विश्व का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है। इन तीनों मतों का विशद विवेचन 'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

अग्नि, एवं सोम, इन दोनों में अग्नितत्त्व विशुद्धरूप से उपलब्ध नहीं होता। 'इन्द्र-प्रजापति-परोरजाप्राण' आदि कतिपय तत्त्वों से यह नित्य युक्त रहता है। इनसे युक्त होकर ही यह अहः स्वरूप में परिणत होता है। दूसरे शब्दों में सूर्यकेन्द्र से उक्त विभूतियों को लेकर चारों ओर व्याप्त होता हुआ अग्नि ही अहःस्वरूप में परिणत होता है। सूर्यकेन्द्रस्थ ऋषिप्राणप्रवर्तक इन्द्र-प्राजापत्यप्राण-परोरजाप्राणादियुक्त यह सौर नभ्य अग्नितत्त्व ही पुराणभाषा में 'मनु' नाम से व्यवहृत हुआ है। केन्द्रावस्थापन्न यही अग्नितत्त्व 'मनु' है। महिमामण्डल में आकार बही 'अग्नि' कहलाने लगता है। इन्द्रप्राणमय होने से यही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। प्राजापत्यप्राण के सम्बन्ध से 'प्राणःप्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (प्रश्नोपनिषत्-१।८) 'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' (ऋक् सं० ७।६१।४) 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (ऋक् सं०-१।१४।१) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्ण प्रजा का उपादान होने से वही हिरण्यमय मनु 'प्रजापति' कहलाने लगता है। सौरमण्डलस्थ परोरजाप्राणमूर्ति षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के सम्बन्ध से वही 'शाश्वतब्रह्म' नाम से भी प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अवस्थाभेदमूलक दृष्टिकोणभेद से अहःस्वरूप निर्ममा एक ही सौरतत्त्व अग्नि-मनु-इन्द्र-प्रजापति-प्राण-शाश्वतब्रह्म आदि अनेक नाम धारण किए हुए हैं। इसी अग्निप्रधान मनुविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।

रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥१॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥२॥ (मनुः१२।१२२-१२३)

केन्द्रस्थ तत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता है, वही मनु है। अतएव इसके लिए—“अणीयांसमणोरपि” यह कहा गया है। वहाँ इन्द्रियों की गति नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नजगत् में इन्द्रियज्ञान अवरुद्ध हो जाता है, केवल मन के अन्तर्जगत् का व्यापार रहता है, एवमेव वह केवल मनु और मन्वन्तर मनोगम्य है। अतएव “स्वप्नधीगम्यम्” कहा गया है। केन्द्र में उक्थ रूप से प्रतिष्ठित होता हुआ यह प्राणमूर्ति मनु-अग्नि ही अर्करूप से अहोरूप में परिणत होता है। यह मनु-अग्नि, किंवा मनु-अग्निरूप महा अहः सृष्टिविद्या के क्रम की अपेक्षा से चौदह भागों में विभक्त है। मनुतत्त्व के यह चौदह अन्तर ही “मन्वन्तर” नाम से प्रसिद्ध हैं। हम अपने छोटे अहः के जिन चौदह विभागों के लिए “मूहर्त्त” शब्द प्रयुक्त करते हैं, महा अहः के इन्हीं विभागों के लिए पुराण में “मन्वन्तर” शब्द प्रयुक्त हुआ है।

मन्वन्तर की उक्त व्याख्या के आधार पर ही अहः—मास—वर्ष, ये तीनों शब्द विचाली माने गये हैं। कर्ममीमांसा (पूर्वमीमांसा) के ६ठे अध्याय के १३वें अधिकरण में महर्षि जैमिनि ने उक्त

काल के विचालीभाव

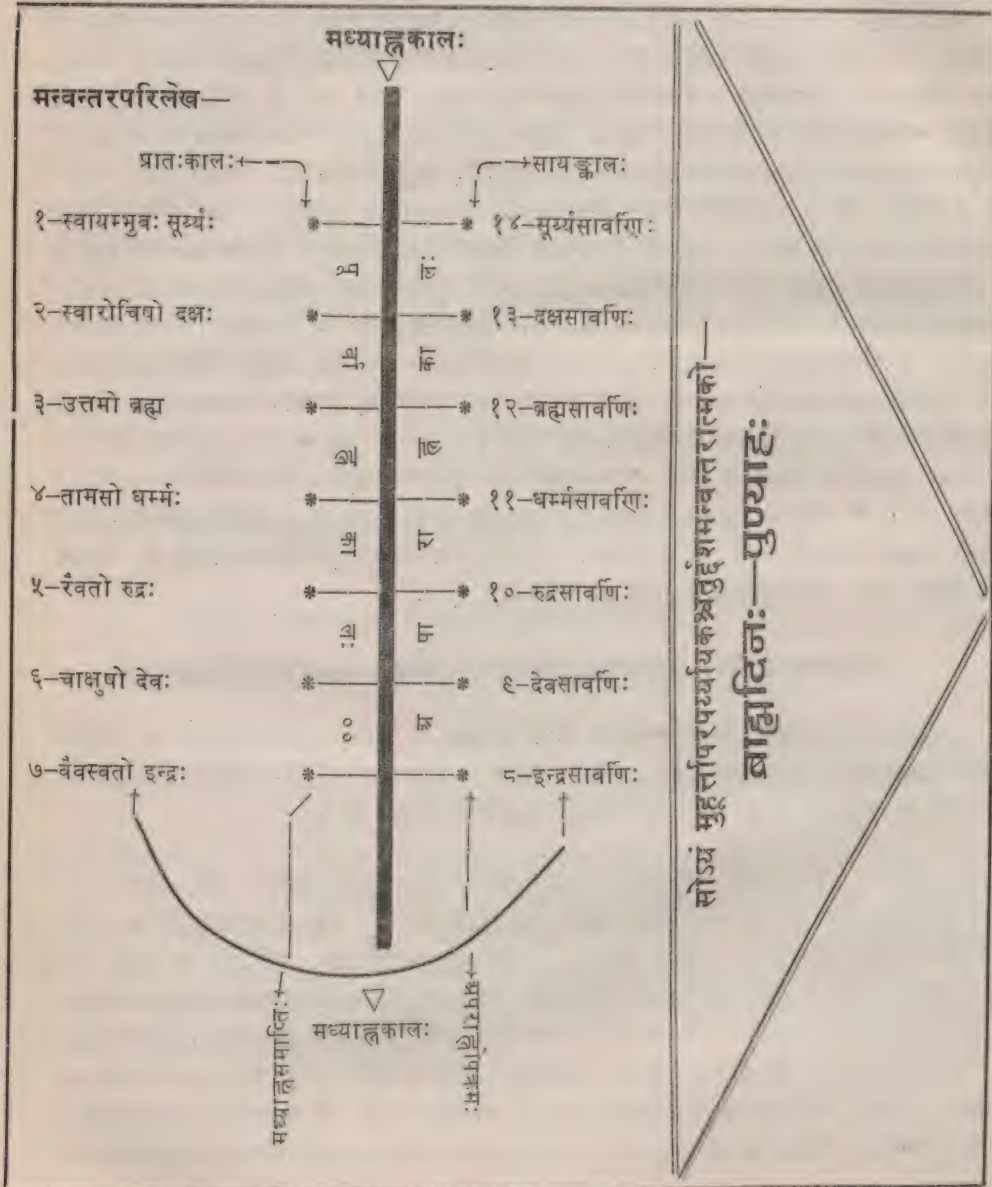
सिद्धान्त को ही ढढ़ किया है । ब्राह्मणग्रन्थों में सहस्र सम्बत्सरात्मक सत्र-यज्ञ का विधान मिलता है । “स्वर्गप्राप्ति के लिए यजमान को सहस्रवर्षात्मक सत्रयज्ञ करना चाहिए”—इस विधि में प्रश्न उपस्थित होता है कि “शतायुर्वै पुरुषः” (शत० ४।३।४।३) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी गई है । विज्ञानदृष्टि से यही सिद्धान्त ठीक भी है । कारण, हमारा आयुःसूत्र विश्वामित्रप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित है । विष्वद्वृत्त नाम से प्रसिद्ध वृहतीछन्द पर सूर्य स्थिर रूप से प्रतिष्ठित है—“सूर्यो बृहती मध्यूढस्तपति ।” ‘षट्त्रिंशदक्षरा बृहती’ (शत० ८।३।३।८) इत्यादि छन्दोविज्ञान के आधार पर वृहतीछन्द ३६ अक्षर का माना गया है । सूर्य में ज्योतिःगौः आयुः—नाम के तीन मनोता माने गये हैं । ये ही तीनों मनोता क्रमशः ज्योतिष्टोम—गोष्टोम—आयुष्टोम—यज्ञों के प्रवर्तक हैं । इन्द्रप्राणात्मक आयु प्राण छन्दोऽक्षर भेद से ३६ भागों में विभक्त हो जाता है । आगे जाकर साहस्रीविद्या की कृपा से प्रत्येक आयुःप्राण सहस्र-सहस्र भागों में विभक्त हो जाता है । इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय (ज्ञानक्रियाथमय) आयुः प्रवर्तक विश्वामित्रप्राणावच्छिन्न सौर इन्द्रात्मक वृहतीप्राण ३६००० (छत्तीस हजार) भागों में विभक्त हो जाता है—(देखिए शत० ब्रा० १०।५।३ ब्रा० ।) हम प्रतिदिन मनः प्राणवाङ्मय एक एक आयुः—सूत्र का भोग करने में समर्थ होते हैं । इस प्रकार यह भोगकाल छत्तीस हजार दिन में समाप्त हो जाता है । छत्तीस हजार दिन की समष्टि ही १०० वर्ष है । यह आयु का साधारण मान है । ‘छन्दोमा’ यज्ञादि के सम्बन्ध से १२० वर्ष की भी आयु हो जाती है—(देखिए ऐ० ब्रा० ५।१६ ।) कहना यही है कि उक्त आयुविज्ञान के अनुसार मनुष्य की आयु १००—१५०—वर्षों से अधिक नहीं हो सकती । ऐसा स्थिति में इसके लिए एक सहस्र (१०००) वर्ष में पूरे होने वाले सत्र यज्ञ का विधान कैसे किया गया ? यही विप्रतिपत्ति उठाते हुए ऋषि कहते हैं—

“सहस्रसम्बत्सरं तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु” (पूर्व मी० ६।७।१३ ३१)

आगे जाकर अन्त में—‘सम्बत्सरो विचालित्वात्’—(पू० मी० ६।७।१३।३८) ‘अहानि वाऽभिसंख्यत्वात्’ (पू० ६।७।१३।४०) इत्यादि रूप से सम्बत्सरादि शब्दों को विचाली मानते हुए वर्ष को अहः का वाचक मानते हुए उक्त श्रुतिविधान का समन्वय किया गया है ।

देखना यह है कि ‘वर्ष’ कहते किसे हैं । अग्नि की एक परिक्रमा का नाम ही वर्ष, किंवा सम्बत्सर है । किसी एक बिन्दु से चलकर अग्नि अपने उसी स्थान पर जितने काल में आजाता है, वह काल-समष्टि ही ‘वर्ष’ कहलाया है । भूपिण्ड अपने अक्ष पर परिक्रमा लगाता हुआ क्रान्तिवृत्त पर घूम रहा है । स्वाक्षपरिभ्रमण से अहोरात्रसम्पादिक दिनदिनगति का, एवं क्रान्तिपरिभ्रमण से उत्तर-दक्षिणायन त्रिभाजिका साम्बत्सरिकगति का स्वरूप निष्पन्न होता है । स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाली अग्निपरिक्रमा २४ घण्टे में ही समाप्त हो जाती है । फलतः स्वाक्षगति से सम्बन्ध रखने वाला वर्ष पूर्व परिभाषा के अनुसार २४ घण्टे में ही समाप्त हो जाता है । इस वर्ष का मनुष्यायु के साथ सम्बन्ध है । क्योंकि मनुष्य पार्थिव प्राणी है । मनुष्य-पितर-देवता, भेद से प्रजा तीन भागों में विभक्त है । मनुष्य प्रजा का पृथिवी

से सम्बन्ध है, पितर प्रजा का चन्द्रमा से सम्बन्ध है एवं देवप्रजा का सूर्य के साथ सम्बन्ध है। चन्द्रमा २७ दिन कुछ काल में अपनी एक परिक्रमा लगाता है। फलतः चान्द्र अहोरात्र इतने दिन में ही समाप्त



माना जाता है। पार्थिव प्रजा की अपेक्षा चन्द्रवृत्त मासात्मक है, परन्तु चान्द्रप्रजा की अपेक्षा से तो यह एकमास एक अहोरात्र ही है। इसी प्रकार पार्थिव प्रजा की अपेक्षा से जो सम्बत्सर ३६० दिन का है, सौर देवताओं की अपेक्षा से तो वह एक अहोरात्र ही है। इसी को दिव्य अहोरात्र कहते हैं। इस विज्ञान-सिद्ध परिभाषा के अनुसार वर्ष देवताओं का अहोरात्र एक वर्ष है। वर्ष-ग्रहः दोनों विचाली हैं। फलतः सहस्रवर्ष का अर्थ सहस्र दिन हो जाता है एवं सत्रयज्ञ का विधान चरितार्थ हो जाता है। इसी परिभाषा के आधार पर आपको यह विश्वास कर लेना चाहिए कि, पुराण में मनुष्यायुःसम्बन्ध में, एवं तपश्चर्याकालादि के सम्बन्ध में जहाँ भी कहीं सहस्रवर्षादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उन सबको ग्रहः परक मानते हुए ही काल की व्यवस्था करनी चाहिए ॐ ।

मन्वन्तर प्रकरण चल रहा है। सृष्टिकाल ग्रहःकाल बतलाया गया है, साथ ही इसमें १४ मन्वन्तरों का भोग बतलाया गया है। इन १४ मन्वन्तरों में से सात मन्वन्तरों तक उद्ग्राभ (चढ़ाव) है, सात मन्वन्तरपर्यन्त निग्राभ (उतार) है। जैसी स्थिति पहिले मन्वन्तर की है, ठीक वैसी ही स्थिति चौदहवें मन्वन्तर की है। इसी प्रकार २-१३, ३-१२, ४-११, ५-१०, ६-९, ७-८, यह क्रम है। इसी क्रम के कारण उत्तर के सात मन्वन्तरों को 'सार्वाणि' (सर्वण-समानधर्मवाले) कहा जाता है। सूर्य, किंवा सूर्यकेन्द्रस्थ प्राणतत्त्व ही इन सब मन्वन्तरों की जन्मभूमि है, अतएव ये मन्वन्तर पुराण में 'सूर्यपुत्र' कहलाए हैं।

पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण मानुष अहोरात्र २४ घण्टे का होता है। पैत्रअहोरात्र चान्द्र-परिभ्रमण की अपेक्षा से ३० मानुष अहोरात्रों का होता है, जैसाकि "मासेन स्यादहोरात्रःपैत्रः" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है, एवं उत्तरायण-दक्षिणायन भेद से हमारा एक वर्ष "वर्षेण देवतः" के अनुसार सौर देवताओं का एक दिन है। ऐसे ३० दिव्य अहोरात्रों को समष्टि देवताओं का एक मास है। ऐसे दिव्य १२ मास की समष्टि वर्ष है। दूसरे शब्दों में हमारे ३६६ वर्षों का देवताओं का एक वर्ष होता है। ऐसे ४००० चार हजार दिव्यवर्षों का सत्ययुग, ३००० तीन हजार दिव्य वर्षों का त्रेतायुग, २००० दो हजार दिव्य वर्षों का द्वापरयुग, एवं एक हजार दिव्यवर्षों का कलियुग होता है। इन चारों युगों के आदि में क्रमशः ४००—३००—२००—१०० इन दिव्य वर्षों का सन्ध्याकाल है, एवं ४००—३००—२००—१०० ये सन्ध्यांश हैं। इस प्रकार ४८०० वर्ष का द्वापरयुग, एवं १२०० वर्ष का कलियुग हो जाता है। इन सबका संकलन किया जाता है तो १२००० (बारह हजार) दिव्य वर्ष हो जाते हैं। यही एक "देवयुग" कहलाता है। इस एक देवयुग में सूर्य की देव प्राणमयी एक रश्मि का भोग हो जाता है। सूर्य में ऐसी सहस्र रश्मियाँ हैं। इन्हीं रश्मियों के सम्बन्ध से सूर्य को "सहस्रांशु सहस्रदोषिति" इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। एकसहस्र दिव्य युगों में सूर्य का सर्वात्मना भोग हो जाता है। यही सूर्य का जीवनकाल है, यही सौर ग्रहःकाल है, यही पुराणभाषा के अनुसार ब्रह्मा का ग्रहःकल्प है, एवं ऐसे दिव्य सहस्रयुगों की समष्टि ही रात्रिकल्प है। दूसरे शब्दों में १००० दिव्ययुगात्मक काल ब्रह्मा का

* इन सब विषयों का विशद विवेचन "पौराणिकमन्वन्तररहस्य" नाम के निबन्ध में देखना चाहिए ।

एक दिन है एवं १००० दिव्ययुगात्मक काल ही ब्रह्मा की एक रात्रि है। सूर्य का नष्ट होजाना खण्ड-प्रलय है। सहस्र दिव्ययुगों में सहस्रांशु की सहस्रकलाओं का जब भोग हो जाता है, तो वह उसी स्व-प्रभव अव्यक्त में विलीन हो जाता है। जैसा कि स्मृति कहती है—

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपितिशान्तात्मा (अव्यक्तात्मा) तदा सर्वं निमीलति ॥

—मनु: १।५२।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ —गीता ८।१८।

पूर्वोक्त अहःकल्प में १४ मन्वन्तरो में से प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ दिव्य चतुर्युगी का भोग होता है। इस क्रम से १४ मन्वन्तरो की ९९४ चतुर्युगियाँ हो जाती हैं। शेप ६ चतुर्युगी सन्ध्या-सन्ध्यांश में अन्तर्भूत मानली जाती हैं। संकलन से पूरी १००० चतुर्युगी हो जाती हैं। यही ब्रह्मा का एक कल्प है। जिस प्रकार लोकभाषा का मुहूर्त्त शब्द पुराण में मन्वन्तर नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव लोक-प्रसिद्ध तिथि शब्द के स्थान में पुराण में “कल्प” शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार हमारी ३० तिथियों का एक मास होता है, एवमेव ३० कल्पों का एक ब्राह्म मास होता है। ऐसे १२ मासों का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्षों का एक ब्रह्मयुग होता है। सौ वर्षों में ब्रह्मा की आयु समाप्त होजाती है। इसी ब्रह्मतत्त्व को कहा ‘अव्यक्त’जाता है। १०० वर्ष समाप्त होने पर बलेश्वर नाम से प्रसिद्ध एक विश्वेश्वर का पुरुष में लय होजाता है। लयभाव को “प्रलय” (अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध प्रकृति का लय) कहा जाता है। ध्यान रहे, महामायावच्छिन्न अश्वत्थमूर्त्ति षोडशी पुरुष में ऐसी एक सहस्र अव्यवधारण हैं। प्रत्येक धारा में ‘स्वयं-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी’ ये पाँच-पाँच पर्व हैं। इसीको विज्ञान भाषा में ‘पञ्चपुण्डरी-प्राजापत्य-बल्ला’ कहा गया है। इन पाँचों में स्वयम्भू ब्रह्मा है, परमेष्ठी विष्णु है, सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी (पृथिव्यु-पलक्षित अग्नि) की समष्टि त्रिनेत्र महादेव है। ब्रह्मा प्राणपति है, विष्णु देवपति है, महादेव भूतपति है। ब्रह्मा अव्यक्त है, विष्णु व्यक्ताव्यक्त है, महादेव व्यक्त है। जिस क्रम से सगं (सृष्टि) होता है, उसी क्रम से प्रतिसगं (प्रलय) होता है। पहले सचन्द्र, सपृथिवी सूर्य का आपोमय परमेष्ठी में लय होता है। यह पहला खण्ड प्रलय है। क्योंकि इसमें विश्वखण्डभूत पृथिवी चन्द्र-सूर्य का ही लय होता है। इनका आयु-काल ही दिव्यसहस्रयुगकाल है। आगे जाकर ब्राह्मयुगसमाप्ति पर सविष्णु ब्रह्माका स्वप्रभव उसी अश्वत्थ पुरुष में लय होजाता है। ब्रह्मा अपनी बल्ला की प्रकृति है। अतएव इस लय भाव को प्रकृति-सम्बन्ध से “प्रलय” कहा जाता है। कोई समय ऐसा भी आता है, जिसमें पुरुष की सहस्रों बल्लाओं का भी लय होजाता है। उस समय पुरुषस्वरूपसमर्पक-पुरभाव सम्पादक महामाया का बन्धन टूट जाता है। सखण्ड पुरुष महामाया के तिरोहित होते ही स्वप्रतिष्ठा रूप ‘परात्पर’ नाम से प्रसिद्ध अखण्ड पर-मेश्वर में लीन होजाता है। यही विश्वेश्वर की मृत्यु है, महाविश्व का लय है। इसमें महामाया का बन्धन

हृत्ता है, अतएव इस लयभाव को "महाप्रलय" कहा जाता है। इस प्रकार 'महामायी महेश्वर' (सहस्र-बलेश्वर), पञ्चपुण्डरीरात्मकबलेश्वर (अव्यक्त ब्रह्मा), 'त्रिकलउपेश्वर' (सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवीरूप), इन तीन संस्थाओं के भेद से लयभाव भी महाप्रलय, प्रलय, खण्डप्रलय, भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों में से मनुष्यसर्ग का प्रधान सम्बन्ध बलेश्वर के साथ है। अतएव उपेश्वर-बलेश्वर की आयु का समय तो दिव्ययुग-ब्राह्मयुग भेद से शास्त्रकारों ने निश्चित कर दिया है। परन्तु मायीनहेश्वर का कालनिरणय नहीं हुआ है। इसके सम्बन्ध में महर्षियों का—

“अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।

प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।” यही समाधान है ।

अविज्ञेय—१-सर्वाधिष्ठाता-अखण्डपरात्पर

दुर्विज्ञेय—१-सहस्रबलशावच्छिन्न, अश्वत्थमूर्तिमहामायी विश्वेश्वर-महा-प्रलयाधिष्ठाता

विज्ञेय—२-पञ्चपुण्डरीरावच्छिन्न, एकबलेश्वरयोगमायी बलेश्वर-प्रलया-धिष्ठाता

सुविज्ञेय—३-त्रिपर्वावच्छिन्न सू. चं. पृ. मूर्ति योगमायी उपेश्वर-खण्ड-प्रलयाधिष्ठाता

(१)	२४-घण्टों का—१	मानुष अहोरात्र	}	-मानुषयुग (नित्यप्रलय) जीवसंस्था
	३०-अहोरात्रों का—१	मानुष मास		
	१२-मासों का—१	मानुष वर्ष		
	१००-वर्षों का—१	मनुष्ययुग		
(२)	१-मानुषवर्ष का—१	दिव्यदिन	}	-दिव्ययुग (खण्डप्रलय) उपेश्वरसंस्था
	३०-दिव्यदिनों का—१	दिव्यमास		
	१२-दिव्यमासों का—१	दिव्यवर्ष		
	१२०००-दिव्यवर्षों का—१	खण्डदिव्ययुग		
	१०००-दिव्ययुगों का—१	महादिव्ययुग		

१—महादिव्ययुगका—१	ब्राह्मदिन	}	—ब्राह्मयुग (प्रलय) ब्रह्मेश्वरसंस्था
३०—ब्राह्मदिनों का—१	ब्राह्ममास		
(३) १२—ब्राह्ममासों का—१	ब्राह्मवर्ष		
१००—ब्राह्मवर्षों का—१	ब्राह्मयुग		

(४) सहस्रब्राह्मयुगों की समष्टि—१ विश्वेश्वरयुग]—ईश्वरयुग (महाप्रलय) महेश्वरसंस्था

अहोरात्र इस व्यवस्था का स्थूल उपक्रम है। वस्तुतः कालगणना स्वेदायन से आरम्भ करनी चाहिए। १५ स्वेदायनों का १ लोमगर्त है, १५ लोमगर्तों का १ निमेष है, १५ निमेषों का १ अरुण है, १५ अरुणों का १ प्राण है, १५ प्राणों का १ इदम् है, १५ इदम् का १ इदानी है। १५ इदानी का १ एतर्हि है। १५ एतर्हिका १ एतर्हीणि है। १५ एतर्हीणिका १ क्षिप्रं है, १५ क्षिप्रका एक क्षिप्राणि है। १५ क्षिप्राणि का १ मुहूर्त है। ३० मुहूर्तों का १ अहोरात्र है। यह कालविभाग बार्कलि नाम के महर्षि के मतानुसार है। पुराण-अमरकोष-साधारण भेद से अन्य प्रकारों से भी इन भेदों का उपवृहण किया जा सकता है। इन सब विषयों का सोपपत्तिक निरूपण हमने 'सन्वन्तर रहस्य' नाम के निबन्ध में कर दिया है। अतः प्रकृत में अधिक विस्तार न कर प्रकरण सङ्गति के लिए केवल तालिकाओं द्वारा काल का स्वरूप दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

बार्कलिऋषि के मतानुसार कालपरिमाण

१५—स्वेदायनों का—१—लोमगर्त
१५—लोमगर्त का—१—निमेष
१५—निमेष का—१—अरुण
१५—अरुणों का—१—प्राण
१५—प्राणों का—१—इदम्
१५—इदम् का—१—इदानी
१५—इदानी का—१—एतर्हि
१५—एतर्हि का—१—एतर्हीणि
१५—एतर्हीणि का—१—क्षिप्रं
१५—क्षिप्रों का—१—मुहूर्त
३०—मुहूर्तों का—१—अहोरात्र

पुराण के मतानुसार

- १६—निमेषों की—१ काष्ठा
३०—काष्ठा की—१ कला
३०—कला का—१ मुहूर्त्त
३०—मुहूर्त्तों का—१ अहोरात्र

अमरमतानुसार

- १८—निमेषों की—१ काष्ठा
३०—काष्ठाओं की—१ कला
३०—कलाओं का—१ क्षण
१२—क्षणों का—१ मुहूर्त्त
३०—मुहूर्त्तों का—१ अहोरात्र
३०—अहोरात्रों का—१ मास
१२—मासों का—१ संवत्सर

साधारण मतानुसार

- १५—कला की— १ घड़ी
१५—मुहूर्त्तों का— १ दिन
१५—अहोरात्र का— १—पक्ष
६—मासों का— १ अयन
- २—घड़ियों का— १ मुहूर्त्त
२—दिन का— १ दिन रात
२—पक्षों का— १ मास
२—अयनों का— १ सम्बत्सर

युगनाम	सन्धिकाल	मध्यकाल	सन्ध्यांश	संकलन	युगमान से दिव्यवर्षों
१ सत्ययुग	४००	४०००	४००	४८००	
२ त्रेतायुग	३००	३०००	३००	३६००	
३ द्वापरयुग	२००	२०००	२००	२४००	
४ कलियुग	१००	१०००	१००	१२००	
चतुर्युग				१२०००	
दिनकल्प				१२००००००	
रात्रिकल्प				१२००००००	

सत्ययुग	१७२८०००
त्रेतायुग	१२९६०००
द्वापरयुग	८६४०००
कलियुग	४३२०००
चतुर्युग	४३२००००
दिनकल्प	४३३२०००००००
रात्रिकल्प	४३३२००००००००

सत्रहलाख अठाईस हजार मानुषवर्ष, चार हजार आठसौ दिव्यवर्ष—सप्तयुगमान ।
 बारहलाख छिनबे हजार मानुषवर्ष, तीन हजार छस्सौ दिव्यवर्ष—त्रेतायुगमान ।
 आठलाख चौसठ हजार मानुषवर्ष, दोहजार चारसौ दिव्यवर्ष—द्वापरायुगमान ।
 चारलाख बत्तीस हजार मानुषवर्ष, एकहजार दोसौ दिव्यवर्ष—कलियुगमान ।
 तियालीसलाख बीसहजार मानुषवर्ष, बारहहजार दिव्यवर्ष—चतुर्गमान ।
 तियालीस अर्ब, बत्तीस करोड़ मानुषवर्ष, बारह करोड़ दिव्यवर्ष—दिनकल्पमान ।
 —रात्रिकल्पमान ।

- | | | |
|-------------------------------|------------|--|
| १—एकमन्वन्तर के मानुषवर्ष— | ३०६७३२००० | (तीस करोड़ सड़सठलाख बत्तीसहजार) |
| २—छः मन्वन्तर के मानुषवर्ष— | १८४०३२०००० | (एकअर्ब चौरासी करोड़ तीनलाख बीसहजार) |
| ३—२७ दिव्ययुगों के मानुषवर्ष— | ११६६४०००० | (ग्यारह करोड़ छःसठ लाख चालीस हजार) |
| ४—सत्ययुग के मानुषवर्ष— | १७२८००० | (सत्रह लाख अट्ठाईस हजार) |
| ५—त्रैतायुग के मानुषवर्ष— | १२१६००० | (बारह लाख छिनवें हजार) |
| ६—द्वापरयुग के मानुषवर्ष— | ८६४००० | (आठ लाख चौसठ हजार) |
| ७—कलियुग के भुक्त मानुषवर्ष— | ५००० | (पाँच हजार) |

- आज तक बीता हुआ सृष्टिकाल—१९६०८५३०००—एक अर्ब छिनवें करोड़ आठ लाख त्रैपन हजार
- १—कलियुग के बाकी भोग्यवर्ष—४२७००० (चार लाख सत्ताइस हजार)
- २—७१ चौयुगियों में से बाकी बची हुई ३४ चौयुगियों के भोग्यवर्ष } —१८५७६०००० (अठारह करोड़ सत्तावनलाख साठ हजार)
- ३—उत्तर दिन के भोग्य सात मन्वन्तरो के वर्ष } —२१४७०४०००० (दो अर्ब चौदह करोड़ सत्तर लाख चालीस हजार)
- ४—चौदह मन्वन्तरो के अन्त में भोग्य सन्धिकाल } —२५६२००००० (दो करोड़ उनसठ लाख बीस हजार)

एक कल्प में बाकी बचा हुआ काल—२३५६१४००००—(दो अर्ब पैंतीस करोड़ इकानवें लाख चालीस हजार)

पूर्व में बतला दिया गया है कि, ब्राह्मयुग के मास में तिथिस्थानीय ३० कल्प होते हैं। इन कल्प-रूप तिथियों में से वर्तमान में शुक्लपक्ष के प्रतिपत् (पड़वा) स्थानीय श्वेतवराह नाम के प्रथम कल्प का (ब्रह्मा की आयु के प्रथम दिन का) भोग चल रहा है। इसमें से ६ मन्वन्तरो का भोग समाप्त हो गया है, सातवाँ 'वैवस्वतमन्वन्तर' चला रहा है। इसकी ७१ चौयुगियों से २७ चतुयुगियों का भोग हो चुका है। अट्ठाईसवीं चतुयुगी चल रही है। इसमें से भी सत्य-त्रेता-द्वापर, इन तीन युगों का भोग हो चुका है। कलियुग चल रहा है। कलियुग के भी ५००० (पाँच हजार वर्ष-मानुष मान के अनुसार) समाप्त हो गए हैं। अभी ब्रह्मा के दिन के साढ़े ग्यारह (११।) बजे हैं। इस शेष कलि के भुक्त हो जाने पर २६ वीं चतुयुगी का आरम्भ होगा। इस प्रकार शेष चतुयुगियों के भोग के अनन्तर वैवस्वत मन्वन्तर समाप्त हो जायगा। अनन्तर सात मन्वन्तरो का उक्त द्वारा क्रम से उपभोग होगा। जिस समय पूरे चौदह मन्वन्तर समाप्त हो जायेंगे, प्रतिपत् तिथिरूप वराहकल्प समाप्त हो जायगा, ☸ सूर्य नष्ट हो जायगा। सर्वत्र अप्रकृतिप्रधान घोरतम व्याप्त हो जायगा। इस रात्रिकल्प में रात्रि के चौदह मन्वन्तरो का भोग होगा। अट्ठाईस की परिसमाप्ति पर नीललोहित नाम की द्वितीय कल्पस्थानीय द्वितीया तिथि का आरम्भ होगा। और इस प्रकार कालपुरुष की महामहनीय-महत्ता हमें सदा आश्चर्ययुक्त बनाती रहेगी।

☸ चतुर्दशमन्वन्तरात्मक ब्राह्मकल्प का सम्बन्ध सूर्य से है। एक कल्प सूर्य की पूर्णायु है। कल्पान्त में चतुर्दशमन्वन्तराधिष्ठाता सूर्य स्वप्रभव परमेष्ठी में लीन हो जाता है। पुनः भृग्वङ्गिरोमूर्ति आपोमय परमेष्ठी से नवीन सूर्य उत्पन्न होता है। यह धाराक्रम परमेष्ठी के आधार पर ब्रह्मायुःपर्यन्त निरन्तर यों ही चलता रहता है। इस मन्वन्तरात्मिका स्रष्टृमृष्टि, एवं स्रष्टृप्रलय के अधिष्ठाता आपोमय परमेष्ठी हैं, यही निष्कर्ष है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।

कीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ (मनुः १।८०)

चतुर्दश 'मन्वन्तर' एवं कल्प परितेख—

१-श्वेतवराहः (प्रतिपत्)	*	१-१६-नारसिंह (प्रतिपत्)
२-नीललोहितः (द्वितीया)	*	२-१७-समानः (द्वि०)
३-वामदेवः (तृतीया)	*	३-१८-आग्नेयः (तृ०)
४-रथन्तरः (चतुर्थी)	*	४-१९-सौम्य- (च०)
५-रौरवः (पञ्चमी)	*	५-२०-मानवः (पं०)
६-प्राणः (षष्ठी)	*	६-२१-तत्पुरुषः (ष०)
७-वृहत् (सप्तमी)	*	७-२२-वैकुण्ठः (स०)
८-कन्दर्पः (अष्टमी)	*	८-२३-लक्ष्मी (अ०)
९-सत्यः (नवमी)	*	९-२४-सावित्री (नव०)
१०-ईशानः (दशमी)	*	१०-२५-अघोरः (द०)
११-व्यानः (एकादशी)	*	११-२६-वराहः (एका०)
१२-सारस्वतः (द्वादशी)	*	१२-२७-वैराजः (द्वा०)
१३-उदानः (त्रयोदशी)	*	१३-२८-गौरी (त्रयो०)
१४-गारुडः (चतुर्दशी)	*	१४-२९-महेश्वरः (च०)
१५-कूर्मः (पूर्णिमा)	*	१५-३०-पितृकल्पः (अमावास्या)

शुक्लपक्षः ❀—❀—❀ कृष्णपक्षः

त्रिंशत्कल्पास्त्रिंशद्दिनान्येको-ब्राह्ममासः

तिथिरूपकल्प में १४ मन्वन्तर-प्रतिमन्वन्तर में दिव्ययुग

१—स्वायंभुव—	→७१—	—७१
२—स्वारोचिष—	→७१—	—१४२
३—उत्तम—	→७१—	—२१३
४—तामस—	→७१—	—२८४
५—रैवत—	→७१—	—३५५
६—चाक्षुष—	→७१—	—४२६
७—वैवस्वत—	→७१—	—४९७
८—इन्द्रसावर्णि—	→७१—	—५६८
९—देवसावर्णि—	→७१—	—६३९
१०—रुद्रसावर्णि—	→७१—	—७१०
११—धर्मसावर्णि—	→७१—	—७८१
१२—ब्रह्मसावर्णि—	→७१—	—८५२
१३—दक्षसावर्णि—	→७१—	—९२३
१४—सूर्यसावर्णि—	→७१—	—९९४

सन्ध्या—→६—१०००

पूर्वोक्त कालपुरुष का परिमाण साधारण मनुष्यों की दृष्टि में केवल कल्पना है, परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि में यह सब कुछ वेदसिद्ध है। पाश्चात्य जगत् की भौतिक समुन्नति को ही वास्तविक उन्नति समझने वाले, पाश्चात्यशिक्षादीक्षित स्वधर्मविमुख भारतीयों के धर्मविरोधी आन्दोलन को ही राष्ट्र समृद्धि का कारण मानने वाले, वैदिक विज्ञान की गहनाटवी से सर्वथा अपरिचित, अपने आपको विद्वान समझने वाले कतिपय भारतीय सज्जन भी पूर्वोक्त युग परिमाण को कल्पना समझते हुए सत्ययुग का स्वप्न देख रहे हैं। उनके मतानुसार शास्त्रसिद्ध—“अष्टविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे, ब्रह्मणो द्वितीय प्रहराद्धं” इत्यादि संकल्प आज मिथ्या हो चुका है। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्वित् जयपुर राज्य निवासी (वर्तमान में इन्दौर निवासी) श्री दीनानाथजी शास्त्री ने कुछ समयपूर्व हमारे पास ‘वेदकाल निर्णय-युगपरिवर्तन’ नाम की दो पुस्तकें भेजने का अनुग्रह किया था। युगपरिवर्तन में शास्त्रीजी ने सुपर्णचरित के आधार पर वेदकालीन पञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति का जो दिग्दर्शन कराया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। वास्तव में उक्त विषय की खोज अपूर्व एवं विद्वानों को ऋणी बनाने वाली है। परन्तु उसी पुस्तक में—

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पतिः ।

एकराशौ समेष्ट्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ॥

(महाभारत, वनपर्व १८८ अ०)

इत्यादि कतिपय प्रमाणों का रहस्यार्थ न समझते हुए सत्ययुग मानने का साहस कर डाला है । क्या ही उत्तम हो, यदि अब भी शास्त्रीजी अपने अभिनिवेश को छोड़कर उक्त कल्पना का संशोधन प्रकाशित कर आर्य जाति को इस मिथ्या कलङ्क से बचालें । इसी प्रकार बाबा-राजनारायणजी षट्शास्त्री ने अपनी 'चेतावनी' नाम की पुस्तक में इसी प्रकार अनर्गल प्रलाप किया है । हाल ही में गरितरत्न पं० श्री हरदेवजी त्रिवेदी ज्योतिःशास्त्री (मेवाड़ी) ने "चेतावनी समीक्षा" नाम से उक्त अशास्त्रीय मत का गणित के आधार पर खण्डन करने का स्तुत्य प्रयास किया है । प्रकृत में हमें आत्मस्वरूप का दिग्दर्शन कराना है, अतः यहाँ उक्त मत की समालोचना का अवसर नहीं है । इन सब विषयों का सोपपत्तिक निरूपण करते हुए, युगपरिवर्तन का सशास्त्र सद्युक्ति निराकरण करते हुए मन्वन्तर का स्वरूप स्वतन्त्र रूप से निरूपित हुआ है । विशेष जिज्ञासुओं को उसीके प्रकाशन की प्रतीक्षा करनी चाहिए ।

उक्त कालगणना से यहाँ हमें केवल यही बतलाना है कि लोकसाक्षी सूर्य की उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग, तीनों काल निश्चित हैं । जिस समय सूर्य उत्पन्न होता है, वह काल पुण्याह (पवित्र दिन) का आरम्भकाल माना गया है । सातवें मन्वन्तर का संधिकाल मध्याह्न माना जाता है, एवं चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में अस्त हो जाता है । उदयास्तभावापन्न यह सूर्य यद्यपि अस्मदादि साधारण मनुष्यों की दृष्टि में सदा ही दिखलाई देता है, परन्तु वास्तव में सूर्य प्रतिक्षण बदल रहा है । इस सूर्यदृष्टान्त से प्रकृत में केवल यह क्षणिक भाव ही हमें सिद्ध करना है, जैसा कि आगे के प्रकरण से स्पष्ट हो जायगा ।

पूर्व के कालस्वरूप-दिग्दर्शन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, सूर्य किसी दिन उत्पन्न हुआ था, आज वह वर्तमान है, किसी दिन न रहेगा । "किसी समय उत्पन्न लयकाल बीमांसा सूर्य का विनाश होगा" यह निश्चित है—“संयोगा विप्रयोगान्ताः ।” इस सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य का यह महा-गोल सहसा एक क्षण में ही नष्ट हो जायगा ? वैज्ञानिक उत्तर देते हैं कि, सूर्य के नाश के लिए चिर-काल अपेक्षित है । प्रतिक्षण सूर्य पुराना पड़ रहा है । इस क्षणिक विनाश की धारा ही किसी युग में (चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में) सूर्य विनाश का कारण बनती है । यद्यपि स्थूल दृष्टि से यह क्षणिक परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता, तथापि विज्ञान दृष्टि से ऐसा ही मानना पड़ता है । इस प्रकार सूर्य में प्रतिक्षण विलक्षणता का होना सर्वथा सिद्ध हो जाता है । जो सूर्य पूर्वक्षण में था, उत्तरक्षण में उसका सर्वथा अभाव है । इस क्षणिक परिवर्तन के कारण यद्यपि सूर्य सर्वथा विनाशी ही है, तथापि साथ-साथ ही एक नित्य अपरिवर्तनीय भाव भी हम प्रत्यक्ष में देख रहे हैं । प्रतिदिन हम उसी सूर्य के दर्शन कर रहे हैं । सूर्य कल भी था, आज भी है, कल भी रहेगा । सूर्य प्रतिक्षण बदलता है, परन्तु सत्तात्त्विकभी नहीं बदलता । सत्ता एक है, नित्य है । सत्तात्त्विक के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला क्षणिक-

बलसंघातरूप सूर्य्य निरन्तर बदलता ही रहता है। सर्वथा बदलने वाला सूर्य्य न बदलने वाले सत्तातत्त्व पर प्रतिष्ठित है। अतएव वह बदलता सा नहीं दिखलाई देता। उदयकाल से अस्तकाल पर्यन्त सूर्य्य की "हिकार-प्रस्ताव-आदि-उद्गीथ-प्रतिहार-उपद्रव-निधन" ये सात स्थूल अवस्थाएँ मानी गई हैं। अवस्थाएँ सात हैं, सूक्ष्मदृष्टि से अनन्त हैं, परन्तु सूर्य्य एक है। यह एकत्व उसी सत्तातत्त्व की महिमा है।

इस प्रकार हम सूर्य्य में प्रतिक्षण बदलने वाले नानाभाव का भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं एवं साथ ही में अक्षर अपरिर्त्तनीय एकत्वभाव भी उपलब्ध हो रहा है। तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध एकत्व-अनेकत्वभावों का एक ही सूर्य्य में उसी प्रकार समन्वय हो रहा है, जैसे कि परस्पर में सर्वथा विरुद्ध 'पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाश' इन पाँचों भूतों का एक ही पञ्चभौतिक शरीर में समन्वय देखा जाता है। इन दोनों विरुद्ध भावों में एकत्वधर्म अविचाली है, शाश्वत है। अनेकत्वधर्म अविचाली है, अनित्य है। नित्यानित्य-शान्ताशान्त की समष्टि सूर्य्य है। उत्पत्ति क्षण से लयक्षण पर्यन्त एक ही प्राणी की दस अवस्थाएँ होती हैं, जैसा कि प्रस्तावना में बतलाया जा चुका है। एक नूतन काण्ड में लौहकील भी सरलता से प्रविष्ट नहीं हो सकती। परन्तु १०० वर्ष पश्चात् वही काण्डखण्ड ऐसा जीर्ण हो जाता है कि, बिना बल-प्रयोग के जहाँ उसका स्पर्श किया जाता है, वही भाग गिर पड़ता है। इस स्थिति से मानना पड़ेगा कि, किसी नियत क्षण में ही काण्ड की यह दशा नहीं हुई है, अपितु प्रतिक्षण में होने वाले परिवर्त्तन से ही काण्ड उक्त दशा में परिणत हुआ है। यह सब कुछ है, परन्तु काण्ड अब भी है। काण्डरूप एकत्व सर्वथा अक्षुण्ण है। निदर्शन मात्र है। संसार में स्थिर चर जितने भी पदार्थ हैं, सब में समानरूप से परमाणु संगठन के तारतम्य से आपको एक परिवर्त्तनशील तत्त्व मिलेगा एवं एक अपरिवर्त्तनीय तत्त्व उपलब्ध होगा। इन्हीं दो भावों के कारण संसार को "द्विनियति," (दो नियत भावों का समुच्चय) कहा जाता है। "दुनियाँ" शब्द द्विनियति का ही अपभ्रंश है। दुनियाँ को दुरङ्गी कहा जाता है।

उक्त दोनों तत्त्वों में परिवर्त्तित होने वाला तत्त्व 'नाम-रूप-कर्म' की समष्टि है, यही वस्तु है। न बदलने वाला तत्त्व 'अस्ति' (है) है। यह 'मनः-प्राण-वाक्' का समुच्चित रूप है। मनःप्राणवाङ्मय अमृतलक्षण अस्तितत्त्व पर नामरूपकर्ममय मृत्युलक्षण पदार्थ प्रतिष्ठित हैं।

नित्यानित्यविवर्त्त जब तक वस्तु है, तब तक तो उस सत्ता ने उस वस्तु को पकड़ रखा है, वस्तु के नष्ट हो जाने पर वही सत्तातत्त्व वस्तु के अभाव का अनुग्राहक बन जाता है। "देवदत्त है" इस वाक्य में भी सत्ता लक्षण "है" विद्यमान है एवं "देवदत्त नहीं है" इस अभावात्मक वाक्य के अन्त में भी (नहीं है—इसके अन्त में भी) "है" विद्यमान है। "है" (अस्ति) नहीं है, यह बात नहीं है। अपितु "है-नहीं है" इस प्रकार के "अस्ति"—"नास्ति" दोनों भावाभावात्मक व्यवहारों में अस्तितत्त्व अक्षुण्ण है। जिसे आप "नास्ति" कहते हैं, उसमें भी "न—अस्ति" इस विवेक से अस्ति-भाव विद्यमान है। नामरूपकर्ममय बलसमुच्चय बदलता है, मनःप्राणवाङ्मय अस्तित्व कभी नहीं बदलता। इस प्रकार कारणभूत ईश्वर प्रजापति से उत्पन्न कार्यरूप इस बिम्ब में समष्टि-व्यष्टि रूप से उभयथा पूर्वोक्त दोनों विरुद्ध भावों को हम देख रहे हैं। "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते"

यह न्याय सुप्रसिद्ध है। इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार मानना पड़ता है कि, भावद्वययुक्त कार्यात्मक विश्व में जब अस्ति-नास्ति लक्षण दो विरुद्ध भावों की हमें निर्भान्त रूप से उपलब्धि होती है, तो अवश्य ही उस अदृष्ट कारण रूप ईश्वर प्रजापति में भी उक्त दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय होगा। यदि वहां (कारण में) ये दोनों न होते, तो यहाँ (कार्य में) उनकी उपलब्धि कथमपि नहीं हो सकती थी।

वे ही दोनों तत्त्व श्रुतियों में अपेक्षा से भिन्न-भिन्न प्रकरणों में भिन्न-भिन्न नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। रस-अमृत, आभू-सत्, ज्योति-विद्या, इत्यादि नामों से नित्यतत्त्व प्रसिद्ध है एवं बल-मृत्यु, अश्व-असत्, वीर्य-अविद्या, इत्यादि नामों से अनित्य तत्त्व व्यवहृत हुआ है। पूर्व कथनानुसार बदलने वाला तत्त्व सर्वथा विनश्वर है। “नास्ति (अव्यक्त),—२-अस्ति (व्यक्त), ३-नास्ति (अव्यक्त)” इन तीन क्षणों से नित्य आक्रान्त है। मध्य का अस्ति क्षण भी परमार्थतः बदलता हुआ होने से नास्तिरूप ही है। अतएव इसे भी हम सर्वथा अस्थिर ही मानने के लिए तय्यार हैं। इसी क्षणिक भाव के कारण वह तत्त्व नास्तिसार है, “कुछ नहीं है” के समान है। परन्तु सदसद्विलक्षण मायाबल के प्रभाव से रस-रूप नित्य तत्त्व से अनुग्रहीत होकर वह कुछ न होता हुआ भी, सम्भूति-भाव को प्राप्त होता हुआ “सब कुछ” बन रहा है, अस्तित्व प्रतीत हो रहा है। सच पूछिए तो सम्पूर्ण विश्व में नामरूपकर्मत्मक वह असत् तत्त्व ही आज सर्वत्र प्रभु बन रहा है। इस प्रकार यह तत्त्व-स्व-स्वरूप से कुछ न होता हुआ भी रसानुग्रह से सब कुछ बन रहा है। इसके इसी स्वरूप-धर्म को लक्षण में रख कर—“अभूत्वा भवति” “अभूत्वा भाति, प्रतीयते सर्वत्र” “अभवन् भवति” इत्यादि निर्वचनों के अनुसार वैज्ञानिकों ने इस नास्तिसार तत्त्व को “अश्व” नाम से व्यवहृत किया है। लोक-प्रसिद्ध “हाबू” (हौआ) शब्द इसी अश्व शब्द का अपभ्रंश है। छोटा बालक जब उपद्रव करने लगता है, तो माता “अरे हाबू आता है, चुप हो जा” यह कहती है। ‘हाबू’ नाम का कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है, कुछ नहीं है, परन्तु बालक डर जाता है। इसी प्रकार कुछ नहीं होता हुआ भी वह अश्व है। हाभूरूप महाविश्व के सामने हम सब बच्चे हैं। इन विश्वविभीषिकाओं से जगज्जननी महामाया हम सबको डरा रही है। ऐसा यह अश्व क्षणिक होने से ही स्वलक्षण है। एक क्षणिक अश्व दूसरे क्षणिक अश्व का लक्षण नहीं बन सकता। “अमुक अश्व अमुक अश्व जैसा है” यह बोलने का अवसर ही नहीं मिलता। क्योंकि जिस समय एक अश्व को हम अन्य अश्व का लक्षण बतलाते हैं, उसी समय दोनों विनष्ट हो जाते हैं। अतः हम इसे अवश्य ही “स्वलक्षण” कह सकते हैं। जब यह क्षणस्थायी भी नहीं, तो मानना पड़ेगा कि यह कुछ नहीं है। इसी स्वलक्षण भाव के कारण हम इसे “शून्य” कह कहते हैं। स्थिरता में शान्ति है, शान्ति में सुख है, किंवा शान्ति ही सुख है। सर्वथा अस्थिर शोभरूप उस अश्व में स्थिति मूलक शान्ति-सुख का नितान्त अभाव है। अपि च “यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति” इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार भूमा सुख है, अल्पता दुःख है। क्षणिक अश्व सर्वथा शून्य होता हुआ अल्पतम है। इन्हीं सब कारणों से हम इसे “दुःखरूप” कह सकते हैं। इस प्रकार इस अश्व तत्त्व की १-क्षणिकता, २-स्वलक्षणता ३-शून्यता, ४-दुःखरूपता भली-भाँति सिद्ध हो जाती है। यह अश्व तत्त्व दिग्-देश-काल से सर्वथा परिच्छिन्न होता हुआ ससीम है,

खण्ड-खण्ड है, तमोरूप है, संख्या में अनन्त है, (इसी आनन्त्य से अम्बरूप विश्व में वैचित्र्य उपलब्ध होता है) आवरणधर्मी है, साञ्जन है, पाप्मा है ।

दूसरा है अपरिवर्तनीय नित्य तत्त्व । यह एकरूप से सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, अतएव “आ (समन्तात्-सर्वतः) भवति” “आ-अभवत्” इत्यादि निर्वचनों से इस व्यापक नित्य तत्त्व को “आभू” कहा जाता है । व्यापक होने से ही यह सर्वथा निष्क्रिय, अतएव शान्त है । अतएवच नित्य है । नित्यता एवं व्यापकता ही इसे पूर्ण कहने को बाध्य करती है । पूर्णता में शान्ति है । पूर्णता ही भूमाभाव है । भूमा ही सुख है । अतएव यह आनन्द रूप है—‘आनन्दमयोऽभ्यासात्’ (व्या० सू० ।) बल के द्वारा इसका विश्व में विकास होता है । दूसरे शब्दों में बल ही (अम्ब ही) इस आभू (रस) की उपलब्धि का कारण है । यह अपने विशुद्ध रूप से सर्वथा निर्धर्मक-निराकार बनता हुआ अनुपलब्ध है । अतएव हम इसे बललक्षण मानने के लिए तय्यार हैं । यह आभू दिग्-देश-काल संख्या से परिच्छिन्न होता हुआ असीम है, अखण्ड है, ज्योति—(ज्ञानज्योति) र्मय है, संख्या से एक है (इसी एकत्व भाव से भिन्नो में अभिन्नता की प्रतीति होती है), निरावरण है, निरञ्जन है, विशुद्ध है । हमने इसे एक कहा है । यह एकत्व भावात्मक समझना चाहिए । एकत्व संख्या द्वित्वादि संख्या सापेक्ष है । इसी को अयुतसिद्ध एकत्व कहते हैं । द्वित्वादि संख्या की अपेक्षा रखने वाले अयुतसिद्ध इस एकत्व का उसमें अभाव है । जब वहाँ कोई संख्या नहीं, तो समझने मात्र के लिये उसमें एकत्व व्यवहार हो जाता है । यह समझना भाव, किंवा, भावना है । इन्हीं सब कारणों से हम इसे भावरूप एकत्व से ही युक्त मानने के लिए तय्यार हैं ।

विशुद्ध अम्ब तत्त्व के उपासक नास्तिक लोग जहाँ—“क्षणिकं क्षणिकं अतएव स्वलक्षणं स्वलक्षणं, अतएव शून्यं शून्यं, अतएव दुःखं दुःखम्” यह कह कर सर्वप्रपञ्च को दुःखरूप बतलाते हैं, वहाँ आभू तत्त्व के उपासक आस्तिक ‘नित्यं नित्यं, अतएव बल-लक्षणं बललक्षणं, अतएव पूर्णं पूर्णं आनन्दम्’ कहते हुए ब्रह्म को आनन्दवन बतला रहे हैं । जीवनसत्ता वास्तव में आनन्द पर ही निर्भर है । हम जब तक जीते हैं—आनन्द से एवं आनन्द की आशाप्रतीक्षा से ही जीते हैं । जिस दिन आनन्द की मात्रा एकान्ततः निःशेष हो जाती है, तत्काल जीवनलीला समाप्त हो जाती है । इसी सर्वानुभूत लोकसिद्ध अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

“आनन्दाद्भवे खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन—

जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति” (तै० उप० ३।६)

उक्त अम्ब-आभू विवेचन से कहना यही है कि, इन दोनों विरुद्ध तत्त्वों की समष्टि ही विरुद्ध-भावद्वयापन्न विश्व का मूल है । विश्व में प्रतीयमान कार्यरूप क्षणिकभाव का मूलकारण विश्वातीत अम्ब है, एवं कार्यरूप से प्रतीयमान नित्यभाव का मूल विश्वातीत आभू है । लौकिक दृष्टि से समझने के लिए हम इन दोनों को द्रष्टा एवं दृश्य कह सकते हैं । विश्वविद्या को आप इन्हीं दो भागों में विभक्त कर डालिए, विश्वातीत आभू और अम्ब के इस विश्व में ही (द्रष्टा एवं दृश्यरूप से) साक्षात् दर्शन हो

जायेंगे। दृश्य अश्व है। आप इसे निरन्तर बदलता हुआ देखेंगे एवं द्रष्टा आभू है, इसे सर्वथा एक रस देखेंगे। उदाहरण के लिए दर्पण (काँच-ग्राइना) को दृष्टान्त समझिए। एक स्थान पर काँच सर्वथा स्थिर रूप से रक्खा हुआ है। उस पर मार्ग में आते जाते मनुष्य-पशु-पक्षी आदि दृश्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। दृश्य बदल रहे हैं, द्रष्टा काँच सर्वथा स्थिर है। नए नए दृश्यों को लेता जाता है, छोड़ता जाता है। इसी प्रकार शरीराकाशगमित हृदयाकाशस्थ दन्त्राकाश में प्रतिष्ठित ज्ञानज्योतिर्धन हमारा आत्मा द्रष्टा है। हम इन्द्रियों द्वारा जिन विषयों को देखा करते हैं, वे सब दृश्य हैं। ग्रहंभाव एक है, दृश्य नाना है। इस प्रकार द्रष्टा-दृश्य के विवेक से आप सर्वत्र इसी विश्व में आभू-अश्व का साक्षात्कार कर सकते इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए रहस्यवेत्ता वैज्ञानिक कहते हैं—

यदस्ति किञ्चित्तदिमं प्रतीमोऽविचालि-शश्वत्स्थमनाद्यनन्तम् ।

प्रतिक्षणान्यान्य-विकार-सृष्टि-प्रवाहवत् तद्विरुद्धभावम् । १ ॥

विरुद्धभावद्वयसंनिवेशात् संभाव्यते विश्वमिदं द्विमूलम् ।

आश्वभ्व-संज्ञेस्त इमे च मूले द्रष्टाभु दृश्यं तु मतं तदश्वम् ॥ २ ॥

यद् द्रष्टृ तज्ज्ञानमिति प्रसिद्धं ज्ञाने प्रतीतो विषयस्तु कर्म ।

ज्ञानं प्रकाशोऽस्त्यविचालिभावस्तत्रान्यदन्यद् भवदस्ति कर्म ॥ ३ ॥

दिग्देशकालैरमितं तु यत् तज्ज्ञानं हि तद् द्रष्टृ तदाभु विद्यात् ।

दिग्देशकालैः प्रमितं त्वसद्वत् तत्कर्म तद् दृश्यमिदं तदश्वम् ॥ ४ ॥

(श्रीगुरुप्रणीत संशयतदुच्छेदवाद, सच्चिदानन्दखण्ड)

आभू तत्त्व एक है, अश्व अनेकधा विभक्त है। दोनों ही अविनाशूत हैं, नित्यसम्बद्ध हैं। इन दोनों तत्त्वों की उन्मुग्धावस्था का नाम "निर्गुणब्रह्म" है, एवं ये ही दोनों अंशरूप से किसी कारण विशेष की प्रेरणा से उद्बुद्धावस्था में आकर "सगुणब्रह्म" नाम धारण कर लेते हैं। योगमायावच्छिन्न अस्मदादि मायिक जीवों का उपास्य एकमात्र यही सगुणब्रह्म है। निर्गुणब्रह्म विश्वातीत होने से व्यापक होता हुआ अवाङ्मनसगोचर है। शब्दातीत होने से शास्त्रानधिकृत होता हुआ एकान्ततः अनुपास्य है। प्रत्येक शब्द की "यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न" में ही शक्ति रहती है। घट शब्द की घटत्वावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति है। वह घटत्व घट शब्द की पटादि इतर पदार्थों से व्यावृत्ति (पृथक्करण-छांट) करवाता है। उस व्यापक ब्रह्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है, वह सब में अनुस्यूत है, अतएव उसकी किसी शब्द से किसी में से व्यावृत्ति नहीं कराई जा सकती। अतएव अवच्छेदकावच्छिन्न में शक्त शब्द-जाल उसका निरूपण करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। विश्व की उत्पत्ति-स्थिति-भंग, तीनों ब्रह्मलक्षण ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-(पुराणमतानुसार मद्देश) भेदभिन्ना देवत्रयी पर ही निर्भर है। तीनों क्रमशः विश्व

के उत्पादक-पालक-संहारक हैं। तीनों में इन्द्र ज्ञानप्रधान हैं, विष्णु अर्थप्रधान हैं, ब्रह्मा क्रियाप्रधान हैं। सत्व-रज-स्तमोभेदभिन्ना प्रकृतिरूपा महाशक्ति के आश्रय से ही क्रियाशक्तिप्रधान ब्रह्मा, अर्थशक्तिप्रधान विष्णु, ज्ञानशक्तिप्रधान इन्द्र, किंवा महेश उत्पत्ति-स्थिति-नाश के कारण बनते हैं। ज्ञान उस व्यापक ब्रह्म का वास्तविक रूप है। इसका विकास विश्व में 'इन्द्र' रूप से ही होता है। अतएव इसके लिए "इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठो ज्येष्ठः" (कौषीतकि ब्रा० ६।१४।) यह कहा गया है। अतएव ब्रह्मादि इतर देवता, देवता हैं एवं इन्द्रापरपर्यायिक ज्ञानप्रद तत्त्व "महादेव" हैं—"ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्"। ब्रह्मा, विष्णु क्रमशः क्रिया एवं अर्थमूर्ति हैं। दोनों का विकास कार्य-विश्व में ही होता है। विश्वातीत अवस्था में केवल ज्ञानशक्ति का ही विकास है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखते हुए केनोपनिषत् में बतलाया गया है कि "जब इन्द्र उस यक्ष के सामने गए तो यक्ष अन्तर्हित (गायब) होगया" (देखिए केनोप० ३।२४)। इसका तात्पर्य यही है कि, पूर्व कथनानुसार इन्द्र ज्ञानशक्तिधन है, उधर यक्षमूर्ति ब्रह्म ज्ञानघन है। दोनों अभिन्न हैं। क्रियाप्रधान ब्रह्मा, अर्थप्रधान विष्णु, ज्ञानप्रधान इन्द्र (महादेव), इन तीनों में से ब्रह्मा विष्णु की तो वहाँ गति नहीं है, परन्तु ज्ञानमूर्ति इन्द्र वहाँ अवश्य ही पहुँच जाते हैं। दूसरे शब्दों में वह शब्दातीत होता हुआ भी ध्यानापरपर्यायिक ज्ञानगम्य अवश्य है। "तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः" के अनुसार इन्द्ररूप विज्ञान (बुद्धि) से अवश्य ही तटस्थ लक्षण के द्वारा वहाँ गति हो जाती है, परन्तु अर्थप्रधान कर्मकाण्ड एवं क्रियाप्रधान उपासना काण्ड, दोनों मार्ग वहाँ अवरुद्ध हैं। इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रख कर आचार्य कहते हैं—

संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ (तै० उ० २।४)

श्रुति ने विष्णु एवं विधि (ब्रह्मा) से उसकी अविज्ञेयता बतलाई है, विष्णु-विधि से नित्य सम्बद्ध है, किन्तु इन्द्र से नहीं है। कारण इसका यही है कि, ज्ञानमूर्ति इन्द्र (विज्ञानात्मा) वहाँ पहुँच सकता है। बतलाना यही है कि, विश्वातीत वह व्यापक तत्त्व शब्द-शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा अविज्ञेय एवं अनिर्वचनीय है।

सुप्रसिद्ध मायावल के कारण आभू-अम्बात्मक व्यापक ब्रह्म के विश्वातीत-विश्वचर विश्व ये तीन रूप हो जाते हैं। वही ब्रह्मतत्त्व अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से (अक्षरानुगृहीत क्षर भागसे) विश्व बना हुआ है। अतएव—'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'ब्रह्मै-
ब्रह्म का त्रेधावितान वेदं सर्वम्' 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुत वचन चरितार्थ हो रहे हैं। इसी दृष्टि को लेकर 'ब्रह्म ही विश्व है' इस कथन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अपने एकांश से सम्पूर्ण जगत् का निर्माण कर, दूसरे शब्दों में एक पाद से विश्वरूप में परिणत होकर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार वह ब्रह्म अंशरूप से अपने सृष्टरूप इस विश्व में प्रविष्ट होकर विश्व का आत्मा बना हुआ है। विश्व उसका शरीर है, प्रविष्ट भाग विश्व-शरीर का आत्मा है। इसी प्रविष्ट

रूप को आधार मान कर—‘आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्’ ‘नवद्वारे पुरे देही’ ‘सर्वस्य प्रभुमीशानम्’ ‘यो विश्वं भुवनमानिवेश’ ‘तेनेदं (विश्वं) पूर्णं पुरुषेण सर्वम्’ ‘विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्’ ‘विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्’ इत्यादि श्रौत वचनों का समन्वय हो रहा है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर—“ब्रह्म विश्व में प्रविष्ट है” इस कथन में भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। वही जात (उत्पन्न-विश्व) है, वही उत्पन्न होने वाला है, वही गर्भ में प्रविष्ट रहने वाला आत्मा है। इन्हीं विश्व-विश्व-चर, दोनों आत्मविवर्त्तों का समष्टि रूप से निरूपण करते हुए महर्षि श्वेताश्वेतर कहते हैं—

एषो ह देवः प्रविशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।

स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

ब्रह्म का यही दूसरा रूप विश्वेश्वर-विश्वाध्यक्ष-विश्वात्मा-जगदीश्वर, आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है जो भाग विश्व एवं विश्वेश्वर से पृथक् विशुद्ध बच जाता है, वही तीसरा सर्वव्यापक भाव विश्वातीत नाम से प्रसिद्ध है। यही ब्रह्म का निरुपाधिक रूप है। न यह जन्म लेता, न इसकी मृत्यु होती। न यह किसी का आत्मा (विश्वेश्वर) बनता, न किसी का शरीर (विश्व) बनता। इसी तीसरे विश्वातीत विवर्त्त को को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

परास्य शक्तिविविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ १ ॥

श्वे० उप० ६। ८

न संद्वेो तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम् ।

हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

श्वे० उप० ४। २०

नैनमूर्ध्वं तिर्य्यचं न मध्ये परिजग्रभत् ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ ३ ॥

श्वे० उप० ४। १६

इसी विश्वातीत दृष्टि से ‘न ब्रह्म विश्व बनता, न विश्वात्मा बनता, यह सब प्रपञ्च केवल मायिक है’ इस कथन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। ये ही तीनों विवर्त्त ‘प्रविविक्तब्रह्म-प्रविष्ट-ब्रह्म-सृष्टब्रह्म इन नामों से भी व्यवहृत किए जा सकते हैं। इनमें प्रविविक्त (विश्वातीत) एवं प्रविष्ट (विश्वेश्वर), ये दो विवर्त्त तो अमृतप्रधान हैं। तीसरा सृष्टरूप (विश्व) मृत्युप्रधान है। दूसरे शब्दों में उक्त दोनों रूप आभूप्रधान (रसप्रधान) हैं, तीसरा रूप अश्वप्रधान (बलप्रधान) है। कुछ भी

कहिए, तीनों ही रूपों में आभू-अश्वत्थक रस-बल का ही साम्राज्य मानना पड़ेगा। अतएव श्रुति को 'ब्रह्मवेदं सर्वम्', इस कथन में जरा भी संकोच नहीं होता। ब्रह्म के आभू-अश्वत्थ लक्षण रस बल नाम के दो रूप हैं। यह सुन कर 'ब्रह्मवेदं सर्वं एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अद्वैतभक्तों को विरोध बतलाने का अवसर मिल जाता है। हम उन्हें बता देना चाहते हैं कि, रस-बल, इन दो भावों के मान लेने पर भी अद्वैत सिद्धान्त पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती है।

सजातीय-विजातीय-स्वगत, इन तीनों भेदों का निराकरण करने के लिए श्रुति में 'एकं-एव-अद्वितीयम्' ये तीन पद प्रयुक्त हुए हैं। इनमें अद्वितीय पद विजातीयभेद का, एक पद सजातीय भेद का एवं एव पद स्वगत भेद का निराकरण कर रहा है। आम का वृक्ष केले के वृक्ष से भिन्न है, यह दोनों का विजातीय भेद है। एक आम का वृक्ष दूसरे आमवृक्ष से भिन्न है, यह दोनों का सजातीय भेद है। एक ही आमवृक्ष में आमफल, आममञ्जरी, आम्रपत्र, शाखा, मूलस्तम्भ, आदि अनेक अवयव हैं। सभी अवयव परस्पर में भिन्न होते हुए एक आमवृक्ष के आश्रित हैं, यही भेद तीसरा स्वगतभेद है, अपने आप में रहने वाला भेद है। मनुष्य-पशु का भेद विजातीय है, मनुष्य मनुष्य का भेद सजातीय है, हस्त-पाद-मस्तक-उदर-हृदय-आदि अवयव भेद स्वगतभेद है। हमारा ब्रह्मतत्त्व उक्त तीनों भेदों से पृथक् है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा भिन्न स्वरूप वाला ब्रह्म नहीं है, इसलिए ब्रह्म विजातीय भेदशून्य है। 'सर्वत्र इस अद्वितीय का साम्राज्य है।' इस ब्रह्म के जैसा कोई अन्य ब्रह्म नहीं है, अतएव यह सजातीय-भेद शून्य है। 'सर्वत्र इस अद्वितीय एक का साम्राज्य है।' साथ ही में आम्रवृक्षादि की तरह उसमें अवयव भेद भी नहीं है, नीचे-ऊपर-आगे-पीछे-सामने-सब ओर वही एक है, अतः वह स्वगतभेद से भी बहिर्भूत है। इस प्रकार 'भेदत्रयशून्य उस अद्वितीय एक ही (एकमेवाद्वितीयं) ब्रह्म का साम्राज्य है।' ऐसी परिस्थिति में अद्वैतवादियों की ओर से प्रश्न उपस्थित होता कि "ब्रह्म के रस-बल, ये दो विवर्त मान लेने पर सजातीय-विजातीय भेद को तो अवसर नहीं मिलता, परन्तु स्वगतभेद बना रह जाता है। तुम्हारे कथनानुसार स्वगतभेद उत्पन्न करने वाला रस-बलात्मक कलाभेद रह जाता है। फलतः विशुद्ध अद्वैतवाद सुरक्षित नहीं रहते पाता।" प्रश्न यथार्थ है। अवश्य ही हम दो कला मानते हैं। फिर भी उक्त प्रश्न का हमारी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। हम दो कला मानते हुए भी उन दोनों की पृथक् पृथक् दो सत्ता स्वीकार नहीं करते। मानना दूसरी बात है। जिसे आप मानना कहते हैं, वह मानने से भी सम्बन्ध रखता है, एवं सत्ता से भी मानने का सम्बन्ध है। सर्वसाधारण ने आकाश को नीला मान रखा है, क्योंकि उसका उसी रूप से भान हो रहा है। परन्तु कोई भी वैज्ञानिक आकाश के नील वर्ण की सत्ता स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं है। भावात्मक एकत्व को छोड़ कर २-३-४-५ आदि सब संख्याएं केवल मानी हुई हैं। सत्ता केवल एक ही संख्या की है। जिसे आप २-३-४-५ कहते हैं, सर्वत्र २-३-४-५ इस क्रम से एक संख्या का ही प्रभुत्व है। "अयमेकः-अयमेकः" की समष्टि ही तो दो है। विज्ञानदृष्टि से उत्तर दिशा ऊँचा स्थान है, दक्षिण दिशा अवाची (नीचा स्थान) है, परन्तु साधारण मनुष्य अपने मस्तक के ऊपर के भाग को ऊँचा मानते हैं, पैरों के नीचे के स्थान को नीचा कहते हैं। इसी प्रकार पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, आदि सहस्रों

पदार्थ (जो कि अहोरात्र हमारे व्यवहार में आते हैं, जिनके न मानने से लौकिक व्यवहारों का एका-
न्ततः उच्छेद हो जाता है) ऐसे हैं, जिनको आप, हम, सभी केवल मानते ही मानते हैं, किन्तु उनकी
स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। यही परिस्थिति रस-बल की भाति के सम्बन्ध में समझिए। द्रव्य
व्यवहार का मूलकारण सत्ताभेद है, न कि भातिभेद। भातिभेद से प्रतीत होता हुआ भी द्रव्य परमार्थतः
द्रव्य नहीं माना जाता। पुरोऽवस्थित एक घट का आपको भान हो रहा है, साथ ही में जिस मिट्टी से
से घट बना है, उसे भी आप देख रहे हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष दृष्ट इन दो भातिभावों को देखते हुए भी
भातिद्रव्य से घट के लिए—“यह घड़ा है और मिट्टी है” ऐसा द्रव्यव्यवहार नहीं करते। कारण ? भान
वास्तव में दो हैं, परन्तु “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” के अनुसार सत्ता एक है।
मिट्टी की सत्ता से ही घट सत्तावान् बन रहा है। ठीक इसी प्रकार उस ब्रह्म तत्त्व में भी रस-बल भेद
से भाति दो हैं, सत्ता एक है। अतएव स्वगतभेद को अवसर नहीं मिलता। यदि इस समाधान से आपका
सन्तोष नहीं होता, तो हम आप से पूछते हैं कि—“आप ब्रह्म की सच्चिदानन्दता में कोई सन्देह नहीं
करते, ‘सत्ता-चेतना-आनन्द’—ये तीन कलाएँ आप भी मानते हैं। रस-बल, इन दो भातिभेदों के
कारण इस पक्ष में जो स्वगतभेद प्रयुक्त दोष आप बतलाते हैं, वह दोष आप के पक्ष भी समान है। जिस
अभिन्ना अद्वितीया सत्ता को आगे कर आप स्वगतभेद हटाते हैं, वही सत्तात्मक-अद्वैत हमारे रस-बला-
मक अद्वैतवाद का भी समर्थक बन रहा है।

उपर्युक्त रसबलात्मक सर्वव्यापक यही विश्वातीत ब्रह्म “अखण्डब्रह्म” नाम से प्रसिद्ध है। यह
ब्रह्मभाव सोपाधिक अहंभाव से सर्वथा पृथक् है। यह सब में समान है। चेतन-अचेतन-विश्व-विश्वात्मा
विश्व के बाहर सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। मायोपाधिगुण्य, अतएव—सर्वव्यापक, परात्पर, प्रवि-
वित्त, विश्वातीत, निर्धर्मिक, निरञ्जन, अद्वय, अखण्ड, असीम, आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध, पूर्व कथ-
नानुसार शास्त्रानधिकृत, वाङ्मनसपथातीत इस अविज्ञेय अनिर्बचनीय विलक्षण ब्रह्मतत्त्व का इस श्राद्ध-
प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्राद्धप्रकरण से ही क्या, वह तो सभी शास्त्रीय कर्मों से एकान्ततः
बहिर्भूत है। हमारे आचार, व्यवहार, पुण्य-पाप, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, संस्कार, आदि किसी से भी
उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में जो महानुभाव “आत्मा तो व्यापक है, अखण्ड है।
उसकी गति-आगति कैसी ? गति नहीं तो श्राद्ध कैसा ?” ऐसे ऐसे कुतर्कों के द्वारा श्राद्ध की इतिकर्त्त-
व्यता पर, उसकी शास्त्रीयता पर आक्षेप करने का साहस करते हैं, उन्हें पूर्वं प्रतिपादित अखण्ड ब्रह्म का
वास्तविक स्वरूप समझते हुए आज से अपना भ्रम छोड़ देना चाहिए। उन्हें ये विश्वास कर लेना
चाहिए कि, अखण्ड आत्मा को हम शास्त्रों में प्रतिपादित आत्मा कहने के लिए तय्यार नहीं हैं। शास्त्रीय
आत्मा कोई दूसरा ही अखण्ड आत्मा है। वह भी एक नहीं, अनेक हैं।

पूर्व में हमने अमृतात्मा के प्रविविक्त-प्रविष्ट भेद से दो रूप बतलाए हैं। इन दोनों में से पहले
प्रविविक्त ब्रह्म की चर्चा हम छोड़ते हैं। उसके विषय में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि—
‘सर्वबलविशिष्ट रसप्रधान सर्वव्यापक एक तत्त्वविशेष ही प्रविविक्त ब्रह्म है वह शास्त्रानधिकृत है। व्यापक
होने से अनुपास्य है। गतिगुण्य होने से जन्म-मरण रहित होता हुआ श्राद्धमर्यादा से बहिर्भूत है।’

दूसरा है प्रविष्टब्रह्म नामक अमृतात्मा । इस प्रकरण के शीर्षक में जिसे हमने अमृतात्मा कहा है, जिसके प्रतिपादन की प्रकरणारम्भ में प्रतिज्ञा की गई है, वह यही प्रविष्टब्रह्म है । थोड़े शब्दों में इसीका दिग्दर्शन कराते हुए इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है ।

रस-बलात्मक जिस अखण्ड ब्रह्म का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उसके रस भाग को हमने संख्या से (भावात्मिका एकत्व संख्या से) एक बतलाया है, साथ ही में उसे दिग्-देशकाल-से अनन्त कहा है । दूसरे बलतत्त्व को संख्या से अनन्त, एवं दिग्देशकाल से रसबलात्मकब्रह्म की अनन्तविभूति सादि-सान्त कहा है । दिग्देशकालावच्छिन्न अम्बररूप यह अनन्त बल सृष्टिविकास के पूर्व जिन महाबलों में अन्तःप्रविष्ट रहते हैं एवं सृष्टिकाल में जिनमें से अनन्त बल उद्भूत होते रहते हैं, आधार रूप उन महाबलों को शास्त्र में—‘कोश-बल’ नाम से व्यवहृत किया गया गया है । वे कोशबल संख्या में कुल १६ हैं । इन सोलह बलकोशों में इतर सारे अनन्त बल समाए हुए हैं । इन सब बलकोशों का विशद निरूपण ‘ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य’ के प्रथम खण्ड में निरूपित हो चुका है । प्रकरण संगति के लिए यहाँ उनके नाम मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं । इन सोलहों में एक बलकोश विद्यात्मक है, शेष १५ बलकोश अविद्यात्मक हैं । विद्यात्मक बलकोश मुक्ति का अविष्टाता है, शेष सृष्टि के प्रवर्तक हैं । वे बलकोश १-विद्या, २-माया, ३-जाया, ४-धारा, ५-आपः, ६-हृदय, ७-भूति, ८-यज्ञ, ९-सूत्र, १०-सत्य, ११-यक्ष, १२-अश्व, १३-मोह, १४-वय, १५-वयोनाथ, १६-वयुन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । विद्याबल उसका स्वाभाविक बल है, यह हृद्ग्रन्थि-विमोक्तपूर्वक मुक्ति का कारण बनता है । शेष पन्द्रहों आगन्तुक हैं । हृद्ग्रन्थि-प्रवृत्तिपूर्वक ये ही सृष्टि के प्रवर्तक हैं । इनमें प्रधानता मायाबल की ही है । अपरिमित को परिमित बना कर उसे सकेन्द्र बनाते हुए, उस अशनाया शून्यतत्त्व में अशनाया उत्पन्न कर देना मायाबल का मुख्य कर्म है । विश्वमय्यादि से सर्वथा पृथक् रहने वाला, स्व-स्वरूप से सर्वथा निरञ्जन वह तत्त्व अपने ही प्रत्यंश से कैसे साञ्जन विश्व बन गया ?, इस आश्चर्यमूलक प्रश्न का उत्तर एकमात्र इसी मायास्वरूपविज्ञान पर अवलम्बित हैं । सम्पूर्ण संसार माया की क्रीड़ा (खेल) मात्र है । हाँ, एक बात पर विशेष ध्यान रखिए । माय नामरूपकर्ममयी बन कर ही विश्व में व्याप्त होती है । रसबलात्मक सत्यब्रह्म की अंशभूता बलात्मिका नामरूपमयी माया भी अवश्य ही सत्य है । ऐसी अवस्था में नामरूपात्मक सत्यविश्व को मिथ्या कहना—

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्” (गीता० १६।८)

भगवान् के उक्त शब्दों में गुप्तरूप से अनीश्वरवाद का प्रचार करना है । जबकि—“नामरूपे सत्यम्” (शत० ब्रा० १४। ४। ४। ३) इत्यादि श्रुतिर्था स्पष्ट ही मायिक विश्व को सत्य बतला रही हैं, तो ऐसी दशा में इसे असत्य मानना प्रौढिवादमात्र है । यह बात सच है कि, मायिक विश्व का यथार्थ ज्ञान हमें नहीं होता । अनन्तब्रह्म की तरह उससे नित्यसम्बद्धा वह महामाया भी अनन्तरूपा ही है । जो आद्या उस अनन्तब्रह्म की अनन्तता हटा कर उसे विश्वप्राज्ञण में लाकर उसे लीलामय बना डालती है— (लोकवत्त्वलीलाकवलयम्—आ० सू), उसके यथार्थस्वरूप को वह क्षुद्रजीव जान जाय, यह असम्भव है । माता के प्रभव-प्रतिष्ठालय का स्वरूप पुत्र जान सकता है क्या ? असम्भव । माना कि वह बल-

रूपा है, बलप्रधाना है, परन्तु बल असत् है। सद्द्विष्व में हम उसीका प्राधान्य देख रहे हैं, दूसरे शब्दों में विश्व का सद्भाव उसी पर निर्भर है। ऐसी अवस्था में उसे असत् बयोंकर माना जा सकता है। साथ ही में बल के विद्यमान असत् स्वरूप को भी तो तिरोहित नहीं किया जा सकता। फलतः उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता। सत्-असत् का पारस्परिक विरोध उसे 'सदसती' न कहने के लिए भी बाध्य कर रहा है। ऐसी स्थिति में—

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः ।

काचिद्विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते ॥” यह अभियुक्तोक्ति माया के

यथार्थ स्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में हमारी सब इन्द्रियों का द्वार बन्द कर देती है। बात सच है। वह माया ही क्या हुई, जिसका स्वरूप माया के क्रोड में पले हुए हम जान जाँय। हम उसके यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ हैं, एतावता ही क्या उसे मिथ्या कहने का अक्षम्य अपराध करना उचित है? कदापि नहीं। अस्तु मायिक जगत् मिथ्या है, अथवा सत्य?, इन सब प्रश्नों का विशद विवेचन ईशोपनिषद्-भाष्य में हो चुका है। अतः प्रकृत में माया के सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि, माया एक ऐसा बल है, जो रसबलात्मक असीम ब्रह्म को (आंशिकरूप से) ससीम बना डालता है। परात्पर ब्रह्म असीम था, व्यापक था, अतएव हृदयशून्य था, अतएव मनः शून्य था, अतएव च कामना रहित था। कामनाएँ मन से प्रादुर्भूत होती हैं, यह निश्चित सिद्धान्त है। “हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु” इस यजुःश्रुति के अनुसार मन का आधार हृदय है। इधर व्यापक में हृदयभाव (केन्द्र) का सर्वथा अभाव है। अतएव मन का, अतएवच कामना का अभाव सिद्ध हो जाता है। अपिच, अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना हुआ करती है। उधर व्यापक परात्पर में कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है। सब कुछ उसके उदर में प्रतिष्ठित है, सब में वह है, सब वही है। फिर उस आत्मकाम, अतएव आप्तकाम, अतएवच निष्काम में कामना कैसी। बिना कामना के सृष्टि नहीं। अतएव इसे 'विश्वातीत' शब्द से व्यवहृत करना समन्वित हो जाता है।

ऐसे कामना रहित विश्वातीत ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में उसी पूर्वपरिचित मायाबल का उदय होता है। जितने प्रदेश में मायाबल उदित होता है, तदवच्छिन्न रसबलात्मक परात्पर-ब्रह्म परिच्छिन्न होता हुआ हृदयबल से युक्त हो जाता है। हृदय बलाव-पञ्चकल मायोपाधिक ब्रह्म चिच्छिन्न मायिक रसबलात्मक इसी तत्त्व को वैज्ञानिक महर्षिपयों ने 'श्वोव-सीयसब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। अभी (विकार सृष्टि की उत्पत्ति से पहले) मनोमय इस मायिक ब्रह्म में अन्य किसी आवरण का अभाव है, अतएव उपनिषदों ने इसे “भारूप” माना है। उस परमाकाश में भारूप-मनोमय-आकाशात्मा-पुरुष व्याप्त है। अब तक वह पुर- (बेरा सीमा-अवच्छेद)-मर्यादा से बहिर्भूत था, परन्तु आज वह मायापुर से वेष्टित हो गया है, अतएव वह 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। परस्पर में सर्वथा विभिन्न स्त्री-पुरुष-नपुंसक-भेदविभिन्न विश्वा-न्तर्गत यच्चयावत् पदार्थों में वह समानरूप से व्याप्त रहता है, कोई प्रदेश उससे विरहित नहीं है। विवि-

वभावों में परिवर्तित होने वाले पदार्थों में वह एक रूप से व्याप्त रहता है, अतएव उक्त मनोमय पुरुष को ऋषियों ने 'अव्यय' नाम से व्यवहृत किया है, जैसा कि गोपथश्रुति कहती है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ (गो० ब्रा० पू० १ । २६)

रसबलात्मक मनोमय इस अव्यय पुरुष से सर्वप्रथम 'एकोऽहंबहुस्याम्' इस कामना का उदय होता है। कामना मन का पहला रेत है। इसको हमने असंग एवं बल को संसंग कहा है। रस हटना चाहता है, बल मिलना चाहता है। संसर्ग सृष्टि है, विसर्ग मुक्ति है, अवसान काद्योतक है। इसीलिए तो शब्दब्रह्म मय्यादि में भी रामः—हरिः इत्यादि रूप से शब्दात्मक विसर्ग (:) पद-वाक्यादि के अवसान का स्वरूप समर्पक बन रहा है। रसबल के सम्बन्ध से मन में दोनों वृत्तियाँ हैं—'उभयात्मकं मनः।' अतएव उभयात्मक मन से निकलने वाली कामना भी दो ही भागों में विभक्त हो जाती है। बलगर्भिता रसानुग्राहिणी कामना बन्धनविमोक का कारण बनती हुई "मुमुक्षा" (मुक्ति की इच्छा) नाम से व्यवहृत होती है एवं रसगर्भिता बलानुग्राहिणी कामना सृष्टिवन्धन का कारण बनती हुई—"सिसृक्षा" (सृष्टि की इच्छा) नाम धारण कर लेती है। इस प्रकार उस पुरुष में "बनाऊँ—बिगाड़ूँ" प्रधानरूप से इन दो कामनाओं का ही समावेश, रहता है। सम्पूर्ण विश्व के प्राणी भी उक्त दोनों कामनाओं से अतिरिक्त तीसरी कामना नहीं कर सकते। क्योंकि जिसके ये अंश हैं, उस अंश में ही तीसरी कामना का सर्वथा अभाव है। मन ने इच्छा की, परन्तु रसबल के अतिरिक्त और वहाँ है क्या। फलतः कामुक पुरुष इच्छा द्वारा इन्हीं का अपने ऊपर चयन करने लगता है। रसानुग्राहिणी कामना से इस पर 'रसचित्ति' होती है, बलानुग्राहिणी कामना से 'बलचित्ति' होती है। रसचित्ति में बल गौण है, बलचित्ति में रस गौण है। रसचित्ति में उत्तरोत्तर रस की वृद्धि है। एक स्थिति ऐसी है, जिसमें बल सर्वथा तिरोहित हो रहा है, वहाँ रसमात्र की प्रतीति है। इसी प्रकार बलचित्ति में उत्तरोत्तर बल की वृद्धि है। स्थिति विशेष में रस सर्वथा तिरोहित है, वहाँ बलमात्र की प्रतीति है। इस प्रकार रसबल की चित्ति के तारतम्य से १—बल-गर्भितारसचित्ति, २—बलतिरोभावलक्षणारसचित्ति, ३—रसगर्भिताबलचित्ति, ४—रसतिरोभावलक्षणाबल-चित्ति, भेद से उस कामना केन्द्रस्थ मन पर चार चित्तियाँ हो जाती हैं। मन के रस भाग पर दोनों रस-चित्तियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं, इन पर मुमुक्षा बल का अनुग्रह रहता है। मन के बलभाग पर दोनों बल-चित्तियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं, इन पर सिसृक्षा बल का अनुग्रह रहता है। पहली रसचित्ति 'विज्ञान' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान में बल भी है, परन्तु रस की प्रधानता है। दूसरी रसचित्ति 'आनन्द' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें बल एकान्ततः सुप्त है। संसार में इन दोनों चित्तियों की अप्रधानता है, विश्व में ये दोनों अन्तर्मुख रहती हैं, अतएव इन दोनों चित्तियों की समष्टि को 'अन्तश्चित्ति' कहा जाता है। तीसरी बलचित्ति "प्राण" नाम से प्रसिद्ध है। यही पहली बलचित्ति है। प्राण में बल के साथ रस भी है, अतएव यहाँ क्रियाभाव का उदय रहता है। चौथी बलचित्ति 'वाक्' नाम से प्रसिद्ध है। यही दूसरी बलचित्ति है। यहाँ रस सर्वथा सुप्त है, अतएव वाक्त्व अर्थशक्ति का अधिष्ठाता बनता हुआ जड़कोटि में मान लिया जाता है। विश्वरचना में इन्हीं दोनों बलचित्तियों की प्रधानता है। दोनों बहिर्मुख हैं। अतएव इन

दोनों की समष्टि को 'बहिश्चिति' कहा जाता है। आनन्दविज्ञानमयी अन्तश्चिति मनोमय अव्यय का विद्या-भाग है, इसीसे आगे जाकर पराविद्यालक्षण अक्षर तत्त्व का विकास होता है। इस विद्याभाग में रस की ही प्रधानता रहती है। प्राणवाङ्मयी बहिश्चिति अव्यय का कर्मभाग है, किंवा अविद्याभाग है। इसीसे आगे जाकर अपराविद्यालक्षण अक्षरतत्त्व का विकास होता है। इस कर्मभाग में बल की ही प्रधानता है। विद्याभाग अमृतप्रधान (रसप्रधान) होता हुआ सत् है, कर्मभाग मृत्युप्रधान होता हुआ असत् है। अमृतमृत्युलक्षण सदसत् की समष्टिरूप विद्याकर्म—समुच्चय ही अव्ययपुरुष का वास्तविक स्वरूप है—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' (गी० ६। १६)। मध्यस्थित स्वयं मन काममय है। इस प्रकार रस बलके तारतम्य से वह प्रविष्टब्रह्म 'विद्यात्मा-कामात्मा-कर्मत्मा' इन तीन कलाओं में परिणत होता हुआ १-आनन्द २-विज्ञान, ३-मन ४-प्राण, ५-वाक् भेद से पञ्चकल बनजाता है। चिति सम्बन्ध से ही यह पञ्चकल अव्यय पुरुष शारीरकदर्शनादि में 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मध्यस्थित उभयात्मक मन समुक्षावल की प्रधानता से विज्ञान की ओर जाता हुआ आनन्दप्राप्ति का कारण बन कर मुक्ति का अधिष्ठाता बन जाता है एवं समुक्षावल की प्रधानता से प्राण की ओर जाता हुआ वाक् प्राप्ति का कारण बनकर सृष्टिवन्धन का हेतु बन जाता है। मन ही बन्धन का कारण है, मन ही मुक्ति का कारण है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप !

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

अव्यय पुरुष की उक्त पाँचों कलाएँ उपनिषदों में 'कोशब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हैं—(देखिए तै० उप० ब्रा० २) मोद-प्रमोद-हर्ष-उल्लास-स्मितभाव-आदि संसार के सम्पूर्ण आनन्द अव्यय के 'आनन्दमयकोश' में प्रतिष्ठित है। मति-धिषणा-प्रज्ञा-धी-आदि जितने भी विज्ञान हैं, सबकी प्रतिष्ठा 'विज्ञानमयकोश' है। प्रज्ञानमन-इन्द्रियमन-सत्त्वमन-चित्त-आदि जितने मन हैं, सब की प्रतिष्ठा 'मनोमयकोश' है। परोरजा-असत्-बालखिल्या-अवकाश-स्पृत्-एर्कषि-द्वर्षि-सप्तर्षि-साकञ्ज-आदि भेद भिन्न सब प्राणों की मूलप्रतिष्ठा 'प्राणमयकोश' है। यच्चयावत् अर्चों की प्रतिष्ठा 'वाङ्मयकोश' है। उपनिषत् ने इस पाँचवें कोश को ही 'अन्नमयकोश' कहा है। इन पाँचों कोशों में, किंवा विज्ञानभाषानुसार पाँचों चितियों में अव्ययात्मा एक रूप से व्याप्त रहता है, जैसा कि—“तस्यैव एव शारीरात्मा यः पूर्वस्य” (तै० उप० ब्रा० २) इत्यादिरूप से उपनिषत् में ही स्पष्ट कर दिया गया है। यह है अमृतसंस्था के मूलस्तम्भरूप पञ्चकल अव्यय पुरुष का संक्षिप्त निदर्शन।

अव्यय पुरुष है। “प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वचनादी उभावपि” (गी० १३। १६) इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार पुरुष अपनी स्वभावभूता प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भेद से प्रकृतितत्त्व दो भागों में विभक्त है। इन दोनों में से अन्तरङ्ग प्रकृति के दशकला-प्रकृतिब्रह्म साथ ही पुरुष का नित्यसाहचर्य उक्त वचन से बतलाया गया है। यही अन्तरङ्गप्रकृति अव्ययपुरुष का “स्व”—भाव है। बहिरङ्गप्रकृति बदली जा सकती

है, स्वयं भी बदल जाती है, परन्तु स्वभावभूता अन्तरङ्गप्रकृति का विपर्यय कथमपि सम्भव नहीं है। इसी प्रकृतिविज्ञान को लक्ष्य में रख भगवान् कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ (गी० ३। ३३)

पूर्वोक्त सोलह बलकोशों में एक ‘हृदय’ नाम के बलकोश का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही में यह भी कहा गया है कि, मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मायावच्छिन्न, अतएव परिच्छिन्न उस रसबलमूर्ति ब्रह्म में हृदय (केन्द्र) भाव का उदय हो जाता है। इस प्रकार केन्द्रबल तथा मायापुर सम्बन्ध से पुरुष नाम से प्रसिद्ध अव्यय ब्रह्म, दोनों का विकास एक ही काल में होता है। दोनों के पूर्वा-परभाव की चर्चा ही अर्वाज्ञानिक है। इसी सहोदित केन्द्रबल को, किंवा हृच्छक्ति को महर्षियों ने ‘‘प्रकृति’’ नाम से व्यवहृत किया है। जिस प्रकार अव्ययपुरुष में रसबल के तारतम्य से आगे जाकर पाँच कलाओं का उदय हो जाता है, एवमेव रसबल के ही तारतम्य से इस हृदयरूपा प्रकृति के भी पाँच विवर्त हो जाते हैं। हृदयबल बल है, किरारूप है, गतिस्वरूप है। इस गति की ही ‘स्थिति-आगति-गति-स्थिति-गर्भितागति-स्थितिगर्भिता-आगति’ ये पाँच अवस्थाएँ हो जाती हैं। उक्थरूप से हृच्छक्ति स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहती है। अर्करूप से हृच्छक्ति के दो विकास होते हैं। एक शक्ति निरन्तर इस प्रतिष्ठा को उच्छिन्न करने में प्रयत्नशील बनी रहती है, एक शक्ति निरन्तर प्रतिष्ठित रखने का प्रयास करती रहती है। आगे जाकर इन दोनों स्वतन्त्र विकासों का उसी मूलप्रतिष्ठा के साथ अन्धबन्धन हो जाता है। एक शक्ति प्रतिष्ठा से बद्ध होकर निरन्तर बाहर निकला करती है एवं एक शक्ति प्रतिष्ठायुक्त बनी हुई निरन्तर भीतर की ओर आया करती है। ये ही पाँचों शक्तिविभाग ‘गतिसमुच्चय- (स्थिति), विशुद्धआगति, विशुद्धगति, स्थितिगर्भिता-आगति, स्थितिगर्भितागति इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं। जिसे आप स्थिति कहते हैं, वह गतिसमुच्चयमात्र है। सर्वतोदिगति, किंवा समान-बलानुयायिनी विरुद्धदिग्द्वयगति ही स्थितिरूप में परिणत होती है। इसी स्थितितत्त्व को, किंवा प्रतिष्ठा-तत्त्व को ‘‘ब्रह्मा’’ कहा जाता है। आगतितत्त्व ‘‘विष्णु’’ है, गतितत्त्व ‘‘इन्द्र’’ है, स्थितिगर्भिता ‘‘सोम’’ है एवं स्थितिगर्भिता गति ‘‘अग्नि’’ है। इस प्रकार गतितारतम्य से गतिरूप हृदयभावमयी एक ही प्रकृति पाँच रूप धारण कर लेती है। ‘‘प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाभ्यामायया’’ (गी० ४। ६) के अनुसार पञ्चधा विभक्त स्वभावभूता इसी प्रकृति के द्वारा सर्वथा आज अव्यय को विश्वका आलम्बन बनना पड़ रहा है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि, सर्वत्र अमृत-मृत्यु लक्षणा रस-बल का ही साम्राज्य है। दो से भिन्न तीसरे तत्त्व का सर्वथा अभाव है। साथ ही में दोनों सर्वत्र अभिन्न रूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। फलतः उक्त प्रकृति में भी इन्हीं दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रकृति में अमृत भी है, मृत्यु भी है। अमृत मृत्यु की प्रधानता-अप्रधानता के कारण इस एक ही प्रकृति के दो रूप हो जाते हैं। बलगर्भिता रसप्रधाना प्रकृति ‘‘अमृत’’ है। रसगर्भिता बलप्रधाना प्रकृति ‘‘मृत्यु’’ है। अमृतभाग अविर्कुर्वाण है, मृत्युभाग विकु-

वर्ण है। प्रकृति का अमृतभाग, प्रकृति का मर्त्यभाग, दोनों अविनाभूत हैं। अतएव दोनों में ही ब्रह्मादि उक्त पाँचों कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अमृता प्रकृति किंवा प्रकृति का अमृतभाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों अमृत-कलाओं से विश्व का निर्माण करता है एवं मर्त्या प्रकृति, किंवा उस एक ही प्रकृति का मृत्यु भाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों मर्त्य-कलाओं से विश्वरूप में परिणत होता है। प्रकृति का उक्त पञ्चकल अमृत-भाग ही अविकुर्वाण होने से अक्षर (क्षीण न होने वाला) नाम से एवं पञ्चकल मृत्युभाग ही विकुर्वाण होने से “क्षर” (क्षीण होने वाला) नाम से प्रसिद्ध।

उक्त कथनानुसार अक्षर अमृत है, क्षर मर्त्य है। वस्तुतस्तु क्षर को भी मर्त्य मानना एक दृष्टि से असङ्गत ही है। थोड़ी देर के लिए अक्षर की दृष्टि से क्षर को भले ही मर्त्य मान लिया जाय, परन्तु विकारक्षररूप वैकारिक विश्व की अपेक्षा से तो अन्तरङ्गप्रकृतिभूत यह क्षर भी एक प्रकार से “अक्षर” ही है। विश्व में जितने भी उपादान कारण हैं, वे कार्यरूप में परिणत होकर अपने कारण स्वरूप को खो बैठते हैं। लौह जंग का कारण है, दुग्ध क्षर (धर-मलाई) का कारण है, शुक्रशोणित की समष्टि प्रजोत्पत्ति का कारण है। किसी समय सारा लौह जंग वन जाता है, सारा दुग्ध क्षर रूप में परिणत हो जाता है, प्रजोत्पत्ति के अनन्तर तत्कारणभूत शुक्रशोणित सदा के लिए स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाते हैं। अब आप प्रयास करने पर भी लौह-दुग्ध शुक्रशोणित को कारणस्वरूप में प्राप्त नहीं कर सकते। उक्त क्षर उपादान कारण अवश्य है, परन्तु इसकी उपादान कारणाता ऐसी नहीं है। क्षर से अनन्त विकार उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु वह उसी स्वरूप से अधुष्ण बना रहता है। इसी को दर्शन भाषा में ‘अविकृतपरिणामवाद’ कहा गया है। क्षर की इसी अविकृत उपादानता को लक्ष्य में रख कर ही श्रुति कहती है—

एष नित्यो महिमा ॐ ब्रह्माणो न कर्मणा वर्द्धते नो कंतीयान् ।

तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन ॥

—शत० १४।७।२।२८

जिस प्रकार अव्यय, अक्षर, नित्य हैं, विश्व विकारों से जैसे ये दोनों असंस्पृष्ट रहते हैं, एवमेव यह क्षर (आत्मक्षर) विकार उत्पन्न करता हुआ भी विकारों से असंस्पृष्ट रहता हुआ आत्मकोटि में प्रविष्ट होता हुआ अव्ययाक्षरकोटि में आजाता है। अतएव वैज्ञानिकों ने अन्तरङ्ग प्रकृतिभूत क्षर को ‘आत्मक्षर’ नाम से व्यवहृत किया है। अक्षर एवं आत्मक्षर पूर्वकथनानुसार अव्ययपुरुष से अविनाभूत है।

* विज्ञान परिभाषा के अनुसार जैसे अव्यय ‘पर’ नाम से, अक्षर ‘अमृत’ नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव कुछ एक विशेष स्थलों को छोड़कर सर्वत्र ‘ब्रह्म’ शब्द क्षर का ही वाचक है। क्षर का विकास अक्षर से हुआ है, क्षर ब्रह्म है, अतएव “ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्” (गीता ३।१५) यह कहा गया है। अपिच, इसीलिए “ब्रह्माणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च” (गीता १४।२७) यहाँ पर अक्षर के लिए अमृत शब्द, क्षर के लिए ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्त श्रुति का “ब्रह्म” शब्द भी इसी क्षर का वाचक है।

दूसरे शब्दों में अव्ययपुरुष का पुरुषपना इन्हीं दोनों पर निर्भर है। कारण स्पष्ट है। हृदय ही प्रकृति का वास्तविक स्वरूप है एवं हृत्प्रतिष्ठ काममय मन ही आनन्दादि चित्तियों का कारण बनता हुआ इस चिदात्मा का स्वरूप समर्पक बनता है। अतएव प्रकृति को पुरुष मय्यादि से बहिर्भूत होने पर भी पुरुष-स्वरूप-समर्पकता के कारण—“द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च” (गीता १५। १६) इत्यादि रूप से पुरुष मान लिया जाता है। अक्षरतत्त्व अव्यय की पराप्रकृति है, क्षरतत्त्व अपराप्रकृति है। समष्टि अन्तरङ्गप्रकृति है, स्वभाव है।

आनन्द-विज्ञानादि अव्यय की जिन पाँच कलाओं का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें आनन्द-विज्ञान-मन को मुक्तिसाक्षी कहा गया है एवं मनः प्राणवाक् समष्टि को सृष्टिसाक्षी बतलाया गया है। अभी हमें सृष्टिधारा का विचार करना है। आनन्द-विज्ञानादि सृष्टि में गौण है। सृष्टिप्रक्रिया में सर्वत्र सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाङ्मय अव्यय की ही प्रधानता है। इसी दृष्टि को प्रधान मान कर विचार कीजिए। अव्यय मनोमय (मनोधन-मनरूप) है, प्राणमय है, वाङ्मय है। ‘सामान्ये सामान्याभावः’ इस सिद्धान्त के अनुसार मन में मन नहीं, प्राण में प्राण नहीं, वाक् में वाक् नहीं। अतएव अव्यय अमना है, अप्राण है, अतएव सृष्टि से बहिर्भूत है। मनस्वी-प्राणवान्-वाग्मी तत्त्व ही सृष्टि कर सकता है। ऐसा है पूर्वोक्त अक्षर। अक्षरतत्त्व अव्यय के मन से सर्वज्ञ है, प्राण से सर्वशक्तिमान् है, वाक् में सर्ववित् है। एतल्लक्षण अक्षर ही विश्वकर्ता (विश्व का निमित्त कारण) माना गया है। यही अक्षर ‘अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः’ इत्यादि रूप से अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर के इसी सृष्टिकर्तृत्व का निरूपण करती हुई श्रुति-स्मृति कहती है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते स्रूपाः ।

तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ १ ॥

(मुण्डकोपनिषत् २-१-१)

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥ २ ॥

(मुण्डकोपनिषत् १-१-६)

अव्यक्तादीनि भूतानि—व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव—तत्र का परिदेवना ॥ ३ ॥

(गीता २-२८)

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ३ ॥

(गीता ८-१८)

मनोऽवच्छेदेन अव्यय ज्ञानशक्तिघन है, प्राणावच्छेदेन क्रियाशक्तिघन है, वागवच्छेदेन अर्थशक्ति-घन है। इन तीनों का ही यद्यपि अक्षर के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु और भी सूक्ष्म विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि, ज्ञानशक्तिमूर्ति मन की पूर्ण विकास भूमि अव्यय ही है। क्रिया-शक्तिमूर्ति, अतएव गतिरूप प्राण की पूर्णविकास भूमि अक्षर ही है, एवं अर्थशक्तिमूर्ति वाक्तत्त्व की पूर्णविकास भूमि क्षर ही है। दूसरे शब्दों में अव्यय ज्ञानप्रधान है, अक्षर क्रियाप्रधान है एवं क्षर अर्थ-प्रधान है। ज्ञानमूर्ति अव्यय भी निष्क्रिय है, अर्थमूर्तिक्षर भी जड़धर्म के कारण निष्क्रिय ही है। सक्रिय है एकमात्र मध्यस्थित प्राणमूर्ति अक्षर मृष्टिव्यापार संपेक्ष है, व्यापार क्रिया है। क्रिया एकमात्र सक्रिय अक्षर का ही धर्म है। अतः तीनों पुरुषों में से अव्यक्तमूर्ति अक्षर पुरुष का ही सृष्टिकर्त्तृत्व सिद्ध होता है। मध्यस्थित अक्षर उस ओर से अव्यय की ज्ञानविभूति को लेकर सर्वज्ञ बना हुआ है, इस ओर से क्षर की अर्थविभूति को लेकर सर्ववित् बना हुआ है। स्वप्राणशक्ति से तपोमूर्ति बना हुआ है। इतर दोनों पुरुषविभूतियों का इसमें समन्वय हो रहा है। अतएव ॐ देहलीदीपकन्याय से मध्यस्थ अक्षरज्ञान से त्रिपुरुषज्ञान गतार्थ हो जाता है। अक्षर की इसी सर्वता को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

एतद्वचोवाक्षरं ब्रह्म एतद्वचोवाक्षरं परम् ।

एतद्वचोवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १ ॥

(कठोपनिषत् १-२-१६)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ २ ॥

(मुण्डकोपनिषत् २-२-८)

“ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध क्षर भी यही अक्षर है, पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय भी यही अक्षर है। ब्रह्म-पर (क्षराव्यय) की विभूति से युक्त परावर नाम से प्रसिद्ध ऐसे अक्षर ज्ञान से सब कुछ विज्ञात हो जाता है—“एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।” जिस प्रकार अव्यय अक्षर से परे होने के कारण ‘पर’ नाम से, क्षरपुरुष अक्षर से इस ओर (अवरकक्षा में) प्रतिष्ठित रहने के कारण ‘अवर’ नाम से प्रसिद्ध है। एवमेव अवरक्षर की अपेक्षा से पर एवं परअव्यय की अपेक्षा से अवर होने के कारण मध्य-स्थित यह अक्षर “परावर” नाम से प्रसिद्ध है। इस परावरमूर्ति अतएव त्रिमूर्ति अतएवच सर्वमूर्ति अक्षर के यथार्थ परिज्ञान से हृदग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, सम्पूर्ण कर्मबन्धन विलीन हो जाते हैं” उक्त दोनों श्रुतिवचनों का यही तात्पर्य है।

ॐ द्वार की देहली में यदि दीपक रख दिया जाता है, तो द्वार के भीतर भी प्रकाश रहता है, द्वार के बाहर भी प्रकाश रहता है। इसीको ‘देहलीदीपकन्याय’ कहा जाता है।

पञ्चकल अव्ययपुरुष सृष्टि का, किंवा सृष्टब्रह्म (विश्व) का आलम्बन (अधिष्ठान-आवपन) कारण है, पञ्चकल अक्षर निमित्तकारण है एवं पञ्चकल आत्मक्षर उपादानकारण है। दूसरे शब्दों में आनन्दविज्ञानमनोमय मुक्तिसाक्षी विद्यात्मक अव्यय स्थिर धरातल है, सृष्टि के लिए मूलप्रतिष्ठा है। मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी कामात्मगर्भित कर्मात्मक अव्यय गतिस्थितिम् कुलालचक्र (कुम्हार का घूमता हुआ चक्र) है। अक्षर कुम्भकार है, क्षर मिट्टी है। इस प्रकार 'मुक्तिसाक्षीरूप स्थिर धरातल पर, सृष्टिसाक्षीरूप चलाचलचक्र पर, अक्षर रूप कुम्भकार, क्षररूप मिट्टी से विश्वरूप घटादि पात्रों का निर्माण किया करता है। मानों त्रिभुवन विधाता प्रजापति घटनिर्माता कुम्भकार के साथ प्रतिस्पर्द्धा कर रहा है।

इस प्रकार उस महामाया के गर्भ में रस-बल के तारतम्य से वह मायीमहेश्वर 'पुरुष-प्रकृति' इन दो विवर्तों में परिणत होता हुआ 'अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर' भेद से त्रिमूर्ति बन कर स्व-स्व कला-भेद से पञ्चदशकल (१५) बन रहा है। इन पन्द्रहों के साथ उस मायातीत षोडशकल अमृतब्रह्म अखण्ड परात्पर कला का भी समन्वय स्वतः सिद्ध मानना पड़ता है। इस परात्पर के सम्बन्ध से ही पञ्चदशकल पुरुष 'षोडशकल' बन जाता है। इन्हीं सोलह कलाओं के सम्बन्ध से इसे 'षोडशीपुरुष' किंवा 'षोडशीप्रजापति' कहा गया है। इन सोलह कलाओं को १-परात्पर—२ अव्यय—३ अक्षर—४ आत्मक्षर, इन चार स्थूल विभागों में विभक्त किया जा सकता है। इसी आत्मचतुष्टयी के आधार पर "षोडशकलं वा इदं सर्वम्" (कौषीतिक ब्रा० ८-१), चतुष्टयं वा इदं सर्वम्" (कौषीतिक ब्रा० २-१), षोडशकलं वै ब्रह्म" (जै० उ० ३-३८-८)—षोडशकलः प्रजापतिः" (शत० ७-७-२-२७) इत्यादि अनुगम-निगम वचन प्रतिष्ठित हैं।

संसार में सब से बड़ा मृत्युबन्धन है। बन्धन ही मृत्यु देवता का प्रधान पाश है। भक्तों के हृदय को दुखाते हुए हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि, सम्पूर्ण विश्व प्रजा को मृत्युपाश में बद्ध रखने वाला स्वयं मायीमहेश्वर किंवा विश्वेश्वर भी मृत्युपाश से पृथक् नहीं है। प्राणब्रह्म के चार पाद महामाया का महाबन्धन ही उस का महतो महीयान् मृत्युपाश है। इसी मायामय मृत्युपाश से उस अखण्ड-अमात्र को 'अव्यय-अक्षर-क्षर' इन तीन मृत्युमात्राओं में परिणत होना पड़ रहा है। एक आत्मा का यह त्रित्व भाव ही इसके लिए पर्याप्त प्रमाण है कि, सृष्टिकाल में वह अवश्य ही मृत्युभाव से आक्रान्त है। जब तक वह महामाया शबलित है, तब तक वह अवश्य ही उक्त तीन मृत्युमात्राओं से युक्त रहता है। मायाबल के तिरोहित होने पर ही वह पुनः अपने उस अखण्ड परात्पररूप में आता है। इन्हीं दोनों अवस्थाओं के लिए—'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रयं सदेकमयमात्मा' (शत० १४-४-४-३-) यह कहा गया है। जिस अमात्र-अखण्ड तत्त्व की ये (अव्यय-अक्षर-क्षर) तीन मृत्युमती मात्राएँ हैं, वही चौथा परात्पर है। अर्द्धप्रदेश में ये तीन मर्त्यमात्राएँ हैं, अर्द्ध में वह एक है अतएव उसे (परात्परको) अर्द्धमात्रा कहा जाता है। यह अर्द्धमात्रिक तत्त्व माया विरहित (किन्तु त्रिपुरुषदृष्ट्या मायासाक्षी) होने से व्यापक होता हुआ सर्वथा नित्य है, अनुच्चार्य है। अर्द्धमात्रिक का यह अर्थ नहीं है कि, उसकी आधी

मात्रा है। जितने घरातल पर तीन मनुष्य प्रतिष्ठित रहते हैं, उतने घरातल पर एक प्रतिष्ठित है, अर्द्धमात्रिक का यही तात्पर्य है। जितने प्रदेश में तीन पुरुष प्रतिष्ठित हैं, उस सारे प्रदेश में वह व्याप्त हो रहा है। अर्द्धमात्रिक ही प्रकृत में अर्द्धमात्रिक शब्द से व्यवहृत हुआ है। यहाँ सारा प्रपञ्च उपशान्त है। यही वस्तुतत्त्व है। इसी त्रिमात्रविज्ञान को लक्ष्य में रखकर महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः ।

क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ १
(प्रश्नोपनिषत् ५-६)

इसी अर्द्धमात्रिक, व्यवहार के लिए अर्द्धमात्रिक, विश्वातीत कला का स्पष्टीकरण करता हुआ रहस्यशास्त्र कहता है—

अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।

त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥ (सप्तशती)

उक्त चतुष्कल आत्मब्रह्म की उपासना का मुख्य आधार है—‘प्रणव’। मायीमहेश्वर का वाचक प्रणव ‘ओङ्कार’ ही है। शब्दब्रह्मप्रपञ्च में जो स्वरूप ओङ्कारका है, परब्रह्म विवर्त में वही स्वरूप “मायी-महेश्वर” का है। इसी अभिप्राय से ‘ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्’ (मुण्डकोपनिषत् २-२-६) यह कहा गया है। ओङ्कार में ‘१ अर्द्धमात्रा-२ अकार-३ उकार-४ मकार’ ये चार विभाग हैं। कितने ही अवैज्ञानिकों ने अर्द्धमात्रा से ओङ्कार के ऊपर लगने वाले—इस चिह्न का ग्रहण किया है। विज्ञान न जानने के कारण उनका यह अपराध क्षम्य है अर्द्धमात्रा को अनुच्चार्य बतलाया है, उधर—इस चिह्न का उच्चारण से सम्बन्ध है। फलतः अर्द्धमात्रा किसी अनिवर्चनीय व्यापक ब्रह्म की निरूपिका बन जाती है। यह अर्द्धमात्रा विशुद्ध अमृतभाग है। ‘अकार-उकार-मकार,’ ये तीनों शब्दसृष्टि के आदि-मध्य-अवसान स्थान हैं। अस्पृष्ट-स्पृष्टास्पृष्ट-स्पृष्ट-इन तीनों भावों का क्रमशः अकार-उकार-मकार से सम्बन्ध है। अकार मूलस्थानीय है, उकार मध्यस्थानीय है, मकार अन्तस्थानीय है। अकारोच्चारण में कण्ठ-तात्वादि का किञ्चित् भी संसर्ग नहीं है। यह सर्वथा अस्पृष्ट रहता हुआ ही उच्चारण का विषय बनता है। वस जो स्थान शब्दब्रह्म में ‘अकार’ का है, परब्रह्म संस्था में वही स्थान ‘अव्यय’ का है। अव्यय विश्व में प्रतिष्ठित रहता हुआ भी असंग है, असंस्पृष्ट है। इसी समानधर्म के कारण अकार को अव्यय का वाचक माना गया है। आप अकार को ओष्ठ (होठ) से उच्चारण कीजिए, परन्तु होंठों को बिलकुल न मिलाइये, केवल उनको सिकोड़ लीजिए, वही अकार उकार रूप में परिणत हो जायगा। अकार का विकास कम हो जाना ही उकार की स्वरूप निष्पत्ति है। सर्वथा विकास, सर्वथा संसर्ग न होने से उकार स्पृष्टास्पृष्ट है। यही स्थिति आपको अक्षर में मिलेगी। ज्ञानमूर्ति अव्यय सर्वथा विकासरूप है। उसका क्रियाभाव ही अक्षर है। क्रिया में सर्वथा जड़ता भी नहीं है एवं ज्ञानवत् पूर्णविकास भी नहीं है। जो स्थिति शब्दब्रह्म में उकार की है, परब्रह्म संस्था में वही स्थिति मध्यस्थ अक्षर की है। अतएव उकार

को अक्षरपुरुष का वाचक माना गया है दोनों होठों को मिलाकर जिस समय आप उकारोच्चारण करने का प्रयास करेंगे, उस समय वह उकार ही मकार रूप में परिणत हो जायगा। यहाँ स्पर्श की पराकाष्ठा है। यद्यपि प-फ-ब-भ-ये भी ओष्ठ से ही सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु मकार में पूर्ण स्पर्श की प्रतीति होती है। इधर क्रियामूर्ति अक्षर ही अर्थरूप में आकर सर्वथा स्पृष्ट बनता हुआ क्षररूप में परिणत हो जाता है। “ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्” शब्दमृष्टि में जो स्थिति मकार की है, परब्रह्म संस्था में वही स्थिति अर्थमूर्ति, अतएव सर्वथा स्पृष्ट क्षर की है। अतएव मकार को क्षर का वाचक माना गया है।

‘वाग्ब्रह्म’ के परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी ये चार विवर्त माने गए हैं। इन चारों में परा का सम्बन्ध अर्द्धमात्रिक परात्पर से है, पश्यन्ती का अकारसधर्मा अव्यय से, मध्यमा का उकारसधर्मा अक्षर से एवं वैखरी का मकारसधर्मा क्षर से सम्बन्ध है। इन चारों में जिस प्रकार वैखरीवाक् का सब समानरूप से व्यवहार करते हैं एवमेव आत्मा की चारों संस्थाओं में से हमें पूर्णज्ञान वैखरीवाक्स्थानीय विश्वरूप क्षर का ही है। वाक्प्रपञ्च के ‘परा-पश्यन्ती-मध्यमा’ ये तीन विवर्त जैसे गुहानिहित हैं, एवमेव आत्मप्रपञ्च के ‘परात्पर-अव्यय-अक्षर’ ये तीनों विवर्त अस्मदादि साधारण मनुष्यों के लिए गुहानिहित ही हैं। इसी वाग्विज्ञान से आत्मविज्ञान की ओर सङ्केत करती हुई श्रुति कहती है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनोषिणः ।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

(ऋक्सं० १-१६४-४५)

शब्दब्रह्म ← --- →	परब्रह्म
१—१-अर्द्धमात्रा → --- →	परावाक् → --- → परात्परः
	— — — — —
२—१-अकारः — — — →	पश्यन्तीवाक् → --- → अव्ययः
३—२-उकारः — — — →	मध्यमावाक् — — — → अक्षरः
४—३-मकारः — — — →	वैखरीवाक् → --- → आत्मक्षरः

लोकोक्तिः

द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म-परं च यत् ।

शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म के इसी तादात्म्य को लक्ष्य में रखकर निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुतियाँ हमारे सामने आती हैं ।

तस्मै स होवाच—एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति । स यद्येकमात्रामभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते । स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति । अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते । यः पुनरेतं त्रिमात्रेणैवोमित्येतनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् । स एतस्माज्जीवधनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । तदेतौ श्लोकौ भवतः—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।

क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥१॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत् कवयो वेदयन्ते ।

तमोङ्कारेणैवायतदेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥२॥

(प्रश्नोपनिषत् ५-३-६)

“ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एवं । यच्चान्यत्रिकालातीतं—तदप्योङ्कार एव । सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् । जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः । स्थूलभुक् वैश्वानरः प्रथमः पादः । स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः । यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्, सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दघनो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीय पादः । एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्गामी, एष योनिः सर्वस्य । प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।

नान्तःप्रज्ञं, न बहिःप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, अदृष्टं, अव्यवहार्यं, अग्राह्यं, अलक्षणं, अचिन्त्यं, अव्यपदेश्यं, एकास्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवं, अद्वैतं, चतुर्थं मन्यन्ते—स आत्मा विज्ञेयः । सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्राः, मात्राश्च पादा अकार-उकार-मकार इति । अकारः प्रथमा मात्रा, उकारो द्वितीया मात्रा, मकारस्तृतीया मात्रा । अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः । एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मानाऽऽत्मानं—य एवं वेद ।”—माण्डूक्योपनिषत्

शैव्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया है कि, भगवन् ! ओङ्कार के अभिव्यान से मनुष्य किस प्रकार लोकविजय करने में समर्थ हो जाता है? इसी प्रश्न का समा-अमृतात्मस्वरूपपरिचय धान करते हुए ऋषि कहते हैं—हे सत्यकाम ! यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओङ्कार ही अपरब्रह्म है । इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है । 'परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर'—इन चारों की प्राप्ति के क्रमशः 'अर्द्ध-मात्रा-अकार-उकार-मकार' ये चार साधन हैं । इनमें तीन पुरुषों का क्रमशः 'मनुष्यलोक, सोमलोक (पितृलोक), ब्रह्मलोक' इन तीनों से सम्बन्ध है । क्षरप्रधान ऋद्धमूर्ति पृथिवीलोक मनुष्यलोक है, यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्थप्रधान है । अक्षरप्रधान यजुर्मूर्ति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्ति है । अव्ययप्रधान साम—(अवसान-अन्तिम प्रतिष्ठारूप)—मूर्ति दिव्यलोक (सूर्यलोक) ब्रह्मलोक है । यह मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है । चौथा परात्पर लोक वेदातीत है । एक एक कला की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का उपासक बनता है । मकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ कर्ममठ तत्सम आत्मक्षर का साक्षात्कार करता हुआ तपो-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा से युक्त होकर भौतिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है । क्योंकि भूत की योनि मकारस्थानीय ऋद्धमय आत्मक्षर ही है । उसका भौतिक जगत् पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है । जिसका लक्ष्य मकार-उकार, इन दो मात्राओं पर रहता है, वह उपासक तत्सम अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ चान्द्रविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता है । विभूतिभोगानन्तर पुनः उसे जन्म लेना पड़ता है । जो महापुरुष समष्टि की उपासना करता है, वह ज्ञानी, किंवा ज्ञानयोगी तत्सम अव्ययपुरुष को प्राप्त करता हुआ सारे पाप्माओं से (जन्ममरणचक्र से) उसी प्रकार विमुक्त हो जाता है, जैसे कि एक पादोदर (सर्प) अपनी त्वचा (कञ्चुकी) से विनिर्मुक्त हो जाता है । इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव से यह अपनी जीवसंस्था से निकल कर उस परात्पर (ईश्वराव्ययपुरुष) संस्था का साक्षात्कार कर लेता है । परात्पर की उपासना स्वतन्त्ररूप से नहीं हो सकती, कारण वह अर्द्ध-मात्रिक होता हुआ अमात्र है । समष्टि की उपासना से ही वहाँ पर दृष्टि चली जाती है । कर्मकाण्डका मकारकला से सम्बन्ध है, उपासनाकाण्ड का उकारकला से सम्बन्ध है एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि से सम्ब-

न्ध है। ज्ञानयोग से आत्मक्षर की पाँचों कलाओं का अक्षर में लय होता है, अक्षर की पाँचों कलाओं का अव्यय में लय होता है। इन पन्द्रह कलाओं की समष्टिरूप जीवाव्यय का उस ईश्वराव्यय में लय हो जाता है। ईश्वराव्ययद्वारा इस ओङ्कार की सहायता से ही यह त्रिकालातीत बनता हुआ उस शान्त-अभय-परात्पर नाम के अखण्ड ब्रह्म में विलीन होता हुआ 'समवलय' नाम से प्रसिद्ध परामुक्ति का अधिष्ठाता बन जाता है। 'परात्परं पुरिशयं पुरुषम्' में परात्पर शब्द उस अखण्ड परात्पर का वाचक नहीं है, अपितु ईश्वराव्यय का ही वाचक है। इसीलिए 'पुरिशयं पुरुषम्' कहा है। अव्यय का 'पर' यह साधारण नाम है। जीवपर (जीवाव्यय) की अपेक्षा से ईश्वरपर (ईश्वराव्यय) परे है, अतः "परात्- (जीवाव्ययात्) परः" इस निर्वचन से ईश्वराव्ययपुरुष को परात्पर कह दिया है। इस प्रकार 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इन अन्य श्रुतियों के आधार पर यहाँ का परात्पर शब्द भी ईश्वराव्यय (ससीम-मायी महेश्वर) का ही वाचक है। पहले जीवकलाओं का जीवाव्यय में अप्यय होता है। इससे जीवविभूति समृद्ध बन जाती है। यही बतलाने के लिए श्रुतिने—“स एतस्माज्जीवघनात्” यह कहा है। आगे जाकर इसका स्वप्रभव परात्परपुरुष में अप्यय हो जाता है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई अन्य श्रुति कहती है—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३-२-७

इसी अर्थ का स्पष्टीकरण माण्डूक्य ने किया है। वहाँ लोकसम्बन्ध को प्रधान न मान कर कर्मात्मा द्वारा आत्मतत्त्व का बोध कराया गया है। क्षरपुरुष भूतकाल का, अक्षरपुरुष भवत् (वर्तमान) का, अव्ययपुरुष भविष्य का अधिष्ठाता है। इसका तात्पर्य यही है कि, क्षणिक भौतिक विश्व अपने क्षणिकभाव के कारण नास्तिभाव में परिणत होता हुआ अतीतकोटि में प्रविष्ट है। उसका कभी इदंत्वेन (वर्तमानत्वेन) भान नहीं होता। वह सदा विनष्टप्राय है। पदार्थों में जो अस्तिप्रतीति है, यह कूटस्थ अक्षर की महिमा है। यही वर्तमानकाल है। यह दोनों धाराएँ उसी तटस्थ अव्यय पर अवलम्बित हैं। विश्व इसी प्रकार बनता रहेगा एवं बिगड़ता रहेगा—इस भविष्यमयी आशा का एकमात्र आलम्बन अव्ययपुरुष ही है। अतएव इसे भविष्यत् का अध्यक्ष मानना उचित हो जाता है। इस प्रकार तीनों पुरुष त्रैकालिक हैं, चौथा परात्पर त्रिकालातीत, किंवा सर्वातीत है। चतुष्पाद ओङ्कार इन चारों का अनुग्राहक है। खण्डात्माओं की अपेक्षा से क्षर के आधार पर वैश्वानरात्मा का, अक्षराधार पर तैजसात्मा का, एवं अव्ययाधार पर प्राज्ञात्मा का विकास होता है। इन तीनों की समष्टि ही 'कर्मात्मा' है। यही 'कर्मभोक्ता-जीवात्मा-भोक्तासुपर्ण-मध्वद' आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। वैश्वानर क्षरमूर्ति है। प्राज्ञतैजसयुक्त क्षरप्रधान वैश्वानर ही जाग्रदवस्था का अधिष्ठाता है। सप्तधातु इसके सात अङ्ग हैं। प्रकारान्तर से 'चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुरुषं प्रतिष्ठा' रूप में सप्तविप्राण सम्बन्ध से भी यह सप्ताङ्ग है। ५-ज्ञानेन्द्रियाँ, ५-कर्मैन्द्रियाँ, ५-प्राण (प्राण-उदान-व्यान-अपान-समान), १-मन, १-बुद्धि, १-चित्त, १-अहंकार, नामों से प्रसिद्ध अन्तःकरण चतुष्टयी, ये १६ इसके विनिर्गम के द्वार हैं। इन्हीं के

सम्बन्ध से यह 'एकोनविंशतिमुख' है । यह आत्माका पहला पाद है । तैजस अक्षरमूर्ति है । प्राज्ञयुक्त तैजसात्मा ही स्वप्नावस्था का सञ्चालक है । यह अन्तर्मुख है, अन्तःप्राज्ञ है । प्राज्ञ अव्यय प्रधान है । विशुद्ध रूप से यही सुषुप्ति का अधिष्ठाता है । यह आनन्दघन है, आनन्द ही तो अव्यय का वास्तविक रूप है । इसमें अक्षर-क्षर दोनों अपीत हैं । दूसरे शब्दों में तैजस-वैश्वानर दोनों का लय है । अक्षरदृष्टया यह भूतों की योनि है, भूतों का प्रभवाप्यय है । अक्षरदृष्टया यही सर्वज्ञ एवं अन्तर्यामी है । अव्ययदृष्टया यही सर्वेश्वर है—'यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः' (गी० १५-१७ ।) इन तीनों से अतिरिक्त चौथा वही अखण्ड परात्पर है यही चतुर्थ पाद वस्तुतः अपाद है । यही चतुष्पादब्रह्म है । ओङ्कार द्वारा इसीका अभिनय किया जाता है । चतुर्मात्र ओङ्कार शब्दब्रह्म है, चतुष्पादब्रह्म परब्रह्म है । दोनों का तादात्म्य है । इसी रहस्य को बतलाने के लिए श्रुतिने ओङ्कार की चारों मात्राओं को 'पाद' नाम से व्यवहृत किया है एवं परब्रह्म के चारों पादों को 'मात्रा' नाम से व्यवहृत किया है । ❀

इसी श्रौतविज्ञान को लक्ष्य में रखकर महर्षि पतञ्जलि ने "तस्य वाचकः प्रणवः" यह कहा है । इस चतुष्कल, किंवा षोडशकल अमृतात्मा के आत्मभरभाग से विकार उत्पन्न होते हैं । इन्हीं विकारों से वैकारिक विश्व का स्वरूप निष्पन्न होता है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में ही बतलाया जा चुका है । षोडशी पुरुष वैकारिक विश्व में सर्वत्र समानरूप से व्याप्त रहता हुआ भी पुष्करपलाशवन्निर्लिप्त रहता है । विश्व मृत्युमय है, विश्वापेक्षया विश्वप्रविष्ट षोडशी पुरुष सर्वथा अमृत है । अतएव हम इसे अवश्य ही "अमृतात्मा" कह सकते हैं । अपने क्षर भाग से वैकारिक विश्व का निर्माण कर यह अन्तःबहिः, सब ओर विश्व में प्रविष्ट रहता है, अतएव इसे "प्रविष्टब्रह्म" "विश्वचर" "विश्वेश्वर" "विश्वात्मा" इत्यादि नामों से व्यवहृत करना अन्वर्थ होजाता है । अखण्ड परात्पर सर्वथा व्यापक है, तो यह विश्व व्यापक है । परात्पर की भाँति यह भी सम्पूर्ण विश्व में समानरूप से व्याप्त है । यह जड़-चेतन सब में समान है । इससे कोई स्थान रिक्त नहीं है । यह वृक्षवत् स्तब्ध है, अविचाली है । यह जन्म-मृत्यु से परे है । जन्म-मृत्यु का अधिष्ठाता आत्मा तो कोई अन्य ही है ।

पञ्चदशभेदभिन्न विराडात्मा की एक अन्यतम कलाविशेष का ही कर्मभोग से सम्बन्ध है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा । प्रकरण के आरम्भ में बतलाए हुए अखण्ड-परात्पर षोडशी-यज्ञ-विराट्, इन नामों का प्रकरण के अन्त में एक बार और स्मरण कर लीजिए । सर्वबलविशिष्ट रस को हमने परात्पर कहा है एवं इसी को अखण्डात्मा बतलाया है । रसबल के विवेक से इस अखण्ड ब्रह्म के दो विवर्त हो जाते हैं । यदि बलसमुच्चित रसभाग पर दृष्टि डाली जाती है, तो इस अखण्ड का अखण्डपना कुछ देर के लिए खण्ड-खण्ड हो जाता है । कारणबल खण्ड-खण्ड हैं, नाना हैं । एकान्ततः अखण्ड तो विशुद्ध रस ही है । इसी पहिले विवर्त को "१-निविशेष" कहा जाता है । यदि खण्डखण्डात्मक यच्चयावत् बलों से युक्त रस पर दृष्टि डाली जाती है, तो सर्वबलविशिष्टरसमूर्ति "२-परात्पर" के दर्शन होते हैं । अखण्डरूप निविशेष (शुद्धरस) एवं परात्पर (बलविशिष्टरस), दोनों की समष्टि ही "विश्वातीत" ब्रह्म

❀ इस विषय का विनोद विवेचन माण्डूक्योपनिषदविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए ।

है। यही तुरीय अविज्ञेय अर्द्धमात्रिक पाद है। इस तुरीय परात्पर के उदर में मायाबलोदय से उत्कलक्षण षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध ३-“अमृतात्मा” का उदय हुआ है। इससे ४-यज्ञात्मा का विकास होगा। सर्वान्त में ५-विराटपुरुष उत्पन्न होगा एवं विराट् पर सृष्टिधारा समाप्त हो जायगी।

जिस प्रकार विश्वातीत सर्वव्यापक परात्पर के साथ श्रद्धा का कोई सम्बन्ध नहीं है, एवमेव विश्व-व्यापक इस अमृतात्मा के साथ भी श्रद्धा का कोई सम्बन्ध नहीं है। गति-आगति, प्रकरणोपसंहार विश्वसीमा के भीतर होती है। जो विश्वव्यापक है, उसकी विश्वसीमा में गति-आगति असम्भव है। प्रसङ्गोपात्त एक-वात और ध्यान में रखिए। पूर्व में जिस षोडशी आत्मा का दिग्दर्शन कराया गया है, उसके अक्षर-क्षर भागों की अवान्तर कलाओं को ब्रह्म-विष्णु-इन्द्रादि नामों से व्यवहृत किया है। साथ ही में समष्टि को “आत्मा” कहा है। उधर गीताशास्त्र ने आत्मा और देवताओं का पार्थक्य माना है। “जो उपासक ब्रह्मादि देवताओं का यजन करते हैं, वे भी परम्परया मेरी (षोडशी पुरुष लक्षण आत्मा की) ही उपासना करते हैं” (गी० ९। २३) यह व्यवस्था की गई है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित होता है कि, गीता तो आत्मा एवं ब्रह्मादि देवताओं का भेद

अखण्डब्रह्म ↓ विशुद्धरसः	परात्परब्रह्म ↓ सर्वबलविशिष्टो रसः	} विश्वातीतब्रह्म
परात्परः—अर्द्धमात्रा		
अकारः—अव्ययः	उकारः—अक्षरः	मकारः—आत्मक्षरः
<div style="display: flex; align-items: center;"> <div style="margin-right: 10px;"> मृष्टिसाक्षी—मुक्तिसाक्षी { १-आनन्दः २-विज्ञानम् ३-मनः ४-प्राणः ५-वाक् } </div> <div style="writing-mode: vertical-rl; text-orientation: upright;"> पुरुषः पञ्चकलः </div> </div>	<div style="display: flex; align-items: center;"> <div style="margin-right: 10px;"> १-अमृतब्रह्मा २-अमृतविष्णुः ३-अमृतइन्द्रः ४-अमृतअग्निः ५-अमृतसोमः </div> <div style="writing-mode: vertical-rl; text-orientation: upright;"> पराप्रकृतिः पञ्चकला </div> </div>	<div style="display: flex; align-items: center;"> <div style="margin-right: 10px;"> १-मर्त्यब्रह्मा २-मर्त्यविष्णुः ३-मर्त्यइन्द्रः ४-मर्त्यअग्निः ५-मर्त्यसोमः </div> <div style="writing-mode: vertical-rl; text-orientation: upright;"> अपराप्रकृतिः पञ्चकला </div> </div>

विश्वआत्मा ब्रह्म—षोडशी

अमृतात्माषोडशी—‘तस्य वाचकः प्रणवः’

बतलाती है, परन्तु पूर्व में ब्रह्मादि देवताओं का आत्मकोटि में ही अन्तर्भाव बतलाया गया है। इस विरोध का परिहार कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में अभी हम केवल यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि, आत्मस्वरूप सम्बन्ध में जिन ब्रह्मा-विष्णु आदि का उल्लेख किया गया है, इनके साथ उपास्य ब्रह्मादि देवताओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। गीतोक्त देवता विश्व के भीतर उत्पन्न होने वाले क्षरपदार्थ हैं। “जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एवं देवताभ्यः” इस सिद्धान्त के अनुसार इन्हीं वैकारिक देवताओं की समष्टि भौतिक विश्व है। उधर षोडशीपुरुष के ब्रह्मादि अक्षर-आत्मक्षरमूर्ति होने हुए वैकारिक देवसर्ग से सर्वथा बहिर्भूत हैं। वैसे इन्हें भी देवता कहा जाय, तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। उपास्यतत्त्व ही देवता है। इसी आधार पर आत्मा को भी देवता कहा जाता है। जिन्हें सर्वसाधारण देवता समझते हैं, गीता में जिनकी उपासना का उल्लेख है, उनका जन्म तो बहुत आगे जाकर सौरमृष्टि में होता है, जैसा कि आगे के तत्त्व प्रकरणों में स्पष्ट हो जायगा। अमृतात्मा के सम्बन्ध में इतना ही कह कर ‘अव्यक्तात्मविज्ञान’ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं—परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षरभेदेन चतुष्पात्—

कलाभेदेन षोडशकलोऽयममृतात्मा षोडशी व्याख्यातो द्रष्टव्यः

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-‘आत्मविज्ञानोपनिषद्’ प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां

‘अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्’ प्रथमा

- (२) { १—अधिदेवतम्→स्वयम्भूः (पूर्णमदः) }
 { २—अध्यात्मम्→अव्यक्तम् (पूर्णमिदम्) }

अथ

“अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्” द्वितीया

अव्यक्तात्मा-प्राकृतात्मा-स्वयम्भूः

- १—नियतिः सत्यम् (अन्तर्यामी)
 २—सूत्रं सत्यम् (सूत्रात्मा)
 ३—वेदाः सत्यम् (वेदात्मा)

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
 रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञ के ॥१॥
 अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
 अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवता ॥२॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ८ अ० ११।२ अ० २८।

(२) अव्यक्तात्मस्वरूपपरिचयः (ब्रह्म-कर्ममयोऽव्यक्तात्मा)

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

तुच्छं च नाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥१॥

—ऋक्० १०।१२६।३

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्ना आसीत् प्रकेतः ।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥

—ऋक्० १०।१२६।२

स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥३॥

—मुण्डक ३।३।१

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥४॥

—श्वे० उ० २।१६

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥५॥

—श्वे० ४।६

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य लघटारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥६॥

—श्वे० उ० ५।१३

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वस्थचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥७॥

—श्वे० उ० ६।५

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्त्ततेऽयम् ।
धर्म्मविहं पापनुदं भवेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥८॥

—श्वे० उ० ६।६

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥९॥

—श्वे० उ० ६।७

एष देवो विश्वकर्म्म महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१०॥

—श्वे० उ० ४।१७

—०—



अव्यक्तात्मब्रह्मणे नमः

अव्यक्तात्मा-स्वयम्भूः

❀ 'अव्यक्तं ब्रह्म' त्युपास्व

युजे वां ब्रह्म पूर्वं नमोर्भिविश्लोक एतु पथ्येव सूरैः ।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ (श्वे० उ० २।५)

तद्वेदं गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।

ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ (श्वे० उ० ५।६)

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।

देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ (श्वे० उ० ६।१)

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।

तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ (श्वे० उ० ६।२)

नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च ।

अचिन्त्याप्रमेयाय अनादिनिधनाय च ॥—मंत्रायण्युपनिषत् (४।१५।)

❀ त्रिकल अव्यक्तात्मा, द्विकल यज्ञात्मा, त्रिकल महानात्मा, द्विकल विज्ञानात्मा, पञ्चकल शारीरकात्मा' भेदभिन्न इन १५ सखण्डात्माओं का 'ईशविज्ञानभाष्य' तथा 'गीताभूमिका-आत्मपरीक्षाखण्ड' में विस्तार से निरूपण हुआ है। अतः यहाँ संक्षेप से ही (दृष्टिकोणभेद से) इनका स्पष्टीकरण किया जाता है।

अमृतात्मा नाम से प्रसिद्ध षोडशी-पुरुष के मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिमाक्षी कर्मात्मभाग की बलप्रधान सिमृक्षा से सम्बन्ध रखने वाले मनोमय-काम, प्राणमय-तप, तथा वाङ्मय-श्रम, नामक सृष्टिकर्मों के सामान्य तीन अनुबन्धों के व्यापार से सर्वप्रथम जिस ब्रह्म की विकारसृष्टि 'ब्रह्मेश्वरात्मा' का विकास होता है, वही प्राकृतात्मा 'अव्यक्तात्मा' कहलाया है, जो मानव-परिभाषा में 'शान्तात्मा' नाम से भी प्रसिद्ध है। अमृतात्मा का उपादानकारण लक्षण-आत्मक्षर ही अपरलक्षण विश्व का प्रभव (उपादान) बनता हुआ 'अपराप्र-कृति' नाम से प्रसिद्ध है। उपादानकारण संकेतभाषानुसार 'ब्रह्म' कहलाया है। आत्मक्षर ही स्व-विकारों से विश्व का उपादान बनता है, अतः इसे भी अवश्य ही 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। निमित्तकारणात्मक, 'पराप्रकृति' नामक अक्षर ही इस क्षर की विकासभूमि है, इसी आधार पर 'ब्रह्मा-क्षरसमुद्भवम्' (गीता ३।१५) यह कहना अन्वर्थ बनता है। 'ब्रह्मोन्द्रविष्ण्वग्निसोम' जो पाँच अमृ-तकलाएँ अक्षर की हैं, वे ही पाँचों मर्त्यकलाएँ इस आत्मक्षर की हैं। अन्तर दोनों के पञ्चक में यही है कि, अक्षरकलापञ्चक अपने अविकृत (अपरिणामी) भाव से जहाँ एकरस है, वहाँ क्षरकलापञ्चक स्व-विकृत (परिणामी) भाव से भिन्नरस है। क्षर की इन ब्रह्मादि पाँचों मर्त्यकलाओं से निरन्तर विकार उत्पन्न होते रहते हैं। क्षर का मूलरूप (अव्यक्तरूप) अक्षर सहयोग से सर्वथा अविकृत रहता है एवं तूलरूप (व्यक्तरूप) विकृत रहता है। विकृतावस्थापन्न क्षर का विश्व में अन्तर्भाव माना जाता है एवं मूला-त्मक (अव्यक्तात्मक), अतएव अविकृतावस्थापन्न क्षर को आत्मकोटि में माना जाता है। इस प्रकार आत्मक्षर का आत्मा से भी (प्रविष्ट-विश्वचरब्रह्म से भी) सम्बन्ध है एवं विश्व (सृष्टब्रह्म) से भी सम्बन्ध है। इसी उभयधर्म के कारण इसे 'आत्मक्षर' नाम से व्यवहृत करना चरितार्थ होता है। अविकृतदृष्टि से वही "आत्मा" है, विकारदृष्टि से वही "क्षर" है। समष्टिरूप से वही 'आत्मक्षर' है। आत्मभूत इसकी ब्रह्मकला से जो विकार उत्पन्न होता है, वह १-'प्राण' नाम से, विष्णुकला का विकार २-'आपः' नाम से, इन्द्र का विकार ३-'वाक्' नाम से, अग्नि का विकार ४-'अन्न' नाम से एवं सोम का विकार ५-'अन्न' नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं विकारों के सम्बन्ध से आत्मरूप यह पराप्रकृतितत्त्व क्षर बन जाता है। पाठकों को इतना ध्यान रखना चाहिए कि एक ही नामों से निर्दिष्ट प्राण-वागादि-तात्त्विक दृष्टि से सर्वथा पृथक् पृथक् पदार्थ हैं। उदाहरण के लिए वाक्तत्त्व को ही सामने रख लीजिए। पञ्चकल अव्यय में भी पाँचवीं वाक्कला है। प्राणादि पाँचों विकारों में भी अन्त की वाक्कला है। एक तीसरा वाक्तत्त्व शुरु से सम्बन्ध रखता है। चौथी वाक् सूर्य में उत्पन्न होती है। इस प्रकार वाक् के अनेक विवर्त हैं। नाम सादृश्य मात्र से इन्हें अभिन्न नहीं समझना चाहिए। अव्ययवाक् पुरुषवाक् है। इस का सृष्टि के उपादान से कोई सम्बन्ध नहीं है। आनन्दविज्ञानधनमनोमयप्राणगर्भिता यह वाक् केवल विश्व का आलम्बन है। प्राणादि वाली दूसरी वाक् प्रकृतिवाक् है। शुरुवाक् विकृतिवाक् है। चौथी सौरीवाक् (जो कि वाक् बृहती-गौरीविता-ऐन्द्रो-स्वर-आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है) देवताओं की जननी है। देवपात्ररूप षट्कार (वाक् का षट्कार-वाक् के ६ विभाग-स्तोम) का सम्बन्ध इसी सौरी-वाक् से है। इसीको "इन्द्रपत्नी" कहा जाता है। आगे जाकर वाक्तत्त्व का भिन्न भिन्न कार्यों में उपयोग बतलाया जाने वाला है। इनके नामसादृश्य से पदार्थतत्त्व में भ्रान्ति न हो जाय, अतः पहले से इन भेदों को ध्यान में रखना चाहिए।

पुरुषवाक् के आधार पर प्रतिष्ठित अक्षर के व्यापार से क्षर की पाँचों कलाओं से क्रमशः प्राणादि उपर्युक्त पाँच विकार उत्पन्न हुए। ये पाँचों ही वैकारिक विश्व के मौलिक वाङ्मय अव्यक्तात्म तत्त्व हैं। इन्हीं के रासायनिक संयोग से यौगिक विश्व उत्पन्न होने वाला है।

विज्ञानतत्त्वानुयायी दार्शनिक जिन्हें "गुणभूत" कहते हैं, प्राधानिक समय (सांख्य) में जो तत्त्व "तन्मात्रा" नाम से प्रसिद्ध है, विज्ञानकाण्ड में वे ही हमारे प्राणादि पाँच विकारक्षर हैं। इन्हीं से आगे जाकर अणुभूत-भौतिक-सत्त्वादि विविधभावों का विकार होता है। अस्तु-दार्शनिक क्रम का वैज्ञानिक क्रम के साथ समन्वय करने का यहाँ अवसर नहीं है। "ईक्षतेनशब्दम्" (शा०-सू० १ पा० १ अ० ३ सू०) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार दर्शनशास्त्र को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए इस स्वतःप्रमाण वैदिक विज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है। इसकी प्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण सर्वथा अनपेक्षित है। अतः सब मर्यादाओं को एक ओर रख कर आपको मानना चाहिए कि, विकारक्षर ही विश्व के मौलिक उपादान हैं। इन्हीं से विश्व उत्पन्न होता है, अतएव इनकी समष्टि को विज्ञानभाषा में "विश्वसृष्ट" कहा जाता है। पाँचों ही विकारक्षर विशुद्ध रूप से कभी उपलब्ध नहीं होते। पाँचों क्षर पाँचों में नित्य संश्लिष्ट होकर ही अपनी स्वरूपसत्ता रखने में समर्थ होते हैं। संकेतभाषानुसार जिस तत्त्व में आहुति होती है, आहुति ग्रहण करने वाला, आहुति की प्रतिष्ठारूप वह तत्त्व "अग्नि" कहलाता है एवं आहुत होने वाला तत्त्व "सोम" नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि में सोम का आहुत होना ही यज्ञ है। पहले प्राणतत्त्व में आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद, इन चारों मौलिक क्षरों की आहुति होती है। यहाँ उक्त परिभाषा के अनुसार प्राण को अग्नि समझिए एवं शेष चारों को सोम समझिए। समन्वय को यज्ञ समझिए। इसी प्रकार आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद,—इन चारों को आधार मानकर शेष चारों की क्रमशः प्रत्येक में आहुति होती है। इस पञ्चीकरण प्रक्रिया से जो इन पाँचों पञ्चीकृतों का अपूर्वस्वरूप निष्पन्न होता है, वही "पञ्चजन" नाम से प्रसिद्ध है। "वैशेष्यात्तुत्वाद्द्वस्तद्वादः" इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार इन पाँचों के नामों में कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में ये भी प्राण-आपः-वाक् आदि नामों से ही व्यवहृत होते हैं। इन प्राणः-आपः-वागादि-प्रत्येक में प्राण-आपः-वागादि पाँचों विद्यमान हैं। अर्द्धभाग में प्राण है, अर्द्धभाग में शेष चारों हैं। अर्द्धभाग में आपः है, अर्द्धभाग में प्राणादि शेष चारों हैं। यही क्रम सर्वत्र समझिए। आगे जाकर इन पाँचों पञ्चीकृतों का पुनः समन्वय होता है, यह दूसरी पञ्चीकरण प्रक्रिया है। पञ्चीकृतप्राण में पञ्चीकृत आपः-वागादि शेष चारों की आहुति होती है। इससे "प्राण" नाम के "पञ्चपञ्चजन" का विकास होता है। यही क्रम शेष चारों में समझिए। पञ्चजनों में प्राणादि का वैषम्य न था, परन्तु इन पञ्चपञ्चजनों के संस्थान में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। इसी विषमता के कारण इनके नामों में भी अन्तर हो जाता है। पञ्चीकृत पञ्चजनों की यह द्वितीयावस्था ही विषमभाव के कारण पुरभाव (पिण्डभाव) की उत्पादिका बनती है, अतएव इसे "पुरञ्जन" शब्द से व्यवहृत किया जाता है। पञ्चीकृत प्राण से विकसित होने वाला पुरजन 'वेद' नाम से, आपःसम्बन्धी 'लोक' नाम से, वाक् सम्बन्धी 'देव' नाम से, अन्नसम्बन्धी 'पशु' नाम से एवं अन्नाद सम्बन्धी 'भूत' नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक पुरजन में पञ्चीकृतपञ्चजनों के समन्वय से २५-२५ कलाएँ हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि, प्रत्येक पुरञ्जन में २५-२५ कलाओं के रहने पर भी प्रधानता मूलभूत प्राणः-

आपः-वागादि-स्व-स्व कलाओं की ही रहती है। वेदपुरञ्जन की २५ सौ कलाएं प्राणमयी हैं, अप् पुरञ्जन की २५ सौ कला आपोमयी हैं। यही व्यवस्था शेष तीनों में समझिए। प्राणात्मक वेदपुरञ्जन से स्वयम्भू-पुर का निर्माण होता है। प्राणतत्त्व नित्य है, अतएव प्राण का विवर्तभूत 'ब्रह्मनिश्वसित' नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेय वेद भी नित्य ही है। यह स्वयं उत्पन्न है, स्वयं उद्भूत है। अतएव तद्रूप पहला पुर 'स्वयमेव-भवति' इस निर्वचन 'स्वयम्भू' नाम से व्यवहृत होता है। यद्यपि अमृतात्मा (घोडशीपुरुष) की अपेक्षा से यह प्राणमूर्ति, किंवा वेदमूर्ति स्वयम्भू व्यक्त है, तथापि पाङ्क्त (पञ्चावयव) विश्व के इतर चारों पर्वों की अपेक्षा हम इसे अव्यक्त ही कहेंगे। इस 'ब्रह्मा' नाम के अव्यक्त स्वयम्भू के चार मुखों से ही आगे की सम्पूर्ण सृष्टियाँ होती हैं।

हमने बतलाया है कि पञ्चजन-प्राण से समन्वय द्वारा वेदपुरञ्जन प्रादुर्भूत होता है एवं वेदपुर-ञ्जन से स्वयम्भू का विकास हुआ है। ऐसी अवस्था में स्वयम्भू में पञ्चीकृत प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद, इन पाँचों प्राकृत प्राणों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वयम्भू ब्रह्मा प्राणमुख है, आपोमुख है, वाङ्मुख है, अन्नादमुख है, अन्नमुख है। अग्नि-तत्त्व ही अन्नाद है, सोम-तत्त्व ही अन्न है। एवं—“अग्निर्वा रुद्रः तस्यैते द्वे तन्वे घोराभ्या च, शिवभ्या च” (शत० ५।३।१।१०) इस सिद्धान्त के अनुसार अग्नि-तत्त्व ही 'रुद्र' है। इस अग्निमय, अतएव अन्नादमय रुद्रदेवता की कृपा से सोमान्तरूप एक मुख कट जाता है। सोम के अग्निगर्भ में आहुत होते ही इसकी स्वतन्त्र सत्ता उच्छिन्न हो जाती है। अग्निगर्भित सोम स्वस्वरूप को खोता हुआ अग्निमय ही बन जाता है। दूसरे शब्दों में आद्य (अन्नरूप सोम) जब अत्ता (भोक्ता अग्नि) में चला जाता है, तो अत्तारूप में परिणत होता हुआ वह आद्य अपने स्वतन्त्र व्यवहार को छोड़ कर सत्ता ही कहलाने लगता है, जैसा कि वाजिश्रुति कहती है—

“तद्यदोभयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते नाद्यम् । स वै यः सोऽत्ता
अग्निरेव सः”—शत० १०।६।३।१।२। इति ॥

इस प्रकार अन्नाद-अन्न के पारस्परिक आहति (आहुति) सम्बन्ध से ब्रह्मा के चार ही मुख रह जाते हैं। इन चारों मुखों में पहला प्राणमुख है, इससे वेदसृष्टि होती है। दूसरे आपोमुख से लोक-सृष्टि होती है। तीसरे वाङ्मुख से देवसृष्टि होती है। अन्नगर्भित चौथे अन्नादमुख से पशुसमन्विता भूत-सृष्टि होती है। महाभारत के मतानुसार वाङ्मुख से प्रजासृष्टि होती है एवं अन्न-अन्नादमुख से धर्म-सृष्टि होती है। चतुर्विधसृष्टिप्रवर्तक प्राणप्रधान यही ब्रह्मा आधिदैविक संस्था में स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध है एवं अध्यात्मसंस्था में यही 'शान्तात्मा' नाम से व्यवहृत हुए हैं। अव्यक्तात्मा इन दोनों का साधारण नाम है।

इस अव्यक्तात्मा के अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा, भेद से तीन प्रधान विवर्त हैं। तीनों का संक्षिप्त स्वरूप बतला देना भी अप्रासङ्गिक न होगा। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहकर उसका नियत रूप से सञ्चालन करना इस अव्यक्तात्मा का प्रधान कर्म है। सर्वप्रथम आधिदैविक संस्था का ही विचार कीजिए।

इस संस्था में भूः-भुवः-स्वः नाम के तीन प्रधान लोक हैं । “त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः” इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार उक्त तीनों लोकों में प्रत्येक लोक त्रिवृत् (त्रिगुणित) है । महाव्याहृति नाम से प्रसिद्ध तीनों अवान्तर ‘भूः-भुवः-स्वः’ ये तीन भेद हैं । यद्यपि इस त्रिवृद्भाव के कारण ९ लोक होने चाहिए, परन्तु दो लोकों का भूः-स्वः, इन दोनों के साथ सम्बन्ध हो जाने से सात ही लोक रह जाते हैं । जिसे आप पृथिवी कहते हैं, उसे भूलोक समझिए । प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य को स्वर्लोक समझिए, सूर्य और पृथिवी का मध्यस्थान अन्तरिक्ष समझिए । इन तीनों की समष्टि को “भूः” नाम की पहली महाव्याहृति समझिए । लोकत्रयात्मिका यही ‘भू’ नाम की पहली रोदसीत्रिलोकी है । इस त्रिलोकी को पृथिवी समझिए, परमेष्ठी को स्वर्लोक समझिए, मध्यस्थान को अन्तरिक्ष समझिए । इन तीनों की समष्टि को “भुवः” नाम की दूसरी महाव्याहृति समझिए । लोकत्रयात्मिका ‘भुवः’ नाम की यही दूसरी क्रन्दसीत्रिलोकी है । इस क्रन्दसी की समष्टि को भूः समझिए, स्वयम्भू को स्वर्लोक समझिए । मध्यस्थान को अन्तरिक्ष समझिए । तीनों की समष्टि को “स्वः” नाम की महाव्याहृति समझिए, लोकत्रयात्मिका स्वः नाम की यही तीसरी संयतीत्रिलोकी है । इस प्रकार इस त्रैलोक्यत्रिलोकी के क्रम में निम्नलिखित रूप से सात लोक हो जाते हैं—

३—स्वः	संयतीत्रिलोक्य	{	३—स्वः	सत्यलोकः ३—	—	—	—	—	—	—	स्वयम्भूः (७)
			२—भुवः	तपोलोकः २—	—	—	—	—	—	—	अन्तरिक्षम् (६)
			१—भूः	जनलोकः ३-१—	—	—	—	—	—	—	परमेष्ठी (५)
२—भुवः	क्रन्दसीत्रिलोक्य	{	३—स्वः	महर्लोकः २—	—	—	—	—	—	—	अन्तरिक्षम् (४)
			२—भुवः	स्वर्लोकः ३-१—	—	—	—	—	—	—	सूर्यः (३)
			१—भूः	भुवर्लोकः २—	—	—	—	—	—	—	अन्तरिक्षम् (२)
१—भूः	रोदसीत्रिलोक्य	{	३—स्वः	भूलोकः १—	—	—	—	—	—	—	पृथिवी (१)
			२—भुवः								

उक्त सातों लोकों में संयतीत्रिलोक्य का स्वर्लोकस्थानीय स्वयम्भू सत्यलोक है । इधर ६ओं लोक विचाली हैं, अस्थिर हैं, परिभ्रमणशील हैं । सातवाँ सत्यस्वयम्भू अविचाली है, एक स्थान पर स्थिररूप से प्रतिष्ठित है । अपने अन्तरिक्ष (भुवर्लोक) के साथ पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही है । सान्तरिक्ष पृथिवी को अपने उदर में (महिमामण्डल में) प्रतिष्ठित किए हुए अपने अन्तरिक्ष (महर्लोक) के साथ स्वर्लोकाधिष्ठाता सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । सान्तरिक्ष सूर्य को अपने उदर में प्रतिष्ठित किए हुए अपने अन्तरिक्ष (तपोलोक) के साथ जनल्लोकाधिष्ठाता परमेष्ठी सत्यस्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । इन ६ओं रजों को स्वोदर में प्रतिष्ठित रखने वाले, अपनी प्राणशक्ति से ६ओं का विधरण करने वाले स्वयम्भू इनके भार से कभी खिन्न नहीं होते । षड्रजोधिष्ठाता, ‘परोरजा’ नाम से प्रसिद्ध इसी स्वयम्भूव सत्य तत्त्व का निरूपण करते हुए वेद भगवान् कहते हैं—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षष्ठिमा रजांसि, अजस्य रूपे किमपि स्वदेकम् ॥ १ ॥

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥ २ ॥

—ऋक्सं० १।१६४।६ मं० १०।

सत्यलोकाधिष्ठात्री, किंवा सर्वलोकाधिष्ठात्री उक्त स्वायम्भुवी शक्ति का १-नियति-२-विष्टम्भन-३-उपलब्धि, भेद से तीन प्रकार से विकास होता है। ये ही तीनों विज्ञानभाषानुसार स्वयम्भू के मनोता कहलाये हैं। अव्यक्त स्वयम्भू की दृष्टि से तीनों मनोता एकरूप हैं, अव्यक्तात्मरूप हैं एवं परस्पर की अपेक्षा से तीनों सर्वथा पृथक् कर्मा, पृथक् धर्मा हैं। इन्हीं गुणभूत अवयवों के सम्बन्ध से एक ही स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा के 'अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा' ये तीन विवर्त हो जाते हैं। इन तीनों में वेदात्मा मकार स्थानीय है, सूत्रात्मा उकार स्थानीय है, अन्तर्यामी अकार स्थानीय है। तीनों खण्डों में समान रूप से व्याप्त अखण्ड अव्यक्त अर्द्धमात्रा-स्थानीय है। समष्टि "ओङ्कार" है। जिस प्रकार सर्वतः पाणिपाद-षोडशीपुरुष प्रणवमूर्ति है, एवमेव यह ब्रह्मा अविष्टात्मा भी प्रणवमूर्ति ही है—"यदेवेह तदमुत्र ।" इसके तीनों विवर्तों में से पहले नियति विवर्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

सूर्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-ग्रह-पृथिवी-आदि आधिदैविक पदार्थों, पुरुष-पशु-पक्षी-कृमी-कीटादि चेतना पदार्थों, औपधि-वनस्पति-पुष्प-पल्लव-वल्गरी-आदि अर्द्धचेतन पदार्थों, सुवर्ण-रजत-ताम्र-सीसक-लौह-पाषाण-आदि अचेतन पदार्थों के स्वभाव वैचित्र्य पर जब नियतिर्वक्षणःअन्तर्यामी हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। चेतना-अर्द्धचेतनाचेतन तत्त्व पदार्थों का निर्माण बड़े ही विचित्र शिल्प (कारीगरी) से हुआ है। ऐसा विदित होता है कि, मानों कोई चतुर शिल्पी बड़ी ही सावधानी से इन सब पदार्थों का निर्माण कर रहा हो। स्थान स्थान पर किसी अलौकिक शिल्पी के बुद्धि वैभव का विकास प्रतीत हो रहा है। सब काम नपा तुला, कहीं अणुमात्र भी अव्यवस्था नहीं। एक शरीर की रचना पर ध्यान दीजिए। मस्तक-चक्षुः-नासिका-श्रोत्र-उदर-मुख-पाद-अंगुली-नख-केश-लोम आदि प्रत्येक अवयव यथास्थान प्रतिष्ठित हैं। क्या बिना किसी चेतन-देवता के इस प्रकार का शिल्प सम्भव है? कदापि नहीं। एक मृग के उन दो शृङ्गों (सींगों) की उस विचित्रता को देख कर कहना पड़ता है कि, यह कृति किसी उत्कृष्ट देवता की प्रेरणा से सम्बन्ध रखती है। दोनों सींग जहाँ से निकले हैं, वहाँ दोनों का समानान्तर, समान स्वरूप। दोनों ऊपर की ओर गए हैं, तो समानान्तर से, समान रूप से। एक वृक्ष के पर्वों को देखिए। मूल-शाखा-पल्लव-पुष्प-फल-आदि प्रत्येक पर्व में अद्भुत कारीगरी। पानी को आप जब कभी जिस स्थान पर भी डालेंगे, वह सदा नीचे की ओर ही बहेगा। भला सोचिए तो सही, इस जड़ पानी को किस ने सिखलाया कि, तू नीचे की ओर ही बहना। कैसा नियत धर्म है। अग्नि सदा ऊपर

की ओर ही जाता है। वायु सदा तिर्यक् ही चलता है। चन्द्रमा कभी दक्षवृत्त को नहीं छोड़ता। पृथिवी कभी क्रान्तिवृत्त से च्युत नहीं होती। सूर्य कभी अहोरात्र मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। पर्जन्य देवता कभी अपने वृष्टि कर्म से उपरत नहीं होते। विष कभी अपनी मादकता नहीं छोड़ता। ग्रहादि कभी अपने मार्गों से विचलित नहीं होते। प्राप्तकाल में मृत्यु देवता कभी किसी पर उदारता नहीं दिखलाते। सारांश में (एकमात्र असत्य संहित मनुष्य को छोड़कर) कोई भी इस नियत मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता, “मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति” शत० २।४।२।६)। तभी शास्त्रोपदेश एकमात्र मनुष्य के लिए ही उपयुक्त बना है। इतर सारे प्राणी स्वतएवं अपनी नियतचर्या से बद्ध हैं। इनके लिए शास्त्रोपदेश अनपेक्षित है। हम बुभुक्षा शान्त करने के लिए अन्न खाते हैं। यहां तक तो हमारा (जीवात्मा का) व्यापार है। परन्तु शारीराग्नि में हुत अन्न किस क्रम से रसासृगादि धातु रूपों में परिणत हो जाता है ? यह अविज्ञात है। शरीर उदाहरण मात्र है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ किसी हृद्यशासनकर्त्ता की प्रेरणा से प्रेरित होकर स्व-स्व कर्मों में संलग्न रहते हैं। इच्छा होने पर हम अशन पानादि करते हैं। परन्तु इच्छा क्यों हुई ? इस प्रश्न का समाधान वही शास्ता है। क्या मजाल, जो कोई इसका शासन न माने। विश्व के बड़े से बड़े शक्तिशाली पदार्थ, छोटे से छोटे पदार्थ, सब इसके भय से कम्पित होते हुए अपने अपने आधिकारिक कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ से अविदित, किन्तु उसके हृदय में प्रतिष्ठित वह शास्ता तत्त्व ही “अन्तस्तिष्ठन् सन् नियमति” इस निर्वचन से ‘अन्तर्यामी’ नाम से प्रसिद्ध है। यही नियत भावों का प्रेरक बनता हुआ, नियत भाव की चर्या का अधिष्ठाता बनता हुआ नियतिब्रह्म नियतिचरब्रह्म” इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही नियतिचर शब्द निरुक्त क्रमानुसार बिगड़ते बिगड़ते आज के जगत् में ‘नेचर’ (Nature) नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। दर्शन भाषा में यही तत्त्व ‘स्वभाव-प्रकृति’ आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। ब्रह्मदण्डात्मक इसी अन्तर्यामी का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ २ ॥ (कठोपनिषत् ६।२।३)

“यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यग्य पृथिवी-शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स तऽन्त्रात्मान्तर्याम्यमृतः । योऽप्सु तिष्ठन् ० ××, योऽग्नौ तिष्ठन् ० ××’ य आकाशे तिष्ठन् ० ×× यो वायौ तिष्ठन् ० ××, य आदित्ये तिष्ठन् ० ××, यश्चन्द्रतारके-तिष्ठन् ० ××, यो दिक्षु तिष्ठन् ० ××, यो विद्युति तिष्ठन् ० ××

यः स्तनयिस्नौ तिष्ठन्० × ×, यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्० × ×, यः सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्० × ×, यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन्० × ×, यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्० × ×, यः प्राणेषु, वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि, त्वचि, तेजसि, तमसि, रेतसि, आत्मनि तिष्ठन्० × ×। अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमृतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता, एष तऽआत्मा अन्तर्यामी-अमृतः। अतोऽन्यदार्त्तम्। ततो होद्दालक आरुणिरूपरराम”-शत० १४।६।७

वह घट घट व्यापक है, सब के हृदय में प्रतिष्ठित है, सब का शास्ता है, नियतभाव का प्रवर्तक है, सब कुछ उसी से उत्पन्न हुआ है। सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रकृति (नेचर) रूप उस तत्त्व की लीला मात्र है” यह है अव्यक्त अन्तर्यामी का तटस्थ लक्षण। सुप्रसिद्ध सर्वानुभूः—सर्वग—आत्मतत्त्व (पोडशीपुरुष) के स्वरूप से सर्वथा अपरिचित वर्तमानजगत् (पाश्चात्यजगत्) प्रत्येक विषय में नेचर की ही घोषणा किया करता है। अमुक काम ऐसे क्यों हुआ?, इसका ऐसा स्वरूप क्यों है?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए “नेचर ने ऐसा किया है, नेचर में ऐसा हुआ है, सब काम नेचर करती है” यह कहा जाता है। यदि विज्ञानगविष्ठ इन नेचरभक्तों से पूछा जाता है कि कृपा कर बतलाइये! आपकी इस नेचर का क्या स्वरूप है? तो इस प्रश्न के लिए ये निरुत्तर हो जाते हैं। इधर आर्ष महर्षियों के तटस्थ-एवं स्वरूप लक्षण का भी विचार कर लीजिए। प्रत्येक पदार्थ की स्वरूप रक्षा स्वरूप निर्माण अन्नादान पर निर्भर है। जड़ हो, अथवा चेतन, सब को अन्न खाने की आवश्यकता होती है। “यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता” (वृ० आ० उ० १,५,१) इस सिद्धान्त के अनुसार यह अन्न आत्म-प्राण-भूतादि विविध भोक्ताओं के भेद से १-ज्ञात, २-कर्म, ३-आकाश (शब्द), ४-वायु (श्वास-प्रश्वास), ५-तेज (ऊष्मा), ६-जल ७-पृथिवी (ओषधि—वनस्पति), भेद से सात भागों में विभक्त है। एक मकान, जिसे आप अथवा जड़ समझ रहे हैं, विश्वास कीजिए, वह भी वायु-प्रकाश, आदि अन्नों की अपेक्षा रखता है। शिल्पियों द्वारा निर्मित नवीन भवन समय समय पर जीर्ण होता रहता है। इस की रक्षा के लिए मरम्मत करवानी पड़ती है। भूतभाग ज्यों का त्यों रहता है, प्राणभाग निकल जाता है, उसी की चिकित्सा करनी पड़ती है। मकान का जीर्ण होना ही यह बतला रहा है कि, अवश्य ही इसमें से कोई तत्त्वविशेष निकल गया है। इसी प्रकार यदि किसी भवन को चारों ओर से बन्द कर दिया जाता है, तो वायु-प्रकाशादि अन्नों के बन्द हो जाने से साल दो साल में वह जीर्णवत् हो जाता है। स्थान स्थान से चूना गिरने लगता है। कारण यही है कि, प्राण अपने गतिस्वभाव से निकलता रहता है, उधर वायु-प्रकाशादि के अवरुद्ध हो जाने से प्राण का आगमन अवरुद्ध हो जाता है। फलतः वह निष्प्राण हो जाता है। जड़ शब्द से व्यवहृत पदार्थों की जब यह दशा है, तो चेतना पदार्थों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। अन्न खाना यह पहला साधारण धर्म है। इसके साथ साथ भुक्तान्न खर्च भी होता रहता है। यदि ऐसा न हो, तो एक बार, अथवा दो तीन बार अन्न खा लेने के पश्चात् पुनः अन्नादान की आवश्यकता ही न पड़े। अन्न-विसर्गलक्षण यही दूसरा धर्म है। आदान और विसर्ग, दोनों की आधारभूमि एक तीसरा स्थिर तत्त्व

और मानना पड़ता है। अन्न आता रहता है और जाता रहता है। फिर भी पदार्थ स्थिर सा प्रतीत होता है। अवश्य ही स्थिरता सम्पादक, आगतिगति की मूलप्रतिष्ठारूप यह तत्त्व दोनों से पृथक् है। एक सरोवर में पानी आता रहता है एवं जाता रहता है। परन्तु सरोवर स्थिर है। बिना इस स्थिर आश्रय के पानी का आना भी सम्भव न था, जाना भी सम्भव न था। इस प्रकार वस्तुमात्र में अन्नादान, अन्नविसर्ग, दोनों की स्थिति का आधार, इन तीन भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अवश्य ही प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति ऐसी है, जो निरन्तर अपने आकर्षण सूत्र से अन्न खींचा करती है। साथ ही में एक शक्ति आगत अन्न का विक्षेपण किया करती है। एक तटस्थ शक्ति के आधार पर इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों का समन्वय होता रहता है। शक्तित्वेन यह शक्तित्रयी समान है, परन्तु उपाधिभेद से, दूसरे शब्दों में पदार्थों के स्वरूप भेद से वह अनन्त रूपों में परिणत हो रही है। उदाहरण के लिए अग्नि और जल को लीजिए। एक ही शक्ति दोनों में है। परन्तु अग्निसम्बन्ध से अग्नि की शक्ति दहन करने का सामर्थ्य रखती है, पानी की शक्ति शान्ति की अधिष्ठात्री बन रही है—‘शान्तिरापः’। यहाँ दोनों एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी नियत बन रहीं हैं। अग्नि का नियत भाव इसे ऊपर ले जा रहा है, पानी की नियति इसे नीचे लेजाती है। वायु की नियति वायु को तिर्यग्गामी बना रही है। कहना यही है कि, पदार्थ भेद से नियतिभाव भी बदल रहा है। उक्त तीनों शक्तियाँ प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में रहती हैं। आप अपने चर्मचक्षु से नामरूपकर्मात्मक पदार्थ को देख सकते हैं। पदार्थ ही व्यक्त है, हृदयस्था वह शक्तित्रयी अव्यक्त है, चर्मचक्षु से परे है। इनमें आदान शक्ति का आहरण सम्बन्ध से “हृ” अक्षर से, विसर्ग शक्ति का खण्डनरूप विनाशसम्बन्ध से “व” अक्षर से एवं दोनों की आधारभूता नियमन शक्ति का नियमन भाव के कारण “यम्” अक्षर से अभिनय किया जाता है। तीनों की समष्टि ही “हृदयम्” है। संकेत विद्या के अनुसार ‘हृ’ को विष्णु, ‘द’ को इन्द्र, ‘यम्’ को ब्रह्मा कहा जाता है। हृ-द-य-ये तीनों विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा-के वाचक हैं। यह ‘हृ-द-य’ विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा प्रत्येक पदार्थ के हृदय में (केन्द्र में) प्रतिष्ठित रहती है, केन्द्र के विचलित हो जाने से पदार्थ सत्ता उच्छिन्न हो जाती है। केन्द्रस्थान एक सूक्ष्मतम एवं बृहत्तम निराकार आश्रयतन है। इसमें वही हृदय नाम की शक्ति प्रतिष्ठित हो रही है। हृदय में ‘हृ-द-य’ प्रतिष्ठित हो रहा है यह कम आश्चर्य नहीं है—‘हृदि अयं हृदयम्’। पिण्ड प्रजा का सञ्चालन इसी हृदय प्रजापति पर निर्भर है। वह स्वयं अजायमान है, सब कुछ लूनातन्तु (मकड़ी के जाल) की तरह उसीसे उत्पन्न हुआ है। इसी गर्भी अव्यक्त प्रजापति का दिग्दर्शन कराती हुई यजुःश्रुति कहती है—

“प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

—यजुःसं० ३१। १६

ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों अक्षर की कलाएँ हैं। अतएव उक्त हृदय प्रजापति को ‘अक्षर’ कहा जाता है। यह अक्षरत्रयी ही तो अन्तर्यामी है। यही तो शास्ता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व की अमृतात्मोपनिषत् में हमने पञ्चकल अक्षर को षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के अन्तर्गत माना है। वह अमृतात्मा विश्वव्यापक है। इधर स्वयम्भू नामक यह अव्यक्तात्मा सखण्ड है, विश्व का एक अव-

यव है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, अक्षर तो अखण्ड आत्मा का अनुग्राहक है, फिर इस सखण्ड प्राकृतात्मारूप अव्यक्त को अक्षर कैसे माना गया ?, इस प्रश्न के समाधान में हम यही कहेंगे कि, विश्व के पर्वरूप स्व० पर० सू० च० पृ०, इन पाँच खण्डों में उस षोडशीपुरुष का भोग होता है। षोडशी का अव्यय भाग तो पाँच पर्वों में समानरूप से व्याप्त है। परन्तु सूर्य से ऊपर अमृतप्रकृतिप्रधान अक्षर का प्रभुत्व है, सूर्य से नीचे मर्त्य प्रकृतिप्रधान आत्मक्षर का प्रभुत्व है। मध्यस्थ सूर्य में दोनों की प्रधानता है। अक्षर की पराप्रकृति कहा गया है एवं आत्मक्षर को अपराप्रकृति कहा गया है। सूर्य से ऊपर स्वयम्भू और परमेष्ठी में पराप्रकृतिरूप अमृताक्षर का एवं सूर्य से नीचे पृथिवी और चन्द्रमा में अपराप्रकृतिरूप मर्त्यात्मक्षर का साम्राज्य है। अतएव ऊपर के दोनों लोकी परब्रह्म, नीचे के दोनों लोकी अपरब्रह्म नाम से प्रसिद्ध होते हैं। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' के अनुसार समष्टि ओङ्कार है। इस ओङ्कार में अव्यय अर्द्धमात्रस्थानीय है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

परब्रह्म	{ १—१—प्राणमयः स्वयम्भूः २—२—आपोमयः परमेष्ठी }	{ —परापरप्रकृतिरक्षरः—→→→अकारः }	} पञ्चपर्वव्यापकः पुरुषोऽव्ययः 'अर्द्धमात्रा'
परापरब्रह्म	{ ३—१—वाङ्मयः सूर्यः —❀— —❀— }	{ —परापरप्रकृतिरक्षरात्मक्षरः—→उकारः }	
अपरब्रह्म	{ ४—१—अन्तमयश्चन्द्रमाः ५—२—अन्नादमयी पृथिवी }	{ —अपराप्रकृतिरात्मक्षरः—→मकारः }	

एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः

अक्षर का मौलिकरूप ब्रह्मा है। इसका व्यक्तरूप मर्त्य ब्रह्मा है। विकार स्वरूप प्राण है। इस प्रकार ब्रह्ममूर्ति अमृताक्षर ही अमृतब्रह्मा—मर्त्याब्रह्मा—प्राण—पञ्चीकृतप्राण—पञ्चपञ्चीकृतप्राण, इस क्रम से स्वयम्भू रूप में परिणत हुआ है। स्वयम्भू में अव्यक्त अक्षर की ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र, तीनों कलाओं का हृदयरूप से विकास हुआ है। अतः इस स्वयम्भू को अवश्य ही अव्यक्त—अमृतात्मा इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। इसी अक्षर विकास दृष्टि को लक्ष्य में रख कर सखण्ड इस प्राकृतात्मा को हम 'अक्षर' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इसी अक्षर दृष्टि से वाजिश्रुति ने इसके लिए—'एष ते आत्मा अन्तर्ध्यामी अमृतः' यह कहा है। हृदयरूप होने से ही यह सत्य है। सत्य ही तो नियति का प्रधान स्वरूप है। यथा—तथारूप याथातथ्य ही सत्यभाव है, यही नियतभाव है, यही नियति है, यही विधि (प्राणमूर्ति

ब्रह्मा) का अटल विधान है। वह भयातीत किन्तु भय का प्रवर्त्तक है। पाँचों विश्व-पर्वों में सर्वप्रतिष्ठा-रूप सत्य अव्यक्त ही अनार्त्त है, तदतिरिक्त सारे रज सभय (विचाली), अतएव आर्त्त हैं—अतोऽन्य-दार्त्तम्'। इसी हृदयमूर्त्ति, त्रयक्षरात्मक, अक्षर-प्रधान, प्राणप्रकृतिक, सत्यप्रजापति (नियतिः प्रजापति-अन्तर्यामी) के स्वरूप को लक्ष्य में रख कर बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

“एष प्रजापतिर्यद्वदयम् । एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम् । तदेतत् त्र्यक्षरं—
‘ह-द-यम्’ इति । ‘ह’—इत्येकमक्षरम् । अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं
वेद । ‘यम्’ इत्येकमक्षरम् । एति स्वर्गं लोकं, य एवं वेद । तद्वैतदेतदेव
तदास सत्यमेव । स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति, जयती-
माँल्लोकान्” (शत० १४ का० ८।४-५) ।

यद्यपि अन्तर्यामी स्वयम्भू प्रधान होता हुआ प्राणप्रधान है, उधर अक्षर ब्रह्माप्रधान है। परन्तु वही यहां प्राणरूप से विकसित हुआ है, अतएव श्रुति अक्षर को भी शास्ता-अन्तर्यामी कहने में संकोच नहीं करती। जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

“एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति० ००० एतस्य वाऽक्षरस्य
प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः, सूर्याचन्द्रमसौ विधृते० । अथ
य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति, स ब्राह्मणः”

—शत० १४ क० ६।८

निष्कर्ष यही हुआ कि, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रानुग्रह से त्रयक्षर बनता हुआ वही स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा हृदयरूप से सब पदार्थों के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ नियति रूप से सब का सञ्चालन कर रहा है। अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध अव्यक्तात्मा का यही प्रथम विवर्त्त है।

इसी अव्यक्तात्मा का दूसरा विवर्त्त है विष्टम्भनलक्षण सूत्रात्मा । उपर्युक्त बृहदारण्यक श्रुति ने अक्षरमूर्त्ति अव्यक्तात्मा को ‘सूर्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठतः’ इत्यादि रूप से विधर्त्ता कहा है। अव्यक्त अन्तर्यामी स्वयम्भू विश्व के यन्त्रयावत् पदार्थों का सञ्चालन कर रहा है। किस सम्बन्ध से, किस शक्ति के द्वारा ? इस प्रश्न का समाधान यही सूत्रात्मा है। विश्व में १-ऋत-२-सत्य-३-ऋतसत्य, भेद से पदार्थ तीन भागों में विभक्त हैं। सहृदय (सकेन्द्र) सशरीरी पदार्थ सत्य हैं, अहृदय असशरीरी वायु आदि पदार्थ ऋत हैं एवं अहृदय सशरीरी पदार्थ ऋतसत्य हैं। वायु और पानी का न कोई शरीर है, न केन्द्र है। पानी, अथवा वायु को जिस आयतन में अवरोद्ध कर दिया जाता है, उनका वैसा ही शरीर हो जाता है। इसी प्रकार केन्द्राभाव

भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। सकेन्द्र वस्तु के एक अवयव ग्रहण से सम्पूर्ण वस्तु गृहीत हो जाती है। पानी को आप जहाँ से उठावेंगे, आंशिक रूप से वह वहीं से उठ आवेगा। कारण, यहाँ केन्द्राभाव है। मेघ में शरीर है, परन्तु हृदय नहीं है। इस हृदयबन्धन के अभाव से ही वायु के प्रबल आघात से मेघ खण्ड खण्ड होकर इतस्ततः बिकीर्ण हो जाता है। अग्निप्रधान पदार्थ सहृदयशरीरी बनते हुए सत्य कहलाते हैं। सोमप्रधान अहृदय अशरीरी रहते हुए ऋत कहलाते हैं। अग्निसोमप्रधान पदार्थ सोमसम्बन्ध से अहृदय, अग्नि-सत्ता से शरीरी बनते हुए उभयधर्मों से आक्रान्त रहते हुए 'ऋतसत्य' कहलाते हैं। इन तीनों के सञ्चालन के लिए उस अव्यक्त में सूत्रबल का आविर्भाव होता है। पूर्व के प्रकरण में १६ बलकोशों में एक 'सूत्र' नाम के बलकोश का भी दिग्दर्शन कराया गया है। यह एक प्रकार का प्राणबल है। प्राण को विधत्ता कहा जाता है। श्लथ परमाणुओं को संगठित करने वाला प्राणबल ही सूत्र है। इसी सूत्रबल के सम्बन्ध से प्रत्येक वस्तु के सर्वथा विभक्त परमाणु एक सूत्र में संगठित प्रतीत होते हैं। अक्षर प्राणमूर्ति कहा गया है। इसी सूत्रभाव के कारण, दूसरे शब्दों में परमाणुकूट (समूह) पर प्रतिष्ठित रहने के कारण इसे 'कूटस्थ' कहा जाता है—“कूटस्थोऽक्षर उच्यते”। यही बलविशेष सूत्रशक्ति है। ६ओं लोकों से पराः-परावत (दूर से दूर) रहने वाले अव्यक्त स्वयम्भू ने इसी सूत्ररूप पाश से सब को बद्ध कर रखा है। हृदय में वह अन्तर्व्याप्ती रूप से प्रतिष्ठित रहता है एवं पिण्ड में, साथ ही में जिनमें हृदय नहीं है—ऐसे ऋतपदार्थों में सूत्ररूप से प्रतिष्ठित रहता है। यह सूत्र ऋत-सत्य-ऋतसत्य भेद से तीन भागों में विभक्त है। पूर्वोक्त लक्षण आग्नेय प्रधान सत्यपदार्थों का सञ्चालन करने वाला सत्यसूत्र है। सोमप्रधान ऋतपदार्थों का शास्ता ऋतसूत्र है। उभयप्रधान ऋतसत्य पदार्थों का सञ्चालक ऋतसत्यसूत्र है। विश्व में जितने भी सत्यपदार्थ हैं, उन सब की योनि यही अव्यक्त सत्य है। अतएव इसे 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। यह सत्यस्य सत्यं प्राणवायु स्वरूप है। सूत्रात्मक इसी अव्यक्त का निरूपण करती हुई ब्राह्मण श्रुति कहाती है—

“वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम् । वायुना (प्राणेन) वै गौतम सूत्रेण—अयं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संवद्धानि भवन्ति । तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्त्रं सिषतास्याङ्गानि । वायुना हि गौतम तत् सूत्रेण संवद्धानि भवन्ति” इति ।—शत० १४ का० । ६ । ७ ।

इस प्रकार ऋतसत्य सूत्र द्वारा वह अव्यक्त सब में व्याप्त हो रहा है। नामरूपात्मक, अतएव सत्य शब्द से व्यवहृत विश्व इसी सूत्र द्वारा उस सत्यस्यसत्य स्वयम्भू के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किये हुए है। अव्यक्तात्मा के इसी सूत्रात्मविवर्त्तन का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् वादरायण कहते हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रे (सूत्रे), सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

—श्रीमद्भागवत

अव्यक्तात्मा का तीसरा विवर्त है उपलब्धिलक्षण-वेदात्मा । नियतिः सत्यरूप अन्तर्यामी से ही इस वेदात्मा का विकास होता है । अन्तर्यामी में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, ये तीन कलाएँ बतलाई गई हैं । साथ ही में यह भी कहा गया है कि, स्थितिलक्षणा ब्रह्मप्रतिष्ठा पर आगति-गतिलक्षण विष्णु-इन्द्र का आदान विसर्गात्मक व्यापार होता रहता है । यह विरुद्ध व्यापार ही इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्धा है । इस प्रतिस्पर्धा की आधारभूमि है-प्रापःवाक्-अन्न-अन्नाद । विकारक्षर की-प्राण-प्रापः-वाक्-अन्न-अन्नाद, ये पाँच कलाएँ बतलाई गई हैं । इन पाँचों के साथ क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि, इस पाँच अक्षरों का सम्बन्ध बतलाया गया है । इसमें प्राणकला का स्थितिलक्षण ब्रह्मा में अन्तर्भाव है । यही प्रधान अन्तर्यामी है । शेष चारों कलाओं की अग्नि-सोम सम्बन्ध से तीन ही कलाएँ रह जाती हैं । अप्कला का प्रधान सम्बन्ध विष्णु के साथ है वाक् कलाका प्रधान सम्बन्ध इन्द्र कला के साथ है एवं अन्नगर्भित अन्नादकला का प्रधान सम्बन्ध सोमगर्भित अग्नि कला के साथ है । आपः-वाक्-अन्नान्नाद, तीनों के अधिष्ठाता क्रमशः विष्णु-इन्द्र-सोमाग्नि ये तीन अक्षर हैं । इन तीनों में स्पर्धा के आधारभूत तीनों का आपः शब्द से ग्रहण कर लिया जाता है । कारण अब्गर्भ में वाक्-अन्नाद का समावेश है । इस अप्स्पर्धा से लोक-वेद-वाक् ये तीन भाव उत्पन्न होते हैं । विष्णु सम्बन्ध से अप् द्वारा लोक का विकास होता है—“लोकाः ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः” । इन्द्र-सम्बन्ध से वाग्द्वारा वेदतत्त्व का विकास होता है—‘वाग्विवृताश्च वेदाः’, एवं इन्द्रसोमगर्भित अग्नि-सम्बन्ध से वागन्नगर्भित अन्नाद से वाग्लक्षण वषट्कार का उदय होता है—‘तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् । इस प्रकार प्रकृतिभेद से लोकसाहस्री-वेदसाहस्री-वावसाहस्री, इन तीन साहस्रियों का जन्म हो जाता है । इसी साहस्री-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

उभाजिग्यर्थुर्न पराजयेथे, न पराजिज्ञ कतरश्च नैनोः ।

इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥

—ऋक्सं० ६, ६९, ८ ।

किं तत् सहस्रमिति ?-इमे लोकाः, इमे वेदाः,

अथो वागिति ब्रूयात्” (ऐत० ब्रा० ६ । १५ ।)

उक्त तीनों साहस्रियों में से प्रकृत में प्रधानरूप से वेदसाहस्री ही अपेक्षित है । इसके ऋक्-साम-यजुः, ये तीन पर्व हैं । तीनों में यजुः ही मुख्य है, यही पुरुष है । ऋक्साम ययोनाथ (छन्द-आयतन-सीमा) मात्रा हैं । यजुः में भी गतिप्रकृतिक (यत्)रूप प्राणतत्त्व ही मुख्य है । आत्मविद्याशास्त्र का ही नाम वेदशास्त्र है । आत्मतत्त्व ज्ञानशक्तिमयमन, क्रियाशक्तिमयप्राण, अर्थशक्तिमयीवाक् के भेद से त्रिकल है । आत्मकलाभेद से वेदशास्त्र भी तीन भागों में विभक्त हो रहा है । मनोविद्याशास्त्र आरण्यकोपनिषत्-शास्त्र है, प्राणविद्याशास्त्र त्रयी-(संहिता)-शास्त्र है एवं वाग्विद्याशास्त्र ब्राह्मणशास्त्र है । त्रयी की मूलप्रतिष्ठारूप यजुःप्राण से (जो कि मौलिकप्राण असत्, ऋषि, आदि नामों से प्रसिद्ध है) ही क्रमशः

पितर-असुर-देवता-गन्धर्व-पशु-पुरुष (वैश्वानर), आदि इतर सम्पूर्ण प्राणदेवताओं की सृष्टि हुई है। सृष्ट-ब्रह्म (विश्व) का मूल आरम्भक वेदप्राण ही है, जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ १ ॥ (१।२१)

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ २ ॥ (१२।६५)

पोडशीपुरुष वेदरूप में परिणत होकर ही उपलब्ध होता है। अतएव उपलब्धि को ही ब्रह्म कहा जाता है। अमृतात्मा सच्चिदानन्दलक्षण है। अतः वेद की भी सच्चिदानन्द से ही उपलब्धि होती है। “विन्दति इति वेदः” “वेत्ति-इति वेदः” “विद्यते-इति-वेदः” यही वेदशब्द का निर्वचन है। ‘अमुक पदार्थ है’ यह भी ‘विद्यते’ के अनुसार वेद है। यह निर्वचन सत्ताप्रधान है। सत्ताश्रम नामरूप कर्ममय भौतिक पदार्थ ही सत् है अमुक वस्तु है, उसे देवदत्त जानता है, यह दूसरा पर्व है। यह भी ‘वेत्ति’ के अनुसार वेद है। यह निर्वचन चेतनाप्रधान है। चेतनाश्रय भौतिक भाव ही चित् है। जो वस्तु है, जिसे देवदत्त जानता है, उसे वह प्राप्त कर लेता है। यह भी ‘विन्दति’ के अनुसार वेद है। यह निर्वचन रस-प्रधान है। वस्तु की प्राप्ति से ही आत्मा में तृप्तिलक्षण आनन्द का उदय होता है। अतएव तीसरा पर्व आनन्दरूप है, यही प्रिय है। इस प्रकार ‘अस्ति-भाति-प्रिय’ रूप से वेदमय बनकर अमृतात्मा सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वेद ही उसका विश्वरूप है। अतएव उसे वेदमूर्ति-वेदैकवेद्य, इत्यादि नामों से व्यव-हृत किया जाता है। अस्ति ही पदार्थ की उपलब्धि है। उपलब्ध पदार्थ ही रस है। यही वेद है। दूसरे शब्दों में उपलब्धि ही वेद है। जिसका वेद नहीं, उसकी उपलब्धि नहीं। आपको विश्वास करना चाहिए कि, विश्व में उत्पन्न होने वाले पदार्थों का विकास वेदपूर्वक ही हुआ है। पहले वेद का विकास होता है, अनन्तर वेदप्रतिष्ठा पर, दूसरे शब्दों में वेदगर्भ में तत्तद् भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वेदतत्त्व भौतिक पदार्थ से पहले विकसित होता है। अतएव इसे ‘प्रथमज’ कहा गया है। ऋषिप्राणात्मक (यजुःप्राणात्मक सप्तपुरुषपुरुषात्मक, यजुःप्रधान इसी प्रथमज ब्रह्म (त्रयीब्रह्म) का निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

‘ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-त्रय्येव विद्या । तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य

प्रथमजम् ।’ (शत० ६, १, १, १०) “त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि-

(अपश्यत्)” (शत० १०, ४, २, २२)

जब तक वेद है, तभी तक वेदमूलक संसार है। “सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति” “वेदोऽखिलं धर्ममूलम्” इत्यादि स्मार्त वचन भी इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

प्रकारान्तर से अव्यक्तात्मविवर्त्त पर दृष्टि डालिए। प्राणमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु, वाङ्मय इन्द्र, इन तीनों की समष्टि को हमने अन्तर्यामी कहा है। इस अन्तर्यामी के ही स्वभक्तियों की प्रधानता-अप्रधानता से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इन्द्र-विष्णुगर्भित प्राणमूर्ति ब्रह्मात्मक वही अव्यक्तात्मा अन्तर्यामी है। ब्रह्मा कभी केन्द्र नहीं छोड़ते। वे सदा अन्तःप्रविष्ट ही रहते हैं। केन्द्र में स्थिर रूप से प्रतिष्ठित प्राणमूर्ति ब्रह्मा इन्द्राविष्णु के आधार पर प्राणसूत्र द्वारा सब का नियमन करते हुए 'अन्तर्यामी' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं।

ब्रह्मेन्द्रगर्भित आपोमय विष्णवात्मक वही अव्यक्तात्मा सूत्रात्मा है। अव्यक्तात्मा जिस तत्त्व के आधार पर सातों लोकों में व्याप्त रहता है, उसी को सूत्रात्मा कहा गया है। वह व्याप्तिसाधन सत्यमूर्ति अप्रतत्त्व, किंवा आपोमय विष्णु ही है। वेवेष्टीव हि यज्ञम् इत्यादि निर्वचनों के अनुसार विष्णु को इस आप्ति (व्याप्ति) लक्षण अप्सम्बन्ध से ही व्यापक माना गया है। अतएव च ब्राह्मणश्रुति ने आपः का- 'यदाप्नोत्तस्मादापः'—'यदवृणोत् तस्माद्वाः' (शत० ६। १। १६) यह निर्वचन किया है। आपोमय विष्णु ही अशनायासूत्र का अधिष्ठाता बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। इसी विष्णुसूत्र से वह अव्यक्त सूत्रात्मा बना हुआ है।

विष्णुब्रह्मगर्भित वाङ्मय इन्द्रात्मक वही अव्यक्तात्मा वेदात्मा है। अव्यक्तात्मा जिस रूप से विश्वस्वरूप में परिणत होता है, वह यही वाग् विवर्त्तरूप इन्द्रात्मक वेद है। यजुःप्राण चित्तिधर्म के कारण

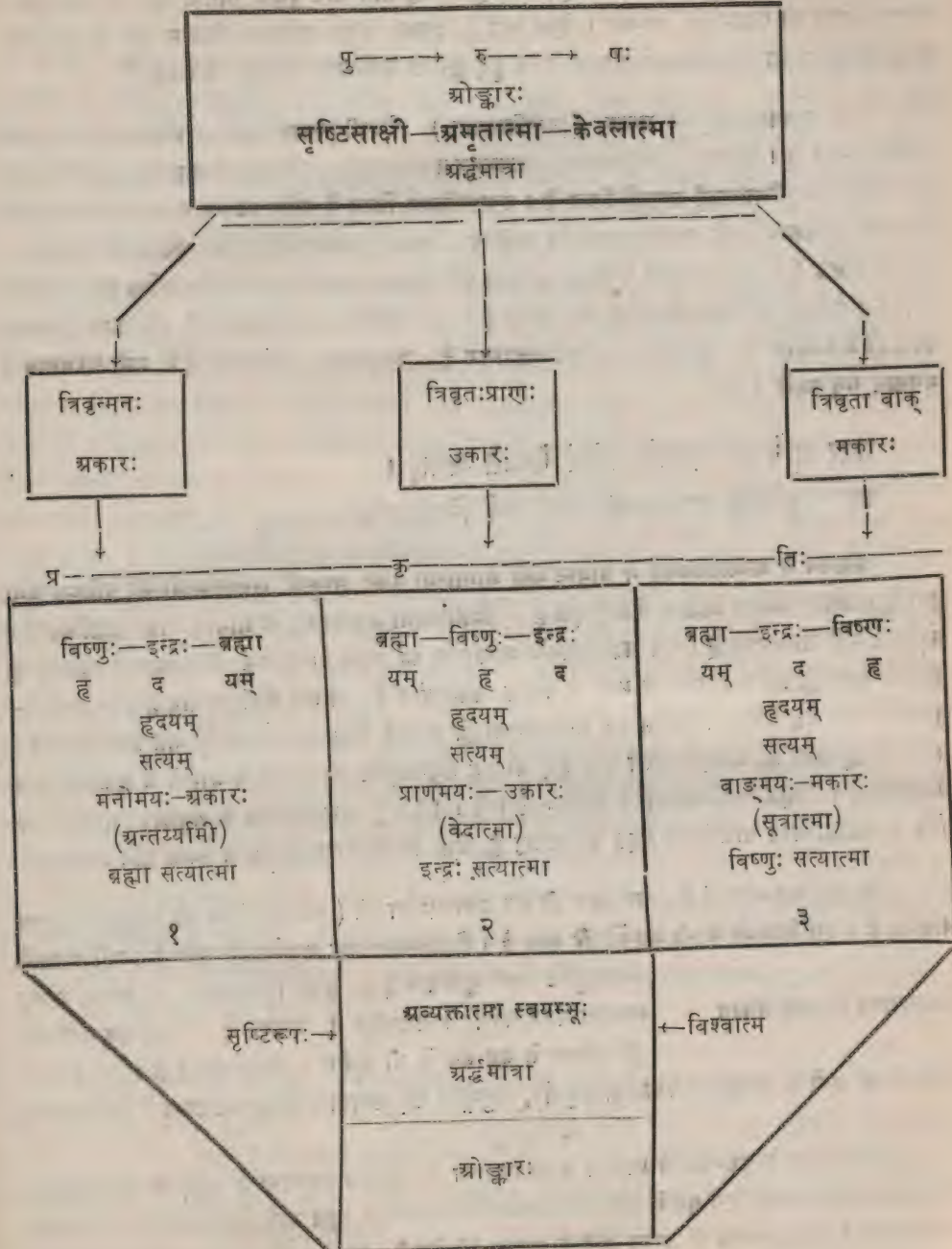
१ अत्यक्तात्मा

ब्रह्माप्राणमयः	विष्णुरापोमयः	इन्द्रोवाङ्मयः
↓	↓	↓
विष्णुब्रह्मगर्भितो ब्रह्मा	ब्रह्मेन्द्रगर्भितो विष्णुः	विष्णुब्रह्मगर्भित इन्द्रः
३-यम्	१-ह	२-द
अन्तर्यामी	सूत्रात्मा	वेदात्मा
१	२	३

आगे जाकर सप्तपुरुषात्मक बन जाता है। इस सप्तपुरुषसंस्था के मध्य का मुख्य प्राण ही—“योऽयं मध्यत ऐन्ध” (शत० १४।६।११।२) के अनुसार “इन्ध” कहलाया है। इन्धोह वै तविन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम् के अनुसार परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में इन्ध ही ‘इन्द्र’ नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाङ्मय इन्द्र की यजुरूपता भलीभाँति सिद्ध हो जाती है। वयरूप यजुर्मूर्ति यह इन्द्र वयोनाथ—(छन्द)—रूप ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर—‘ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी’ (ऐ० ब्रा०-२।२४) यह कहा जाता है। यही इन्द्र अग्निसोमसम्बन्ध से वेदप्रवर्तक बनता हुआ आगे जाकर भूतपति—भूतभावना—भूतयोनि—भूतनाथ, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार एक ही अव्यक्तात्मा अपेक्षा भेद से कथित तीन स्वरूपों में परिणत होता हुआ सर्वकर्मों (विश्वकर्मों) बन रहा है। ऋक्संहिता ने सर्वकर्मों इस अव्यक्तात्मा को “विश्वकर्म” नाम से ही व्यवहृत किया है। वेदरूप से वही अव्यक्तात्मा सब कुछ बन रहा है, नियतिरूप से वही सब का सञ्चालक बन रहा है एवं सूत्ररूप से वह सब के साथ, सब इसके साथ सम्बद्ध हो रहे हैं। यही पारस्परिक सम्बन्ध ‘सर्वहुत’ यज्ञ है। इसको लक्ष्य में रख कर—‘आत्मनि प्रजातिमवत्त’ यह कहा जाता है।

उक्त तीनों अव्यक्तात्मविवर्त्तों में क्रमशः ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र की प्रधानता के साथ इतर दोनों की भी सत्ता रहती है। फलतः प्रत्येक में सत्यस्वरूपसम्पादक हृदयभाव की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सत्य-मूर्ति अव्यक्तात्मा इन्हीं तीन पृथक् पृथक् सत्यविवर्त्तों के कारण त्रिसत्य बन जाता है। इसी आधार पर “त्रिः सत्या वै देवाः” यह अनुगम वचन प्रतिष्ठित है—यही त्रिसत्यमूर्ति, अतएव पुराणों में त्रिमूर्ति नाम से प्रसिद्ध अव्यक्तात्मा स्वयम्भू सातों लोकों की मूलप्रतिष्ठा है अतएव लोकान्तर्गत सम्पूर्ण वाग्व्यवहार त्रित्व मर्यादा से ही आक्रान्त हैं। उधर मनःप्राणवाङ्मय पुरुषात्मा (अमृतात्मा) त्रिसत्य था, इधर ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्रमय अव्यक्तात्मा भी य० सू० वे० भेद से त्रिसत्य है। स्वप्रकृत्यपेक्षया जहाँ ब्रह्मा प्राणमय किंवा प्राणप्रकृतिक है, वहाँ आत्मकलापेक्षया ब्रह्मा मनोमय है। स्वप्र० इन्द्र जहाँ वाक्प्रकृतिक है, आत्मापेक्षया वही प्राणमय है। स्वप्र० विष्णु जहाँ आपोमय है, आत्मापेक्षया वही वाङ्मय है। जिस प्रकार मनः—प्राण—वाक्, तीनों त्रिवृद्भावपुक्त होने से प्रत्येक त्रिमूर्ति हैं, एवमेव ब्रह्मादि तीनों (प्रत्येक) त्रिमूर्ति हैं—‘तमस्त्रि-सूक्तये तुभ्यं प्राक्मृष्टेः केवलात्मने’। मृष्टि से पहले मनःप्राणवाक् प्रधाना बनती हुई यह त्रिमूर्ति आत्मरूपा है। मृष्टचतुर्मुख बन कर यही प्रकृतिरूपा है, और इस तरह प्रकृति पुरुष का नित्य तादात्म्य सिद्ध हो रहा है।

हमारा मूलप्रभव उक्त लक्षण त्रिसत्य अव्यक्तात्मा है। दूसरे शब्दों में हमारी मूलप्रकृति की पूर्णता तीनों सत्तों पर अवलम्बित है, अतएव लौकिक—वैदिक सभी त्रित्वप्रवर्त्तक अव्यक्तात्मा ऐहिक पारमाथिक कर्मों की पूर्णता त्रित्व भाव पर ही समाप्त होती है। आचमन—प्राणायाम—स्वस्तिपाठ—आदि शास्त्रीय कर्मों का त्रित्व सब को विदित है। एवमेव लौकिक व्यवहार भी बिना तीन के अप्रतिष्ठित माने जाते हैं। न्यायालयों (कोर्टों) में वादी—प्रतिवादी (मुद्दई—मुद्दाअलेह) को वहाँ का भृत्य (चपरासी) तीन ही बार आवाज लगाता



है, यह कौन नहीं जनता। बैंकों के सिपाही, कौन है ? , यह तीन बार पूछेंगे, तीसरी बार भी आगन्तुक ने उत्तर न दिया तो फायर हो जायगा। ऐसा क्यों ? , इसका उत्तर वर्तमान विज्ञान भले ही न दे सके, परन्तु वेदमहर्षि आत्मवित्त्ववाद को आगे करते हुए हमारा सर्वात्मना सन्तोष कर रहे हैं।

इस अव्यक्तात्मा का प्रभव (उत्पत्तिस्थान) षोडशीपुरुषावच्छिन्न, प्राणप्रधान, अपौरुषेय ऋग्वेदपुरञ्जन है। प्रतिष्ठा (स्थितिस्थान) स्वायम्भुव हृदयबिन्दु है। योनि (आगमनद्वार) ब्रह्म (आत्मक्षर) है। आशय (व्याप्तिस्थान) सम्पूर्ण विश्व है। पञ्चपर्वीत्मक विश्व में सर्वत्र व्याप्त प्रलय एवं खण्डप्रलयाधिष्ठाता विश्वकर्मा यही स्वयम्भू प्रजापति बलेश्वर, किंवा बलशात्मक विश्व की अपेक्षा से 'विश्वेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। यह सत्यमूर्ति परोरजा भगवान् पूर्व कथनानुसार नित्य अशान्ति-गर्भित नित्य शान्तिमूर्ति है। अतएव इसे 'शान्तात्मा' भी कहा जाता है। इस प्राणदेव का उदयकाल ही सृष्टिकाल है, अस्तकाल ही प्रलयकाल है। सृष्टिकाल इसका अहरागम है, प्रलयकाल रात्र्यागम है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ (मनु: १।५२)

अंशरूप से अध्यात्मजगत् में प्रविष्ट यही शान्तात्मा इतर सम्पूर्ण खण्डात्माओं की प्रतिष्ठा बना हुआ है। प्राज्ञखण्डात्मा विज्ञान में अनुस्यूत है। विज्ञानात्मा महानात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है। सर्वाधार यही शान्तात्मा है। इस आध्यात्मिक शान्तात्मा का प्रभव बलशात्मक विश्वव्यापक स्वयम्भू है, प्रतिष्ठा हृदय है, योनि परमाकाश नाम से प्रसिद्ध परमव्योम है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। अन्तर्व्यामी-सूत्रात्मा-वेदात्मा, भेदभिन्न त्रिकल यह अव्यक्तात्मा ही सम्पूर्ण विश्व का कारण है, यह प्राणप्रधान है। प्राण असङ्ग तत्त्व है, अतएव कारण होते हुए भी यह मैथुनीसृष्टि की अपेक्षा से शास्त्रों में अकारण नाम से प्रसिद्ध है। 'महत्: परमव्यक्तम्' (कठोप० १।३।११।) इस सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त स्वयम्भू ही व्यक्ताव्यक्त पारमेष्ठ्य महत् का कारण है, जैसा कि महदात्मप्रकरण में स्पष्ट होने वाला है।

हम यह कह आए हैं कि, वेद भाग ही इस अव्यक्तात्मा की (भौतिक विश्व की अपेक्षा से) मुख्य प्रतिष्ठा है। इस वेदत्रयी में भी यजुर्वेद ही मुख्य है। स्थितिगत्यात्मक यजुर्वेद ही पुरुष है। यही भौतिकी चित्सृष्टि का मूलाधार है। जूरूप स्थितितत्त्व की अपेक्षा से यह अव्यक्त तत्त्व सर्वथा कम्पनरहित है, अनेजत् है। यत्-रूप गतितत्त्व की अपेक्षा से यह मन से भी जवीय (शीघ्रगामी) है। अपने इन्हीं दोनों विरुद्ध रूपों से यजुर्मूर्ति परोक्षभाषानुसार, यजुर्मूर्ति यह अव्यक्त समष्टि-व्यष्टिरूप से सर्वत्र व्याप्त

ऋग्वेद नाम के पुरञ्जन से आरम्भ में अव्यक्तात्मा का विकास बतलाया है। यह वेद पुरुषरूप होने से अपौरुषेय कहलाता है, एवं पूर्व में अव्यक्त के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले जिस वेदात्मा का दिग्दर्शन कराया गया है, वह पुरुषगर्भ में उत्पन्न होने के कारण पौरुषेय है। यह वेद उस मूलवेद से भिन्न पदार्थ है।

हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ पर दृष्टि डालिए, वह आपको ठहरता हुआ चलता दिखाई देगा। बनना स्थितिमूलक है, बिगड़ना गतिमूलक है। प्रत्येक पदार्थ बनता हुआ बिगड़ रहा है। समुद्रतरङ्गों की भाँति प्रत्येक पदार्थ उच्चावचभावों से नित्य आक्रान्त है। यही अव्यक्तात्मा के साक्षात् दर्शन हैं। आविर्भाव-काल स्थितिकाल है, तिरोभावकाल गतिकाल है। आविर्भावकाल में वह अव्यक्त व्यक्त है, तिरोभावकाल में वही व्यक्त अव्यक्त है। आविर्भाव वस्तु का व्यक्तभाव है, व्यक्तता ही व्यक्तिभाव है, व्यक्तिभाव ही तत्त्व पदार्थों की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) है। एक एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अभिव्यक्तिलक्षण इस व्यक्तिभाव की प्रतिष्ठारूप यही एकमात्र अव्यक्तात्मा बन रहा है। अमृतात्मा की भाँति इस अव्यक्तात्मा का भी कर्मभोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर में रहता हुआ भी, शरीरपरिच्छिन्न होता हुआ भी असङ्ग प्राणमय होने से यह आकाशात्मा कर्मलेप से सर्वथा असङ्ग है। यहां भूतज्योति का अभाव है, केवल ज्ञानज्योति (अमृतात्मज्योति) ही इसकी आधारभूमि है। यह असङ्ग अव्यक्त तत्त्व ही विश्व की बहिरङ्ग प्रकृति है। इस खण्ड तत्त्व के साथ भी सर्वव्यापक, आत्मयोनिस्वरूप उस अखण्ड षोडशी आत्मा का सम्बन्ध होता है। अतएव क्षररूप, अतएव प्रकृतिरूप होते हुए भी इसे 'अव्यक्तात्मा' इस प्रकार आत्मशब्द से व्यवहृत किया जाता है। खण्डात्माओं में यह पहला 'प्राकृतात्मा' है। इसका प्रधान कर्म है—सर्वथा विभिन्न संस्था वाले शरीर को एकसूत्र में बद्ध रखना, शारीर धातुओं का अव्यक्तरूप से निर्माण करना एवं उनका नियतरूप से यथास्थान सन्निवेश करना, नवीन नवीन भूतों को उत्पन्न करते रहना, पूर्व पूर्व भूतों का विलयन करते रहना। प्रसङ्गोपात्त यह और जान लीजिए कि, जिस प्रकार अध्यात्मसंस्था में यह 'अव्यक्तात्मा शान्तात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध है। एवमेव आधिभौतिक संस्था में यही "गुहा" नाम से प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत भेद से त्रिसंस्था बनता हुआ '१ स्वयम्भू २ अव्यक्त-३ गुहा-इन तीन नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। अव्यक्तसंस्था में भूत-प्राण-भेद से दो तत्त्व नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। बलभाग का विकास भूत है, रसभाग का विकास प्राण है। प्राणपेक्षया वह स्वयम्भू कहलाया है, भूतापेक्षया वही आकाश कहलाया है। इसी आकाश को 'वाग्ब्रह्म' कहते हैं। इसी "सत्यावाक्" दूसरे शब्दों में अनादिनिधना नित्या वेदवाक् के (स्वयम्भू के) उदर में सम्पूर्ण विश्व समा रहा है, जैसा कि-**'अथो वागेवेदं सर्वम्'** "वाचीमा विश्वा भुवनान्यापिता" इत्यादि श्रौत वचनों से स्पष्ट है। षोडशी पुरुष विश्वात्मा है। इसी विश्वात्मा से सर्वप्रथम आकाशात्म अव्यक्त स्वयम्भू का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी अभिप्राय से **"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"** (तै० उप०) यह कहा गया है।

आत्मोत्क्रान्ति के अनन्तर यह अव्यक्तात्मा सर्वव्यापक प्राणभूति आकाशात्मा में यहां का यहीं विलीन हो जाता है। असङ्गत होने से कर्मबन्धन से सर्वथा पृथक् रहता हुआ परोरजाप्राणभूति यह अन्य-क्तात्मा लोकान्तर में गमन नहीं करता - घट के फूटते ही घटाकाश जैसे लोकान्तर प्रकरणोपसंहार में गमन न कर वहीं परमाकाश में लीन हो जाता है, एवमेव शरीरनिधन के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह स्वप्रभव व्यापक परमाकाश में लीन हो जाता है। लोकान्तर में गमन करने वाले कर्मात्मा के साथ बिन्दु बिन्दु पर नवीन-नवीन अव्यक्त (आकाश) का सम्बन्ध होता रहता है। इसी अव्यक्त विलयन को लक्ष्य में रख कर **"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति,**

इहैव समवलीयन्ते" यह कहा गया है । श्राद्धकर्मादि का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । आप अपने कर्म से न इस का उपकार कर सकते, न अपकार । त्रिकल अव्यक्तात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है । अब क्रमप्राप्त यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

तदित्थं—वेद—सूत्र—नियतिर्भेदेन त्रिकलोऽयं स्वयम्भूरव्यक्तात्मा
व्याख्यातो द्रष्टव्यः

समाप्ता चेयं श्रीश्रीविज्ञानान्तर्गत—'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां
प्रथम खण्डात्मिकायां

'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्'
द्वितीया

❧ इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य द्वितीय खण्ड में देखना चाहिए ।

- (३) { १-अधिदैवतम्—परमेष्ठी (पूर्णमदः) } (२)
 { २-अध्यात्मम्—अहरहर्यज्ञः (पूर्णमिदम्) }

अथ

“यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्” तृतीया

यज्ञात्मा—प्राकृतात्मा-परमेष्ठी (२)

१-ज्ञानानुगतश्चिदंशः (चिदात्मा)

२-अग्नीषोमयोश्चिदंशभोगः (यज्ञात्मा)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१॥

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥२॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३ अ० श्लो० १०, ६, १

यज्ञात्मस्वरूपपरिचयः—(अग्नीषोममयः
शिपिविष्टात्मा)

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मभिरायतः ।

इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥१॥

ऋक्सं० १०।१३०।१

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधिनाके अस्मिन् ।

इमे मयूखा उप सेदुरु सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥२॥

—ऋक्सं० १०।१३०।२

सहस्तोमाः सहस्रन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः ।

पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥३॥

—ऋक्सं० १०।१३०।७

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नुषिषु प्रविष्टाम् ।

तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥४॥

—ऋक्सं० १०।७।१३

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।

आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥५॥

—ऋक्सं० १।८३।५

अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।

अतएव हविः क्लृप्त—‘मग्नीषोमात्मकं जगत्’ ॥६॥

—बृहज्जावालोपनिषत् २।४

ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम अधःशक्तिमयोऽनलः ।

ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥७॥

—वृ० जा० उ० २।५

आन्यं दिवो मातरिदवा जभारामथ्नादन्यं परिश्येनो अद्रेः ।

अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम् ॥८॥

—ऋक्सं० १।६३।६

वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा केचिदत्रिणः ।

अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥९॥

—ऋक्सं० १।६४।६

यो वेद गहनं गुह्यं पावनं च ततोदितम् ।

अग्नीषोमपुटं कृत्वा न स भूयोऽभिजायते ॥१०॥

—वृ० जा० उ० २।१५



यज्ञात्मब्रह्मणे नमः

यज्ञात्मा-परमेष्ठी

‘यज्ञोब्रह्म’ त्युपास्व

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृळयन्तः ।

आवोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवो वित्तरासत् ॥ ऋक्सं० १।१०७।१।

तस्माद्यज्ञात् सर्गहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋक्सं० १०।६०।६।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ ऋक्सं० १०।६०।१६।

यदमाहते न सिद्धयति यज्ञो विपश्चितश्चन ।

स धीनां योगमिन्वति ॥ ऋक्सं० १।१५।७।

प्राणमय अव्यक्तमूर्ति स्वयम्भू प्रजापति (परमप्रजापति) के ‘साहस्रीमण्डल’ (महिमामण्डल, विभूतमण्डल, वैश्वरूप्य आदि नामों से व्यवहृत वषट्कारमण्डल) में भृग्वङ्गिरोमूर्ति आपो-मय परमेष्ठीतत्त्व प्रतिष्ठित है । जिस प्रकार अव्यक्त स्वयम्भू के अधिष्ठाता पारमेष्ठ्यतत्त्व परिचय प्रधान देवता प्राणप्रकृतिक ‘ब्रह्मा’ हैं, एवमेव व्यक्ताव्यक्त मूर्ति यज्ञात्मक परमेष्ठी के अधिष्ठाता प्रधान देवता अप्रकृतिक ‘विष्णु’ हैं । विष्णु ही यज्ञ के अन्यतम स्वरूप समर्पक माने गए हैं । इसी आधार पर विष्णुतत्त्व का ‘वेवेष्टीव हि यज्ञम्’ यह निर्वचन किया जाता है । कठोपनिषच्छ्रुति के अनुसार यह पारमेष्ठ्य आत्मतत्त्व महानात्मा नाम से भी व्यवहृत हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

यच्छे-१द्वाङ् मनसी-२ प्राज्ञ-स्तद्यच्छेज्-३ ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञान-४ मात्मनि महति-नियच्छेत् तद्यच्छे-५ च्छान्त आत्मनि ॥

—कठोपनिषत् १ । ३ । १३ ।

हमारी अध्यात्मसंस्था में १-शरीर, २-प्राणात्मा, ३-प्रज्ञानात्मा, ४-विज्ञानात्मा, ५-महानात्मा, ६-शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा), ये ६ विभाग माने गए हैं, शरीर के आधार पर १-इन्द्रियप्राण, २-वाक्, ३-इन्द्रिय-मन का अधिष्ठाता तथा ४-प्राणात्मा (कर्मता-भोक्तात्मा) आत्मसोपानपरम्परा प्रतिष्ठित हैं। इन चारों की समष्टि 'पार्थिव-प्रपञ्च' है। पृथिवी से ऊपर चन्द्रमा है। इससे सर्वेन्द्रिय, अनिन्द्रिय, अतीन्द्रिय, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध प्रज्ञानात्मा (मन) का विकास होता है। चन्द्रमा से ऊपर सूर्य है। सूर्याग्न्युत विज्ञानात्मलक्षण ज्ञान ही बुद्धि है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी है। तदंश महानात्मा है। परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है। तदंश शान्तात्मा, किंवा अव्यक्तात्मा कहलाया है। अव्यक्त से परे उक्त पञ्च-प्राकृतात्माधिष्ठाता षोडशीपुरुष है। आत्म-विवर्त की यही पराकाष्ठा है। इसीका स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

१-	१-	पुरुषः षोडशी (अमृतात्मा)	१-	१-	पुरुषः षोडशी (अमृतात्मा)	१-	१-	पुरुषः षोडशी (अमृतात्मा)
२-	१-	स्वयम्भूः (प्राणमयः)	२-	१-	अव्यक्तात्मा (प्रा०)	२-	१-	गुहा (प्रा०)
३-	२-	परमेष्ठी (आपोमयः)	३-	२-	महानात्मा (आ०)	३-	२-	आपः (आ०)
४-	३-	सूर्यः (वाङ्मय)	४-	३-	विज्ञानात्मा (वा०)	४-	३-	ज्योतिः (वा०)
५-	४-	चन्द्रमाः (अन्तमयः)	५-	४-	प्रज्ञानात्मा (अ०)	५-	४-	अमृतम् (अ०)
६-	५-	महापृथिवी (प्राणाग्नि०)	६-	५-	प्राणात्मा (प्रा०)	६-	५-	रसः (प्रा०)
७-	१-	भुविण्डः (भूताग्निमयः)	७-	१-	शरीरम् (भू०)	७-	१-	पिण्डः (भू०)

आधिदेविकप्रपञ्च

आध्यात्मिकप्रपञ्च

आधिभौतिकप्रपञ्च

१

२

३

<p>आधिदैविकप्रपञ्च</p> <p>१</p>	<p>आध्यात्मिकप्रपञ्च</p> <p>२</p>		
<p>१</p> <p>बलेश्वरो विश्वकर्मा</p> <p>↓</p> <p>प्रकृतितन्त्रेश्वरः</p>	<p>२</p> <p>असंज्ञजीवाः</p> <p>↓</p> <p>धातवः</p>	<p>२</p> <p>अन्तःसंज्ञजीवाः</p> <p>↓</p> <p>औषधिवनस्पतयः</p>	<p>३</p> <p>ससंज्ञजीवाः</p> <p>↓</p> <p>कुमिकीटपक्षि- पशुमनुष्याः</p> <p>अध्यात्मम्</p>
<p>१-स्वयम्भूः (प्राणमयः)</p> <p>२-परमेष्ठी (आपोमयः)</p> <p>३-सूर्यः (वाङ्मयः)</p> <p>४-चन्द्रमाः (अन्नमयः)</p> <p>{ ५-सर्वज्ञः (आदित्यमयः)</p> <p>६-हिरण्यगर्भः (वायुमयः)</p> <p>७-विराट् (अग्निमयः)</p> <p>{ ८-भूषिण्डः (भूतमयः)</p>	<p>१-गुहा</p> <p>२-आपः</p> <p>३-ज्योतिः</p> <p>४-अमृतम्</p> <p>{ × ×</p> <p>× ×</p> <p>{ ५-वैश्वानरः (अग्निरसः)</p> <p>६-पिण्डः</p>	<p>१-गुहा</p> <p>२-आपः</p> <p>३-ज्योतिः</p> <p>४-अमृतम्</p> <p>{ × ×</p> <p>{ ५-तैजसः (वायुरसः)</p> <p>६-वैश्वानरः (अग्निः)</p> <p>७-पिण्डः</p>	<p>१-अव्यक्तात्मा</p> <p>२-महानात्मा</p> <p>३-विज्ञानात्मा</p> <p>४-प्रज्ञानात्मा</p> <p>{ ५-प्राज्ञः</p> <p>६-तैजसः</p> <p>{ ७-वैश्वानरः</p> <p>८-शरीरम्</p>
<p>अष्टकलः प्रकृतितन्त्रेश्वरः</p> <p>१</p>	<p>षट्कलोपेता- असंज्ञजीवाः</p> <p>१</p>	<p>सप्तकलोपेता- अन्तःसंज्ञजीवाः</p> <p>२</p>	<p>अष्टकलोपेताः— ससंज्ञजीवाः</p> <p>३</p>
<p>पूर्णमदः—→</p> <p>तदमुत्र</p> <p>(रसप्रधानसंस्था)</p>	<p>पूर्णमिदम्</p> <p>यदेवेह—→</p> <p>बलप्रधानसंस्था</p>		

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषात् परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ (कठ० १। ३। १०-११)

इन्द्रियार्थसमष्टिरूप, शरीरानुगृहीत प्राणात्मा पहला विवर्त्त है। इससे परे मन (प्रज्ञानात्मा) है, मन से परे बुद्धि (विज्ञानात्मा) है, बुद्धि से परे महानात्मा है, महान् से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे पुरुष है। यही परंपरायण है। श्राद्धकर्म के अतिरिक्त सर्वत्र इसी क्रम की प्रधानता समझनी चाहिए। अधि-दैवत-अध्यात्म-अधिभूत, तीनों संस्थाओं में उक्त सभी (६ओं) विवर्त्तों का भोग हो रहा है, जैसा कि पूर्व परिलेख से स्पष्ट हो जाता है—

दर्शनशास्त्र ने प्रधानरूप से आधिदैविक (ईश्वर), आध्यात्मिक (जीव) भेद से दो ही विवर्त्तों को प्रधानता दी है। स्वयं उपनिषत् ने भी “यदेवेह तदमुत्र” पूर्णमदः पूर्णमिदम्” (ई०) इत्यादि रूप से इह (यहां), अदः (वह), इदं (यह), ये दो ही विभाग माने हैं। ये ही दोनों अधः इदं विवर्त्त विभाग दर्शनों में ऐहिक-आमुष्मिक, नामों से व्यवहृत हुए हैं। पूर्व प्रदर्शित आधिभौतिक पदार्थों को असंज्ञजीव मानते हुए उनका आध्यात्मिक संस्था में ही अन्तर्भाव मान लिया गया है, जैसा कि कोष्ठक (१७१ पृष्ठ) से स्पष्ट हो जाता है।

यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि, उक्त आत्मविवर्त्तों में महानात्मा का परमेष्ठी से सम्बन्ध बतलाया गया है। साथ ही पूर्वोक्त कठश्रुति भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है। ऐसी स्थिति में महानात्मा को (प्रकृत श्राद्धप्रकरण में) चान्द्र बतलाना, साथ ही परमेष्ठ्य आत्मा यज्ञात्मस्वरूपसमन्वय को ‘यज्ञात्मा’ नाम से व्यवहृत कराना कैसे सज्जत हो सकता है ?। इस प्रश्न के उत्तर में अभी यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि, ईश्वरीय संस्था में चन्द्रमा और परमेष्ठी, दोनों सजातीय पर्व हैं। ॐ तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत् (तै० ब्रा० १.-१, ३, १०,) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार पृथिवी के तृतीय द्युलोक स्थानीय परमेष्ठी में भी सोम है। दूसरे शब्दों में परमेष्ठी भी सोममय है, एवं—“एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः” (शत् १-६-४-५,) के अनुसार भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगाने वाला, पृथिवी का उपग्रहभूत अत्रिप्राणारब्ध प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रमा भी सोममय ही है। यह सोमपिण्ड (चन्द्रपिण्ड) सौररश्मियों के सम्बन्ध से प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए इसे चन्द्रमा (चन्द्रिकायुक्त-प्रकाशयुक्त) कहा जाता है। विज्ञानभाषा में यही ‘भास्वरसोम’ नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य के ऊपर प्रतिष्ठित रहने वाला भूतज्योति से असंस्पृष्ट, किन्तु ज्ञान-

ॐ “नभोऽन्तरिक्षं गगनम्” इत्यादि के अनुसार सूर्य और पृथिवी का (अन्तरिक्ष नाम का) अन्तराल प्रवेश पहला द्युलोक है, सूर्य दूसरा द्युलोक है, इस क्रम से परमेष्ठी तीसरा द्युलोक बन जाता है। पृथिवी से तीसरे इस द्युलोक में (परमेष्ठी में) सोम प्रतिष्ठित है। सुपर्णरूप में परिणत अष्टाक्षरा गायत्री इसी सोम का अपहरण करती है—जैसा कि “एतद् सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते” इत्यादि रूप सुपर्णाख्यान से स्पष्ट है।

ज्योति का ग्राहक, अतएव ज्ञानज्योतिर्मय पारमेष्ठ्य सोम 'दिक्सोम' नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रियविज्ञान के अनुसार चान्द्रसोम जहाँ मन का आरम्भक है, वहाँ दिक्सोम श्रोत्रेन्द्रिय का स्वरूप समर्पक माना गया है। (देखिये ऐ० उप० २-४) चन्द्रमा प्रकाश का अधिष्ठाता है। दूसरे शब्दों में प्रकाशित सोम है। प्रकाश ही वस्तु रूपों का अधिष्ठाता है अतएव तद्रूपमन रूपों का ग्राहक बनता है। दिक्सोम ज्ञान का अधिष्ठाता बनता हुआ श्रोत्रेन्द्रियरूप में परिणत होकर शब्दज्ञान का अधिष्ठाता बनता है। शब्दश्रवण ज्ञानोदय का अन्यतम एवं प्रधानद्वार है। ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो परा-पश्यन्ती-मध्यमा-बैखरी नाम के वाक्विवर्त्तो (शब्दविवर्त्तो) में से किसी एक से सम्बन्ध न रखता हो। इसी अभिप्राय से सेतुकार कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाहते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥—भर्तृहरिप्रणीतवाक्यपदी ।

परमेष्ठी में केवल ज्ञानप्रकाश है, वहाँ सूर्य से सम्बन्ध रखने वाली भूतज्योति का अभाव है। अतएव तदंशभूत श्रोत्रनिष्ठ शाब्दज्ञान केवल ज्ञानप्रकाश का ही उत्तेजक बनता है। वहीं पारमेष्ठ्य चिद्युक्त सोम प्रवर्यविद्या के अनुसार अंशात्मना परमेष्ठी से प्रवृत्त (पृथक्) होकर सौर प्रकाश से भी युक्त हो जाता है। अतएव तदंशभूत मन चिन्मय सोम के सम्बन्ध से जहाँ विषयज्ञान का अधिष्ठाता बनता है, वहाँ यह भूतज्योति के प्रभाव से विषयरूपों का भी अनुग्राहक बन जाता है। वक्तव्य यही है कि, परमेष्ठी—एवं चन्द्रमा, तात्त्विकदृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, एक वस्तुतत्त्व (सोम) हैं। महत्तत्त्व का आगमन यद्यपि परमेष्ठी से ही होता है। परन्तु उसके आगमन का द्वार चन्द्रमा ही है, जैसा कि आगे के महात्म-प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा। अतः महानात्मा को चन्द्रमा की भी वस्तु मान लिया जाता है। साथ ही में प्रेतपितरों की आधारभूमि चन्द्रमा है। पितरप्राणावच्छिन्न महत् का प्रधानरूप से चन्द्रमा के साथ ही सम्बन्ध है। इसलिए भी इस श्राद्धप्रकरण में हमने महानात्मा को चान्द्र माना है। रही श्रुतिविरोध की बात। इसका निराकरण भी किया जा सकता है। वही पारमेष्ठ्य महत् सोम चन्द्रमा का स्वरूप समर्पक है, अतः चन्द्रमा को भी महान् कहा गया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

“तमब्रवीत्—महादेवोऽसीति । तद्यत्तस्य तन्नामाकरोत्, चन्द्रमास्तद्रूपम-

भवत् । प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः । प्रजापतिर्वै महान् देवः—(शत० ६ । १ । ३ । १ ।)

परमेष्ठी यज्ञ का अधिष्ठाता है। यही महानात्मा है। अतएव इस यज्ञ को भी महान् कहा जा सकता है। उधर आधिदैविक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठारूप चन्द्रमा भी यज्ञमूर्ति ही है। चन्द्रमा यज्ञ के ब्रह्मा माने गए हैं—“ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु” (यजुः २३ । १३ ।) “चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः” (१३ । २ । ७ । ७ ।) । यज्ञमूर्ति सोमस्य परमेष्ठी महान् है, इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए निम्नलिखित श्रौत-वचन हमारे सामने आते हैं—

१—“स (सोमः) तायमानो जायते । स यज्जायते, तस्माद्यज्जः ।

यज्जो ह वै नामैतद्यज्ञ इति” (शत० ३। ६। ४। २३)

२—“यज्ञो वा ऋतस्य (परमेष्ठिनः) योनिः” (शत० १। ३। ४। १६)

३—“एष ह वै महान् देवो यद्यज्ञः” (गो० पू० २। १६।)

इस प्रकार कहीं पारमेष्ठ्य यज्ञात्मक तत्त्व को महानात्मा कहना, कहीं चान्द्रतत्त्व को महानात्मा बतलाना उक्त प्रकरण से सर्वथा समन्वित हो जाता है। प्रकृत प्रकरण में यज्ञात्मदृष्टि से ही परमेष्ठी का उपवृत्तरण अपेक्षित है।

पूर्व के अव्यक्तात्मप्रकरण में वेद—सूत्र—अन्तर्यामी, भेद से अव्यक्तात्मा के तीन विवर्तों का निदर्शन कराया गया है। वहीं प्रकरणोपसंहार में यह भी बतलाया गया है कि, हृत्प्रतिष्ठ अन्तर्यामी ब्रह्मा—प्रधान है। यह आलम्बन है। सूत्ररूप से बाहर यज्ञात्मा के यज्ञ-चित् नामक दो विवर्त निकल कर सब को परस्पर में बद्ध रखने वाला सूत्रात्मा विष्णुप्रधान है, एवं वस्तुओं का आरम्भक बनने वाला वेदात्मा इन्द्रप्रधान है। अव्यक्तावस्था में यही तीनों शान्तात्मा के स्वरूप सम्पादक रहते हैं एवं व्यक्तावस्था में आकर ये ही तीनों यज्ञात्मा के आरम्भक बन जाते हैं। इस यज्ञात्मा के ही चित्सम्बन्ध से आगे जाकर १—यज्ञात्मा, २—चिदात्मा, ये दो विवर्त हो जाते हैं। दोनों में से सर्वप्रथम यज्ञात्मा का ही संक्षिप्त निदर्शन कराया जाता है।

आवपन—अन्नाद—अन्न, इन तीन तत्त्वों के संगतिकरण का ही नाम यज्ञ है। आवपन ‘सं ब्रह्म’ है, अन्नाद ‘रं ब्रह्म’ है, अन्न ‘कं ब्रह्म’ है। तीनों की समष्टि यज्ञमूर्ति (विष्णुमूर्ति) ‘शं ब्रह्म’ है। जब तक त्रिकल यज्ञ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक विश्व में शान्ति है। जिस समय आवपन—अन्नाद—अन्न का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, यज्ञसंस्था उच्छिन्न हो यज्ञात्मक विष्णु का स्वरूप परिचय जाता है, अव्यवहितोत्तरकाल में ही विश्व अव्यक्तगर्भ में विलीन हो जाता है। इष्टप्राप्ति ही शंभाव है। इधर—‘सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्त्विष्टकामधुक्’ इत्यादि स्मार्त वचन यज्ञ को ही इष्टकामधुक् (यथेच्छफलावाप्तिसाधक) बतलाती है। यज्ञ की उक्त तीनों कलाओं में से आवपन का अन्तर्यामी ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध है। अन्नाद का वेदात्मा इन्द्र के साथ सम्बन्ध है, एवं अन्न का सूत्रात्मा विष्णु के साथ सम्बन्ध है। विज्ञवाऽकों को स्मरण होगा कि, अमृतात्मा का स्वरूप बतलाते हुए हगने अक्षर को गतिधर्मा बतलाया था। साथ ही में एक ही गतितत्त्व के स्थिति—विशुद्ध आगति—विशुद्धगति—स्थिति—गमिता आगति—स्थितिगमिता गति ये पांच विवर्त बतलाते हुए इन्हीं पांचों विवर्तों को क्रमशः ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र—सोम—अग्नि—कहा था। यज्ञस्वरूप परिज्ञान के लिए पुनः एक बार इन्हीं अक्षरकलाओं पर ध्यान देना आवश्यक होगा। विष्णुतत्त्व विशुद्ध रूप से जहां आगति है, वहां वही स्थितिगर्भ में

प्रविष्ट होकर सोम बन रहा है। सोम संकोचधर्मा स्नेह तत्त्व है, दाह्यगुणक है, एवमेव इन्द्रतत्त्व विष्णु-
द्वरूप से जहां गति है, वहां वही स्थिति के गर्भ में प्रविष्ट होकर अग्नि बन रहा है। अग्नि विकासधर्मा
तेज तत्त्व है, दाहकगुणक है। इन्द्रा-विष्णु एक युग्म है। अग्नीसोम एक युग्म है। विष्णु-सोम सजा-
तीय हैं। इन्द्राग्नी सजातीय हैं, दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, विष्णु ही विकासावस्था में
आकर सोम बना हुआ है, एवं इन्द्र ही विकासावस्था में आकर अग्नि बना हुआ है। इस प्रकार ब्रह्मा-
विष्णु सोम-इन्द्राग्नी ये तीन विभाग हो जाते हैं। विष्णु ब्रह्मा (स्थिति), विष्णु विष्णु (विष्णु
आगति), विष्णु इन्द्र (विष्णु गति), इन तीनों का समुच्चय अव्यक्तात्मा है। यदि इनके साथ अग्नि-सोम
का सम्बन्ध हो जाता है, दूसरे शब्दों में इन्द्राविष्णु यदि अग्नीसोमरूप में परिणत हो जाते हैं, तो वही
अव्यक्त अग्नि-सोम के सम्बन्ध से व्यक्त विश्वरूप में परिणत होकर "यज्ञात्मा" नाम से प्रसिद्ध हो जाता
है। विष्णुद्वरूप से तीनों क्रमशः अन्तर्यामी-सूत्रात्मा-वेदात्मा हैं, यज्ञरूप से ये ही तीनों आवपन-अन्न-
अन्नाद हैं। अग्नि अन्नाद है, अन्न सोम है। आवपन आधारभूमि है, मूलप्रतिष्ठा है, खं ब्रह्म (आकाश) है।
ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत० ६।१।१।८) के अनुसार ब्रह्मा वास्तव में आवपन है। यही अन्त-
र्यामी है। विष्णुसहचारी सोम अन्न है। अतएव विष्णु को सोमवंशी कहा जाता है, जैसा कि—“सोमो
वैष्णवो राजा” (शत० १३।४।३।८) “यो वै विष्णुः सोमः सः” (शत० ३।६।३।१६) इत्यादि
तिगम वचनों से स्पष्ट है। विज्ञानदृष्ट्या सोम भिन्न है, विष्णु पृथक् तत्त्व है। इस अभिप्राय को लक्ष्य
में रखकर सोम को विष्णु न कह कर वैष्णव (विष्णुयुक्त) कहा गया है। साथ ही में दोनों का तार-
तम्य है। इस अभिप्राय से ‘यो वै विष्णुः सोमः सः’ यह कह दिया गया है। यही सूत्रात्म-विवर्त है।
विष्णु सूत्रात्मा है, किंवा सूत्रात्मा विष्णुप्रधान है। विष्णु ने जिस से सूत्र से सम्पूर्ण प्रजा पर अपना अधि-
कार जमा रखा है, वह यही सोमान्नसूत्र है। सब अन्न से गृहीत हैं, अन्नाधीन हैं। अतएव ग्रहोपनिषत्
ने अन्न को ग्रह कहा है। जैसा कि श्रुति कहती है—

“अन्नमेव ग्रहः । अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम् । तस्माद्यावन्तो नोऽशनमश्-
नन्ति, ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति । एषैव स्थितिः । स य एष सोमग्रहः ।

अन्नं वा एष सः” (शत० ४।६।५।१)

इन्द्र सहचारी अग्नि अन्नाद (अन्न खाने वाला) है। अतएव ‘तर्हि हैष (अग्निः) अवतीन्द्रः’
(शत० २।३।२।११।१) ‘इन्द्राग्नी वा इदं सर्वम्’ (शत० ४।२।२।१४) इत्यादिरूप से
इन्द्राग्नी का साहचर्य बतलाया गया है। इन्द्रावच्छिन्न अन्नाद् अग्नि में विष्णु के अशनाया-सूत्र से आक-
र्षित सोमान्न आहुत होता है। इस आहुति से ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों अन्नादयुक्त बनकर यज्ञस्वरूप में
परिणत हो जाते हैं। अग्नि में सोम की आहुति होना ही यज्ञ है, एवं यज्ञ ही प्रत्येक पदार्थ का जीवन
है। आवपनरूप खं ब्रह्मात्मक ब्रह्मतत्त्व पर प्रतिष्ठित अन्न सम्बन्ध से रममाण, अतएव ‘रं’ ब्रह्म नाम से
प्रसिद्ध विष्णवच्छिन्न अन्न सोम आहुत होता रहता है, तभीतक शान्तिलक्षण, किंवा शं ब्रह्मलक्षण यज्ञात्मा
स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, यही निष्कर्ष है। यज्ञात्मा में ब्रह्मा-विष्णुसहचारी सोम, इन्द्रसहचारी

अग्नि, तीनों की, किंवा पाँचों कलाओं की सत्ता है। ब्रह्मा यज्ञ के रक्षक हैं। शेष चारों यज्ञात्मक हैं। अतएव इन्द्र-अग्नि-विष्णु-सोम, इन चारों को ही यज्ञ शब्द से व्यवहृत किया गया है, जैसा कि निम्न-लिखित निगमवचनों से स्पष्ट हो जाता है—

- १—इन्द्रयज्ञः { १—‘इन्द्रो यज्ञस्य नेता’ (शत० ४।१।२।१५) ।
 २—‘तदाहुः किं देवत्यो यज्ञ इति ? ऐन्द्र इति ब्रूयात्’ (गो० उ० ३।१३) ।
 ३—‘ऐन्द्रो वै यज्ञः’ (ऐ० ब्रा० ६।११) ।
 ४—‘इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता’ (शत० १।४।१।३३) ।
 ५—‘इन्द्रो यज्ञस्यात्मा इन्द्रो देवता’ (शत० ६।५।३३) ।

- २—अग्नियज्ञः { १—‘शिर एतद्यज्ञस्य यदग्निः,’ (शत० ६।२।३।३१) ।
 २—‘अग्निर्वै यज्ञमुखम्’ (तै० ब्रा० १।६।१।५) ।
 ३—‘एष वै यज्ञा यदग्निः’ (शत० २।१।४।१६) ।
 ४—‘अग्निरु वै यज्ञः’ (शत० ५।२।३।६) ।
 ५—‘एष वै यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निः’ (शत० १।४।१।३५) ।

- ३—विष्णुयज्ञः { १—‘यो वै विष्णुः स यज्ञः’ (शत० ५।२।३।६) ।
 २—‘यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः’ (तां० ब्रा० ६।७।१०) ।
 ३—‘यज्ञो विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे’ (शत० १६३०) ।
 ४—‘यज्ञो व विष्णुः’ (तां० ६।६।१०) ।
 ५—‘विष्णुर्वै यज्ञः’ (ऐ० १।१५) ।

- ४—सोमयज्ञः { १—‘स (सोमः) तायमानो जायते । स यत् जायते, तस्माद् यञ्जः ।
यञ्जो ह वै नामतैतद्यज्ञ इति’ (शत० ३।६।४।२३) ।
२—‘आहुतिर्हि यज्ञः’ (शत० ३।१।४।१) ।
३—‘हवीषि ह वाऽआत्मा यज्ञस्य’ (शत० १।६।३।३६) ।
४—‘हविर्वै देवानां सोमः’ (शत० ३।५।३।२) ।
५—‘सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानाम्’ (शत० ११।५।६।६) ।

- ५—ब्रह्मयज्ञः { १—‘ब्रह्म हि यज्ञः’ (शत० ५।३।२।४) ।
२—‘प्रजापतिर्वै यज्ञः’ (गो० उ० २।१८) ।
३—‘एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः’ (शत० ४।३।४।४) ।
४—‘स वै यज्ञ एवं प्रजापतिः’ (शत० १।६।४।४) ।
५—‘प्राजापत्यो यज्ञः’ (तै० ३।७।१।२) ।

इन पाँच क्षरों की समष्टि से ही यह यज्ञ ‘पाङ्क्तो वै यज्ञः’ के अनुसार पञ्चावयव कहलाया है। प्रत्येक पदार्थ में पिण्ड, और हृदय, ये दो विभाग हैं। इनमें पिण्ड में अग्नीसोमात्मक यज्ञ की प्रधानता है, एवं हृदय में ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार प्रत्येक परमेष्ठी का प्रथम विवर्त पदार्थ यज्ञसमष्टिरूप है। पाँच यज्ञक्षरों के एकीकरण से प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप निर्ममाण हुआ है। इन पाँच क्षरों के रहने पर भी वस्तु एक ही कहलाती है, इसका कारण वही कूटस्थ अक्षर है। अक्षरयज्ञकूट अक्षराधार पर प्रतिष्ठित है। इसीसे यज्ञ के छिद्र आवृत हो रहे हैं। इसी अभिप्राय से—‘अक्षरेणैव यज्ञस्य छिद्रमपि दधाति’ (तां० ब्रा० ८।६।१३)। यह कहा जाता है।

आवपनकला ब्रह्ममूर्ति अन्तर्यामी की प्रधानता से मनोमयी है। अन्नादकला इन्द्रमूर्ति वेदात्मा की प्रधानता से वाङ्मयी है, एवं अन्नकला विष्णुमूर्तिसूत्रात्मा की प्रधानता से प्राणमयी है। इस प्रकार प्रकारान्तर से मनःप्राणवाङ्मय अव्यय पुरुष ही क्रमशः अन्तर्यामीसूत्रात्मा—वेदात्मा रूप में (अव्यक्तरूप में) परिणत होता हुआ आवपन—अन्न—अन्नाद बनकर यज्ञपुरुष बन रहा है। तभी तो ‘ऐतदात्म्यमिदं

सर्वम्' को चरितार्थ होने का अवसर मिलता है। इसी आधार पर 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि रूप से उस सर्वाधार कालपुरुष को भी यज्ञपुरुष कह दिया जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, अव्यक्त स्वयम्भू ही आवपन-अन्न-अन्नादरूप में परिणत होता हुआ परमेष्ठी बन जाता है। इस परमेष्ठी का पहला विवर्त्त यही उक्त लक्षण यज्ञात्मा है।

१ ब्रह्मा
१-२ विष्णुः } — ब्रह्मा-अन्तर्यामी-तदवच्छिन्न-आवपनम् (खं ब्रह्मा)
३ इन्द्रः }

—०—

१ विष्णुः
२-२ ब्रह्मा } — विष्णुः-सूत्रात्मा-तदवच्छिन्नः सोमोऽन्नम् (रं ब्रह्मा)
३ इन्द्रः }

—०—

१ इन्द्रः
३-२ ब्रह्मा } — इन्द्रः-वेदात्मा-तदवच्छिन्नोऽग्निरन्नादः (कं ब्रह्मा)
३ विष्णुः }

—०—

१-आवपनम्-मनोमयम्
२-अन्नम्-प्राणमयम्
३-अन्नादः-वाङ्मयः } — सोऽयं त्रिकलो यज्ञपुरुषो यज्ञात्मा

“यज्ञात्मा शं ब्रह्म”

उक्त यज्ञात्मा का विवर्त्त ब्राह्मणश्रुति से सम्बन्ध रखने वाला है। उपनिषच्छ्रुति ने प्रकारान्तर से यज्ञात्मा का स्वरूप हमारे सामने रखा है। वह भी प्रसङ्गागत जान लेना चाहिए। वेद-सूत्र-नियतिरूप अव्यक्त स्वयम्भू प्राणप्रधान होता हुआ असङ्ग है, अतएव वह यज्ञमर्प्यादा से बाहर है। दो, अथवा अनेक मौलिक तत्त्वों के रासायनिक संयोग से सिद्ध होने वाला अपूर्व यौगिक भाव ही यज्ञ है। रासायनिक संयोग ही विज्ञान भाषा में अन्तर्यामि-चिति-संस्पृष्टि-आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। असङ्ग प्राण में यह संसर्ग

लक्षण संमृष्टि सम्बन्ध सर्वथा अनुपपन्न है। इस वृत्ति का सबसे पहले आपोमय परमेष्ठी में ही उदय होता है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व भृगु-अङ्गिरोमय है। अङ्गिरा तेजस्तत्त्व है, भृगु सोह तत्त्व है। तेजः—स्नेहमूर्ति भृग्वङ्गिरोमय इस अप्र प्रकृति की मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध बराह वायु द्वारा पूर्व प्रकरण में प्रतिपादित स्थितिगत्यात्मक प्राणमय स्वायम्भुव यजुरग्नि में आहुति होती रहने से जो एक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, स्थितिगत्यात्मक तेजः—स्नेहमूर्ति वही अपूर्वभाव यज्ञ, किंवा यज्ञात्मा हैं। आहुतिरूप होने से ही स्नेह-तेजोलक्षण यह अप्तत्त्व शुक्र नाम से व्यवहृत होता है। विश्वोपादनभूत आपोमय इसी शुक्र-तत्त्व का निरूपण करती हुई उपनिषद्भूति कहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमब्रह्मसनाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूयाथातथ्यतोऽर्थान्

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—ईशोपनिषत् ८ सं० ।

यह अबमूर्ति यज्ञात्मा योनि-रेत-रेतोधा, भेद से त्रिकल है। तीनों की प्रतिष्ठा आवपनभूत त्रयी-मूर्ति अव्यक्तात्मा है। त्रयीमूर्ति के वेदात्मा का यजुरग्नि योनि है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व रेत है, मातरिश्वा वायु रेतोधा है। उक्त अप्तत्त्व ही शुक्ररूप आहुतिद्रव्य है। इसी की आहुति से यज्ञपुरुष का प्रादुर्भाव होता है। अधिदैवत (सूर्य), अधिभूत (पृथिवी), अध्यात्म, इन तीनों यज्ञों का प्रथम प्रवर्तक यही पारमेष्ठ्य यज्ञमूर्ति अथर्वा है, जैसा कि श्रुति कहती है—

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।

आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥

—ऋक् सं० १।८३।५।

देवता-विभाग के अनुसार स्वयम्भू ब्रह्मा हैं। यह “ब्रह्मनिःश्वसित” नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेय-लक्षण त्रयीवेद से युक्त होते हुए त्रयीमूर्ति है। त्रयीमूर्ति ब्रह्मा के जूरूप वाक् भाग से ही परमेष्ठीरूप अथर्वा (ब्रह्मवेद) का सर्वप्रथम जन्म हुआ है, अतएव इसे ब्रह्मा का ज्येष्ठपुत्र माना गया है, जैसा कि मुण्डकश्रुति कहती है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

मुण्ड० १।१।१।

उक्त त्रयीवेद के ऋक्-साम-यजुः, ये तीनों पर्व क्रमशः महोक्थ-महाव्रत-पुरुष-नामों से प्रसिद्ध हैं। पुरुषरूप यजुः के यत् एवं जू, ये दो विवर्त हैं। यह यजु ही वस्तु है, वय है। इसका स्वरूप सम्पादन

करने वाले छन्दोरूप, अतएव वयोनाथ नाम से प्रसिद्ध ऋक्-सामात्मक महोक्थ एवं महाव्रत हैं। ऋक्साम से छन्दित स्थितिगत्यात्मक यजुर्मूर्ति योनिरूप इसी ब्रह्माग्नि का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्वावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ (ईशो० ४।४।)

गतितत्त्व वायु है, स्थितितत्त्व आकाश है। 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् (गी०-६।६।) के अनुसार आकाशवाय्वात्मक स्थितिगतिरूप यत् एवं जू अविनाभूत हैं। दूसरे शब्दों में दोनों तादात्म्यापन्न हैं। इसीलिए दो तत्त्व होने पर भी ऋषि ने—“अनेजत्”—“एकम्”—“मनसो जवीयः” यह कहा है। वायुरूप गतितत्त्व प्राण है, आकाशरूप स्थितितत्त्व वाक् है। यत्-प्राण-गति-वायु, चारों एवं जू-वाक्-स्थिति-आकाश, ये चारों अभिन्नार्थक हैं। इन सर्वथा विरुद्ध दो भावों का मूल विद्या-अविद्या-त्मक षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध वही अमृतात्मा है। षोडशीपुरुष के अव्यय भाग की आनन्दादि पौंच कलाएँ बतलाई गई हैं। इनमें आनन्द-विज्ञान-मनोमयभाग मुक्तिसाक्षी बनता हुआ स्थितिप्रधान विद्या-भाग है। मनःप्राणवाङ्मयभाग सृष्टिसाक्षी बनता हुआ गतिप्रधान अविद्या (कर्म)-भाग है। मध्यस्थ, अतएव उभयात्मक (विद्या-अविद्यात्मक) श्वोवसीयस् मन की कामना से मुक्तिसाक्षी भाग का अनुयाहक बनता हुआ वह ग्रन्थियाँ तोड़कर मुक्ति का अधिष्ठाता बनता है, एवं सृष्टिसाक्षी भाग का अनुयाहक बनता हुआ ग्रन्थिवन्धन द्वारा वही सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। उसका विद्याभाग अमृततत्त्व है, यह सर्वथा स्थितिप्रधान है। अविद्याभाग मृत्युतत्त्व है, यह सर्वथा गतिप्रधान है।

इसमें भुक्त दो विरुद्ध भावों का आगमन कहाँ से हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर आपका सुपरिचित वही परात्पर है। अमृतात्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि, इसकी १६ कलाओं में से सर्वाधारभूता तुरीय-ग्रहमात्रिक-अमात्रिक आदि नामों से प्रसिद्ध परात्पर नाम की सोलहवीं निष्कलात्मिका कला है। यह निष्कल परात्पर रस-बल की समष्टि है। अमृतलक्षण रसतत्त्व सर्वथा शान्त होता हुआ स्थितिरूप है, मृत्युलक्षण बलतत्त्व सर्वथा अशान्त होता हुआ गतिरूप है। यही तो मायोपाधिकृत सीमा से अपने यत्किंचित् प्रदेश से सीमित होकर पुरुष बन गया है। फलतः परात्पर के स्थिति-गति भावों का पुरुष में समन्वित होना सर्वथा अनिवार्य बन जाता है।

स्थितिगति लक्षण, विद्या-अविद्यात्मिका, आनन्दविज्ञानघनमनोमय प्राणगर्भिता, पुरुषवाक् ही त्रयीवेद की मूलप्रतिष्ठा है—‘वाग्बिवृताश्च वेदाः’। वेदत्रयी के यजुर्भाग को ही पुरुष कहा गया है। इसका कारण यही है कि, पुरुष (अमृतात्मा) के विद्या-अविद्या प्रधान स्थितिगति भावों का यत्-जू रूप से यजु में ही पूर्ण विकास होता है। इसी स्थिति गति के साधर्म्य से पुरुष सद्गता होता हुआ, किन्तु वस्तुतः पुरुषमर्यादा से बहिर्भूत होता हुआ भी यह यजुः “पुरुष” शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। इस प्रकार आत्मा के स्थिति-गतिभावों का तत्त्वहिरण्प्रकृतिभूत वेदमूर्ति इस अव्यक्तात्मा स्वयम्भू में भी आगमन सिद्ध हो जाता है।

ऋक्साम में अपीत (डूबा हुआ) यजुः ही उस स्वायम्भुव अव्यक्त ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है। इसी वेदप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर वह तत्त्व यजु के यत्व्यापार से (गतिधर्मा वायु के व्यापार से) जू के द्वारा (स्थितिरूप आकाश के द्वारा) 'अप एव ससर्जादौ' इस मानवीय सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम अप्रतत्त्व ही उत्पन्न करता है। जू की आकाश कहा गया है। रस-बल की अनुकम्पा से (तारतम्य से) यह आकाश भी आगे जाकर अमृत-मृत्यु भेद से दो भाग में विभक्त हो जाता है। इन दोनों में अमृताकाश "इन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है एवं मर्त्याकाश वाक् किंवा इन्द्रपत्नी नाम से व्यवहृत होता है। अप्रतत्त्व इसी मर्त्या वाक् से उत्पन्न होता है। अमृता वाक् केवल आधारभूमि है। सांख्यदर्शन शून्यप्रदेश को आकाश मानता है। यदि वह "शून्यम्" का वैज्ञानिक तात्पर्य समझता हुआ आकाश को शून्य कहता है, तब तो कोई क्षति नहीं है। परन्तु ऐसा न समझकर यदि वह शून्य शब्द का "रिक्तस्थान-पोल" यह अर्थ समझता है, तो यह उसकी सर्वथा भ्रान्ति है। इसी भ्रान्ति से भ्रान्त बनकर श्रौतसिद्ध आकाश तत्त्व को तत्त्वमयीदा से बहिष्कृत कर रक्खा है। विज्ञानप्रेमियों का विश्वास आज हम ठीक इसके विरुद्ध विषय की ओर कराना चाहते हैं। उन्हें विश्वास करना चाहिए कि, आकाश वास्तव में शून्य है। परन्तु इस शून्य शब्द का अर्थ रिक्त स्थान नहीं, अपितु पदार्थतत्त्व ही शून्य है। सर्वत्र व्याप्त प्राणप्रद इन्द्र तत्त्व ही शून्य है। इसी श्वा इन्द्र का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नतमं वाजसातौ ।

शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु धनन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानाम् ॥ ऋक्० ३।३०।२२

इसी ब्रह्म (मन्त्र) श्रुति के आधार पर निम्नलिखित ब्राह्मण वचन प्रतिष्ठित है—

१—“वाय्वा इन्द्रः” (कौ० २।७।)

२—“वाग्ध्यैन्द्री” (ऐ० ब्रा० २।२६।)

३—“सा या सा वाक्-असौ स आदित्यः” (शत० १०।५।१।४१।)

सचमुच इस शुन 'इन्द्र' से कोई भी स्थान रिक्त नहीं है। इसी अभिप्राय से 'नेन्द्राहुते पवते धाम किञ्चन' (ऋक्० ६।६६।६।) यह कहा जाता है। अमृतावाक् रूप श्वा इन्द्र से नित्य सम्बद्ध मर्त्यावाक् रूप इन्द्रपत्नी ही आगे जाकर पञ्चतन्मात्रा की आधारभूमि बनती है। इनमें पहली शब्दतन्मात्रा है, इसकी विकासभूमि वेदमयी यही मर्त्यावाक् है। इसी रहस्य को समझाने के लिए 'वेदवाग्ध्यः' यह न कहकर 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे (मनुः १।२१) यह कहा गया है। शब्दतन्मात्रा का जनक मर्त्याकाश, मर्त्याकाशरूपा इन्द्रपत्नी की प्रतिष्ठा अमृताकाशरूप श्वा इन्द्र, यह सब कुछ सिद्ध होने पर भी आकाश अपदार्थ ? कितनी भ्रान्ति ! कैसा अज्ञान ! कैसा दुराग्रह ! ! ! । यदि आकाश कोई पदार्थतत्त्व न होता, तो 'मनोमयः, प्राणशरीरः, भारूपः, आकाशात्मा', इत्यादि श्रुतियों का समन्वय कैसे संभव था ? जिस तत्त्व को रिक्तार्थ का वाचक समझते हुए 'शून्य' कहते हैं, वह 'शुने (इन्द्राय)

हितम्' इस निर्वचन से सम्बन्ध रखता हुआ तत्त्वविशेष का वाचक बन रहा है। जिस अन्तरिक्ष में श्वा इन्द्र व्याप्त है, वही विज्ञानभाषा में जून्म कहलाया है। कहना यही है कि, यह वाक्तत्त्व सर्वथा स्थिर है। यही जू कहलाया है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“जूरसि—इति” (यजुः ४। १७।) “एतद्ध वा अस्याः (वाचः) एकं नाम” (शत०)

दूसरा यत् तत्त्व प्राण है। यही गतितत्त्व है। इस प्रकार विद्याकर्म्यात्मक अव्ययपुरुष का विकास आगे जाकर स्थितिगत्यात्मक यजुरूप में होता है। यह यजुः साक्षात् अग्नि (प्राणाग्नि) है, पुरुषधर्मावच्छिन्न होने से पुरुष है। इसीके वाक्भाग से तो अप्तत्त्व उत्पन्न हुआ है—‘सोऽपोऽमृतं वाच एव लोकात्, वागेव सासृज्यत’ (शत० ६। १। १। ६।)। यजुः के गतिभाव का विकास यहाँ तेजोरूप से हुआ है एवं स्थितिभाव का विकास स्नेहरूप से हुआ है। स्नेह संकोचधर्मा होता हुआ स्थितिप्रधान है, तेज विकासशील बनता हुआ गतिप्रधान है। इस प्रकार परात्पर संस्था से आरम्भ कर इस आपोमय परमेष्ठी संस्थापर्यन्त रस-बल का ही भिन्न भिन्न रूप से विकास हुआ है। स्थानभेद से एक ही के नाम-रूप कर्मों में अन्तर हो गया है। जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

१—रसः	}	—परात्परो विश्वातीतो निर्धर्मकः
२—बलम्		
१—विद्या	}	—षोडशीपुरुषो विश्वेश्वरः सर्वधर्म्मोपपन्नः
२—अविद्या		
१—स्थितिः	}	—अव्यक्तात्मा बलेश्वरः प्राकृतात्मा
२—आगतिः		
१—स्नेहः	}	—यज्ञात्मा प्रतिमेश्वरः प्राकृतात्मा
२—तेजः		

वाक् से उत्पन्न अप्तत्त्व योषा है, स्त्री है। जहाँ रस का आगमन होता है, वह स्त्री है ! जो रस का प्रदाता है, वह पुरुष है। जहाँ रस प्रतिष्ठित रहता है, वह आयतनपुर है। रसवर्षण करने वाला अग्नि वृषा है, यही पुरुष है। रसाहृति को अपने में संहत करने वाला (स्वैष्ट्यै-शब्दसंघातयोः), तत्त्व स्त्री है। अग्नि पानी में मिल जाता है, पानी खोलने लगता है। परन्तु पानी कभी अग्नि में नहीं मिलता। यदि पानी का आक्रमण निर्बल होगा, तो अग्नि उसे वाष्परूप में परिणत कर उत्क्रान्त कर देगा, यदि पानी प्रबल होगा तो वह अग्नि को बुझा देगा पानी अग्नि में प्रवेश कर जाय, यह संबंधा असम्भव है।

अग्निरस का ही प्रवेश अण में हो सकता है, अतएव यही वृषा है । पुर आयतनरूप होने से आवपन बनता हुआ पूर्व कथनानुसार 'खं' ब्रह्म है, अग्नि भोक्ता बनता हुआ अन्नाद रूप से 'रं' ब्रह्म है एवं अप्तत्त्व रमण-साधन होने से अन्नात्मक 'कं' ब्रह्म है । समष्टि ही 'शं' ब्रह्म है !

- | | | |
|---|---|----------------|
| १—यत्र रसागमनं—सा स्त्री—→योषा | } | —दाम्पत्य भावः |
| २—यो रसः प्रदाता—स पुरुषः—→वृषा | | |
| ३—यत्र रसः प्रतिष्ठितः—तत्पुरम्—→आयतनम् | | |

—०—

- | | | |
|--|---|----------------------|
| १—स्त्री—आपः—अन्नब्रह्म—→कं ब्रह्म | } | —शं ब्रह्म यज्ञात्मा |
| २—पुरुषः—यजुरग्निः—अन्नादब्रह्म—→रं ब्रह्म | | |
| ३—पुरम्—आकाशः—आवपनब्रह्म—→खं ब्रह्म | | |

—०—

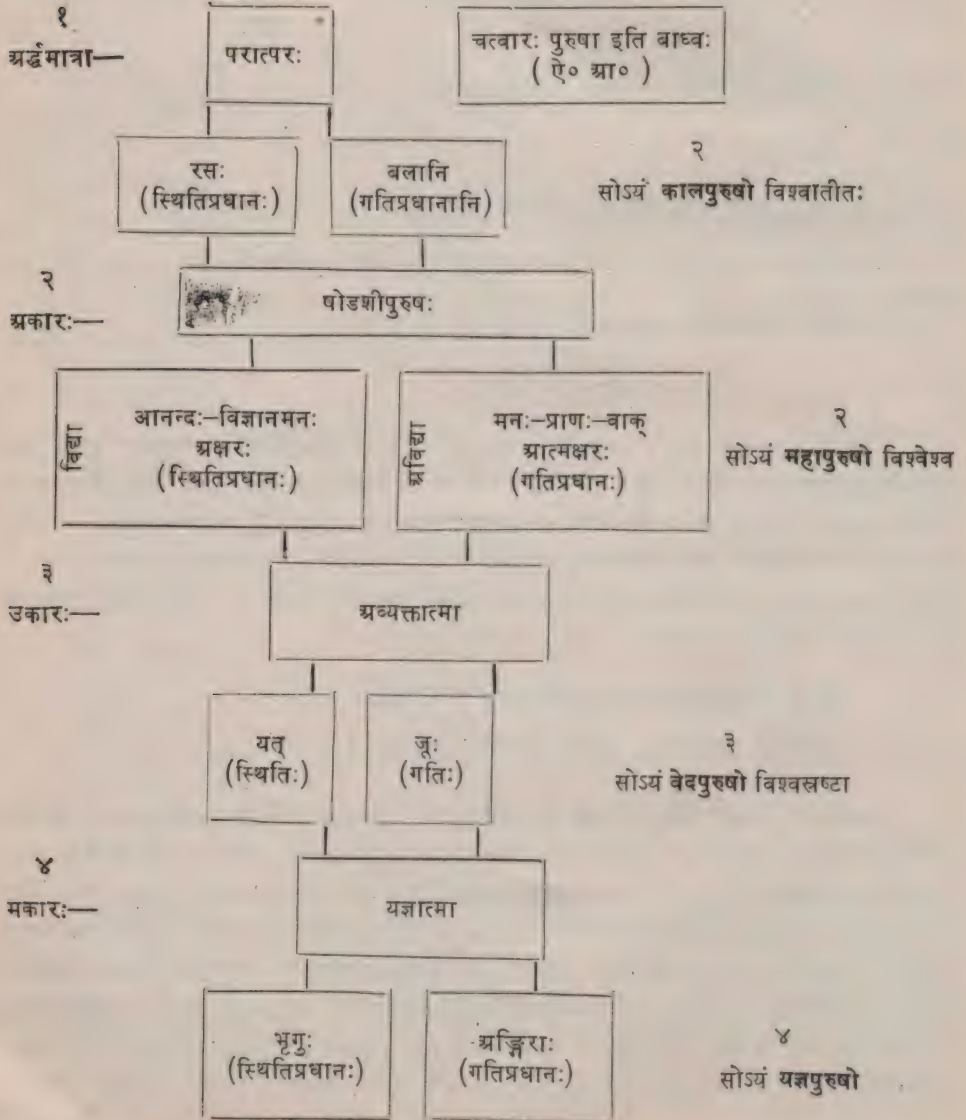
उपर्युक्त प्राणमयी वाक् से (यजु से) उत्पन्न आपः में भी 'कारणगुणाः कार्यगुणानां रभन्ते' इस न्याय के अनुसार कारणरूप यजु के उन्हीं दोनों तत्त्वों का (स्थिति-गतिभावों का) स्नेह-तेजोरूप से विकास होता है, जैसा कि पूर्व में ही कहा जा चुका है । तेजस्तत्त्व अङ्गिरा है, स्नेहतत्त्व भृगु है । समष्टि अप्तत्त्व है । तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्त के अनुसार त्रयीप्रधान अव्यक्तात्मा वाक् भाग से भृग्वङ्गिरोमय अप्तत्त्व को उत्पन्न कर स्वयं उसके गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है । इसी अव्यक्तज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम् ।

अन्तरंते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥ (गो० पू० १ । ३६ ।)

निशानार्थक 'तिज' धातु का अर्थ है—तीक्ष्णीकरण । स्वगति-धर्म से विशकलनधर्मा अङ्गिरा उत्तरोत्तर केन्द्र से प्रधि की ओर सूक्ष्मरूप में परिणत होता हुआ जाया करता है । ठीक इसके विपरीत स्नेहरूप भृगु स्थितिभावयुक्त होता हुआ उत्तरोत्तर प्रधि से केन्द्र की ओर आता हुआ संकुचित होता जाता है । इस प्रकार अप्तत्त्व में मूलभूत स्थितिगतिरूप यजु के धर्म विस्पष्ट हो जाते हैं । उक्त आत्मविवर्त्तों में परात्पर कालपुरुष नाम से प्रसिद्ध है । षोडशी पुरुष महापुरुष नाम से, ऋक्सामावच्छिन्न यजुर्मूर्ति अव्यक्तात्मा वेदपुरुष नाम से एवं परात्पर-षोडशी-अव्यक्तात्मगर्भित, तदवच्छिन्न अप्तत्त्व यज्ञपुरुष नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है । विश्वविद्यात्मिका ओङ्कारविद्या के अनुसार परात्पर-षोडशी-अव्यक्तयज्ञात्मा, इन चारों का एक स्वतन्त्र विभाग है । यही "परब्रह्म" नाम से

प्रसिद्ध है, एवं पृथिवी चन्द्रमा का विभाग अपरब्रह्म नाम से व्यवहृत होता है। मध्यस्थ सूर्य दोनों का अनुग्राहक बनता हुआ परापरब्रह्म है। चतुष्कल परब्रह्म की परात्पर कला अर्द्धमात्रा है। षोडशीपुरुष अकार है, अव्यक्तात्मा उकार है, यज्ञात्मा मकार है। समष्टि ओङ्कार है।



स्वयम्भू प्राणमय होने से असङ्ग बनता हुआ यज्ञमर्यादा से बहिर्भूत था, परमेष्ठी इसी अप्रतत्त्व के कारण असङ्ग बनता हुआ यज्ञ का प्रथम प्रवर्तक बन जाता है, जैसा यज्ञात्मा के विविध विवर्त कि—“यज्ञैरथर्वा०” इत्यादि रूप में प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जा चुका है। स्वायम्भुवी प्राणसृष्टि असंगभाव की प्रधानता से ‘मानसीसृष्टि’ कहलाती है, यही भावसृष्टि है। ऋषि-मनु आदि सृष्टियों का इसी भावसृष्टि में अन्तर्भाव है। पारमेष्ठीनी यज्ञसृष्टि योषावृषात्मक स्त्रीपुरुष-तत्त्व के मिथुनभाव से सम्बन्ध रखने के कारण “मैथुनीसृष्टि” कहलाती है। ‘सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा’ के अनुसार यज्ञसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। इस यज्ञ-प्रजापति का स्वरूप ऋक्-सामावच्छिन्न यजुरग्नि पर ही प्रतिष्ठित है। त्रयीतत्त्व-अप्रतत्त्व का समन्वित-रूप ही यज्ञ है। इसी आधार पर—‘सैषा त्रयी विद्या यज्ञः’ (शत० १।१।४।३।) के अनुसार त्रयीविद्या को यज्ञ कहा गया है। आपोमय परमेष्ठी में प्रतिष्ठित, दूसरे शब्दों में अप्रकृतिक परमेष्ठी की प्रतिष्ठारूप विष्णु के साथ पारमेष्ठय यज्ञ का तादात्म्य सम्बन्ध है। विष्णु ही अपनी अशनाया-शक्ति से अन्नाहुति [सोमाहुति] का सञ्चालक बनते हुए, अग्नीषोमात्मक यज्ञ का सम्पादन करते हैं। इसी लिए विष्णु को भी यज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार विष्णु-त्रयीविद्या-आपः-अङ्गिरा-भृगु-आदि के समन्वय से निष्पन्न होने वाला यज्ञ श्रुतियों में तत्तन्नामों से प्रसिद्ध हो रहा है, जैसा कि निम्न लिखित श्रौत-प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है—

१—अथर्वसम्बन्ध से यज्ञानिरुक्ति—

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया ।

सर्वं पणोः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ॥ १ ॥

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपावेन आजनि ।

आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ २ ॥

(अथर्व सं० २।२३।४-५)

२—अपुसम्बन्ध से यज्ञानिरुक्ति—

१—“आपो वै यज्ञः” (ऐ० २।२०) ।

२—“आपो हि यज्ञः” (शत० ३।१।४।१५)

३—“रेतो वा आपः” (ऐ० १।३।)

४—“योषा वा आपः” (शत० १।१।१।१८।)

३--वेदसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति-

- १--“सैषा त्रयीविद्या यज्ञः” (शत० १।१।४।३।)
- २--“तद्यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या” (शत० ६।५।१।१८।)
- ३--“ते देवा अब्रुवन्-यज्ञं कृत्वा-
सत्यं तनवामहे-इति” ।

४--परमेष्ठीसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति-

“तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्दृशपूर्णमासौ ।
ताभ्यामयजत, स आपोऽभवत् । परमात्वा एतत् स्थाना-
द्वर्षति यद्विबः । तस्मात् परमेष्ठी नाम” । (शत० ११।१।६।१६।।)

५--महत्सम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति-

- १--“एष ह वै महान् देवो यद्यज्ञः” (गो० पू० २।१६।)
- २--“यज्ञो ह वै देवानां महः” (शत० १।६।१।११)

यह है आधिदैविक पारमेष्ठ्य यज्ञ का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन । अधिदैवत संस्था में जहां यह यज्ञतत्त्व “परमेष्ठी” नाम से प्रसिद्ध है, वहां अंशरूप से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित वही तत्त्व “यज्ञात्मा” नाम से व्यवहृत होता है । शारीरयज्ञ के द्वारा ही शारीर-धातु प्रतिष्ठित रहते हैं । यज्ञ से शारीर-धातुओं का निर्माण होता है । आध्यात्मिकसंस्था में जब तक इस यज्ञात्मा की सत्ता रहती है, तभी तक *आत्मा (चिदात्मा-पोडशी पुरुष) चिदाभास एवं चिदंशरूप से शरीरपुर में प्रतिष्ठित रहता है । कारण स्पष्ट है । पाञ्चभौतिक शरीर ‘इति तु पञ्चभ्यामाहुताबापः पुरुषवचसो भवन्ति’ (छां० उप०) के अनुसार आपोमय है । यद्यपि शरीर में पाँचों ही महाभूतों की सत्ता है तथापि ‘व्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात्’ (शां० सू० ३।१।) इस वेदान्तसूत्र-सिद्धान्त के अनुसार देहार्म्भक भूतों में अप्रतत्त्व ही अधिक मात्रा में रहता है । आपोमय होता हुआ शरीर भृग्वज्जिरोमय है । इसकी प्रतिष्ठा तदात्मक पारमेष्ठ्य यज्ञ ही है । भृग्वज्जिरोमय इसी यज्ञात्मा के सम्बन्ध से दूसरे चिदात्मा का विकास होता है ।

*पोडशी पुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के प्रधानरूप से चिदात्मा, चिदाभास, चिदंश, ये तीन विवर्त माने गए हैं । इन तीनों का दिग्दर्शन आगे की ‘प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्’ में कराया जायगा ।

उपर्युक्त यज्ञतत्त्व की चिदात्मा ही योनि है। महत्स्वरूप इसी यज्ञ के आधार पर चिदात्मा, चिदा-भास रूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस यज्ञात्मा के द्वारा ही जीवात्मस्वरूप-सम-यज्ञ का योनिभाव पक चिदाभास स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। जिस दिन शारीरयज्ञ उच्छिन्न हो जाता है, तत्क्षण चिदाभास उत्क्रान्त हो जाता है। यज्ञात्मा का भृगु भाग घन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। अब्वायु-सोम की समष्टि ही "भृगु" है—
 "वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः" (गो० ब्रा० पू० २। ८। (१) अङ्गिरोवच्छिन्न त्रिधा विभक्त यह भृगु ही चिदाभास की प्रधान प्रतिष्ठा है। अतएव चिदाभासरूपा जीवमृष्टि आप्या-वायव्या-सौम्या भेद से तीन ही भागों में विभक्त है। पानी—हवा—सोम, तीन ही तत्त्व बीध बनते हुए चित् के ग्राहक हैं। जल में रहने वाले वृक्ष-वनस्पति-श्रोषधि-मत्स्यादि सम्पूर्ण जीव आप्य हैं। पानी ही इनकी जीवनसत्ता का मूलधार है। यदि इन्हें पानी से पृथक् कर दिया जाता है, तो इनका तत्काल निधन हो जाता है। भृगुपृष्ठ से सम्बन्ध रखने वाले श्रोषधि-वनस्पति-कृमि-कीट-पक्षी-मनुष्यादि सम्पूर्ण जीव वायव्य हैं। वायु ही इनका आत्मा है, दूसरे शब्दों में वायु ही इनकी जीवनसत्ता की मूलभक्ति है। बिना वायु के ये कथमपि प्राणधारण नहीं कर सकते। सांख्य में 'सत्त्वविशालसर्ग' नाम से प्रसिद्ध आठ प्रकार के चान्द्रदेवता सौम्य जीव हैं। सोम ही इनका जीवन है। चन्द्रमण्डल को छोड़कर ये कभी जीवित नहीं रह सकते। बस जीवमृष्टि के ये ही तीन मुख्य विवर्त हैं। अब्-वायु-सोमात्मक भृगु ही महान्, किंवा महानात्मा है। षोडशीपुरुष इसीमें गर्भ धारण करते हैं, जैसाकि स्मृति कहती है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय भूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ २ ॥ (गीता १४। ३-४ ।)

गर्भीभूत चिदात्मा का यज्ञमूर्ति महान् के साथ अन्तर्यामि (अन्धिवन्धन), बहिर्दर्यामि (योग-सम्बन्ध) भेद से दो प्रकार से सम्बन्ध होता है। अन्तर्यामि सम्बन्ध से स्वयं महान् महानात्मा, किंवा प्रकृतस्थल की अपेक्षा से यज्ञात्मा कहलाने लगता है। अर्थात् अन्तर्यामि सम्बन्ध से महन्मय बनता हुआ वही चिदात्मा महानात्मा का स्वरूप समर्पक बनता है, एवं बहिर्दर्यामि सम्बन्ध से वही महानात्मा से युक्त रहता हुआ स्वरूप से (स्वचिद्भाग से) चिदात्मा नाम से प्रसिद्ध होता है। इसमें पारमेष्ठ्य महानात्मा के साथ सूर्यचन्द्रमा-पृथिवी, तीनों क्रमशः दशपूर्णमास करते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि, इस महान् में अप्-वायु-सोम नाम के तीन तत्त्व हैं। इन तीनों में से अप् का अनुग्रह पृथिवी पर होता है, वायु का सम्बन्ध अन्तरिक्ष-बिहारी चन्द्रमा के साथ है एवं सोम का प्रधान सम्बन्ध सूर्य के साथ है। इन तीनों तत्त्वों के आधार पर सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी, इन तीनों के दशपूर्णमास यज्ञ से महानात्मा में सत्त्व-रजः-तम, इन तीनगुणों

का उदय हो जाता है । चन्द्रमा एवं पृथिवी, दोनों को अपने बृहन्मण्डल में प्रतिष्ठित रखता हुआ, इन्हें साथ लेता हुआ सूर्य्यं महत्परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाता हुआ अपने साथ ही में स्वावयवभूत पृथिवी चन्द्रमा के गुणात्मक अंशों की उस परमेष्ठी में आहुति देता रहता है । इसी प्रक्रिया को 'दर्शपूर्ण-मासयज्ञ' कहा जाता है । सोमस्य सूर्य्यभाग सत्त्वभाव का, वायुमय चान्द्रभाव रजोभाव का एवं आपो-मय पार्थिवभाव तमोभाव का प्रवर्त्तक है । यों समझिए कि, सूर्य्य ने परिक्रमा लगाना आरम्भ किया । पारमेष्ठ्य महत् का सोमप्रधान अंश सूर्य्य से अनुगत होता हुआ, सौरज्योति से युक्त होता हुआ 'सत्त्व' रूप में परिणत हो जाता है । यही पौर्णमास (पूर्णिमा) है । सोमस्य महान् का यह सत्त्वभाग सर्वथा प्रकाशित रहता है । उधर पृथिवी सम्बन्ध से महत् का आपोमय भाग अप्रकाशित होता हुआ तमोगुणक बन रहा है । अश्वमाहिष्यसम्बन्धात् वरुणप्रधान अप्-तत्त्व के साथ इन्द्रप्रधान ज्योतिर्मय सौर प्रकाश का सम्बन्ध नहीं हो सकता अतएव यह भाग सर्वथा अप्रकाशित रहता हुआ 'तमोगुण' नाम से प्रसिद्ध होता है । यह दर्शयज्ञ अमावास्या है । सत्त्व—तम की सन्धि में चन्द्रमा के सम्बन्ध से महत् का सान्ध्य वायुमय भाग प्रकाशिताप्रकाशित रहता हुआ रजोमूर्त्ति बना हुआ है । इस प्रकार अप्रतत्त्वानुगृहीता पार्थिव-भाग के सम्बन्ध से अप्रधान वही महान् तमोमूर्त्ति, वायुतत्त्वानुगृहीत चान्द्रभाग के सम्बन्ध से वायुप्रधान सान्ध्य वही महान् रजोमूर्त्ति एवं सोमतत्त्वानुगृहीत सौरप्रकाश सम्बन्ध से सोमप्रधान वही महान् सत्त्व-मूर्त्ति बनता हुआ त्रिगुणमूर्त्ति बन रहा है—'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' ।

त्रिगुणो महानात्मा—	{	सूर्य्यः—सोमेनानुगृहीतः....—सोमप्रधानः स एव महान्—सत्त्वमूर्त्तिः
		चन्द्रमाः—वायुनानुगृहीत—वायुप्रधानः स एव महान्—रजोमूर्त्तिः
		पृथिवी—अद्भिरनुगृहीतः—अपप्रधानः स एव महान्—तमोमूर्त्तिः

— ० —

इन्हीं सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी भागों के सम्बन्ध से महान् में आकृति-प्रकृति-अहंकृति, इन तीन भावों का उदय होता है । सूर्य्य के सम्बन्ध से सत्त्व द्वारा महान् में अहंभाव का उदय होता है । चन्द्रमा के सम्बन्ध से रजो द्वारा प्रकृति भाव का उदय होता है, एवं पृथिवी के सम्बन्ध से तमोभाग द्वारा आकृतिभाव का उदय होता है । इस प्रकार सूर्य्य—चन्द्रमा—पृथिवी, इन तीनों के दर्शपूर्णमास यज्ञ से महानात्मा त्रिगुण—प्रकृतित्रय—विशिष्ट बन जाता है । इसके 'यज्ञ-चित्-महत्' ये तीन विवर्त्त हैं । इन तीनों का (अध्यात्मसंस्था के साथ) सम्बन्ध परमेष्ठी के द्वारा ही होजाता है । परन्तु महर्दश का सम्बन्ध साक्षात् रूप से न होकर चन्द्रमा के द्वारा ही होता है, जैसा कि उसी प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा । इसी-लिए आत्मगतिप्रधान इस आत्मविज्ञानोपनिषत् में हमने यज्ञात्मा-चिदात्मा—को पारमेष्ठ्य माना है, एवं गुण-प्रकृतिविशिष्ट महान् का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ बतलाया है ।

१—आपः	} → 'मृगुः' 'महान्'	१—आपः—तमः—दर्शयज्ञः	} → गुणत्रयविशिष्टो महानात्मा
२—वायुः		२—वायुः—रजः—उभयसमष्टिः	
३—सोमः		३—सोमः—सत्त्वम्—पौर्णमासयज्ञः	

१—आपः—आकृतिः—पृथिवीसम्बन्धात्	} → प्रकृतित्रयविशिष्टो महानात्मा
२—वायुः—प्रकृतिः—चन्द्रगतप्राणेन्द्रसम्बन्धात्	
३—सोमः—अहङ्कृतिः—सूर्यसम्बन्धात्	

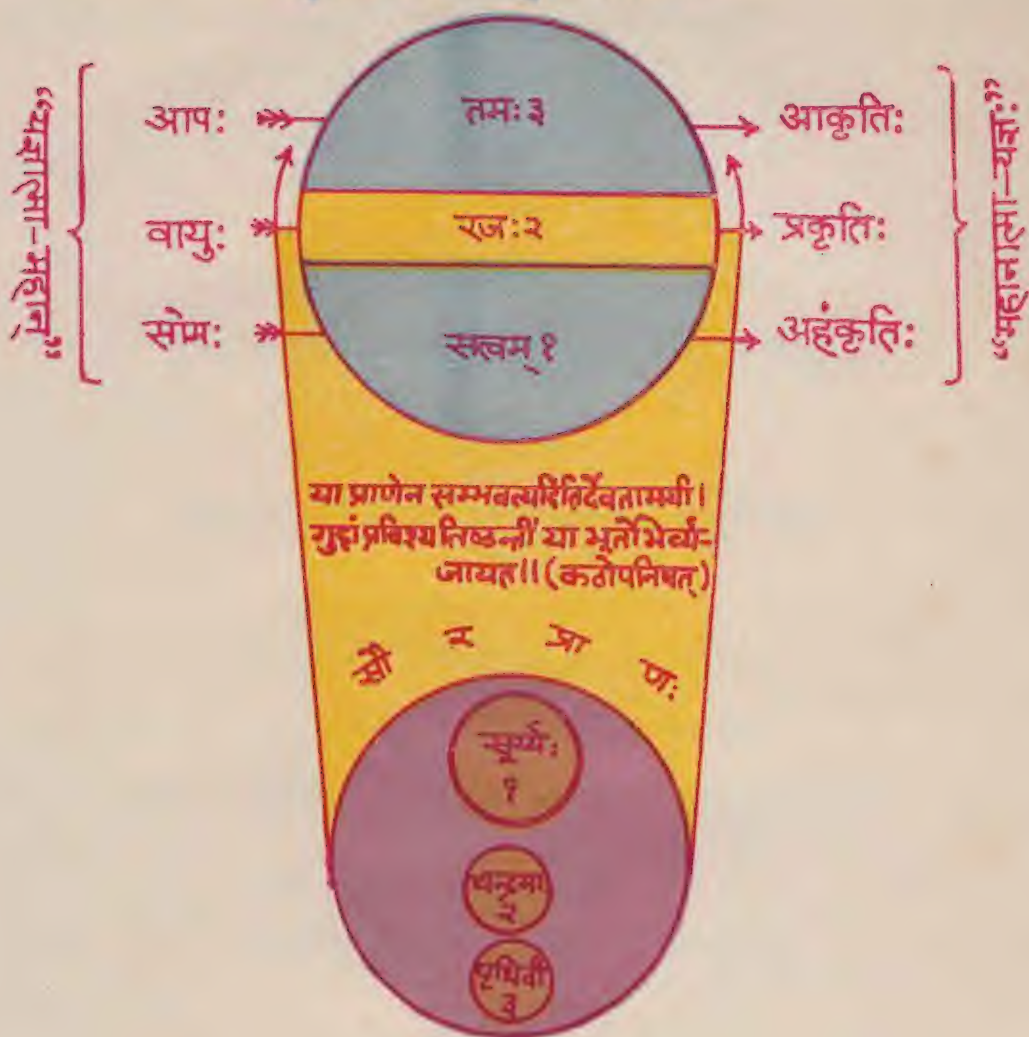
पारमेष्ठ्य तत्त्व अप्रकृतिक होता हुआ प्राकृत है। अतएव तत्प्रधान तन्मय यज्ञात्मा को हम अवश्य ही 'प्राकृतात्मा' कहने के लिए तय्यार हैं। देवता-भूत-पशु-लोक-सम्पूर्ण भूतप्रपञ्च इसी आधि-दैविक यज्ञात्मा (आपोमय परमेष्ठी) के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। एवमेव इन्द्रियाँ-सप्तधातु-केशलोमादि-शिरोगुहा-उरोगुहा-उदरगुहा-वस्तिगुहा—इत्यादि सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रपञ्च इसी आध्यात्मिक चिद्गर्भित यज्ञात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है। इसके 'चित्-यज्ञ-महत्' इन तीन विवर्तों में चिदात्मा-यज्ञात्मा के साथ श्राद्ध का कोई सम्बन्ध नहीं है। श्राद्ध का सम्बन्ध है—एकमात्र महदंश के साथ, जैसा कि उसी प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा। चिदात्म-यज्ञात्म भेद से द्विकल पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा का यही संक्षिप्त निदर्शन है। अब क्रम-प्राप्त विज्ञानात्मोपनिषत् की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं चित्-यज्ञ-भेदेन द्विकलोऽयं परमेष्ठी, यज्ञात्मा वा
व्याख्यातो द्रष्टव्यः ।

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—“अमृतात्मविज्ञानोपनिषदि” प्रथमायां

प्रथमखण्डात्मिकाया यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्
तृतीया

त्रिगुण भावापन्न यज्ञपुरुष परिलेखः—



चिदात्मा का यज्ञमूर्ति महान् के साथ अन्तर्यामि (ग्रन्थिबन्धन) व बहिर्यामि (योगसम्बन्ध) भेद से दो प्रकार से सम्बन्ध होता है। इनमें से अन्तर्यामि सम्बन्ध के द्वारा ही महान् महानात्मा यज्ञात्मा कहलाने लगता है। इन सम्बन्धों में पारमेष्ठ्य महानात्मा के साथ सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी तीनों क्रमशः दर्शपूर्णमास करते हैं। इस महानात्मा में आपः-वायु-सोम नाम के तीन तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वों का क्रमशः पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य के साथ सम्बन्ध होता है। इन्हीं तीनों तत्त्वों के आधार पर सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन तीनों के दर्शपूर्णमास यज्ञ से महानात्मा में सत्त्वम्-रजः-तमः नामक गुणों का उदय होता है।

- (४) { १—अधिदैवतम्—सूर्यः (पूर्णमदः)
 { २—अध्यात्मम्—बुद्धिः (पूर्णमिदम्) }

अथ

“विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्” चतुर्थी

विज्ञानात्मा-प्राकृतात्मा-सूर्यः (३)

१—देवदेवताविभूतिः (दैवात्मा)

२—नित्यविज्ञानविभूतिः (विज्ञानात्मा)

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥१॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय !

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥२॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २ अ० ४१ । २ अ० ४६ ।

(४) विज्ञानात्मस्वरूपपरिचयः

(विद्या-अविद्यामयो विज्ञानात्मा)

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्या अर्कमभितो विवशे ।

बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश ॥ १ ॥

ऋक् सं० ८ । १०१ । १४ ।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिह्वनजिदुच्यते बृहत् ।

विश्वभ्राट् भ्राजो महि सूर्यो दश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ॥ २ ॥

ऋक्० १० । १७० । ३

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।

येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्म्मणा विश्वदेव्यावता ॥ ३ ॥

ऋक्० १० । १७० । ४ ।

विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मन्दिबो धरुणे सत्यमपितम् ।

अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा ॥ ४ ॥

ऋक्० १० । १७० । २ ।

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य, पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ५ ॥

श्वे० उ० ६ । १५ ।

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।

तदक्षरं तत्सवितुर्वरिण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ ६ ॥

श्वे० उ० ४ । १८ ।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

यजुःसं० १३ । ४ ।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।

तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वमेवाविवेश ॥ ८ ॥

प्रश्नो० ४ । ११ ।

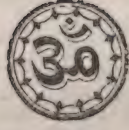
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ९ ॥

मुण्डको० २ । २ । ७ ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये ॥ १० ॥ ईशोप० १५ ।



विज्ञानात्मब्रह्मणे नमः

विज्ञानात्मा-सूर्यः

‘विज्ञानं ब्रह्मे’ त्युपास्व

यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ श्वे० उ० ४ । १२

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्त्रेद्यावाभूमी जनयम् देव एकः ॥ श्वे० उ० ३ । ४

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ श्वे० उ० ३ । १७

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च । श्वे० उ० ३ । १८

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभिरुद्धयते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः ॥ श्वे० उ० २ । ६

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवाह्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ कठोप० १ । ३ । ६

पारमेष्ठ्य 'यज्ञात्मा' की मूलप्रतिष्ठा भृग्वज्जिरोमय 'आपः' तत्त्व है, जैसाकि पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भृगु, तथा अङ्गिरा, इन दोनों तत्त्वों में से 'अङ्गिरा' तत्त्व का विकास ही 'सूर्य' है। आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित बीजावस्थापन्न अङ्गिरोऽग्नि ही आगे जाकर संवरण-सर्वव्याप्तिलक्षण 'यज्ञवराह' नामक पारमेष्ठ्य वायु के व्यापार से संघातावस्था में परिणत होता हुआ 'सूर्य' रूप से प्रकट हो जाता है। पञ्चपर्वा विश्व में ज्ञानज्योतिर्गर्भित स्वयम्भू सर्वथा अव्यक्त है। परमेष्ठी यद्यपि अव्यक्त-स्वयम्भू की अपेक्षा व्यक्त है, परन्तु परमेष्ठी में भूतज्योतिर्लक्षणा रूप-(प्रकाश-उजाला)-ज्योति का विकास नहीं है अतएव 'रोदसीत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध रुद्रत्रिलोकी (सौरत्रिलोकी) की अपेक्षा से परमेष्ठी अव्यक्त ही माना जायगा। रूपज्योतिर्लक्षण भूतज्योतिः-स्वरूप से व्यक्त होने वाले जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में सूर्य ही अग्रणी माना गया है। असदात्मक तम को छिन्न भिन्न करने वाला अव्यक्त स्वयम्भू था, सृष्ट्यभावरूप तम को दूर करने वाला परमेष्ठी था, किन्तु 'अन्धकार' नाम से प्रसिद्ध रात्रितम को दूर कर विश्वान्तर्गत पदार्थों को रूपप्रकाश से व्यक्त करने वाले व्यक्तमूर्ति यही भगवान् अंशुमाली हैं। रोदसी-त्रिलोकी में प्रतिष्ठित रहने वाली चर-अचर प्रजा के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही हैं। दूसरे शब्दों में अनुपात्य तम को दूर करने वाले अव्यक्त स्वयम्भू थे, एवं अनिरुक्त तम को हटाने वाले यही सहस्रांशु हैं। ईश्वर प्रजापति (षोडशी पुरुष नामक अमृतात्मा) की ज्ञानकला सूर्य द्वारा ही सर्वत्र व्याप्त होती है, जैसाकि मन्त्रश्रुति कहती है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।

हनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥

ऋक् १ । १६४ । २१ ।

'धिघो यो नः प्रचोदयात्' के अनुसार यही ज्ञान के प्रचोदयिता (प्रेरक) हैं। अध्यात्मसंस्था में जीवप्रजापति (कर्मसाक्षात्) जो कार्य अपनी बुद्धि से लेता है, अधिदैवत संस्था में विश्वस्य हृदयम् ईश्वर प्रजापति (कर्मसाक्षात्) वह कार्य सूर्य से लेते हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि आध्यात्मिक संस्था का सूर्य है, एवं सूर्य अधिदैवत संस्था की बुद्धि है। रोदसी-त्रिलोकात्मिका द्यावापृथिवी के अधिष्ठाता, विश्वकेन्द्रस्थ, अतएव "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्" (शत० ६ । १ । २ । ४०) इत्यादि के अनुसार "हृदय" नाम से प्रसिद्ध, व्यक्तपदार्थों की अपेक्षा सर्वप्रथम विश्व में व्यक्त होने के कारण 'अग्रज' नाम से प्रसिद्ध इसी हिरण्यगर्भ सूर्य-प्रजापति का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—यजुःसं. १३ । ४

यद्यपि आदित्य-विज्ञान के अनुसार सूर्य '१-इन्द्र, २-धाता, ३-भग, ४-पूषा, ५-मित्र, ६-वरुण ७-अर्यमा, ८-अंशु, ९-विवस्वान्, १०-त्वष्टा, ११-सविता, १२-विष्णु' सोम-चित्-इन्द्र-विभूतियां इन बारह दिव्यप्राणों का समुच्चित रूप माना गया है, तथापि प्रधानतः सूर्य १-सोम, २-इन्द्र, ३-चित् इन तीन विभूतियों के आधार पर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष में भी सूर्य में ये ही तीन तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सूर्यपिण्ड [सूर्यगोलक] भूतमय है। यही "सोम" तत्त्व है। इसे ही ही दर्शनभाषा में 'भूतमात्रा' कहा जाता है। रश्मिमण्डल में व्याप्त, प्रकाश का अधिष्ठाता तत्त्व प्राण है। यही रूपाधिष्ठाता सौरप्राण—"रूप रूपं मधवा बोभवीतु" "इन्द्रो रूपाणि कनिकृदचरत्" इत्यादि वचनों के अनुसार 'इन्द्र, नाम से प्रसिद्ध है। दर्शन समय की यह 'प्राणमात्रा' है। सूर्य ही बुद्धि का प्रवर्तक बनता हुआ ज्ञान का अधिष्ठाता है। सूर्यकी वही ज्ञानशक्ति 'चित्' नाम से व्यवहृत हुई है। यही 'प्रज्ञामात्रा' नाम से प्रसिद्ध है। इस चिदंश के सम्बन्ध से ही इन्द्रतत्त्व चिन्मय बनता हुआ चेतना नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इन्द्र का प्रज्ञाभाव, किवा चैतन्य, सोम के सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। अग्नि को जहां पुरुष कहा जाता है, वहां सोमतत्त्व शक्ति नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए बृहज्जाबालोपनिषत् २।८।९) सौर अग्नि हिरण्यमय है। इसी हिरण्य तत्त्व के सम्बन्ध से यह सोममयी शक्ति "हैमवती" नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व वीथ्र है। प्रतिबिम्बग्रहण-योग्यता इसी में है। सब से पहिले पारमेष्ठ्य महद्गर्भित चिदंश का सम्बन्ध इसी के साथ होता है, अतएव इसे 'चिच्छक्ति' कहा जाता है। चिच्छक्तिस्वरूपा इसी हैमवती उमा के द्वारा महेश्वरमूर्ति सावित्राग्निमय इन्द्रप्राण के साथ सम्बन्ध होता है। तात्पर्य यही हुआ कि, इन्द्र में जो चैतन्य है, वह सोम के द्वारा ही आया हुआ है। (देखिए केनोपनिषत् ३।११)। सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाङ्मय अव्ययात्मा की वाक्कला का विकास अव्यक्त स्वयम्भू में होता है। प्राण-वाक् इन दो कलाओं का विकास महत् परमेष्ठी में होता है। परन्तु विश्वकेन्द्रस्थ बुद्धिरूप सूर्य में मनःप्राणवाक् इन तीनों कलाओं का विकास है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, षोडशी पुरुष की पूर्ण विकास भूमि इन्द्रात्मक यही सूर्य है। अतएव—'इन्द्रो ह वै षोडशी' (अत० ४।५।३।१) इत्यादि रूप से सौर इन्द्र को 'षोडशी' कहा गया है। यही कारण है कि, पञ्चपर्वी विश्व के किसी पर्व को आत्मा का अधिष्ठाता न मानकर 'सूर्य आत्मा जगत्स्तस्थुषश्च' (यजुःसं० १३।४६) इत्यादि रूप से एकमात्र सूर्य को ही अधिष्ठाता मान लिया गया है। आत्मा के साथ साथ ही देव, एवं भूतप्रजा की भी प्रतिष्ठा यही सूर्य है। आत्मा—भूत—देव, इन तीनों के मूलस्तम्भ आयुः—गौः—ज्योतिः, ये तीन तत्त्व हैं। पूर्वं प्रतिपादित इन्द्र का विकास ज्योतिरूप से, सोम का विकास गौरूप से, चिदंश का विकास आयुरूप से होता है। इन्द्रमय ज्योतिः, सोममयी गौ, चिन्मय आयु, इन्हीं तीनों मनोताम्रों के सम्बन्ध से सूर्य से ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम, इन तीन स्तोमयज्ञों का विकास होता है। ज्योतिष्टोम देवसृष्टि की गोष्टोम भूतसृष्टि की, एवं आयुष्टोम आत्म-विकास की मूलप्रतिष्ठा है। इस प्रकार इन तीनों स्तोमों से सूर्य सर्वप्रतिष्ठा बन रहा है।

केवल आत्म—देव—भूत विवर्त का ही, अपितु अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, इन तीनों संस्थाओं की भी सत्ता सूर्य के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव इसे विश्वप्रतिष्ठा कहा गया है जैसा कि महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥ १ ॥

—श्वेता० ५।१३।

पूर्व की यज्ञात्मोपनिषत् में कहा गया है कि, सूर्य से ऊपरका पारमेष्ठीचलोक तृतीय छुनाम से है। इसी में सोम नामक अणु तत्त्व प्रतिष्ठित है। यह लोक 'अस्ति वै प्रसिद्ध यज्ञप्रवर्तकविश्वात्मा चतुर्थो देवलोक आपः' (कौ० ब्रा० १८) के अनुसार आपोलोक नाम से प्रसिद्ध है। यह पारमेष्ठ्य सोम दूषित परमाणुओं को उन्निष्ट करने की शक्ति रखता है, अतएव यह पवित्र नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पतेर्भुर्गात्राणि पर्येषि सर्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥

—ऋक्० ६।८३।१

पारमेष्ठी में प्रतिष्ठित भृगुतत्त्व की आपः—वायुः—सोम, ये तीन अवस्थाएं, बतलाई गई हैं। इन तीनों में क्रमशः आप्यप्राण अमुर, वायव्यप्राण गन्धर्व, एवं सौम्यप्राण पितर नाम से प्रसिद्ध है। आप्यप्राणात्मक पारमेष्ठ्य असुरों के आक्रमण से पारमेष्ठ्य वायव्य प्राणात्मक गन्धर्व पितृप्राणात्मक सोम की निरन्तर रक्षा किया करते हैं। सौरी वाग्रूपा सुपर्णी के द्वारा गन्धर्वों से सुरक्षित यह पवित्र सोम निरन्तर सूर्य में आहुत होता रहता है। इसी रहस्य को बतलाने के लिए सौपर्णस्थान की कल्पना की गई है। सुप्रसिद्ध कद्रु-विनता की संघा (शर्त-होड़-बाजी) का भी इसी ब्राह्मणकथान से सम्बन्ध है। 'आकुष्णेन रजसा वर्त्तमानः' (यजुःसं० ३३।४३) के अनुसार सूर्य सर्वथा कृष्ण (काला) है। दाह्य पारमेष्ठ्य सोम की इस दाहक और सावित्राग्नि में आहुति होती रहती है। इस सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यही प्रकाश है। आप सौरमण्डल में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह जलता सोम ही है। सोम ही प्रकाश का प्रवर्तक है। इसी अभिप्राय से ऋषि कहते हैं—

त्वमिमा ओषधीः सोम ! विश्वास्तमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा तथन्तोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो बवर्थ ॥

—ऋक्० १।६१।२२।

इसी सोमाहुति से सूर्यसत्तारूप अहःकाल का उदय होता है। यही अग्रयज्ञ अग्निहोत्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर—“सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्” (शत० २।३।१।१) यह कहा गया है। सौराग्निमण्डल ही सम्बत्सर है। इसी में सोम आहुत हो रहा है। अग्नि-सोम के उद्ग्राभ (चढ़ाव) निग्राभ (उतार) से इस सौर-सम्बत्सर में ६ ऋतुएं उत्पन्न हो जाती हैं। अग्निजन्मकाल वसन्त है, अग्नि

की युवावस्था शीघ्र है, प्रौढ़ावस्था वर्षा है। सोम का उदयकाल शरत् है, युवावस्था हेमन्त है, प्रौढ़ावस्था शिशिर है। अग्नीषोममय इस सम्बत्सरात्मक सौर यज्ञ के पाँच अवयव हैं। अहोरात्र पहला पर्व है, शुक्ल-कृष्ण पक्ष दूसरा पर्व है, चातुर्मास्य तीसरा पर्व है, दक्षिण-उत्तर-अयन चौथा पर्व है, एवं स्वयं सम्बत्सर पाँचवां है। यही इस सौरयज्ञ की पाङ्क्तता (पञ्चावयवता) है।

उक्त सम्बत्सर यज्ञ के ये ही पाँचों पर्व क्रमशः अग्निहोत्र—दर्शपूर्णमास—चातुर्मास्य—पशुबन्ध ज्योतिष्ठोम—नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रकारान्तर से यज्ञ की पाङ्क्तता देखिए। हविर्यज्ञ—सोमयज्ञ—मेधयज्ञ अतियज्ञ—घर्मयज्ञ, भेद से सम्बत्सर यज्ञ पञ्चधा विभक्त है। पार्थिव अन्न की सौराग्नि में आहुति होने से हविर्यज्ञ का, पारमेष्ठ्यसोम की आहुति से सोमयज्ञ का, पुरुष-गौ-नर-सर्व-नाम के चारों पशव्य प्राणों की आहुति से मेधयज्ञ का, एवं विशेष प्रकार की सोमद्वयी, एवं अग्निचिति से अतियज्ञ का, प्रवर्ग्याहुति से घर्मयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। ये पाँचों यज्ञ, दूसरे शब्दों में एक ही यज्ञ के पाँचों पर्व क्रमशः ७-७-४-१ इन विभागों में विभक्त हैं। इन के भी आगे जाकर अवान्तर अनेक विभाग हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण यज्ञकर्म—कलाप एकमात्र इसी सौरसम्बत्सर में प्रतिष्ठित है। अग्नीषोमात्मक इसी सौर-यज्ञ से सौरदेवता अमृतभाव को प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण विश्व के सञ्चालक बन रहे हैं। जब तक सोमा-हुति है, तब तक यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तभी तक व्यक्त विश्व का व्यक्तीभाव है। यह व्यक्तीभाव यज्ञा-त्मक इसी व्यक्त सूर्य पर प्रतिष्ठित है। अतएव सूर्यसत्ता सृष्टिकाल कहलाया है, एवं सूर्य का तिरोभाव प्रलयकाल का अधिष्ठाता माना गया है। उक्त यज्ञसंस्थाक्रम निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट हो रहा है।

१-हविर्यज्ञः → अन्नाहुत्या सम्पद्यते ।	} “पाङ्क्तो वै यज्ञः” इत्याहुः । सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा
२-सोमयज्ञः → सोमाहुत्या सम्पद्यते ।	
३-मेधयज्ञः → मेधाहुत्या सम्पद्यते ।	
४-अतियज्ञः → राज-वाजाग्निसम्बन्धेन०	
५-घर्मयज्ञः → प्रवर्ग्याहुत्या सम्पद्यते ।	
-----:०:-----	
१-अग्निहोत्रम् अहोरात्रयज्ञः	} “पाङ्क्तो वै यज्ञः” इत्याहुः सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा
२-दर्शपूर्णमासः पक्षयज्ञः	
३-चातुर्मास्यम् ऋतुयज्ञः	
४-पशुबन्धः अयनयज्ञः	
५-ज्योतिष्ठोमः सम्बत्सरयज्ञः	
-----:०:-----	

१-हवियज्ञः--

- १-अग्निहोत्रम्
- २-दर्शपूर्णमासः
- ३-चातुर्मास्यम्
- ४-आश्वयगोष्टिः
- ५-इष्टचयनम्
- ६-सौत्रामणिः
- ७-पशुबन्धः

सप्तसंस्थो वै हवियज्ञः-प्राक्सौमिकः

२-सोमयज्ञः--

- १-अग्निष्टोमः
- २-अत्यग्निष्टोमः
- ३-उक्थ्यस्तोमः
- ४-वोङ्गशीस्तोमः
- ५-प्रतिरात्रस्तोमः
- ६-वाजपेयस्तोमः
- ७-अप्तोय्यामस्तोमः

सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः-सोमयज्ञः

३-मेधयज्ञः--

- १-अश्वमेधः
- २-गोमेधः
- ३-नरमेधः
- ४-सर्वमेधः

चतुः संस्थो वै मेधयज्ञः

४-अतियज्ञः—

- १-राजसूयः (राज्ञाम्)
- २-वाजपेयः (ब्राह्मणानाम्)
- ३-चयनम् (ब्राह्मणानाम्)
- ४-अश्वमेधः (राज्ञाम्)

४

} चतुःसंस्थो वै अतियज्ञः

५-घर्मयज्ञः—

- १-शिरोयज्ञः, प्रवर्गयज्ञो वा एकविध एव ।

अग्निरहस्यवेत्ता विद्वानों को यह भलीभांति विदित है कि, सम्पूर्ण विश्व एकमात्र सोमर्गभित्त अग्नितत्त्व का ही विवर्त है। (अग्नीषोमात्मक जगत्' वृ० जा० उ० २।४) । इस अग्नितत्त्व के सम्यक् परिज्ञान के लिए तीन तत्त्व विज्ञेय हैं। अग्नि स्वयं अन्नाद (अन्न खाने वाला) है। बिना अन्न के अग्नि कभी स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। यही पहला तत्त्व है। दूसरा अन्न तत्त्व है। भोक्ता अग्नि जिस धरातल पर प्रतिष्ठित होकर अन्न भोग करता है, वह तीसरा तत्त्व है। ये तीनों क्रमशः आवपनब्रह्म-अन्नादब्रह्म-अन्नब्रह्म, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। आवपन खं ब्रह्म है, खं आकाश है, आकाश ही वाक्तत्त्व है, जैसा कि यज्ञात्मप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस वाङ्मय खं ब्रह्म पर प्रतिष्ठित रहने वाला भोक्ता अन्नाद ब्रह्म अन्न से सुख प्राप्त करता हुआ "कं" ब्रह्म नाम से व्यवहृत होता है। आवपन वाक् ब्रह्म था, यह अग्नि-ब्रह्म है। रमणकभूत अन्नब्रह्म 'रं' ब्रह्म से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाङ्मय आवपनरूप खं ब्रह्म प्रतिष्ठित अग्निमय अन्नादरूप कं ब्रह्म आपोमय अन्नरूप 'रं' ब्रह्म का भोग करता हुआ वाक्-अग्नि-अव्मय शं ब्रह्म-रूप में परिणत हो रहा है। आवपन पर प्रतिष्ठित अन्नाद के साथ जब तक अन्न का सम्बन्ध है, तभी तक रुद्राग्नि शिवरूप में परिणत होता हुआ शान्ति के साम्राज्य में प्रतिष्ठित हो रहा है। अन्नसम्बन्ध के विच्छेद से शिवभाग रुद्ररूप में परिणत होता हुआ विश्वसंहारक बन जाता है। अन्नसम्बन्ध से वही प्राणाग्नि तत्त्व शिवशरीर धारण कर लेता है। अन्नाभाव में वही घोरशरीरी बन जाता है। इसी अन्ना-दाग्नि-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वे घोरान्या च शिवान्या” ।

चित्याग्नि साक्षात् रुद्र है। इसके प्रचण्ड क्रोध से सम्पूर्ण देवता कम्पित हो जाते हैं। अपनी रक्षा के लिए, दूसरे शब्दों में रुद्रकोप से बचने के लिए अन्नयज्ञ का आश्रय लेते हैं। इस अन्न से रुद्र शान्त हो

जाते हैं, शिवस्वरूप में परिणत हो जाते हैं, अतएव यह रुद्राक्ष 'शान्तदैवस्थ' किंवा "शान्तरुद्रिय" नाम से प्रसिद्ध होता है। परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यही शान्तरुद्रियभाव "शतरुद्रिय" नाम से प्रसिद्ध है, यही "शतरुद्री" है (देखिए शत० ७ कां० संचितिका० १। १। १)। उत्पन्न शिशु अग्निमूर्ति है। गर्भस्थ शिशु सम्बत्सराग्नि के चयन से नवमास में जब सर्वात्मना सम्पन्न हो जाता है तो एवयामरुत् के आघात से गर्भाशय को छोड़ता हुआ बाहर निकल पड़ता है। भूमिष्ठ होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वह रोने लगता है। शिशुशरीरस्थ अन्न विरहित अग्नि ही "अग्नि बँ रुद्रः। यदरोदीत, तस्माद्रुद्रः (शत० ६। १। ३। ११) के अनुसार रुद्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी से सम्पूर्ण इन्द्रिय देवता कम्पित हो पड़ते हैं। अन्नाहुति दी जाती है। तत्काल रुद्राग्नि शान्त हो जाता है। बच्चा चुप हो जाता है। इसी आधार पर खं-कं-रं- की समष्टि को "शं" ब्रह्म कहा गया है। तीनों की समष्टि ही यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तभी तक संसार है।

यद्यपि परमेष्ठि को यज्ञात्मा कहा गया है, तथापि अग्नीसोमात्मक यज्ञ का पूर्ण विकास तो सूर्य में ही होता है। पारमेष्ठ्य यज्ञ सामवेद में "गोसव" यज्ञ कहलाया है। यही यज्ञ पुराण में "गोलोक" कहलाया है। सूर्य के मूलप्रतिष्ठारूप गौ यहीं विकसित होती है। यही गोस्थान ब्रजभूमि से प्रसिद्ध है। इस यज्ञ की आधार भूमि एकविंशस्तोम से आरम्भ कर ३६ वें स्तोम तक का पारमेष्ठ्य प्रदेश है। इन्हीं पन्द्रह स्तोमों के कारण यह यज्ञ "पञ्चदशाह" यज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। गौप्रवर्त्तक पञ्चदश अहर्गणात्मक सोममूर्ति यही पारमेष्ठ्य गोसवयज्ञ ॐ "पट्विंश" कहलाया है।

यज्ञाधारभूमि को आवपन कहा गया है। आवपन और आधार में अन्तर है। आवपन भिन्न प्रकार का आयतन है, आधार निम्न प्रकार का आयतन है। एकतः आयतन भूमि आधार कहलाता है, एवं सर्वतः आयतन भूमि आवपन कहलाता है। हमारा आधार भूपिण्ड है, पुस्तक का आधार मेज है, पानी का आधार घट है, फूल का आधार शाखा है, शाखा का आधार वृक्ष है, ये सब आयतन आधार तन्तु है, शरीर का आधार आत्मा है, ये सब आवपन नाम से प्रसिद्ध होंगे। आकाश वसुधानकोश (डिब्बी) की भाँति सर्वतः आधार बना हुआ है। प्रकृत में आकाशात्मक यही आवपन सम्बन्ध अभिप्रेत है। इसी-लिए इस आवपन को हमने "खं ब्रह्म" कहा है। अन्न को हमने आपोमय कहा है। यह अप्तत्त्व, किंवा आपोमय अन्न सौर, एवं पार्थिवान्नि भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। पार्थिव अन्न सोम है, सौर अन्न × पानी है। जहाँ भी पानी होता है, "नाड्योवायुसंयोगादारोहणम्" (वै० द० ५। २। ६।) के अनुसार सूर्य स्वनाडी द्वारा उसे अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है। पञ्चपर्व विश्व के उन ओर वाग्ब्रह्म है, इस ओर भी वाग्ब्रह्म है, मध्य में अग्निब्रह्म है। इस मध्यस्थ अग्नि के दोनों ओर अन्नसोम अभिव्याप्त है। स्वयम्भू आकाश है, यही वाग्ब्रह्म, किंवा खं ब्रह्म है, यही विश्वयज्ञ का आवपन है।

ॐ इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विभानभाष्य (१ अङ्क में देखना चाहिए।

× अथैष गोसवः। स्वाराज्यो वा एष यज्ञः। प्रजापतिर्हि परमेष्ठी स्वाराज्यम्। सर्वः पट्विंश (३६) स्तेन 'गोसवः'। (तां० म० ब्रा० १६। १३)।

‘परमे व्योमन्’ नाम से प्रसिद्ध इसी आवापन में सब कुछ प्रतिष्ठित है। परमेष्ठी आपः है, यही ‘रं’ ब्रह्म है। सूर्य अग्नि है, यही ‘कं’ ब्रह्म है। चन्द्रमा आपः सोम है, यही ‘रं’ ब्रह्म है। पृथिवी वाक् है, यही खं ब्रह्म है। उपक्रम-उपसंहार में वाक् है, मध्य में सूर्याग्नि है। यह उभयतः सोमरूप अप् परिगृहीत है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो रहा है।

१-वाक्—स्वयम्भुः—आवपनब्रह्म—खं ब्रह्म	} शं ब्रह्मा—अधिदेवतम्
२-आपः—परमेष्ठी—अन्नब्रह्म—रं ब्रह्म	
३-अग्निः—सूर्यः—अन्नादब्रह्म—कं ब्रह्म	
४-आपः—चन्द्रमाः—अन्नब्रह्म—रं ब्रह्म	
५-वाक्—पृथिवी—आवपनब्रह्म—खं ब्रह्म	

विश्वमध्यस्थ अन्नादाग्नि के (सौर अग्नि के) तीन विवर्त हैं, दूसरे शब्दों में वह तीन स्वरूपों में परिणत होकर विश्व में प्रतिष्ठित है। पहला विवर्त साम्बत्सरिक सौर अन्नादाग्नि के तीन विवर्त है, दूसरा पार्थिव है, तीसरा शारीरिक है। सौरमण्डलस्थ विश्व-नियन्ता अग्नि ही सम्बत्सर है, यही देवप्राण की प्रधानता से “आधिदैविकाग्नि” नाम से प्रसिद्ध है। भूलोक-नियन्ता अग्नि पार्थिव है, भूतभाग की प्रधानता से यही “आधिभौतिकाग्नि” हैं, एवं जीवसृष्टि का सञ्चालक शारीरिक अग्नि ही आत्मसम्बन्ध से “आध्यात्मिकाग्नि” नाम से व्यवहृत हुआ है। इन तीनों अग्नियों की मूलप्रतिष्ठा स्वायम्भुव प्राणाग्नि है। यही ब्रह्माग्नि, किंवा वेदाग्नि है।

अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-तीनों प्रपञ्चों का उक्थ-ब्रह्म-साम-रूप आत्मा यही सूर्य है। स्थावरप्रपञ्च भूतप्रपञ्च है, जङ्गमप्रपञ्च आत्मप्रपञ्च है। “सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च” (यजुः सं०-७।४२) के अनुसार दोनों की प्रतिष्ठा यही सूर्य है। सौरमण्डल—“चित्रं देवानामुदनात्” (यजुः सं०-६।४२) के अनुसार देवप्राणात्मक है। इसी देवप्राण के सम्बन्ध से यह प्रथम संस्था “आधिदैविक” नाम से प्रसिद्ध है। अतएव सौरमण्डलस्थ यह प्राणाग्नि “देवाग्नि” नाम से व्यवहृत हुआ है। “एषां वै भूतानां पृथिवी रसः” (शत० १४।१।४।१) के अनुसार पार्थिव अग्नि ‘भूताग्नि’ नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध से यह संस्था आधिभौतिक नाम से व्यवहृत हुई है। मनोता विज्ञान के अनुसार सूर्य में ज्योतिः-गौः-आयुः ये तीन मनोता माने गए हैं, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया जा चुका है। ऋतः-प्राणवाक् के त्रिवृत्करण से इन तीनों मनोताओं का परस्पर में त्रिवृत्करण होता है। इस त्रिवृत्करण

❀ इस विषय का विशद विवेचन ‘ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञानभाष्य’ प्रथम खण्ड के ‘मनप्राणवाक् की व्यापकता’ नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

से क्रमशः देवता-भूत-आत्मा; ये तीन तत्त्व आविर्भूत होते हैं। आयुः-गौः-गर्भित ज्योतितत्त्व देवता है। सूर्यमण्डल में गौ भाग गौण है; देवभाग प्रधान है। ज्योति-आयुर्गर्भित गौभाग भूत है। यही पृथिवी है। यहाँ ज्योति, एवं आयुःतत्त्व अन्तर्लीन हैं, गौभाग प्रधान है। ज्योतिः-गौः-गर्भित आयुःतत्त्व ही आत्मा है। यहाँ आयु का विकास है। यही आध्यात्मिकाग्नि पुरुषाग्नि नाम से भी व्यवहृत हुआ है। निष्कर्ष यही हुआ कि, वही अन्नादाग्नि सूर्यसंस्था में सम्बत्सर है, पृथिवीसंस्था में अग्नि है, एवं अध्यात्म संस्था में पुरुष है। साथ ही में इतना और ध्यान रखिए कि, ये तीनों ही शब्द विचाली हैं। सम्बत्सर-अग्नि-पुरुष, तीनों को तीन शब्दों से व्यवहृत किया जा सकता है। कारण, त्रिवृद्भाव के कारण प्रत्येक में तीनों के प्रत्यंश विद्यमान हैं। साथ ही में तीनों का मूलप्रभव अन्नादाग्नि तीनों में समान है। सौर-सम्बत्सर अग्नि भी है, पुरुष भी है, पार्थिव अग्नि सम्बत्सर भी है, पुरुष भी है, सम्बत्सर भी है। इन तीनों अग्नियों का परस्पर में चिति सम्बन्ध हुआ करता है। यही प्राकृतिक अग्निचयन यज्ञ है। इन तीनों चित्वाग्नियों का मूलाधार-सर्वतः आधारभूत वही स्वायम्भुव वेदाग्नि है, यही चौथा आवपन है। अग्नितत्त्व के इन्हीं चारों विवर्तों को लक्ष्य में रखकर—'चतुर्धा विहितो ह वाऽग्निरास' (शत० ब्रा० १।२।३।१।) यह कहा गया है।

अग्निविवर्त—

- १—१-मूलप्रतिष्ठाग्निः—चित्तेनिधेयः—प्राणप्रधानः—स्वायम्भुवः
 २—२-आधिदैविकाग्निः—चित्यः —ज्योतिःप्रधानः-सौरः
 ३—३-आधिभौतिकाग्निः-,, —गौप्रधानः —पार्थिवः
 ४—४-आध्यात्मिकाग्निः-,, —आयुःप्रधानः—शारीरिकः

१—ब्रह्माग्निः—ब्रह्माण्डम्...खं ब्रह्म

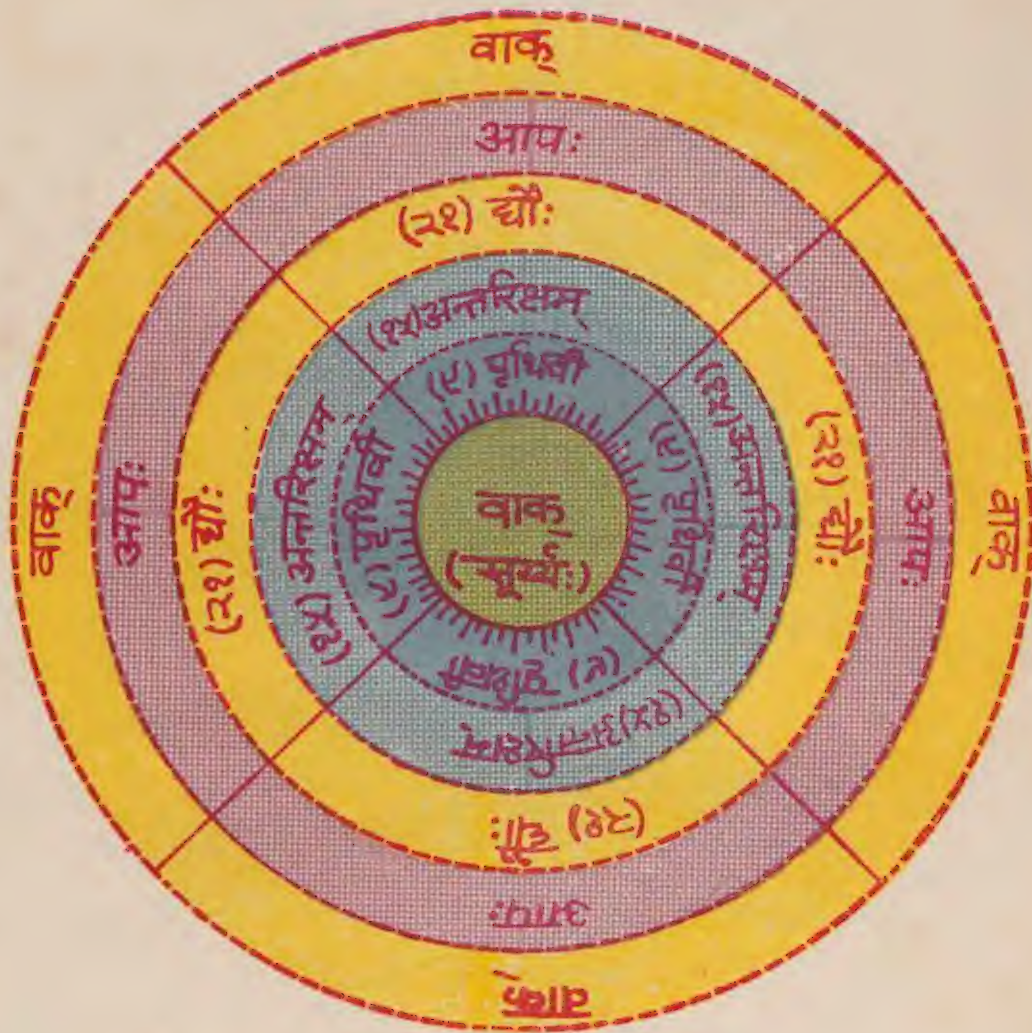
२—देवाग्निः—सम्बत्सरः...कं ब्रह्म

१—भूताग्निः—अग्निः ...कं ब्रह्म

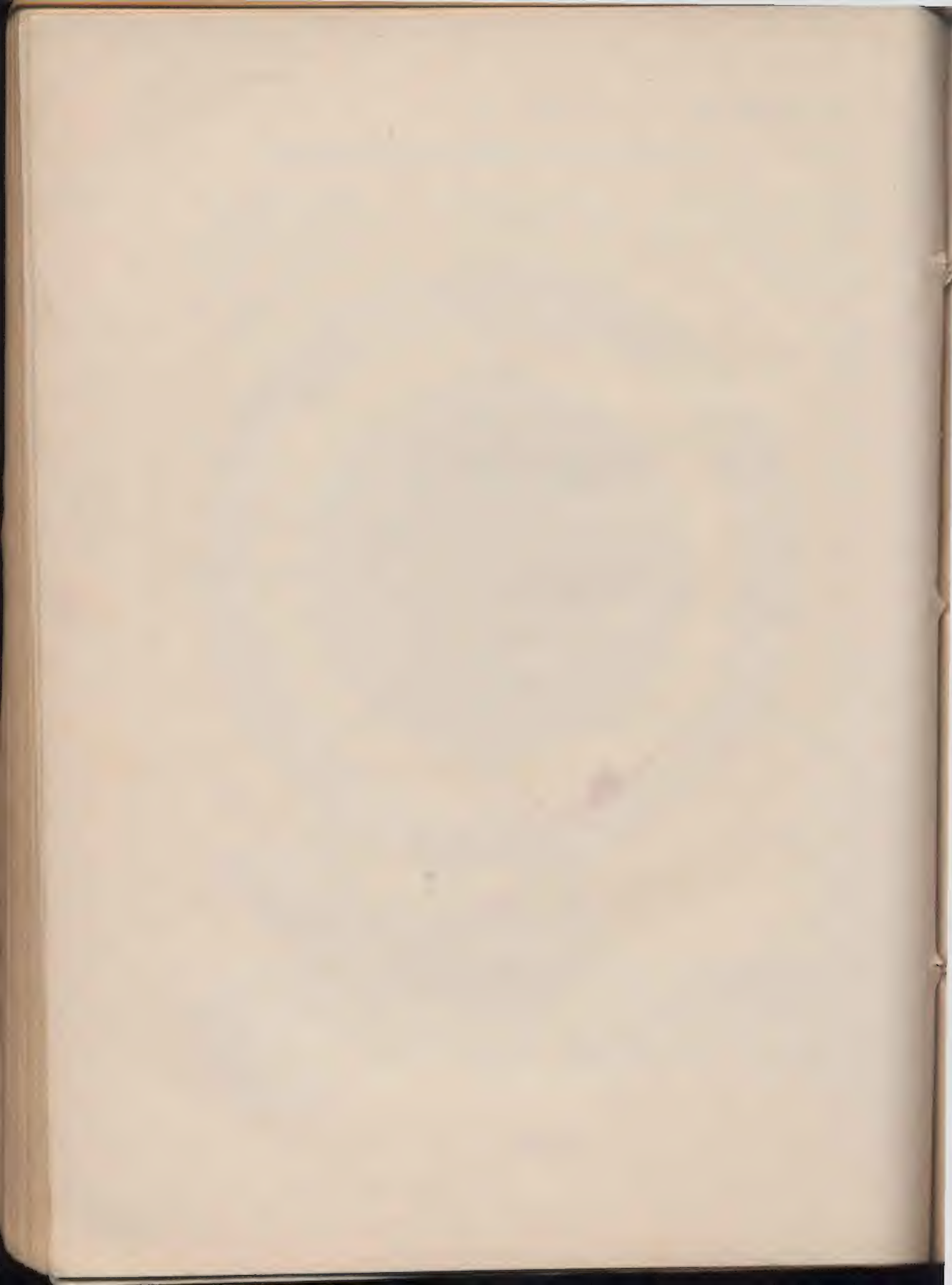
३—आत्माग्निः—पुरुषः ...कं ब्रह्म

अग्निर्वै त्रिवृत्" (तै० ब्रा० १।५।१०।४) के अनुसार अग्नितत्त्व त्रिवृत्कृत है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक; इन तीनों अग्नियों को तीन तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। आधिदैविका सम्बत्सराग्नि है। घनावस्थापन्न सम्बत्सराग्नि अग्नि है; तदवच्छिन्न लोक पृथिवीलोक है। तरलावस्थापन्न सम्बत्सराग्नि वायु है; तदवच्छिन्न लोक अन्तरिक्ष है। विरलावस्थापन्न सम्बत्सराग्नि आदित्य है, यही शुलोक है। आधिभौतिकाग्नि पार्थिव है। घनावस्थापन्न पार्थिव अग्नि

सौर सम्बत्सरमण्डल (अधिदैवत संस्था) परिलेखः—



पञ्चपर्वा सौर सम्बत्सर मण्डल में विश्वनियन्ता अन्नादाग्नि ही सम्बत्सर है। यही देवप्राण की प्रधानता से 'आधिदैविकाग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर वाक् स्वयम्भू (आवपनम्) तथा आपः परमेष्ठी (अन्नम्) रूप से व्याप्त है। इसी प्रकार द्यौः (२१), अन्तरिक्षम् (१५) तथा पृथिवी (६) अग्नि रूप में सम्बत्सरः (अन्नाद) हैं। वाक् (सूर्यः) आवपनम् है।

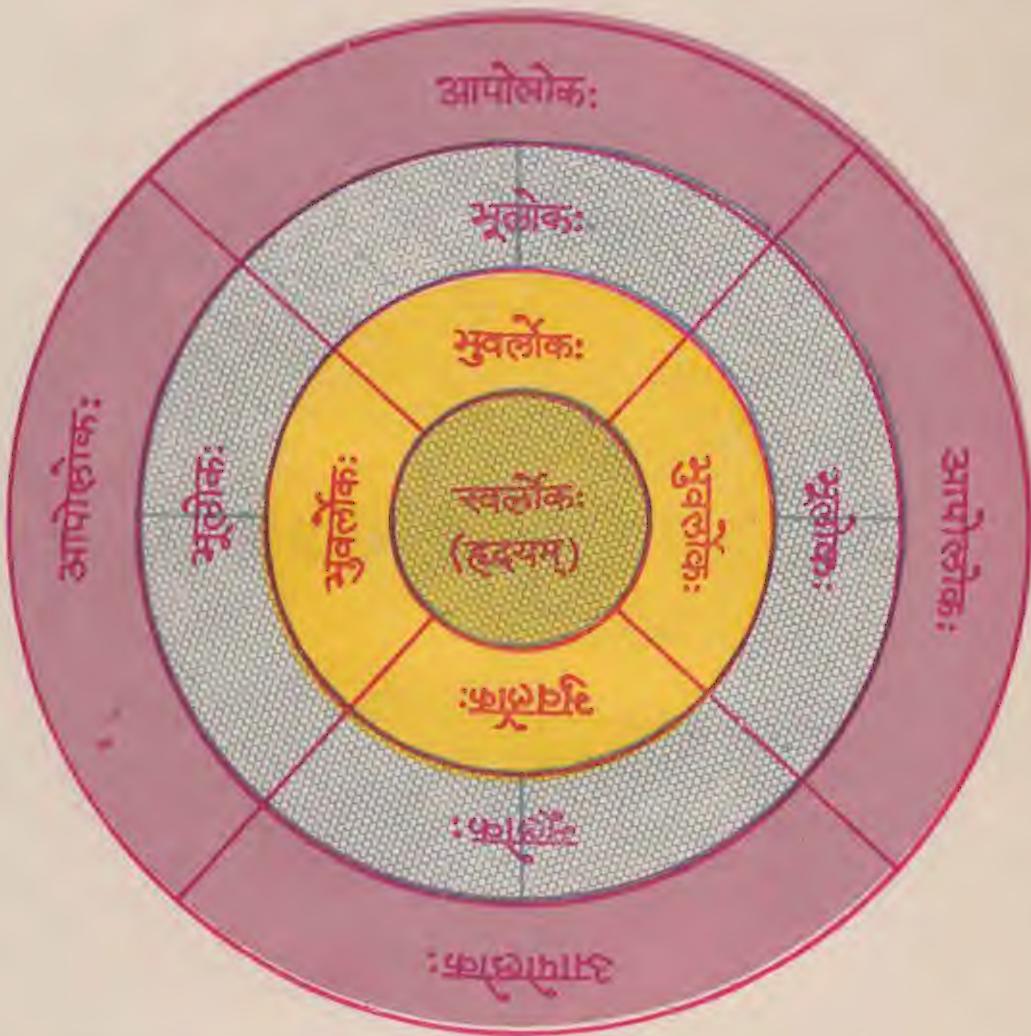


पार्थिव सम्बत्सरमण्डल (अधिभूत संस्था) परिलेखः—



पञ्चपर्वी विश्व में वाक् स्तर को 'स्वयम्भू' तथा 'आपः' स्तर को परमेष्ठी कहा जाता है। यही परमेष्ठी अन्नम् भी है। इस पञ्चपर्वी विश्व में महापृथिवी सम्बत्सर (अन्नाद्) के अन्तर्गत 'भूः'—'भुवः'—'स्वः' क्रमशः ६-१५-२१ स्तोमों में व्याप्त रहते हैं। इन्हें ही क्रमशः पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ लोक कहते हैं। मध्य में स्थित वाक् ही पृथिवी है। यही आत्रपन ब्रह्म कहलाती है तथा यही अग्नि ब्रह्म है। इसी मध्यस्थ अग्नि के दोनों ओर अन्न-सोम अभिव्याप्त हैं।

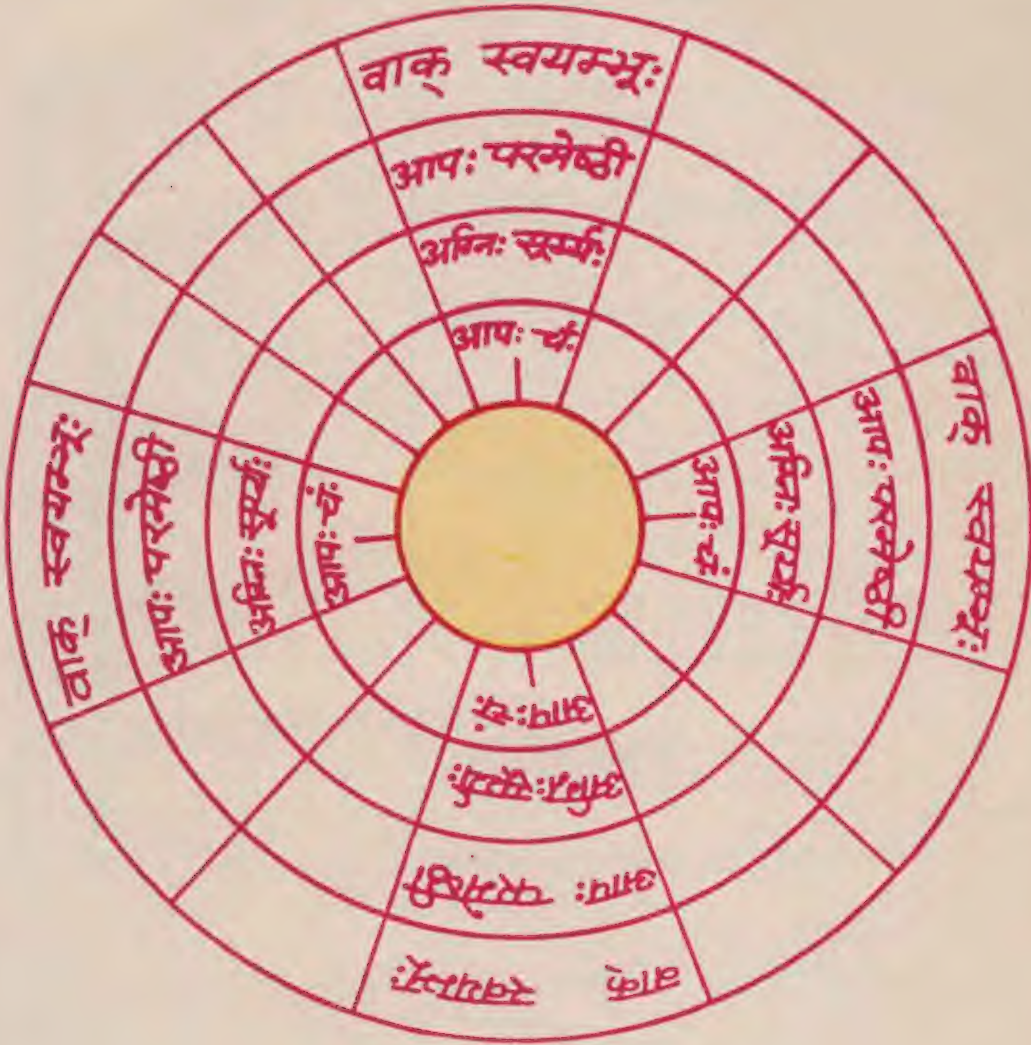
अर्णवसमुद्रगर्भित भूपिण्ड परिलेखः—



- | | | | |
|--------------------|---|-----|--------------|
| १—आपः | — | आपः | } भुविवर्तम् |
| २—भूः (चित्वाग्नि) | } | भूः | |
| ३—भुवः (तरलाग्नि) | | | |
| ४—स्वः (हृदयम्) | | | |
| ५—आपः | — | आपः | |

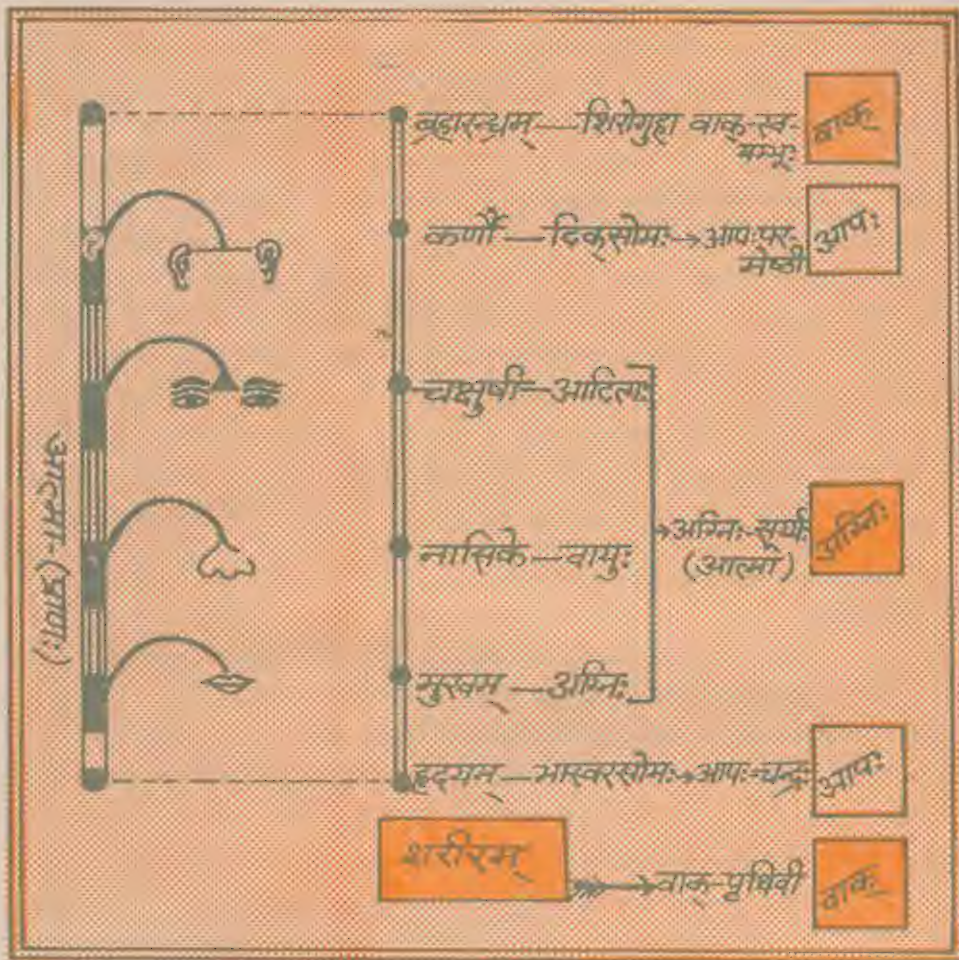


अधिदैवत-अधिभूत समष्टि परिलेखः—

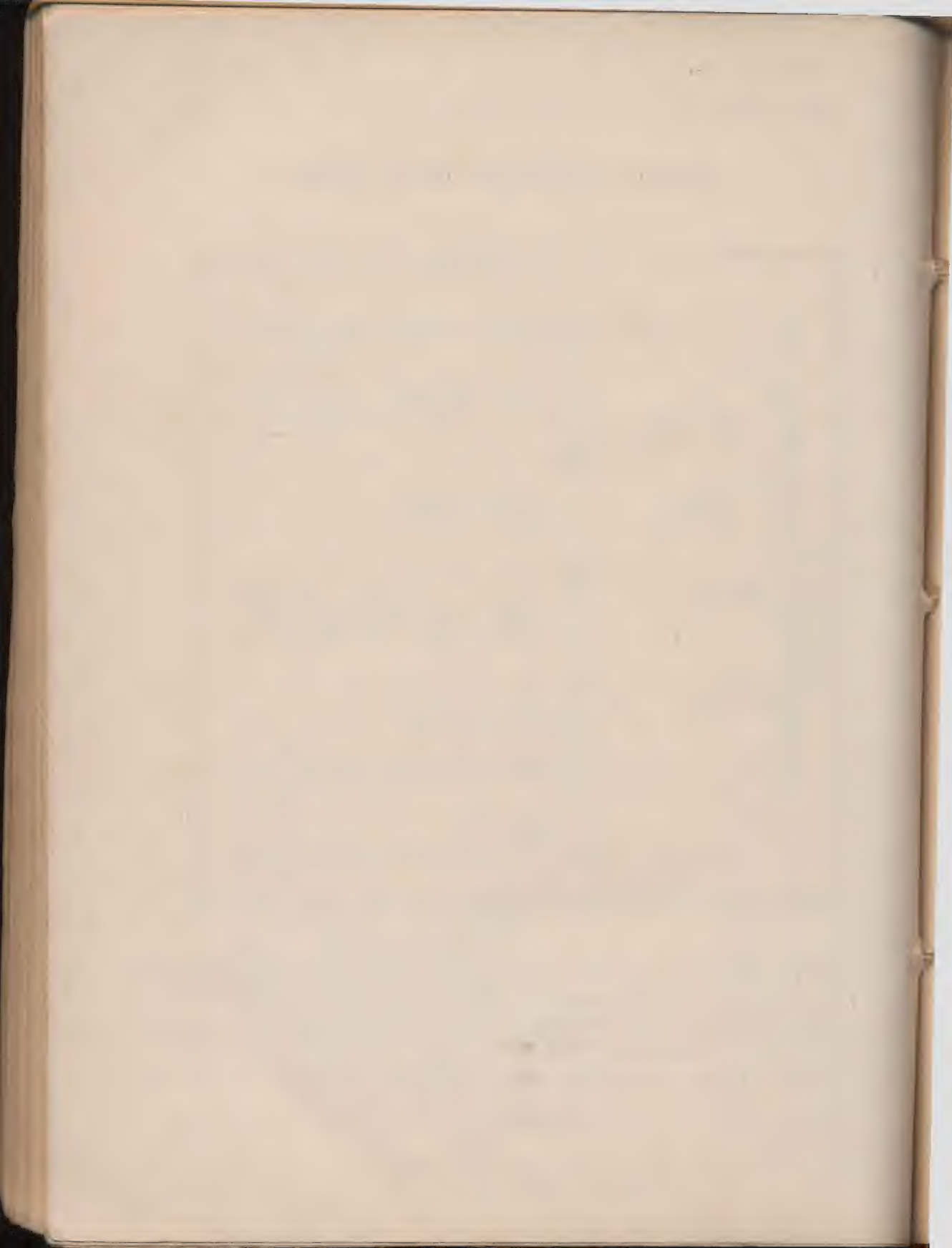


उक्त परिलेख में पञ्चपर्वी विश्व का स्वरूप बतलाया गया है। जिसमें स्वयम्भू आकाश है यही वाग्ब्रह्म है तथा यही विश्व यज्ञ का आवपन है। परमेष्ठी आपः है सूर्य्य अग्नि है, चन्द्रमा आपः सोम है। पृथिवी वाक् है। उपक्रम-उपसंहार में वाक् है, मध्य में सूर्य्याग्नि है। वाक् स्वयम्भू आवपनब्रह्म (खं ब्रह्म), आपः परमेष्ठी अन्नब्रह्म (रं ब्रह्म), अग्नि सूर्य्य अन्नब्रह्म (कं ब्रह्म), आपः चन्द्रमा अन्नब्रह्म (रं ब्रह्म) तथा वाक् पृथिवी आवपनब्रह्म (खं ब्रह्म) कहलाते हैं।

शरीरकाग्नि [अध्यात्मिक सप्तविमण्डल] परिलेखः—



उक्त परिलेख में शरीरकाग्नि के रूप में शिरोगुहा स्वरूप बतलाया गया है, जिसके अन्तर्गत २ श्रोत्रे, २ चक्षुषी, २ नासिके व १ मुखम् है। यही सातों साकञ्ज प्राण सप्तक का शिरोनुगत प्रथम विस्तार है। इनकी मूल प्रतिष्ठा अम्ब्यादि देव हैं अतएव इन सप्तकपि प्राणों को 'देवता' भी कहा जाता है। ६-१५-२१-२७-३३ स्तोम भेद से महिमा पृथिवी के पाँच स्तोम प्रदेश माने गए हैं। इतमें क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोम-दिक्सोम नामक पाँच अग्निसोमात्मक प्राण देवता प्रतिष्ठित माने गए हैं। जिनका क्रमशः मुख, नासिका, चक्षु श्रोत्र, ब्रह्मरन्ध्र इन पाँचों में क्रमवार भोग होता है।



दृश्य भूस्तर है, यही भूलोक है। इसके भीतर तरलावस्थापन्न अग्नि जलरूप है; यही भुवर्लोक है। सर्वान्तरतम प्राणात्मक मौलिक अग्नि विरलावस्थायुक्त है, यही तीसरा स्वर्लोक है। आज दिन पृ० अन्त० द्यौः, एवं भूः-भुवः-स्वः, इनको परस्पर में पृथग्विमानां जा रहा है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। भूः-भुवः-स्वः का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में पार्थिवग्नि से सम्बन्ध है। भूकेन्द्रस्थान स्वर्लोक है। इस की प्रतिष्ठा प्राणाग्निमूर्ति प्रजापति है—‘प्रजापतिश्चरति गर्भे०’। भूपृष्ठ के भीतर बहने वाला पानी भुवर्लोक है। यही पातालादि सात लोकों की प्रतिष्ठा है। यही पानी साक्षात् वरुणाग्नि है। स्वयं दृश्य भूपिण्ड भूलोक है। इस प्रकार भूः-भुवः-स्वः इन तीनों का केवल भूपिण्ड में ही भोग हो जाता है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर एकविंशस्थ सूर्य पृथग्विमान् सम्बत्सराग्नि व्याप्त है। इसी की उक्त तीनों अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य, नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं ये ही तीनों देवता क्रमशः त्रिवृत् पञ्चदश-एकविंश-स्तोमरूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-इन तीनों लोकों के अधिष्ठाता हैं। इसी पार्थक्य को लक्ष्य में रखकर ‘दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः’ (ऋक्सं० १०। १६०। ३।) यह कहा गया है। यदि द्युलोक, एवं स्वर्लोक दोनों एक ही वस्तु होते तो ‘दिवं-अथो स्वः’ यह पुनरुक्ति व्यर्थ होती। सम्बत्सराग्नि के तीनों विवर्त्तों के लिए ‘दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम्’ यह कहा है, एवं प्रजापतिमूर्ति पार्थिव अग्नि की तीनों अवस्थाओं का हृद्यभाव से संग्रह करते हुए ‘अथो स्वः’ यह कहा गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक अग्नि भी इसी त्रिवृद्भाव से आक्रान्त है। वागिन्द्रिय अग्नि है, प्राणेन्द्रिय वायु है, चक्षुरिन्द्रिय आदित्य है।

अग्नि के उक्त तीनों ही विवर्त्त उभयतः पानी से वेष्टित हैं। सत्याग्नि, सदा आपोमय ऋत परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है—ऋतेभूमिरियं श्रिता। पहले आधिदैविक विवर्त्त को ही लीजिए पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौरूप सम्बत्सराग्नि के उस ओर आपोमय दिक्सोममय परमेष्ठी है, इस ओर आपोमय (भास्वर सोममय) चन्द्रमा है। इसी प्रकार भूमिण्ड ‘समुद्रमभितः पिबमानम्’ (यजुः सं० ११। २६) के अनुसार ‘अर्णव’ नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट है। एवमेव दिक्सोममय श्रोत्र; एवं भास्वर सोममय मन से वेष्टित आध्यात्मिक त्रिवृदग्नि भी पानी के गर्भ में ही प्रतिष्ठित है—जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है।

जिस प्रकार स्वयम्भू ऋषिप्राणप्रधान, परमेष्ठी पितर-एवं असुरप्राणप्रधान, चन्द्रमा गन्धर्वप्राण-प्रधान, पृथिवी पशुप्राणप्रधान, किंवा वैश्वानरप्रधान है, एवमेव विश्ववमध्यस्थ सूर्य “चित्रं देवानामुद्गात्” इत्यादि के अनुसार देवप्राणप्रधान है। इसी सौर देवप्राण से यज्ञद्वारा नवीन आत्मा उत्पन्न होता है, अतएव इसे “देवात्मा” नाम से व्यवहृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त चिदात्मा के सम्बन्ध से इसी से दूसरे “विज्ञानात्मा” का भी विकास होता है। दोनों में से कम प्राप्त पहले देवात्मा का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाता है।

सूर्यमूलक देवात्मा

आवपन पर प्रतिष्ठित अन्नाद (अग्नि) के साथ अन्न (सोम) का मिथुन सम्बन्ध हो जाना ही यज्ञ है। यद्यपि मौलिक यज्ञ की प्रथम विकासभूमि आपोमय परमेष्ठी ही है, तथापि रोदसी त्रिलोकी

में रहने वाली प्रजा की अपेक्षा से प्रकृत में यज्ञ से सौरसंस्था का ही ग्रहण करना न्याय प्राप्त है। सौर-प्राणदेवता इसी यज्ञ के बल पर अमृतत्व को प्राप्त हो रहे हैं। सूर्य का अंश प्रवर्ग्य बन कर पृथिव बनता हुआ मृत्युधर्म्म से आक्रान्त हो जाता है। आगे जाकर यज्ञ के प्रभाव से ही यह पार्थिव प्राणदेवता स्वप्रभव सौरप्राण के साथ ग्रन्थिवन्धन करते हुए मृत्युपाश से विमुक्त हो जाते हैं। आर्यमहर्षियों ने प्रकृति के इस गुप्त रहस्य का अपनी दिव्यदृष्टि से साक्षात्कार किया, एवं उसी प्राकृतिक नित्य यज्ञ के आधार पर अमृतभाव-सम्पादक वैधयज्ञ का आविष्कार किया।

इस वैधयज्ञ के द्वारा मानुषात्मा में एक प्रकार का अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, वही दैवात्मा नाम से प्रसिद्ध है। आध्यात्मिक प्रपञ्च का आधिभौतिकप्रपञ्च के द्वारा आधिदैविक प्रपञ्च के साथ सम्बन्ध करा देना ही इस वैधयज्ञ का चरम फल है। दूसरे शब्दों में, सौर दिव्यतत्त्व का अध्यात्म-देवताओं के साथ ग्रन्थिवन्धन करा देना ही यज्ञ है। यद्यपि सौरप्राण का सम्बन्ध हमारे साथ नित्य बना रहता है, परन्तु यह सम्बन्ध बहिर्गम्य है। ऐसा सम्बन्ध 'त्याग' न कहला कर 'योग' कहलाया है। मनुष्य में स्वभावतः पार्थिवप्राण की प्रधानता रहती है। अतएव सौरप्राण अन्तर्गम्य सम्बन्ध से यहाँ स्वतःप्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सर्वप्रथम "अग्न्याधान" करना पड़ता है। मन्त्रवाक् द्वारा दिव्य अग्नि को मानुषाग्नि में प्रतिष्ठित करने वाली प्रक्रिया-विशेष ही अग्न्याधान है। इस से मानुषात्मा दिव्याग्नि से युक्त होता हुआ उस सौरप्राण के ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। अग्न्याधान के अनन्तर 'अग्निहोत्र' का अधिकार मिलता है। इससे अहोरात्र के दिव्यप्राण को आत्मसात् किया जाता है। दशपूर्णमासेष्टि से पाक्षिक दिव्याग्नि के साथ योग किया जाता है। चातुर्मास्य से ऋतुव्यापक अग्नि का आधान होता है। पशुबन्ध से अयनाग्नि को आत्मा में प्रतिष्ठित किया जाता है। इन सब के करने के अनन्तर सम्बत्सरात्मक सोमयज्ञ ज्योतिष्टोम का अधिकार मिलता है। अतएव इन्हें "प्राक्सौमिक" यज्ञ कहा जाता है। ज्योतिष्टोम से सम्बत्सराग्नि का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। अध्यात्म में प्रतिष्ठित यही साम्बत्सरिक दिव्याग्नि "दैवात्मा" है। इसी के प्रभाव से मानुषात्मा स्थूलशरीर के परित्याग के अनन्तर त्रिणाचिकेत स्वर्ग में चला जाता है। जब तक यज्ञातिशय बना रहता है, तब तक मानुषात्मा स्वर्ग में प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञातिशय की समाप्ति पर च्युत होता हुआ कर्म्ममा पुनः कर्म्मभोगार्थ उसी योनिचक्र में आ जाता है—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति"। जितने भी यज्ञ हैं, वे सब इस संसार समुद्र को पार करने वाली अस्थिर नौकाएँ हैं। कभी न कभी ये अवश्य छिन्न-भिन्न होती हैं अतएव उपनिषद्छु, ति ने इस 'यज्ञनौका' को अमृतत्व प्राप्ति में असमर्थ बतलाया है, जैसा कि महर्षि मुण्डक कहते हैं—

प्लवा ह्येते अष्टा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म ।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥

—मु० उ० १।२।६।

प्राकृतिक नित्य साम्बत्सरिक यज्ञ पृथिवी - अन्तरिक्ष—द्यौ, भेद से तीन लोकों में वितत है। त्रैलोक्य में वितत रहने के कारण ही इसे आतानयज्ञ-वितानयज्ञ-त्रेताग्नियज्ञ-इत्यादि विविध नामों से

व्यवहृत किया जाता है। इसी के आधार पर यहां वैधयज्ञ में गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-आहवनीय, इन तीन अग्नियों का वितान किया जाता है। गार्हपत्य पृथिवी की प्रतिकृति (नकल) है, दक्षिणाग्नि अन्तरिक्ष की, आहवनीय द्युलोक की प्रतिकृति है। सूर्य की प्रकृति 'यूप' है। पारमेष्ठ्य ग्रहसोम की प्रतिकृति बल्ली से निकाला हुआ सोमरस है। प्राकृतिक यज्ञ में ऋग्वेदावच्छिन्न अग्नि होता है, यजुर्वेदावच्छिन्न वायु अध्वर्यु हैं, सामवेदावच्छिन्न आदित्य उद्गाता है, त्रयीमूर्ति चन्द्रमा ब्रह्मा है, त्रैलोक्य व्यापक अतिष्ठावा अग्नि यजमान है। इसी आधार पर इस वैधयज्ञ में होता ऋग्वेदी, अध्वर्यु यजुर्वेदी, उद्गाता सामवेदी, एवं ब्रह्मा त्रैविद्य होता है। प्रजापति की प्रतिकृति स्वयं यज्ञकर्त्ता यजमान है।

आत्मा को मनःप्राणवाङ्मय कहा गया है। यज्ञद्वारा नवीन आत्मा उत्पन्न कराया जाता है। दूसरे शब्दों में यज्ञद्वारा सौरदिव्य मनःप्राणवाङ्मय आत्मा का मानुषात्मा (कर्ममात्मा) के साथ सम्बन्ध कराया जाता है। फलतः वैधयज्ञ में मनः-प्राण-वाक्-इन तीनों कलाओं के समावेश की आवश्यकता अवश्यभाविनी बन जाती है। इसी आत्मसम्पत्ति के लिए दक्षिणाक्रीत ऋत्विजों का सहयोग आवश्यक हो जाता है। होता-अध्वर्यु-उद्गाता ये तीनों तो वाकृतत्व सम्पादित करते हैं। अध्वर्यु प्राणसम्पत् सञ्चित करता है, एवं निरीक्षक ब्रह्मा मनोयोगद्वारा मनोमयी विभूति पर अपना अधिकार जमाता है। प्रकाशान्तर से यों भी कहा जा सकता है कि, ऋग्वेदी होता ऋकृतत्व पर प्रतिष्ठित १-शस्त्र कर्म से वाक्-कला सम्पन्न करता है, यजुर्वेदी अध्वर्यु जुस्तत्व पर प्रतिष्ठित ३-ग्रह कर्म से प्राण का सञ्चय करता है। सामवेदी उद्गाता सामतत्व पर प्रतिष्ठित ३-स्तोत्र कर्म से महिमामण्डल का निर्माण करता है। ब्रह्माद्वारा मनोमय भाग सञ्चित होता है। इस प्रकार शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह-द्वारा ऋत्विक् लोग यज्ञकर्म से नया दैवात्मा उत्पन्न कर देते हैं❀।

शस्त्रकर्म—हौत्रं—ऋचा सम्पद्यते—(होता)

ग्रहकर्म—आध्वर्यवं—यजुषा सम्पद्यते—(अध्वर्यु)

स्तोत्रकर्म—औद्गात्रं—साम्ना सम्पद्यते—(उद्गाता)

सर्वाध्यक्षो ब्रह्मा

'यजति' वात्वर्य के परिज्ञान के लिए वैद्याकरणों के 'भूषण' की शरण में जाइये। यहां तो केवल "यज-देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु" इसी पर विश्राम समझिए। देवताओं का पूजन, देवताओं के

❀इन सब याज्ञिक पदार्थों का मौलिक रहस्य, एवं इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) शतपथ ब्राह्मण हिन्दी-विज्ञानभाष्य के प्रथम वर्ष के प्रथम अङ्क में देखना चाहिए।

लिए दान, एवं देवताओं का परस्पर सङ्गतिकरण, इन्हीं तीनों भावों के लिए 'यजति' प्रयुक्त हुआ है। प्रकृत में देवात्मसम्बन्ध से सङ्गतिकरण अर्थ ही अभिप्रेत है। यजकर्त्ता यजमान इसी देवप्राण, किंवा देवात्मा के प्रभाव से साधारण अयज्ञिय मनुष्यों की अपेक्षा उत्कृष्टकर्म्या, एवं उत्कृष्टधर्मा बन जाता है। साक्षात् भौमदेवता बन जाता है, स्वर्गतत्त्व प्राप्त कर लेता है, दिव्यप्राण को पहचान लेता है। इसी यज्ञफल का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम् ।

दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्स्वर्ज्योतिः ॥ (यजुः सं० ८।५२) ।

यज्ञविद्या साधारण विद्या नहीं है। अपितु रूप—रस—गन्ध—स्पर्श—शब्दगून्म, अतएव इन्द्रियातीत प्राणतत्त्व को अधिकार में लाने वाली एक असाधारण शक्ति है। अतः इस की इतिकर्तव्यता में हमारे लिए एकमात्र शास्त्र ही शरण है। मनमाने फल की (ह्वाशुद्धि आदि की) कल्पना कर यथेच्छ पद्धतियों का निर्माण कर व्याज से यज्ञ का अनुगमन करना समृद्धि के स्थान में सर्वनाश का कारण है। यज्ञ एक नया असाधारण देवात्मा उत्पन्न करता है, यह कोई बालक्रीड़ा नहीं है। अवैध पद्धति से ताम्रकुण्डिकाओं में स्वाहा-स्वाहा बोलते हुए दो चार बार घृताहुति देने से ही यज्ञेतिकर्तव्यता समाप्त नहीं हो जाती। आज श्रौतपद्धतियों का तिरस्कार कर कल्पित पद्धतियों के आश्रय से ही यज्ञविद्या विलुप्तप्राय हो गई है। अस्तु, कहना केवल यही है कि, प्रक्रियाविशेष से सौरप्राण को अध्यात्म में प्रतिष्ठित कराना ही यज्ञ है। यज्ञजनित यह सौर देवात्मा मानुषात्मा से युक्त होकर स्थूलशरीर के परित्यागानन्तर इसे स्वर्ग प्रदेश में लेजाता है। देवात्मा का यही मुख्य कर्म है। श्राद्धकर्म का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण सौर-प्राणमय होने से यह असङ्ग है। इस पर वासना-भावना आदि संस्कारों का लेप नहीं हो सकता। इस का प्रभव यज्ञ है, योनि वेदमन्त्र है, प्रतिष्ठा मानुषात्मा (कर्मात्मा) है, आशय सर्वाङ्ग शरीर है। यह आत्मा इतर खण्डात्माओं के समान साधारण नहीं, अपितु असाधारण है। जो विद्वान् यथाविधि यज्ञ करते हैं, उन्हीं में यह अपूर्व आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। अयज्ञिय यथाजात मनुष्य इस देवात्मा से सर्वथा वञ्चित है। हां, इसी सूर्य का विज्ञानात्मा नाम का जो दूसरा विवर्त्त है, वह सर्वसाधारण में प्रतिष्ठित है। मानुषात्मा, एवं देवात्मा के इसी पार्थक्य को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है—

सर्वेषामु हैष देवानामात्मा—यदयमग्निः । तत् प्रातरभिपद्य, अभिषुत्य—

अग्नौ जुहोति । तदग्नावमृतं दधाति, तदात्मन्नमृतं धत्ते । दैवो वा—

ऽस्यैष आत्मा, मानुषोऽयम् । देवा उ आऽअग्ने, अथ मनुष्याः ।

तस्मादग्नौ हुत्वा भक्षयति” । (शत० ६।५।१।११)

दूसरा विवर्त है विज्ञानात्मा का। यह अपेक्षया असाधारण होता हुआ भी सृष्टिक्रमानुसार सर्व-साधारण में प्रतिष्ठित है। विज्ञानात्मोपनिषत् का आरम्भ करते हुए बत-लाया गया है कि, आनन्दविज्ञानगर्भित मनःप्राणवाङ्मय, विद्या-कर्ममय, अमृतमृत्युमय, अव्ययात्मा नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा (पोडशी-पुरुष) का पूर्ण विकास सूर्य में ही होता है। अतएव सौर इन्द्र को पोडशी कहा जाता है। सूर्यगत चिदात्मा, किंवा चिदंश अपनी विद्या (ज्ञान), अविद्या (कर्म) नाम की दोनों कलाओं से पूर्णरूप से विकसित है। सूर्य-प्रतिष्ठित चित् (ज्ञानमात्रा) इन्द्र (प्राणमात्रा) सोम (भूतमात्रा) विशिष्ट यही विज्ञानभाग अध्यात्म में प्रविष्ट होकर 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध होता है। यही विज्ञानात्मा 'कारयिता-क्षेत्रज्ञ-बुद्धि' आदि विविध नामों से व्यहृत हुआ है। ब्रह्मरन्ध्र नाम से प्रसिद्ध नान्दनद्वार (नान्दनद्वार—इतिद्वार) से यह अध्यात्म में प्रविष्ट होता है। सूर्य इसका प्रभवस्थान है, नान्दनद्वार योनि है, प्रज्ञानमन (सर्वेन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध अनिन्द्रियमन) इसकी प्रतिष्ठा है। आशय सर्वाङ्ग शरीर है।

विज्ञानात्मा में प्रतिष्ठित सोममय चिदंश 'धिषणा' कहलाता है, एवं इन्द्रतत्त्व 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। धिषणाभाग ज्ञानप्रधान होता हुआ विद्यात्मक है, प्राणभाग क्रियाप्रधान होता हुआ अविद्या-त्मक है। इस प्रकार धिषणा-प्राण-रूप से विज्ञानात्मा पर उस ज्ञान-कर्ममय, किंवा विद्या-कर्ममय पुरुषात्मा का पूर्ण अनुग्रह हो रहा है।

यद्यपि आज दिन 'बुद्धि-मनीषा-धिषणा-धी-प्रज्ञा-मति' आदि सब शब्दों का एक ही तात्पर्य समझा जा रहा है। परन्तु विज्ञानबुद्धि से विचार करने पर आपको विदित होगा कि उक्त सब शब्द सर्वथा विभिन्नार्थक हैं। यद्यपि वस्तुतत्त्व एक है परन्तु उपाधि भेद से ब्रह्मवत् वही बुद्धि-मनीषा-आदि भेद से नानारूपों में परिणत हो रहा है। अवस्थाभेद से ही तो पदार्थ भेद का कारण है। नहीं तो मन है, वही बुद्धि है, वही ब्रह्म है यह कहने में भी कोई हानि नहीं है। वही सावित्राग्नि स्वमण्डल में (सूर्यलोक में) प्रतिष्ठित रहता हुआ देवता है एवं प्रवर्ग्यरूप से सूर्य से पृथक् होकर अन्तर्यामि सम्बन्ध से पृथिवी में प्रतिष्ठित होकर गायत्री नाम से प्रसिद्ध होता हुआ वही सौर अग्नि "भूत" प्रधान बन जाता है। अन्न ही तो अवस्थान्तर में मल है। क्या अन्न और मल एक वस्तु है? वस यही अवस्थाभेदमूलक भेद बुद्धि-मनीषा आदि शब्दों में समझिए।

चिदंश-इन्द्र-सोम-इन तीनों ज्ञानों-क्रिया-अर्थमय भावों की समष्टिरूप विणुद्ध उवथतत्त्व बुद्धि है। विज्ञानात्मिका यह बुद्धि प्रज्ञानात्मक मन पर प्रतिष्ठित होकर ही विकसित होती है। भौतिक विषयों का इन्द्रियों के द्वारा सर्वप्रथम (संस्काररूप से इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान मन के साथ सम्बन्ध होता है। वासनाभावनासंस्कार रूप से प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित विषयों का ही बुद्धि भोग करती है। दूसरे शब्दों में भावनावासनासंस्कारावच्छिन्न मन ही बुद्धि का अन्त है। "अन्नं वा इडः" (ऐ० २।४।) के अनुसार अन्न तत्त्व "इड" नाम से प्रसिद्ध है। संस्कारावच्छिन्न इड-रूप (अन्नरूप) मन को अपने गर्भ में रखने वाली वही विणुद्धा बुद्धि, बुद्धि न कहला कर "मनीषा" नाम से व्यवहृत होती है। निर्विषया, निरुपाधिका बुद्धि, बुद्धि है, सविषया सोमाधिका वही बुद्धि मनीषा है। सांसारिक विषयों को ही सुख-

मूल मानने वाले सांसारिक यथाज्ञात मनुष्यों में विषयों की प्रधानता से मन प्रबल रहता है, विषयाधिक्य से प्रबल बना हुआ मन अन्नरूप बनता हुआ भी बुद्धि पर अपना अधिकार जमा लेता है। ऐसा विषय प्रधान मन रहती हुई बुद्धि की उपेक्षा कर एक प्रकार से स्वतन्त्र बन जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जासकता है कि, विषयासक्त मन बुद्धि का अन्न नहीं रहता, अपितु बुद्धि का अन्न नहीं रहता, अपितु बुद्धि मन का अन्न बनती रहती है। इसी बुद्धिपारतन्त्र्य एवं मन स्वातन्त्र्य का निरूपण करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

यस्त्वविज्ञान् भवति अयुक्ते न मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ कठोपनिषत् १। ३। ५।

ठीक इसके विपरीत शास्त्र अभ्यास के द्वारा अथवा पूर्व जन्म के सुसंस्कारों के प्रभाव से जिनका मन बुद्धि का अन्न बन जाता है वे विचारशील मनुष्य इसी मनीषा के द्वारा मनीषी कहलाते हैं। इन्होंने युक्तात्माओं को लक्ष्य में रख कर आगे जाकर श्रुति कहती है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ (कठोपनिषत् १। ३। ६)

यदि बुद्धि में विद्या का आत्यन्तिक उद्रेक हो जाता है, तो वह “धिषणा” कहलाने लगती है। अधिक विद्या (मालुमात) बुद्धि को अधिक प्रबल बना देती है। उसमें साधारण कोटि के मनुष्यों के धर्षण करने की शक्ति आजाती है। ऐसे प्रतिभाशाली के सामने सबको नत मस्तक होना पड़ता है। बहु-दर्शी बहुवित् है, उसकी बुद्धि धिषणा है। आप जितना अधिक विज्ञान सम्पादित करेंगे, आपकी बुद्धि उतनी ही प्रबल होगी। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर धिषणा का “विद्या वै धिषणा” (तै० ब्रा०- ३। २। २। २) यह लक्षण किया जाता है। बुद्धि को उक्थरूपा बतलाया है। उक्थ पिण्ड है। उदाहरण के लिए सूर्यपिण्ड को उक्थ समझिए। इस उक्थ पिण्ड से जो प्राणात्मिका रश्मियाँ निकती हैं, वे ही ‘अर्क’ नाम से प्रसिद्ध हैं। बिम्बरूपा बुद्धि से निकलने वाली प्राणात्मिका इन्हीं रश्मियों को “धी” कहा जाता है। सर्वप्रथम विषय का आधान इन्हीं बुद्धिरश्मियों पर होता है, अतएव इन्हें “धी” कहना अन्वर्थ बन जाता है। विज्ञान रश्मियाँ ही विषयाकार में परिणत होती हैं। बुद्धि एक है, प्राणरूपा धी अनन्त है। हमारे आत्मा के साथ उक्थरूप विज्ञानधन बुद्धिस्थानीय सूर्य का सम्बन्ध नहीं होता, सम्बन्ध होता है प्राणरूप (रश्मिरूप) धी भागका, वे अनन्त हैं। इसी अभिप्राय से—“धियो यो नः प्रचोदयात्” यह कहा जाता है। अतएव—“पुनस्तु मनसा धियः” इत्यादि रूप से तत्तत्स्थलविशेषों में धी का बहुत्वरूप से ही प्रयोग किया गया है। इसी आधार पर “प्राणा धियः” (शत० ६। ३। १। ३) इत्यादिरूप से धी को प्राण कहा है। उक्थनश्रण आत्मा सदा एक ही होता है, अर्कलक्षण प्राण सदा अनन्त ही होते हैं। निष्कर्ष यही हुआ कि, हृदयस्थितता बिम्बात्मिका बुद्धि बुद्धि है। वही अर्कविस्था में आकर धी, किंवा धियः है।

प्रज्ञान मन में प्रज्ञा और प्राण, कलाएँ हैं। चिद्विशिष्ट सोम प्रज्ञा है, यह वीध है। इसी पर बुद्धिरूप सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता है। प्रज्ञान मनका प्रज्ञाभाग ही अध्यात्म संस्था में बुद्धि प्रतिष्ठा का कारण है। इस प्रज्ञाभाग से युक्त वही बुद्धि प्रज्ञा कहलाने लगती है। प्रज्ञा भिन्न वस्तु है, प्राण पृथक् पदार्थ है, परन्तु दोनों का तादात्म्य है। एक दूसरे के बिना दोनों अप्रतिष्ठित हैं। इसी अभिप्राय से महर्षि कौपीतिक कहते हैं—

यो वै प्राणः—सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा—स प्राणः ।

सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः ॥ (कौ० उ० ३।३)

प्रज्ञा के सम्बन्ध से विज्ञान के अनुग्रह द्वारा जहाँ मन में ज्ञान का उदय होता है, वहाँ प्राण सम्बन्ध से इसमें कुर्वद्रूपता का विकास होता है—“उभयात्मकं मनः”। यदि प्रज्ञाप्राणात्मक मन के केवल प्राज्ञ भाग पर दृष्टि डाली जाती है, तो इस दशा में प्रज्ञावच्छिन्ना बुद्धिको हम ‘प्रज्ञा’ कहेंगे। यदि प्राण-युक्ताप्रज्ञा के साथ, दूसरे शब्दों में मन के साथ बुद्धि के दर्शन किए जायेंगे, तो इस अवस्था में इसे प्रज्ञान न कह कर “मति” कहा जायगा। यद्यपि मनन (चिन्तन) मन का धर्म माना गया है। परन्तु किसी एक विषय पर चिरकाल पर्यन्त मन की वृत्ति को लगाए रहना ही मनन है। उद्धर—“चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्” (गीता ६।३४) के अनुसार सर्वथा चञ्चल मन अपने विशुद्धरूप से स्थिरधर्म के प्रयोजक मनन-व्यापार में असमर्थ है। स्थिरधर्म-प्रयोजिका एकमात्र बुद्धि के सहयोग से ही मनमें स्थिरता का उदय होता है। ऐसी अवस्था में मानना पड़ेगा कि, मनन न केवल मन का व्यापार है, न केवल बुद्धि का व्यापार है, अपितु बुद्धियुक्त मन ही किंवा मनोमयी बुद्धि ही मनन की अधिष्ठात्री है। मनन ही “मति” है। मनोयुक्ता बुद्धि ही मति है।

उपर्युक्त अवस्थाकृत भेदों को समझते हुए बुद्धि—मनीषा—मति—प्रज्ञा—आदि का पर्यायसम्बन्ध मानना किसी सीमा तक ठीक है, परन्तु आँख मीच कर यथेच्छ प्रयोग करना विज्ञान-विरुद्ध है। अस्तु विविधभावात्मिका इस बुद्धि को प्रकृत प्रकरण में हमने “विज्ञानात्मा” नाम से व्यवहृत किया है। इस नामकरण की उपपत्ति यही है कि, प्रज्ञान मन सब में समान है, परन्तु व्यक्तिभेद से बुद्धि में अन्तर है। ऐन्द्रिय विषय भोग करना मन का काम है। इस अंश में सब समान हैं। आहार—निद्रा—भय—अशन—पानादि इन्द्रिय भोगों में सब की समान वृत्ति है—“सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्”। इस दृष्टि से सब मनुष्य एक श्रेणी में प्रतिष्ठित हैं। परन्तु बुद्धि विज्ञानमयी है विविध-ज्ञानमयी है। सौरज्ञान विविधरूप में परिणत होकर ही अस्मदादि में प्रतिष्ठित होता है। उसका एक ही ज्ञान (बुद्धि) अनेक भागों में विभक्त हो रहा है। एक श्वान में प्राणपरीक्षा-विज्ञान प्रतिष्ठित देखा जाता है। इसी विज्ञान के आधार पर नह भगे हुए चोर का पता लगाने में समर्थ होता है। ज्ञानका गर्व रखने वाले हम मनुष्यों में यह शक्ति नहीं है। विज्ञानधारा सर्वथा विभक्त हो रही है। इसी के तारतम्य से एक पण्डितराज भी व्याख्यान नहीं दे सकते, एक साधारण व्यक्ति भी अच्छा बोल लेता है। इसी विज्ञान की कृपा से एक श्रमजीवी (मजदूर) दिन भर पत्थर होने पर भी चार-छ आना ही प्राप्त करता है, परन्तु इसी विज्ञान की महिमा से शान्ति

से बैठा हुआ एक वैज्ञानिक क्षणमात्र में अतुल सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है, एवं सर्वत्र उसका यश व्याप्त हो जाता है इस प्रकार बुद्धि अनेक रूपा है, प्रज्ञानवत् समान-धर्मिणी नहीं है। बुद्धि के इसी वैविध्य से “विविधं ज्ञानं विज्ञानम्” इस निर्वचन के अनुसार इसे विज्ञानात्मा कहा जाता है। विज्ञान के तारतम्य से ही सेवक-स्वामी, गुरु-शिष्य, हाकिम-अहलकार, छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, इत्यादि द्वन्द्वभाव उत्पन्न होते हैं।

विज्ञानात्मा में धिषणा-प्राण, ये दो कलाएँ बतलाई गई हैं। साथ ही में धिषणा भाग को ज्ञान कहा है, एवं प्राणभाग को कर्म कहा है। ज्ञानकर्ममयी विज्ञानात्मिका इस बुद्धि के आगे जाकर आठ विवर्त हो जाती हैं। “अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पञ्च क्लेशः” (पा० योगदर्शन 213) के अनुसार कर्मात्मा को प्रत्यवाय का भागी बनाने वाले पांच क्लेश प्रसिद्ध हैं। अज्ञान अविद्या है। ‘अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः’ (गीता २।१५) के अनुसार यही अज्ञानरूपा अविद्या मोह की जननी है। ज्ञानाभाव अज्ञान नहीं है, अपितु अज्ञानावृत ज्ञान ही अज्ञान है। अनुकूल बन्धन राग है, प्रतिकूल बन्धन द्वेष है। जिस प्रकार अपना आत्मीय सदा मन पर चढ़ा रहता है, उसी प्रकार आत्मीय से भी कहीं अधिक शत्रु बुद्धि पर चढ़ा रहता है। जो राग है वही द्वेष है। दोनों में आसक्तिरूप बन्धन समान है। अतएव दोनों को दो न मानकर एक रूप में ‘आसक्ति’ नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। आत्मा का संकोचभाव ही ‘अस्मिता’ है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य आत्मा में प्रतिष्ठित है। फिर भी हम प्रत्येक कार्य में परमुखापेक्षी बने रहते हैं। आज यह नहीं, कल वह नहीं, इस प्रकार से आत्मा अपने आप में प्रत्येक वस्तु की कमी का अनुभव किया करता है। यही आत्मा का अस्मिता (स्मितभाव के-विकास का-अभाव) भाव है। दुराग्रह ही ‘अभिनिवेश’ है। शास्त्रज्ञानाभावरूप अज्ञान से अविद्या का उदय होता है, आसक्ति से राग-द्वेष का, अनैश्वर्य से अस्मिता का, एवं अधर्म से अभिनिवेश का उदय होता है। रागद्वेषरूपा आसक्ति, अविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश, ये चारों ही अविद्याएँ हैं। इन चारों का सम्बन्ध बुद्धि के कर्मप्रधान प्राण भाग के साथ रहता है। इसीलिए प्राणावच्छेदेन बुद्धि की चार अवस्थाएँ हो जाती हैं।

दूसरा है धिषणा भाग। इस के साथ अविद्याचतुष्टयी के चार विपर्ययों का सम्बन्ध रहता है। अविद्या का तिरोभाव ज्ञान से होता है। अस्मिता का विलयन ऐश्वर्य से होता है। आसक्ति का विनाश वैराग्य से होता है। धर्मभावना अभिनिवेश का उच्छेद करती है। इन का सम्बन्ध ज्ञानमय धिषणाभाग के साथ होता है, अतएव धिषणावच्छेदेन बुद्धि की इन चारों ज्ञानप्रधानावस्थाओं को “विद्याबुद्धि” कहा जाता है। इस प्रकार क्लेश, एवं क्लेश के चार विपर्ययों के सम्बन्ध से धिषणा-प्राणात्मिका बुद्धि की आठ अवस्थाएँ हो जाती हैं। यही प्राधानिकशास्त्र की—“अष्टौ बुद्धयः” हैं। विद्याबुद्धि-चतुष्टयी से अव्ययात्मा का विद्याभाग प्रसन्न होता है, अतएव इसे विद्याबुद्धि (आत्मविद्यानुगामिनी बुद्धि) नाम से व्यवहृत करना यथाप्राप्त है, एवं क्लेशचतुष्टयावच्छिन्ना प्राणप्रधाना अविद्या बुद्धि से अव्ययात्मा का अविद्याभाग सबल बनता है, अतः इसे अविद्याबुद्धि (आत्मअविद्यानुगामिनी बुद्धि) नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ है।

ॐ

१—१—धर्मबुद्धिः—आर्षविद्या—धर्मप्रवर्त्तिका

२—२—ज्ञानबुद्धिः—सिद्धविद्या—ज्ञानप्रवर्त्तिका

३—३—वैराग्यबुद्धिः—राजविद्या—वैराग्यप्रवर्त्तिका

४—४—ऐश्वर्यबुद्धिः—राजविद्या—ऐश्वर्यप्रवर्त्तिका

—धिषणाप्रधाना विद्याबुद्धिचतुष्टयी

—❁—

५—१—अभिनवेशबुद्धिः—अधर्मप्रवर्त्तिका

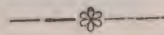
६—२—प्रविद्याबुद्धिः—अज्ञानप्रवर्त्तिका

७—३—रागद्वेषबुद्धिः—आसक्तिप्रवर्त्तिका

८—४—अस्मिताबुद्धिः—अस्मिताप्रवर्त्तिका

—प्राणप्रधाना अविद्याबुद्धिचतुष्टयी

श्रद्धा बुद्धयः



यह है सौर विज्ञानात्मा का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन । इस का प्रधान कर्म है—प्रज्ञानमनोऽवच्छिन्न, वैश्वानर—तैजस—प्राज्ञसमष्टिरूप कर्मात्मा को कर्म में प्रवृत्त रखना । इसी की प्रेरणा से कर्मात्मा कर्म करने में समर्थ होता है, अतएव इसे कारयिता (कर्म कराने वाला) कहा गया है । प्रज्ञान मन पर विषय आते हैं, परन्तु यह विज्ञानात्मा (बुद्धि) विषय पर जाता है । 'यह बात हमारी समझ में नहीं आई, अमुक बात हमारे जचती ही नहीं' यह व्यवहार प्रज्ञानमन से सम्बन्ध रखते हैं । 'हमारा खयाल उस ओर नहीं दौड़ता, सोचते हैं, परन्तु अकल काम नहीं करती' इत्यादि व्यवहार विज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखते हैं । नवीन कृति में विज्ञान की प्रधानता रहती है, प्रतिकृति (नकल) में प्रज्ञान की प्रधानता रहती है । नवीनग्रन्थ की रचना बुद्धि से सम्बन्ध रखती है, बने हुए ग्रन्थ की प्रतिलिपि में मनोव्यापार प्रधान रहता है । शरीर-निपात के अनन्तर यह विज्ञानात्मा भोगसाधक बना हुआ कर्मात्मा के साथ साक्षी रूप से युक्त रहता है ।

❁इन सब विषयों का सोपपत्तिक विशद निरूपण 'गीताहिन्दीविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए ।

स्वस्वरूप से असंज्ञ इस विज्ञानात्मा का गति-श्राद्ध-प्रेतकर्म-आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है । क्षेत्रज्ञविज्ञान क्षेत्र का अधिष्ठाता मात्र है । विज्ञानात्मनिरूपण गतार्थ हुआ । अब क्रमप्राप्त 'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

तदित्थं देव-विज्ञानभेदेन द्विकलोऽयं सूर्यो विज्ञानात्मा वा व्याख्यातो द्रष्टव्यः ।

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषदि'

प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां

'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्'

चतुर्थी

- (५) { १-अधिदैवतम्—चन्द्रमा (पूर्णमदः) }
 { २-अध्यात्मम्—महान् (पूर्णमिदम्) }

अथ

“महानात्मविज्ञानोपनिषत्” पञ्चमी

महानात्मा-प्राकृतात्मा-चन्द्रमाः

१—आकृतिमहान् (आकृत्यात्मा)

२—प्रकृतिमहान् (प्रकृत्यात्मा)

३—अहंकृतिमहान् (अहंकृत्यात्मा)

मम योनिर्महद् ब्रह्मा तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥१॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! सूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्मा महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १४ अ० १३, ४, १

(५) महानात्मस्वरूपपरिचयः—
 (तेजः-रुनेहमयोमहानात्मा)

स तो महान् अनिमानो धूमकेतुः पुरुषश्चन्द्रः ।

धिये वाजाय हिन्वतु ॥१॥

—ऋक् सं० १।२७।११।

क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभिः ।

बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान् कर्विर्निश्चरति स्वधावान् ॥२॥

—ऋक्सं १।१५।४।

महां असि महिष वृण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान् ।

एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान् ॥३॥

—ऋक्सं ३।४६।३।

नि वेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्ममहांश्चरति राचनेन ।

वपूंषि बिभ्रदभि नो विचष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥४॥

—ऋक्सं ३।५५।११।

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम् ।

एजत् प्राणस्त्रिमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं

विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥५॥

—मुण्डको २।२।१।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।

भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥६॥

—श्वे० उ० ५।३।

तद्वै स प्राणोऽभवन् महान् भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिष्या वित्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥७॥

—शत० ब्रा० ७।५।१।२४।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्यपश्यते ॥८॥

—कठोप० २।१।६।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥९॥

—यजुःसं ३२।१।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥१०॥

—कठोप० १।२।२२।



महानात्मब्रह्मणे नमः

महानात्मा-चन्द्रमाः

‘महद्ब्रह्मो त्युपास्व

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिर्भति जायमानं च पश्येत् ॥

—श्वे० उ० ५।२

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।

सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥ —श्वे० उ० ५।५

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ —यजुः सं० ३१।१८

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।

सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरत्ययः ॥ —श्वे० उ० ३।११

भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम् ।

महद्ब्रह्मैकमक्षरम् ॥ —शत० ब्रा० १०।४।१।६।

‘चिदात्मा’ नाम से प्रसिद्ध षोडशीपुरुष, प्राणप्रधान अव्यक्तात्मा, आपःप्रधान यज्ञात्मा, वाक्प्रधान विज्ञानात्मा, अन्नप्रधान प्रज्ञानात्मा, अन्नादप्रधान कर्मात्मा, चित्वाग्निप्रधान शरीर, भेद से अनेक संस्थायुक्त आध्यात्मिक प्रपञ्च की मूलप्रतिष्ठारूप यह महानात्मा सचमुच महान् (बड़ा) है । यदि अध्यात्मसंस्था से महानात्मा को पृथक् कर दिया जाता है, तो शेष अखण्ड-संखण्ड आत्मविवर्त्त, तथा शरीर सब कुछ उत्क्रान्त हो जाते हैं । सशरीर सम्पूर्ण आत्मविवर्त्त महान् के ही गर्भ में प्रतिष्ठित हैं । शुक्रमूर्ति महान्

महान की महत्ता

के साथ जब तक कर्मात्मा का ग्रन्थिवन्धन रहता है, तभी तक सशरीर-सपरिग्रह कर्मात्मा बन्धन में है। महद्ग्रन्थि-विमोक्त ही कर्मात्म-मुक्ति का मूलद्वार है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सभी कुछ इसी महानात्मा पर प्रतिष्ठित है। संसार में जितनी भी आकृतियाँ हैं, जितने भी प्रकृति (स्वभाव) भेद हैं, जो भी अहंकृतियाँ हैं, उन सब का आदिप्रवर्तक यही महानात्मा है, जैसा कि आगे जाकर विस्तार से स्पष्ट होने वाला है। महानात्मा के इसी सर्वपिष्ठाकृत महत्व को लक्ष्य में रखते हुए वैज्ञानिकों ने सर्वव्यापक षोडशी ब्रह्मेश्वर अव्यक्त, आदि किसी को भी महान् न कह कर एकमात्र इस पारमेष्ठ्य-तत्त्व को ही 'महान्' उपाधि से विभूषित किया है, जिस उपाधि का 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' के 'महदात्मप्रकरण' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

“महोदेव” “महान्” इत्यादि नामों से प्रसिद्ध यह प्राकृतात्मा यद्यपि आपोमय परमेष्ठीकी वस्तु है, जैसा कि पूर्व के यज्ञात्मप्रकरण में बतलाया जा चुका है, तथापि अध्यात्म-संस्था की अपेक्षा से इसकी मूलप्रतिष्ठा शुक्र है। उधर शुक्र चान्द्रपदार्थ है, अतएव इस आत्मगतिप्रकरण की अपेक्षा से इस प्रकरण में हमने इसे चन्द्रमा की वस्तु माना है। वस्तुतः इसकी महत्ता परमेष्ठी के सम्बन्ध पर ही निर्भर है। इस महानात्मा में सत्त्व-रज-तम, ये तीन गुण, एवं आकृति-प्रकृति-अहंकृति भेद से तीन प्रकृतियाँ नित्य प्रतिष्ठित रहती हैं, जैसा कि यज्ञात्मप्रकरण में ही विस्तार से बतलाया जा चुका है। जब तक महानात्मा स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, तब तक जीवात्मा कथमपि मुक्त नहीं हो सकता। 'महानात्मा में स्थूल-सूक्ष्म-कारण' शरीरभेद से तीन ग्रन्थियाँ रहती हैं। स्थूलग्रन्थि से वाङ्मय-स्थूलशरीर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसका प्रधान सम्बन्ध पाथिवभूतभाग-प्रधान तपोमूर्ति आकृतिमहान् के साथ है। सूक्ष्मग्रन्थि से प्राणगर्भित मनोमय सूक्ष्मशरीर की रक्षा होती है। इसका प्रधान सम्बन्ध चान्द्रभाग-प्रधान रजोमूर्ति प्रकृति महान् के साथ है। कारणग्रन्थि से मनोर्गर्भित इन्द्रमय कारणशरीर की स्वरूपरक्षा होती है। इसका प्रधान सम्बन्ध सौरभाग-प्रधान सत्त्वमूर्ति अहंकृतिमहान् के साथ है। जब तक उक्त तीनों ग्रन्थियों में से एक भी ग्रन्थि रहती है, तब तक महानात्मा में चिदाभास (चित्प्रतिबिम्ब) रूप से प्रतिष्ठित चिदात्मा (जीव) कभी मुक्त नहीं होता। चिदात्मा की योनि यही महानात्मा है। यजुर्मय अव्यक्त तत्त्व भी—“सोजनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्, तत आण्डं समवर्त्तत” (शत० ६।१।१) के अनुसार इसी आपोमय महान् के गर्भ में प्रविष्ट रहता है। भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा की प्रतिष्ठा भी यही आपोमय महान् है। सौर विज्ञान, चान्द्रप्रज्ञान भी यहीं प्रतिष्ठित है। शरीरत्रयमूर्ति अध्यात्मसंस्था का भी चरम आधार यही महानात्मा है। संभूति-विनाश, दोनों का संचालक भी है। इस प्रकार इस महान् की महत्ता सर्वात्मना सिद्ध है।

इस महानात्मा में प्रधानरूप से पारमेष्ठ्यसोम, चिदंश, पितृ-प्राण, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। तीनों तत्त्वों के समुच्चितरूप का ही नाम 'महानात्मा' है। सोमतत्त्व की सोम-चित् और पितरप्राण— अपेक्षा से यह महान् है, चिदंश की अपेक्षा से यह आत्मा है, पितृ-प्राण की अपेक्षा से यही पितर है। पितरप्राणावच्छेद से ही यह महान्—
“सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत !” (गी० १४।३) इस स्मार्त सिद्धान्त के अनुसार सब का प्रज

नयिता (उत्पादक) है। प्रजनयिता को ही लोकभाषा में पिता कहा जाता है, अतएव महद्गर्भित प्रजनयिता सौम्यप्राण को “पितर” कहना न्यायतः प्राप्त है। अविदेवतसंस्था में ही यही प्रजनयिता परमेष्ठी नाम से प्रसिद्ध है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है—

१—“ता वाऽएताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्नि-रिन्द्रः-सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः । तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत्-दर्शपूर्णमासौ । ताभ्यामयजत । ताभ्यामिष्ट्वा कामयत-अहमेवेदं सर्वं स्यामिति । स आपोऽभवत् । आपो वा इदं सर्वम् । ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति (सूर्या-दपि परमे स्थाने तिष्ठन्ति, तस्मात् परमेष्ठी नाम ।”

—शत० ११।१।६

२—“औषधिलोको वै पितरः” (शत० १३।८।१।२०)

३—“पितृलोकः सोमः” (की० १६।५।)

४ “पितृदेवत्यो वै सोमः” (शत० २।४।२।१२।)

५ “प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः, प्रजापतिर्वै महान्देवः” (शत० ६।१३।१६।)

यही महान संसार का शुक्र (उपादानद्रव्य) होने से “शुक्र” नाम से भी व्यवहृत हुआ है। “सर्व-व्यंगाच्छुक्रम्” (ई०उ०) ‘शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः’ (मुण्डक) “तदेव शुक्रम्” (कठोपनिषत्) इत्यादि स्थलों में पड़ा हुआ शुक्र शब्द महानात्मा का ही वाचक है। इस पारमंठ्य सोममय महान का चन्द्रमा के साथ संबन्ध होता है। दूसरे शब्दों में चान्द्र सोम ही आध्यात्मिक महान् की प्रतिष्ठा है। महद्ज्ञान-विज्ञानज्ञान-प्रज्ञानज्ञान, इन तीनों ज्ञानों में से विज्ञान (बुद्धि) एवं प्रज्ञान (मन) के ज्ञान का तो हमें प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु महत्-ज्ञान बड़ा विलक्षण है। उसका यथार्थ स्वरूप हमारे लिए अविज्ञेय ही रहता है। यह केवल अनुमानगम्य है। आप अपने घर से निकल कर देवदर्शनार्थ जा रहे हैं। मार्ग में जाते हुए आप एक साथ तीन कर्म कर रहे हैं। ‘गमन’ प्रधान कर्म है। गतिरूप कर्म के साथ साथ ही मार्ग में आने वाले दृश्यों को देखना, अच्छे बुरे शब्द सुनना, सुरभि-असुरभि ग्रहण करना, आदि इन्द्रिय सम्बन्धी कर्म भी हो रहा है। साथ ही में आप अपने अन्तर्जगत में कुछ सोचते भी जाते हैं। ‘एक समय में एक ज्ञान एक ही कर्म कर सकता है’, यह सर्वसम्मत सिद्धांत है। इधर आप एक ही समय में तीन कर्म कर रहे हैं। अतः इन तीनों सहकृत कर्मों के लिए अवश्य ही तीन ज्ञान धाराएँ माननी पड़ती हैं। ऐन्द्रिककर्म की प्रतिष्ठा प्रज्ञान-ज्ञान (मन) है, अन्तर्जगत् में प्रवाहित विचार धारा की प्रतिष्ठा विज्ञान-ज्ञान (बुद्धि) है, एवं तीसरे गति कर्म का सञ्चालक महद्ज्ञान (महानात्मा) है। तीनों अपना अपना काम

करते हुए एक दूसरे के उपकारक बने हुए हैं। दूसरे शब्दों में तीनों को स्व-स्व कार्य निर्वाह के लिए आशिकरूप से परस्पर में एक दूसरे का आश्रय लेना पड़ता है। यदि कोई ज्ञान अन्य ज्ञान में सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर देता है, तो उसका अपना कर्मयन्त्र बंद हो जाता है। यदि आप सुन्दर दृश्य देखने में इतर ज्ञानों का समावेश कर लेते हैं तो विचार धारा बंद हो जाती है। यहाँ विज्ञान प्रज्ञान में डूब रहा है। यदि महद् भी इसी ओर झुक जाता है, तो इस दृश्य विषय की तल्लीनता से महत् का गतिकर्म भी अवरोध हो जाता है, आप या तो वहाँ स्तब्ध हो जाते हैं, अथवा ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं। इसी प्रकार यदि विज्ञान में प्रज्ञान, एवं महत् का लय है, तो न आप ऐन्द्रियक कर्म कर सकते, न चल सकते। एवमेव यदि महत् में प्रज्ञान विज्ञान का लय है तो न आप विचार कर सकते, न ऐन्द्रियक कर्म कर सकते। केवल चलने में ध्यान रहता है। मार्ग में कौन आया, कौन गया, किसने क्या कहा, आदि किसी का कुछ भी भान नहीं होता। इसी को अनन्य योग कहा जाता है। यही आत्म समर्पण है, यही विषय सिद्धि का मुख्य द्वार है। उक्त तीनों में से विचार एवं विषयानुभव द्वारा विज्ञान-प्रज्ञान का स्वरूप विदित हो जाता है। परन्तु महद्ज्ञान का स्वरूपज्ञान नहीं होने पाता। कारण इसका यही है कि प्रज्ञान, विज्ञान तो ज्ञाता ग्रहणार्थ के गर्भ में प्रतिष्ठित है, परन्तु ग्रहणार्थ (स्वयं ज्ञाता) उस गर्भ में है—विज्ञातारं वा अरे केन विज्ञानीयात्। महद्गर्भित 'ग्रह' ही तो जानने वाला है महद्ज्ञान तो इस ज्ञाता का स्वरूपधर्म है। दूसरे शब्दों में महानात्मा अहंकृति-धर्मावच्छिन्न महानात्मा ही स्वयं ज्ञाता है। वह अपने आपको क्या जाने। हम ज्ञानपूर्वक अन्न खाते हैं। अन्न को मुख में डालकर गले के नीचे उतार देना, यह तो हमें विदित है, परन्तु भुक्त अन्न किस ज्ञान की प्रेरणा से रसासृङ्मांसादि सप्तधातुओं में परिणत हो गया—? यह अविज्ञात है। यह सम्पूर्ण अविज्ञात प्रपञ्च उसी अनुमेय महद्ज्ञान पर अवलम्बित है।

आकृति-प्रकृति-अहंकृतिभाव उत्पन्न करना इस महानात्मा का मुख्य कर्म है। षोडशी-प्रजापति नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के ईश्वर-जीव-जगत् ये तीन विवर्त हैं। इसी त्रित्व प्रजापति के तीन विवर्त पर श्रीवैष्णवों (रामानुजों) का विशिष्टाद्वैत प्रतिष्ठित है। इन्हीं तीन स्थानों में आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित है। तीनों में ही अमृतात्मा समान है, फिर भी तीनों के स्वरूप में अन्तर क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर है—अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीन आत्मा-व्यवों का संस्वात वैचित्र्य। ईश्वरसंस्था में अव्यय भाग प्रधान रहता है, अक्षर एवं क्षर गौण रहते हैं। यही कारण है कि, ईश्वर संस्था में अव्यय, अक्षर, क्षर तीनों आत्मविवर्तों के नित्य प्रतिष्ठित रहने पर भी एकमात्र अव्यय को ही ईश्वर कहा जाता है, जैसा कि स्मृति कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

—गी० १५।१७।

दूसरी जीवसंस्था में मध्यस्थित अक्षर का विकास है, अव्यय, क्षर दोनों गौण हैं। जन्म लेना 'अज' अव्यय का धर्म नहीं, अपितु अक्षर का धर्म है। 'पराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध अक्षर ही 'जीवात्मा

है। दूसरे शब्दों में जीवात्मा का स्वरूप एकमात्र अक्षर ही पर प्रतिष्ठित है, अध्यात्मसंस्था का एक मात्र लक्ष्य अक्षर ही है। इसी के वेध से (ग्रन्थविमोक से) जीवात्मा अव्यय स्वरूप में परिणत होता हुआ मुक्त हो जाता है। जीवस्वरूप अक्षर-प्रधान है, अतएव अव्यय-अक्षर-क्षर, तीनों के विद्यमान रहने पर भी 'अक्षर' को ही जीवभूता प्रकृति कहा गया है, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

.....इतत्स्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥—(गी० ७।५)

तीसरा विवर्त 'जगत्' है। इसमें न अव्यय की प्रधानता है, न अक्षर की। प्रधान है यहाँ केवल 'क्षर'। क्षर से ही भूत का विकास होता है। 'क्षरः सर्वाणिभूतानि' (गी०-१५/१७) के अनुसार क्षर ही भौतिक विश्व है। सृष्टिसाक्षी अव्यय मन का पूर्ण विकास स्वयं अव्यय में होता है, यही ईश्वर है। इसमें अर्थ एवं क्रिया गौण हैं, ज्ञानतत्त्व प्रधान है। अव्यय के प्राणभाग का विकास अक्षर में होता है, यही जीवसृष्टि का प्रवर्तक है। यह अक्षर क्रियामूर्ति है। जीवसंस्था में अर्थ एवं ज्ञान गौण हैं, क्रियातत्त्व प्रधान है। तीसरी वाक्कला की पूर्ण विकास भूमि क्षर है। यह क्षर अर्थ-मूर्ति है। विश्वसंस्था में ज्ञान एवं क्रिया गौण है, अर्थतत्त्व प्रधान है। इस प्रकार ज्ञान-क्रिया-अर्थमय मनः प्राण-वाङ्मूर्ति अव्यय ही क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षरसंस्था में परिणत होता हुआ ईश्वर-जीव-जगत्, इन तीन विवर्तभावों में परिणत हो जाता है। तीनों एकमात्र मनःप्राणवाङ्मय अव्यय की विभूति हैं। अव्यय-तत्त्व का इसी सर्वव्यापकता का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥—(गी० ७।७)

अव्ययमूर्ति ईश्वर ज्ञानप्रधान होता हुआ सत्त्वप्रधान है, अक्षरमूर्ति जीव क्रियाप्रधान बनता हुआ रजःप्रधान है एवं क्षरमूर्ति विश्व अर्थप्रधान बनता हुआ तमःप्रधान है। सत्त्व-मूर्ति अव्यय से प्राणमय ब्रह्मा अनुगृहीत हैं, रजोमूर्ति अक्षर से अब्वाङ्मय विष्णु अनुगृहीत हैं एवं तमोमूर्ति क्षर से वाक्-अन्न-अन्नादमय महादेव अनुगृहीत हैं। सत्त्वभाव शुक्ल है, असङ्ग है। तमोभाव कृष्ण है, ससङ्ग है। रजोभाव सान्ध्य होने से रक्त (अनुरक्त-लाल) है। आत्मा के इन्हीं तीनों गुणों का आगे जाकर महत्प्रकृति में उदय होता है। 'अज' अव्यय की 'अजा' प्रकृति आत्मगुणों से त्रिगुणभावमयी बन रही है। अहंकृति का सम्बन्ध सत्त्वगुण से होता है, प्रकृति का सम्बन्ध रजोगुण से होता है एवं आकृति का सम्बन्ध तमोगुण से होता है। महान् में त्रिगुण्यभाव का उदय क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का यही उत्तर है। त्रिपुरुष पुरुष एक है, तो त्रिगुणा प्रकृति भी एक है। आत्मा सगुण है, तो इसकी प्रकृति भी सगुण है। आत्मा ज्ञान-क्रिया-अर्थमयी है। तत्तु समन्वयात्' (शा० सू० १।१।) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति पुरुष के समन्वय से उत्पन्न पदार्थ-मात्र त्रिगुणभाव से नित्य आक्रान्त हैं।

स्वायम्भुव अव्यक्त एवं पारमेष्ठ्य महत्, दोनों अभिन्न हैं। महत् से नीचे बुद्धिरूप सूर्य है, बुद्धि से नीचे प्रज्ञानरूप चन्द्रमा है, चन्द्रमा से नीचे पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश के पञ्चीकरण से उत्पन्न पञ्चभूतमयी शरीररूपा पृथिवी है। इनमें जीवप्रकृति के अघिष्ठाता अव्ययानुगृहीत अक्षर की योनि अव्यक्तात्मगर्भित महान् ही है, अतएव महान् को 'अक्षर' शब्द से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। जैसा कि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट हो जाता है—

“भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम् ।

बहुब्रह्मैकमक्षरम् ॥ इति

एतद्ध्येवाक्षरं सर्वं देवाः, सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यत ।”

—शत० १०।४।१।६।

अव्ययगर्भित अक्षरयुक्त क्षरमूर्ति महान् को जीवसंस्था समझिए। महत् से नीचे के बुद्धि-मन-पृथिवी जल-तेज-वायु-आकाशात्मक शरीर को जगत् समझिए। शेष बचे हुए उत्तम पुरुष (अव्यय) को ईश्वर समझिए। इसी संस्थाक्रम को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
भूमि-रापो-ऽनलो-वायुः-खं-मनो-बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्न प्रकृतिरष्टधा ॥१॥

अपरेयम्..... ।

.....इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥२॥

—गीता ७।४, ५, ।

१—अक्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः पुरुषोत्तमः—अव्यय—ईश्वरः

२—अव्यक्तगर्भितोऽक्षरावच्छिन्नो महान्—प्रक्षरः—जीवः

३—अव्यक्तमहद्गर्भितः क्षरपुरुषः—क्षरः—जगत्

} → एतावद्वा-इदं सर्वम्

१—पुरुषोऽव्ययः—ज्ञानम्

२—पराप्रकृतिरक्षरः—क्रिया

सर्वेश्वर कला परिलेखः—

पुरुषः → प्रकृतिः

१

अव्ययः—ज्ञानम्

ईश्वरः अक्षरः—क्रिया ज्ञानम्—सत्त्वमहान् अहतिः
क्षरः—अर्थः

→



२

अक्षरः—क्रिया

जीवः अव्ययः—ज्ञानम् क्रिया—रजोमहान् प्रकृतिः
क्षरः—अर्थः

→



३

क्षरः—अर्थः

जगत् अव्ययः—ज्ञानम् अर्थः—तमोमहान् आकृतिः
अक्षरः—क्रिया

→



पोडणी-प्रजापति ताम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के ईश्वर-जीव-जगत् ये तीन विवर्त हो जाते हैं। तीनों में अमृतात्मा समान है, परन्तु तीनों के स्वरूपों में अव्यय-अक्षर-क्षर नामक आत्मावयवों की प्रतिष्ठा से अन्तर हो जाता है। ईश्वर संस्था में आत्मा का अव्यय भाग, जीव संस्था में आत्मा का अक्षर व जगत् संस्था में आत्मा का क्षर के रूप में विकास होता है। ईश्वर संस्था में ज्ञानतत्त्व, जीव संस्था में क्रियातत्त्व व जगत् संस्था में अर्थतत्त्व प्रधान होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर संस्था में ज्ञानप्रधान सत्त्वप्रधान जीव संस्था में क्रिया प्रधान रजःप्रधान एवं जगत् संस्था में अर्थप्रधान तमःप्रधान है तथा सत्त्वमूर्ति अव्यय से प्राणमय ब्रह्मा, रजोमूर्ति अक्षर से अर्वाङ्मय विष्णु व तमोमूर्ति क्षर से वाक्-अन्नादमय महादेव अनुगृहीत है। आत्मा के इन्हीं गुणों से आगे जाकर महत् प्रकृति का उदय होता है। अहंकृति का सम्बन्ध सत्त्वगुण से प्रकृति का सम्बन्ध रजोगुण एवं आकृति का सम्बन्ध तमोगुण से होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, त्रिपुरुष पुरुष एक है, तो त्रिगुणा प्रकृति भी एक है। आत्मा सगुण है, तो इसकी प्रकृति भी सगुण है। आत्मा ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है, तो प्रकृति भी ज्ञान-क्रिया-अर्थमयी है।



३—अपराप्रकृतिः क्षरः—अर्थः

अहंकारः—१	↑ ↓	(अपरेयं-प्रकृति)इतस्त्वस्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥
	१—बुद्धिः	(बुद्धिः)	
	२—मनः	(मनः)	
	३—आकाशः	(खम्)	→ विश्वम्
	४—वायुः	(वायु)	
	५—तेजः	(अनल)	
	६—जलम्	(आपः)	
	७—पृथिवी	(भूमिः)	

उक्त कथन से यही बतलाना है कि, जीवसंस्था का अन्यतम अधिष्ठाता एकमात्र महानात्मा ही है। एकाक्षरमूर्ति महद्ब्रह्म—एवं यह महानात्मा “महद्ब्रह्मैकमक्षरम्” के अनुसार अक्षरमूर्ति है। पूर्व की अव्यक्तात्म विज्ञानोपनिषत् में जिस अन्तर्यामी का दिग्दर्शन कराया गया है, वह यही महदक्षर है। अव्यक्तत्वावच्छिन्न अक्षर महद्रूप में परिणत होकर पहले वस्तु की आकृति का निर्माण करता है, अनन्तर अहंरूप से उस वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ, उसका नियत रूप से सञ्चालन करता हुआ अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध होता है। अक्षरावच्छिन्न, किंवा अक्षररूप ज्ञान से ही जीवसंस्था का सञ्चालन होता है। हमें (कर्मात्मा को) कुछ विदित नहीं, शरीर के भीतर अपने आप सम्पूर्ण चक्र सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। यही महदक्षर किंवा महद्ज्ञान आकृति-प्रकृति-अहंकृति भेद का सञ्चालक बनता है। इसकी जैसी इच्छा होती है, हमारी आकृति-प्रकृति-अहंकृति वैसी ही हो जाती। हाँ, इसकी इच्छा का नियामक पूर्वजन्मकृत भावना वासना संस्कारपुञ्ज अवश्य ही मानना पड़ता है। पानी नीचे ही जाता है, अग्नि सदा ऊपर ही जाता है—‘प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः’, सूर्य को नियत समय पर उदयाचल पर आना ही पड़ता है, नियत समय पर ही अस्ताचलानुगामी बनना पड़ता है, पृथिवी कभी क्रान्तिवृत्त को नहीं छोड़ती, चन्द्रमा कभी दक्षवृत्त का परित्याग नहीं करता यह सब उसी नियतिरूप महदक्षर की महिमा है। मनुष्य के शृंग (सींग) नहीं होते, पशु के होते हैं। कारण वही महानात्मा है। मनुष्य का महान् सींग की इच्छा न कर ऊपर के दाँतों की इच्छा करता है। इसी इच्छा से सींगों के स्थान में ऊपर के दाँत बन जाते हैं। पशु का महान् विचार करता है कि, पशु में आक्रमण से अपने आपको बचाने के लिए हाथ नहीं है, मैंने इसके दोनों हाथों को आगे के दो पैर बना दिए हैं, अतः रक्षार्थ सींग बनाना आवश्यक है। इसी स्वेच्छा से वह पशु के ऊपर के दाँत न बनाकर ऊपर के सींग बना देता है। जो अश्मासोस (घन-

सोम) दांत बनता है, वही सींग बनता है। महान् की इच्छा से वहां मनुष्य में दांत बन गया है, वही पशु में सींग बन गया है। सींग वाले जितने भी पशु हैं, उनमें ऊपर के दांत नहीं होते, इसी अभिप्राय से ऐसी पशुप्रजा को “एकतोदत्” कहा जाता है, एवं बिना सींग वाले हम पुरुषपशुओं को दोनों ओर दांत होने से “उभयतोदत्” कहा जाता है। पक्षी का महान् अश्मासोम को न दांत बनाता, न सींग। अपितु उसे वह ओष्ठभाग में प्रतिष्ठित कर देता है। वही ओष्ठ पक्षी की चञ्चु (चोंच) है। दांत-सींग-चञ्चु, तीनों का उपादानद्रव्य एक अश्मासोम है। केवल महान् के इच्छा भेद से वही द्रव्य एक स्थान में दांत, एक स्थान में सींग, एक स्थान में चञ्चु बन गया है। वानर (बन्दर) सदा श्रोणिभाग से बैठता है। इसमें विज्ञान की कमी है, अतएव इस वानर का महान् इसके श्रोणिभाग को आघात से बचाने के लिए इस स्थान पर घनता उत्पन्न कर देता है बैठने के लिए आस्तरण बना देता है। गुप्तेन्द्रियों को परोक्षप्रिय महानात्मा गुप्त रखना चाहता है। मनुष्य में विज्ञान (बुद्धि) का विकास है। वह अपने बुद्धिबल से कार्पास (कपास) वस्त्र आदि के वस्त्रों से अपने गुप्त अवयवों को ढक सकता है, अतः मनुष्य के महान् ने वहाँ (गुप्ताङ्गों पर) अपनी ओर से आवरण लगाने की आवश्यकता न समझी, यह भार मनुष्य की बुद्धि पर छोड़ दिया गया। परन्तु पशुओं में बुद्धिमात्रा अल्पमात्रा में प्रतिष्ठित है, अतः वे स्वयं अपने बुद्धिबल से गुप्त अवयवों को वस्त्रादि से गुप्त रखने में असमर्थ हैं। इसलिए इसके महान् ने पुच्छ (पुंछ), एवं चर्मवेष्टन द्वारा उपस्थ-गुद आदि गुप्ताङ्गों को अपनी ओर से आवृत कर दिया। पुरुष बुद्धिबल से अपने पैरों को उपानत् (जूते), अथवा और किसी साधन विशेष से कङ्कड़-पत्थर आदि के आघात से बचा लेता है अतः यहाँ महान् ने पैरों की रक्षा के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया, केवल एड़ी एवं तलवों को घन बना दिया। परन्तु पशु उसी बुद्धिबल की कमी से अपने पैरों को कांटे-कङ्कड़ आदि के आक्रमण से बचाने में असमर्थ थे अतः वहाँ महान् को शफ (खुर) बनाने पड़े। निदर्शनमात्र है। आकृति-प्रकृति-अहंकृति, इन तीनों भावों में व्यक्ति एवं जाति का परस्पर में आप जो भेद देखते हैं, वैचित्र्य पाते हैं, यह सब उसी महानात्मा का कर्म है। महान् के इसी सर्वाधिपत्य का निरूपण करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहारस्येष देवः ।

भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥

—श्वे० उपनिषत् ५।३।

वह हमारी बुद्धि से परे है, अतः हम उसके ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। उदर के रिक्त होते ही अपने आप जो भोजन की एक विश्वयोनिलक्षणमहानात्मा स्वाभाविकी इच्छा होती है, वह महानात्मा की इच्छा है—“वच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः” (श्वे० उ० ५।५) के अनुसार स्वाभाविकी इच्छा का उक्त (प्रभवस्थान) एकमात्र त्रिगुणभावापन्न महानात्मा ही है। पूर्ण तृप्त होने पर बाजारू चटपटी चाट खाने की जो आगन्तुक अस्वाभाविक इच्छा है, वह मन से सम्बन्ध रखती है। उत्थिताकांक्षा (अपने आप

उठी हुई इच्छा) महान् से सम्बन्ध रखती है, उत्थाप्याकांक्षा (संस्कारजनित आसक्ति के प्रभाव से जबर्दस्ती उठाई गई अस्वाभाविक इच्छा) प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित है। यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् में हमने महान् को ही यज्ञात्मा कहा है। यही अन्नादान द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ का सञ्चालन कर रहा है। इस यज्ञात्मा की स्वयं उत्थित इच्छा के अनुसार जो भी कर्म किये जाते हैं, वे कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। बन्धन का मूल कारण है—प्रज्ञानमन से उत्पन्न होने वाली उत्थाप्याकांक्षा से किया जाने वाला आसक्ति भावापन्न कर्म। यज्ञार्थं कृतकर्म, दूसरे शब्दों में यज्ञमूर्ति महान् की स्वाभाविक इच्छा से किया हुआ कर्म ईश्वर-तन्त्रानुयायी बनता हुआ सर्वदा अबन्धन होता है, जैसा कि—“यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धन” (गी० ३।१६) इत्यादि से स्पष्ट है।

मनुष्य एक मुद्रा से चिरकाल तक नहीं बैठ सकता। कभी उठ जाता है कभी बैठ जाता है। बैठे हुए कभी पैरों को सीधा कर देता है, कभी समेट लेता है। ये सब व्यापार सुषुप्त्यधिष्ठाता महानात्मा उसी महदिच्छा पर निर्भर है। विज्ञान प्रज्ञान अपने आगे के विषय को जान सकते हैं, महान् इन दोनों से अर्वाक् है, अतएव हम महदज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते। जाग्रदवस्था में महान्-विज्ञान-प्रज्ञान, तीनों जाग्रत रहते हैं। दूसरे शब्दों में इन तीनों की जाग्रदवस्था ही जाग्रदवस्था है। महान् विज्ञान की जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था है, एवं एक-मात्र महान् की जाग्रदवस्था सुषुप्ति है। महानात्मा की सुषुप्ति मृत्यु है, एवं महानात्मा का अन्तिमविवेक मुक्ति है। इस प्रकार ज्ञानत्रय के तारतम्य से जीवात्मा की ‘जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-मृत्यु-मुक्ति’, ये ५ अवस्थाएँ हो जाती हैं। आप गहरी नींद में निमग्न हैं। इस सुषुप्तिकाल में विज्ञान-प्रज्ञान दोनों सुप्त हैं। संस्कारावच्छिन्न प्रज्ञानमन विज्ञान सम्परिष्वक्त बनकर पुरीतति नाड़ी में चला गया है। न ऐन्द्रियक ज्ञान है, न बौद्ध ज्ञान है। प्रातः जब आप सोकर उठते हैं, तो आप कहने लगते हैं—“आज तो बड़े आनन्द से सोएँ”। हम आप से पूछते हैं कि, सुषुप्ति में विज्ञान-प्रज्ञान, दोनों सुप्त थे, फिर—“सुखमहमस्वाप्सीः” कहने वाला, सुषुप्त्यानन्द का अनुभव करने वाला कौन था ? उत्तर वही महान् होगा। महान् सदा जाग्रत रहता है। महान् में रहने वाला अङ्गिरा प्राण सदा रखवाली किया करता है। महान् जाग्रत है, अतएव तत् प्रतिष्ठ ‘अहमस्मि’ यह प्रत्यय सभी अवस्थाओं में अधुण रहता है। इस प्रकार तदस्थवृत्ति से विज्ञान प्रज्ञानवत् आप महदज्ञान का भी प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

अध्यात्मसंस्था में केवल एक ही आत्मा समझने वाले, अतएव नाना ऊहापोहों में व्यस्त रहने वाले काल्पनिक वेदांतियों की दृष्टि में भले ही श्राद्धादि कर्मों के सम्बन्ध में सन्देह रहे, परन्तु दूरदर्शी वैज्ञानिकों की दृष्टि में सर्वथा विभक्त खण्डात्माओं के आधार पर प्रतिष्ठित तत्तत् कर्मकलापों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। धर्मशास्त्रोक्त कर्मों का प्रधान संबन्ध महानात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मयुक्त कर्मात्मा, इन तीन खण्डात्माओं के साथ है। अतएव धर्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने) इन्हीं तीनों को प्रधानता दी है। जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

*इन पाँचों अवस्थाओं का सोपपत्तिक निरूपण माण्डूक्योपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।

यः करोति तु कर्म्मणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।

येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।

उच्चावचेषु भूतेषु स्थित 'तं' व्याप्य तिष्ठतः ॥३॥

—मनुः १२।१२-१३-१४।

प्रज्ञानसंपरिप्लवित विज्ञानात्मा ही क्षेत्रज्ञ है, यही कर्म्मात्मा को कर्म्म में प्रवृत्त कराने वाला कार-
यिता है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्म प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। कर्म्म करने वाला
आत्मा उस क्षेत्रज्ञ कारयिता से सर्वथा पृथक् है। यद्यपि साधारण दृष्टि के अनुसार जीवात्मा नाम से
प्रसिद्ध कर्म्मात्मा ही कर्म्मकर्त्ता है। भूतात्मा से प्रकृत में महानात्मा अभिप्रेत है। महानात्मा शुक्रमय है,
जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सत्त्व-रज-तम-तीनों आत्मगुण महान् में ही विकसित होते हैं
जैसा कि स्मृति कहती है—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ।

यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानिशेषतः ॥१॥

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।

स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणाम् ॥२॥

सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।

एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥३॥

(मनुः १२।२४-२५-२६) ।

*श्रुति वेदशास्त्र है, श्रौत अर्थ का इतिकर्त्तव्यतारूप से निरूपण करने वाला स्मृतिशास्त्र धर्मशास्त्र
है। "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः"। इय विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषत्-हिन्दी
विज्ञानभाष्य प्रथम खण्ड में देखना चाहिए।

आकृति भूतमयी है, प्रकृति प्राणमयी है, अहङ्कृति मनोमयी है। भूतप्रधान आकृतिभाव के सम्बन्ध से ही इस महानात्मा को भूतात्मा कहा गया है। यही भूतों का जनक है। अपिच कर्मात्मा “अहंकरोमि” इस अभिमान से ही कर्मकर्त्ता कहलाया है। यह अहंभाव उसी अहं-कृति-महान् पर प्रतिष्ठित है। इसलिए भी महानात्मा के लिए—“यः करोति तु कर्माणि” यह कहना न्यायप्राप्त होता है। ‘जीवात्मा’ नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा तो नाममात्र का कर्मकर्त्ता है। वस्तुतः वह अर्जुनवत् निमित्तमात्र है। शुभाशुभ कर्मों की योनि तो महानात्मा ही है। उसमें जैसे संस्कार रहते हैं, कर्मात्मा को वैसे ही कर्म करने पड़ते हैं। यदि महान् में सत्वगुण का विकास रहता है, तो इसे सात्त्विक कर्म करने पड़ते हैं। रज के अनुग्रह से इसे राजस कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है, एवं तम की प्रधानता से तामस कर्म का अनुगमन करना पड़ता है। महान् ही जन्मप्रवृत्ति का मुख्य द्वार है। इन्हीं सब कारणों से महान् की ही कर्मकर्त्ता कहा जा सकता है। यही तो अन्तर्यामी-रूप से जैसा चाहता है, कर्मात्मा से वैसा ही करवा लेता है। इच्छा महान् की है, कर्म जीवात्मा का है। जिसकी इच्छा होती है, उस इच्छा से होने वाला कर्म उसी का कहलाया है। राजा की इच्छा से वध की इच्छा न रखता हुआ भी वधिक वधकर्म में प्रवृत्त हो जाता है। यह कर्म राजा का कर्म कहलाता है। ‘राजा ने उसे दण्ड दिया है’ यही व्यवहार होता है। ठीक यही परिस्थिति यहां समझिए। कर्म करता है जीवात्मा, परन्तु इच्छा है अन्तर्यामी महानात्मा की—“केनापि देवेन हृदि स्थितोऽहं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि”। इसीलिए मनु ने कर्मात्मा के द्वारा होने वाले कर्म की उपेक्षा कर इच्छाप्रवर्त्तक महान् को ही कर्मकर्त्ता मान लिया है। इच्छा महान् की है, कर्म जीवात्मा का है, साधन क्षेत्रज्ञ है। इन तीनों के समन्वय से कर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। इस में इतना ध्यान रखना पड़ेगा कि, यदि प्रज्ञानमन महानात्मा की इच्छा के अनुगत रहता हुआ, बुद्धि का अनुगमन करता हुआ कर्म का उपकारक बनता है, तब तो जीवात्मा बन्धन में मृथक् रहता है। यदि विज्ञान की उपेक्षा कर मूढदिच्छा को अपना अनुचर बनाता हुआ प्रज्ञानमन स्वतन्त्र हो जाता है तो तत्सहयुक्त कर्म जीवात्मा के सुख दुःख का कारण बन जाता है। इसी दृष्टि से “येन वेदयते सर्व-सुख दुःखं च जन्मसु” यह कहा गया है। अहंभावात्मक जीव प्राणिमात्र में समानधर्मा है, परन्तु महानात्मा विज्ञानात्मा की भाँति विषमधर्मा है। आकृति-प्रकृति-किसी की नहीं मिलती। इसी पार्थक्य को बतलाने के लिए “सहजः सर्वदेहिनाम्” यह कहा गया है।

*वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ (मनुः १२।३०)

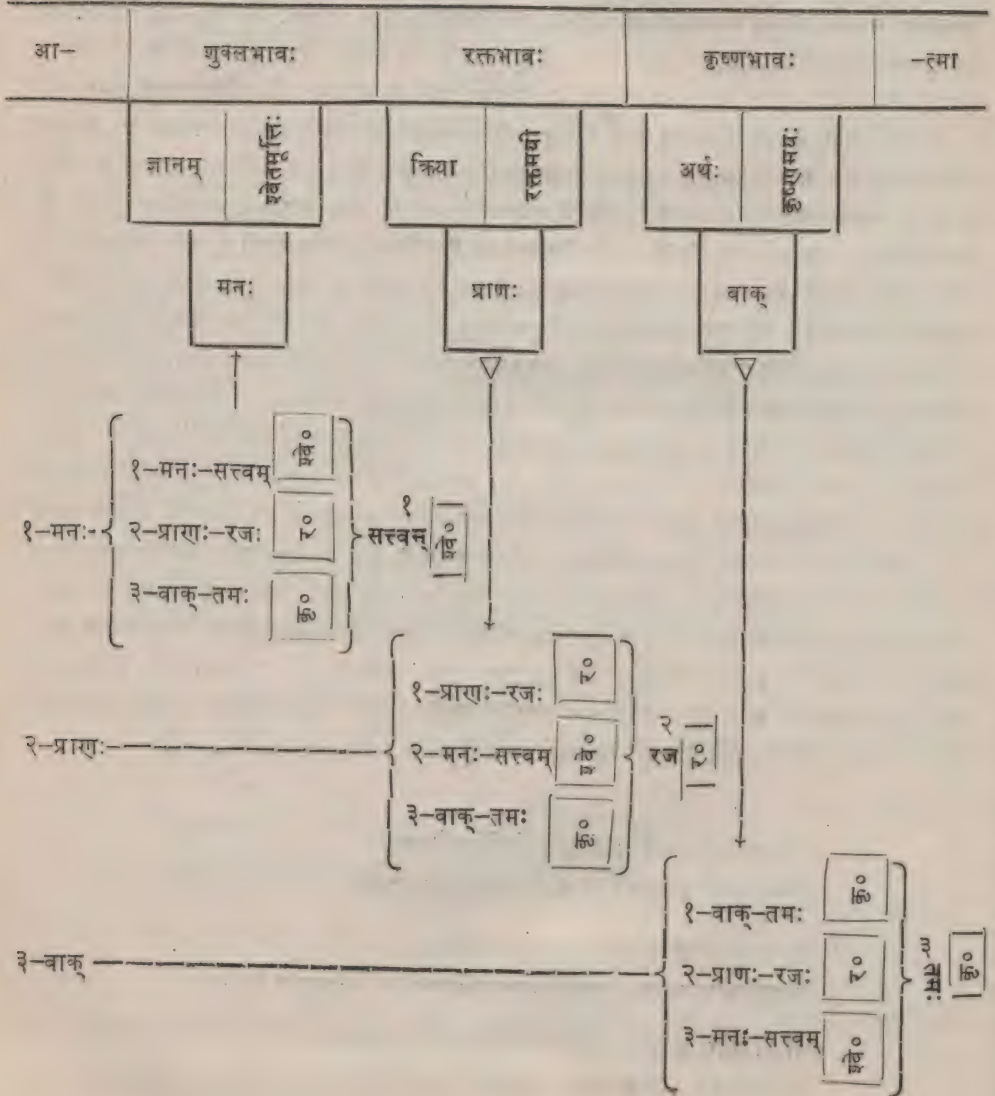
१. आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।

विषयोपसेवाचास्त्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ (मनुः १२।३२)

२. लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्ध्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ (मनुः १२।३३)

प्रकारान्तर से यों समझिए कि, महान्-विज्ञान, दोनों एक श्रेणि की वस्तु हैं। प्रज्ञान-जीव, दोनों एक श्रेणि की वस्तु है। प्रज्ञानयुक्त जीवात्मा सब में समान है, महान् युक्त विज्ञानात्मा सब में असमान है। महान् और विज्ञान के तारतम्य से जीवात्मा के कर्मकलाप में उच्चावचभावों का समावेश हो जाता है। प्रज्ञान-जीव, दोनों भूतप्रधान हैं। इस भूतभाग से घृह्यम् और क्षेत्रज्ञ, दोनों संश्लिष्ट रहते हैं। भूतों से युक्त ये दोनों जीवात्मा को चारों ओर से वेष्टित कर इसके भाग्यविधाता बने हुए हैं। जीवात्मा को इन



महद्विवर्त—

- १—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व—मनः (ज्ञानम्)
 १—२—सत्त्वतमोगर्भित-रज—प्राणः (क्रिया)
 ३—सत्त्वरजोगर्भित-तम—वाक् (अर्थः)

श्वेतवर्णः उत्तमा सात्त्विकी गतिः
 रक्तवर्णः मध्यमा सात्त्विकी गतिः
 कृष्णवर्णः प्रथमा सात्त्विकी गतिः

श्वेतभावः

सत्त्व-मनः



- १—सत्त्वतमोगर्भित-रज—प्राणः (क्रिया)
 २—२—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व—मनः (ज्ञानम्)
 ३—सत्त्वरजोगर्भित-तम—वाक् (अर्थः)

श्वेतवर्णः श्रेष्ठा राजसी गतिः
 रक्तवर्णः मध्यमा राजसी गतिः
 कृष्णवर्णः कनिष्ठा राजसी गतिः

रक्तभावः

रजःप्राणः



- १—सत्त्वरजोगर्भित-तम—वाक् (अर्थः)
 ३—२—सत्त्वतमोगर्भित-रज—प्राणः (क्रिया)
 ३—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व—मनः (ज्ञानम्)

श्वेतवर्णः निकृष्टा तामसी गतिः
 रक्तवर्णः मध्यमा तामसी गतिः
 कृष्णवर्णः जघन्या तामसी गतिः

कृष्णभावः

तमःवाक्



दोनों से जैसी सामग्री मिलती है, इसे उसी के अनुसार सुख दुःख भोगना पड़ता है। विज्ञानयुक्त इसी त्रि-गुण महानात्मा के अनुग्रह से जीवात्मा को उत्तम-मध्यम-जघन्य-गतियों का आश्रय लेना पड़ता है। सत्त्व की आधार भूमि ज्ञानमय-मन है, रज की प्रतिष्ठा क्रियामय प्राण है, एवं तम का प्रभव अर्थमय वाक्त्व है। मनः प्राण-वाङ्मय आत्मा ही महान् के सम्बन्ध से सत्त्वरजस्तमोरूप से विकसित होता है। तभी तो इन्हें-आत्मगुण कहना न्यायसङ्गत होता है। मन-प्राण-वाक्, ये तीनों ही त्रिवृत्कृत हैं। इस त्रिवृत्-करण से आत्मा के प्रत्येक पर्व में मनः-प्राण-वाक्, तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। त्रिवृत्-करण से ही तीन के ६ विवर्त्त हो जाते हैं। इन ६ आत्मविवर्त्तों के कारण ही आत्मगुणाधारेण प्रतिष्ठित सत्त्वादि प्राकृतिक गुणों के भी (परिलेखानुसार) ६ विवर्त्त हो जाते हैं।

सत्त्वप्रकृतिक महान् उत्तमगति का कारण है, रजःप्रकृतिक महान् मध्यमगति का कारण है एवं तमः प्रकृतिक महान् जघन्यगति का प्रवर्त्तक है। ये इसके स्थूल सत्त्व-रज-स्तमोलक्षण महानात्मा विभाग हैं। सत्त्व-रज-स्तम, तीनों ही उक्त त्रिवृत्करण से पुनः उत्तम-मध्यम-जघन्य-भेद से तीन-तीन भागों में विभक्त हैं। रजस्तमोगर्भित मलिनसत्त्व उत्तम सत्त्व है, तमः-सत्त्वगर्भित रज मध्यम सत्त्व है, रजः-सत्त्वगर्भित तम जघन्य सत्त्व है। इसी प्रकार रजस्तमोगर्भित सत्त्व उत्तम रज है, तमः-सत्त्वगर्भित रज मध्यम रज है, रजः-सत्त्वगर्भित तम जघन्यरज है। एवमेव तमोरजोगर्भित सत्त्व उत्तमतम है, तमः-सत्त्वगर्भित रज मध्यम तम है, एवं सत्त्वरजोगर्भित तम जघन्यसत्त्व है।

पहले स्थूल योनियों का क्रम देखिए। सत्त्वप्रकृतिक जीव देवयोनि में जन्म लेते हैं, रजःप्रकृतिक जीव मनुष्ययोनि धारण करते हैं, एवं तम से अभिभूत जीव कृमि-कीट-पक्षी-पशु-भेदभिन्न तिर्य्यकयोनि में आते हैं। इसी सामान्य गति का उल्लेख करते हुए मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।

तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥१॥

आगे जाकर ज्ञानजनित-अतएव ज्ञानात्मक भावनासंस्कार, एवं कर्मजनित-अतएव कर्मरूप वासनासंस्कार के तारतम्य से उक्त प्रत्येक गति पूर्वकथनानुसार उत्तम-मध्यम-अधम भेद से तीन-तीन भागों में विभक्त हो जावी है। धातु-उपधातु-रस-उपरस-विष-उपविष-अ्रौषधि-वनस्पति-आदि स्थावर योनियाँ, कृमि-कीट-मत्स्य-सर्प-कच्छप-गौ-आदि सामान्य, पशु, मृग-गवयादि वन्य विशेष पशुयोनियाँ रजःसत्त्वगर्भित तमोमयी जघन्यगति से सम्बन्ध रखती हैं। हाथी-अश्व-शूद्र-म्लेच्छ-सिंह-व्याघ्र-बराह (शूकर) आदि योनियों का सत्त्वतमोगर्भिता रजोमयी मध्यमा तामसी गति से सम्बन्ध है। सुपर्णा (गरुड़-पक्षी) कुटिल मनुष्य, राक्षस, पिशाच, इन का रजस्तमोगर्भिता सत्त्वमयी उत्तमा तामसी योनि से सम्बन्ध है।

भल्ल (अत्रियों के वर्णसंकर), नट, मल्लयोद्धा, शस्त्रक्रयविक्रयकर्त्ता, द्यूत (जुआ) मछादि में प्रसक्त रहने वाले पुरुष, इन सब का रजः-सत्त्वगर्भिता तमोमयी जघन्या राजसी योनि से सम्बन्ध है। अभिषिक्त

राजा, जन्मना क्षत्रिय, राजाओं के कुलपुरोहित, वादयुद्ध में अग्रणी प्राङ्गिवाकादि, इन सबका सत्त्वत-मोग्भिता रजोमयी मध्यमा राजसी योनि से सम्बन्ध है। गर्ध्व, गुह्यक, यक्ष, लौकिक व्यवहारों में निपुण लौकिकमनुष्य, सेवाधर्म में निष्णात सेवक, अघसराएं, इन सबका रजस्तमोग्भिता सत्त्वमयी उत्तमा राजसी योनि से सम्बन्ध है।

वानप्रस्थाश्रमी तपस्वी, सन्यासाश्रमी यति, जन्मना ब्राह्मण, पुष्पकादि विमानों के संचालक विद्याधर, खगोलीय सम्पूर्ण नक्षत्र, दितिपुत्र दैत्य, इन सब का सत्त्वजोग्भिता तमोमयी प्रथमा सात्त्विकी गति से सम्बन्ध है। यज्ञकर्त्ता याज्ञिक, प्राण परीक्षक ऋषि, देवप्राण साक्षात्कर्त्ता भौमदेवता, एवं अभिमानी देवता, खगोलीय ग्रह, वत्सर, पितर, साध्यादि देवता, इन सब का सत्त्वतमोग्भिता रजोमयी मध्यमा सात्त्विकी योनि से सम्बन्ध है। ब्रह्मा-विश्वसृष्टृदशरि, धर्म, महान्, अव्यक्त-इन का रजस्तमोग्भिता सत्त्वमयी उत्तमा सात्त्विकी गति से सम्बन्ध है। इस प्रकार—“त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः” (मनुः १२।५१) भगवान् मनु के इन शब्दों के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक विश्व त्रिवृतकृत इसी त्रिगुणमूर्ति महद्योनि पर प्रतिष्ठित है। यदि विद्याकर्म के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतर विभागों का विचार किया जाता है, तो यह योनिविवर्त-अनन्तकोटि में परिणत हो जाता है। अतीतानागतज्ञ महर्षियों ने चतुरशीतिलक्ष—(८४००००० चौरासी लाख) संख्या पर इस योनिविभाग का विश्राम माना है। महानात्मा के इसी योनिविवर्त को लक्ष्य में रखकर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यमस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत् ॥

(श्वे० उ० ५।२)

उपर्युक्त मानव-आत्मविज्ञान के अनुसार विज्ञपाठकों को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि, वास्तव में अध्यात्मसंस्था में एक ही आत्मा का साम्राज्य नहीं, अपितु तन्त्रभेद से अनेक तन्त्राधी हैं। इन विभिन्न तन्त्राधियों को व्यापक जो एक महातन्त्राधी है, वह शास्त्रानधिकृत, अतएव कर्मप्रपञ्च से सर्वथा बहिर्भूत है। अस्तु प्रकृत में महानात्मा का गुणानुवाद चल रहा है। सर्वाधिष्ठाता पितृप्राणमूर्ति यह महानात्मा “शुक्र” में प्रतिष्ठित रहता है। हमारा (पुरुष का) शुक्र भुक्त औषधियों का (अन्न का) रस है। औषधियों में यह रस चन्द्रमा से आता है। चान्द्र सौम्यरसगर्भित सौर आग्नेयरस से वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है, एवं सौर-रसगर्भित चान्द्ररस से औषधियों की स्वरूप निष्पत्ति है, जैसा कि आरम्भ की “अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्” में विस्तार से बतलाया जा चुका है। शुक्लपक्ष में प्रधानरूप से पूर्णिमा-तिथि में सौरप्राण देवता सम्पूर्ण चान्द्रसोम का पान कर जाते हैं। अतः इन दिनों में वह चान्द्ररस पूर्णरूप से भूलोक में, एवं भूलोक में प्रतिष्ठित औषधियों में नहीं आने पाता। परन्तु जब चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य के आ जाता है, तो इस कृष्णपक्षकाल में चान्द्रसोम को पृथिवी पर आने का अवसर मिल जाता है। चान्द्रसोम में पितृप्राण प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर “बिधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति” यह कहा जाता है। पूर्व कथनानुसार

अभावस्यातिथि में सोम अतिशय मात्रा से पृथिवी पर जाता है, अतएव अमा को पितृतिथि कहा जाता है। इन सब विषयों का आगे के प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होने वाला है, अतः प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि, औषधियाँ सोमरसमयी, किंवा सोमरसप्रधान हैं। चान्द्रसोम में ही पारमेष्ठ्य महान् प्रतिष्ठित है। महान् ही पितर है। इस महन्मूर्ति पितृप्राणयुक्त औषधिरस से ही रस-मल के क्रमिक विशकलन से रस-अमृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र, इन सात धातुओं का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही सौम्यशुक्र संतानसूत्र द्वारा सात पीढ़ी पर्यन्त वितर होता है। अर्थात् सात पुष्ट पर्यन्त इस एक महान् का अंश व्याप्त रहता है।

औषधियों में दधि-घृत-मधु-अमृत, ये चार तत्त्व माने गए हैं। पार्थिव घनरस दधि है, आन्तरिक्ष्य वायव्य रस घृत है, सौर दिव्य रस मधु है, पारमेष्ठ्य सौम्य रस अमृत है। अन्न का दाना भाग पार्थिव है, यही दधि है—“दधि हेवास्य लोकस्य रूपम्। आटे को गोंदने पर एक प्रकार के स्नेह (चिकनाई) तत्त्व का प्रत्यक्ष होता है। यही आन्तरिक्ष्य तरलभाग घृत है—“घृतमन्तरिक्षस्य।” प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का मिठास होता है। यही सौर दिव्य पदार्थ है। यही मधु है—“मध्वमुष्य” (शत०-७।५।१।३ कुर्मचितिब्राह्मण)। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का जायका होता है, स्वाद होता है। यही चौथा अमृत है। इन चारों रसों के सम्बन्ध से तन्मूर्ति महान् आकृति-प्रकृति-अहंकृति का जनक बन जाता है। आकार आकृति है, स्वभाव प्रकृति है, इन्द्रियसामर्थ्य अहंकृति है। दधि-घृत के समन्वय से शरीराकृति का निर्माण होता है, घृत-मधुसे प्रकृतिभाव का उदय होता है एवं मधु-अमृत से अहंकृति का जन्म होता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि आकृति-प्रकृति-अहंकृति-भावों का उत्तम-मध्यम-अधम-भाव प्रधानरूप से अन्न से ही सम्बन्ध रखता है। इन तीनों की स्वरूप-रक्षा के लिए एवं विकास के लिए अन्न का नियन्त्रण (खान पान का नियन्त्रण) प्रत्येक परिस्थिति में अपेक्षित है। महदवच्छिन्न शुक्र से उत्पन्न होने वाली प्रजाके लिए आकार-स्वभाव-इन्द्रिय सामर्थ्य, तीनों कर्म-विद्यानुसार सर्वथा नियत रहते हैं। एक हजारों के वृक्ष को दूध से सींचने पर भी वह पिप्पलवृक्ष के समान दीर्घकाय नहीं बन सकता। वृक्षादि का जितना आयतन (आकार-आकृति) नियत होता है, वह बीजरूप से उसी महद-गर्भ में पहले से ही प्रतिष्ठित रहता है। महानात्मा की इस बीजावस्था के वास्तविक स्वरूप को न समझ कर कितने ही दार्शनिक (अमरण) बीज में ही सम्पूर्ण वृक्ष मानते हैं। वृक्ष बीज में प्रतिष्ठित नहीं है, अपितु उसकी बीजावस्था वहां प्रतिष्ठित है। महानात्मा की प्रतिष्ठा शुक्र है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जिस पुरुष का शुक्र अधिक मात्रा में खर्च हो जाता है, उसकी आकृति-प्रकृति-अहंकृति, तीनों भाव बिगड़ जाते हैं। चान्द्र महानात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

दूसरा है प्रज्ञानात्मा। इसी चान्द्रभाग से सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा (अतीन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रिय मन) का स्वरूप निष्पन्न होता है। चन्द्रमा में पानी और सोम दो तत्त्व हैं। पानी पारमेष्ठ्य है, सोम चान्द्र है। समान स्थानीय होने से दोनों, दोनों में ओतप्रोत हैं। “श्रद्धा वा आपः” के अनुसार चान्द्र अपृतत्त्व श्रद्धा है, इसका प्रधान सम्बन्ध महान् से है। सोम से मन का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सोम-गन्धित श्रद्धा

(आप) महान् है एवं अब्गभित सोम मन है । शुक्र आपोमय है, सोम इसके गर्भ में है । मन सोममय है अप्तत्त्व इसके गर्भ में है । महान् की प्रतिष्ठा जहां शुक्र है, वहां मन की प्रतिष्ठा हृदय है—“हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु” (यजुः सं० ३४।६) । महानात्मा शुक्र में रहता है, प्रज्ञानात्मा हृदय में रहता है । महानात्मा उत्पत्तिमृष्ट है, प्रज्ञानात्मा उत्पन्नमृष्ट है । अर्थात् महानात्मा तो जन्मकाल में ही विकसित है । शुक्रमूर्ति महान् तो जन्म का ही कारण है, परन्तु प्रज्ञानात्मा का पूर्ण विकास जन्म के पीछे सोलहवें वर्ष में होता है । षोडशपर्वा चन्द्रमा के क्रमिक भाव से सम्बन्ध रखने वाला प्रज्ञानमन सोलह वर्ष पर्यन्त अपरिपक्व रहता है, अनन्तर उसमें आत्मनिर्भरता का उदय होता है । इसी आधार पर—“प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं-मित्रवदाचरेत्” यह आभाणक प्रतिष्ठित है । शुक्रतत्त्व रस-मल के विशकलन से ही आगे जाकर ओज रूप में परिणत होता है । शुक्र पार्थिवधातु-प्रधान था, ओज आन्तरिक्ष्य वायव्यधातु-प्रधान है । शुक्र में हमने पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्य, तीन धातु बतलाए हैं । शुक्र में तीनों हैं, ओज में आन्तरिक्ष्य वायव्य, दिव्य सौम्य, दो धातु हैं । जब विशकलन-प्रक्रिया से आन्तरिक्ष्य वायव्य धातु भी निकल जाता है, तो शुद्ध सोमरस रह जाता है । यही विशुद्ध दिव्य चान्द्ररस मन है । इसके साथ रोदसी त्रैलोक्य के द्युलोकाधिष्ठाता मधवा इन्द्रप्राण का सम्बन्ध रहता है । स्तौम्य एवं रोदसी भेद से त्रैलोक्य दो प्रकार का है । केवल पार्थिव अहर्गणों से सम्बन्ध रखने वाला त्रैलोक्य “स्तौम्य त्रैलोक्य” कहलाया है । इसी का नाम महापृथिवी का त्रिवृत् स्तोम पृथिवी है, पञ्चदशस्तोम अन्तरिक्ष है एवं एकविंश स्तोम द्युलोक है । तीनों में क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य, देवता प्रतिष्ठित हैं । इन्हीं तीनों से वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप पार्थिव कर्मात्मा का स्वरूप निष्पन्न होता है, सौरमण्डल द्युलोक है, दोनों के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष है । यही दूसरी रोदसी त्रिलोकी है । इन तीनों में भी क्रमशः अग्नि-वायु-इन्द्र, ये तीन दिव्यदेवता प्रतिष्ठित हैं । इन्हीं तीनों से आध्यात्मिक शुक्र-ओज-मन, इन तीनों का निर्माण होता है ।

स्तौम्यत्रिलोकी

रोदसीत्रिलोकी

महापृथिवी	{	पृ० १-त्रिवृत्स्तोमः-अग्निः-ततो वैश्वानरः	}	—कर्मात्मा	{	१-पृथिवी-अग्निः-ततःशुक्रम्
		अ० २-पञ्चदशस्तोमः-वायुः-ततस्तैजसः				२-अन्तरिक्षम्-वायुः-ततः-ओजः
		द्यौः० ३-एकविंशस्तोमः-आदित्यः-ततः प्राज्ञः				३-सूर्यः-इन्द्रः-ततः-मनः

— ० —

उक्त कथनानुसार मन में सोम एवं सौर इन्द्रप्राण भेद से दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं । इस पर विज्ञान के प्रतिबिम्बित होने से यह भी चिदंश से युक्त हो जाता है । वह प्रतिबिम्ब बीध्र सोम पर प्रतिष्ठित होता है, इससे वह सोम चिन्मय बनता हुआ ज्ञानमय बन जाता है । अतएव मन का चिदंशयुक्त यह सोम-भाग प्रज्ञा नाम से व्यवहृत होता है । प्रज्ञा एवं प्राण की समष्टि ही प्रज्ञानमन है । विज्ञान-प्रज्ञान, दोनों परस्पर प्राणोन्द्र के सम्बन्ध से संपरिष्वक्त हैं—“स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः” ।

जब तक अध्यात्मसंस्था में प्रज्ञान ब्रह्म प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक विज्ञान की स्थिति रहती है। चित्ता-परपर्यायिक मन की स्वस्थता पर ही बुद्धि का विकास होता है—“स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति”। अपि च इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि कुछ दिन तक अन्न नहीं खाया जाता है, तो अन्नमय प्रज्ञानमन शिथिल हो जाता है। प्रज्ञान के शिथिल होते ही इसी पर प्रतिष्ठित रहने वाली चिद्व्यवस्था बुद्धि शिथिल बन जाती है। भूखे मनुष्य की अन्न जरा भी काम नहीं करती—“बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्”। भूखे को कुछ नहीं सूझता। सूझना बुद्धि का काम है। अपने प्रतिष्ठाधरातल की शिथिलता से आज वह स्वयं भी अप्रतिष्ठित सी हो रही है।

बुद्धिप्रतिष्ठारूप यह प्रज्ञान-मन ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इस में हमने सोम, चिदंश, प्राण ये तीन तत्त्व बतलाये हैं। सोम भूतभाग है, चित् ज्ञानभाग है, प्राण प्राणतत्त्व है। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन, इन पाँच (वैदिक) इन्द्रियों के भेद से इस प्रज्ञान की ज्ञानभूत प्राण, इन तीनों कलाओं के पाँच-पाँच विवर्त हो जाते हैं। पाँच प्रज्ञामात्रा हैं, पाँच भूतमात्रा हैं, पाँच ही प्राणमात्रा हैं। इन १५ ही कलाओं की मूलप्रतिष्ठा त्रिकल स्वयं प्रज्ञान है। ‘प्रज्ञानोद्धारविद्या’ के अनुसार पञ्चभूतमात्रा मकार है, पञ्चप्राणमात्रा उकार है, एवं पञ्चप्रज्ञामात्रा अकार है। सर्वालम्बन स्वयं प्रज्ञान अर्द्धमात्रा है। समष्टि ओद्धार है। अर्द्धमात्रिक प्रज्ञान की प्रेरणा से ही सब इन्द्रियाँ अपना अपना नियत कर्म करने में समर्थ होती है। प्रज्ञानगत प्राणमूर्ति इन्द्र के सम्बन्ध से इन्द्रियों को इन्द्रिय कहा जाता है। सभी इन्द्रियाँ *इन्द्र-जुष्ट हैं। स्वयं इन्द्रप्राण उक्थ है, आत्मा है, अतएव इसे “मुख्यप्राण” कहा गया है। पाँचों ऐन्द्रियक प्राण अर्करूप हैं, अतएव इन्हें “प्राणाः” कहा गया है। ये ही इन्द्रिय प्राण ‘अनुचीनप्राण’ नाम से प्रसिद्ध हैं। “नियतविषयस्वमिन्द्रियस्वम्” के अनुसार इन्द्रियों के स्व-स्वविषय सर्वथा नियत है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, जिनका विषय नियत है, वे ही इन्द्रिय नाम से व्यवहृत होती हैं। “गुणानां च परार्थत्वाद-सम्बन्धः समत्वात्” के अनुसार गुणभूत इन्द्रियों का परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं है। असम्बन्ध ही इनका सम्बन्ध है, अनान्तर्य ही इन का आन्तर्य है। सब अपने अपने रूप-रस-गन्धादि विषय-ग्रहण में स्वतन्त्र हैं। इन इन्द्रियों में मन सुख-दुःख (अनुकूल वेदना-प्रतिकूल वेदना) का अनुभव करने वाला, अतएव नियतविषयी बनता हुआ इन्द्रियकोटि में ही प्रविष्ट है। इस इन्द्रिय मन का वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्ति कर्मात्मा के प्राज्ञभाव से ही सम्बन्ध है। प्राज्ञ ही इन्द्रिय मन है। इसी के लिए ‘मनः षष्ठानि मे हृदि’ (अथर्व सं० १६।१।५) यह कहा गया है। इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान मन स्वतन्त्र रूप से कर्म करने में समर्थ होता हुआ अपने ऊपर भावना वासना रूप से कर्म का लेप कर लेता है, परन्तु प्राज्ञरूप इन्द्रिय मन केवल भोग में समर्थ है। यही कारण है कि, विज्ञान-प्रज्ञान विरहित प्राज्ञ केवल भोग कर सकता है, नया संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकता। पाँचों इन्द्रियों में प्रज्ञान अनुस्यूत रहता है, अतएव इसे कर्मेन्द्रिय-मन

❀ इन्द्र इवेन्द्रियाणि—अधि धारयामः ।

—अथर्व सं० १।३५।३।

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आबृणो ॥

—अथर्व सं० २०।२०।२।

कहा जाता है। यह स्वयं इन्द्रिय नहीं है, अतएव इसे अनिन्द्रियमन नाम में व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं होती।

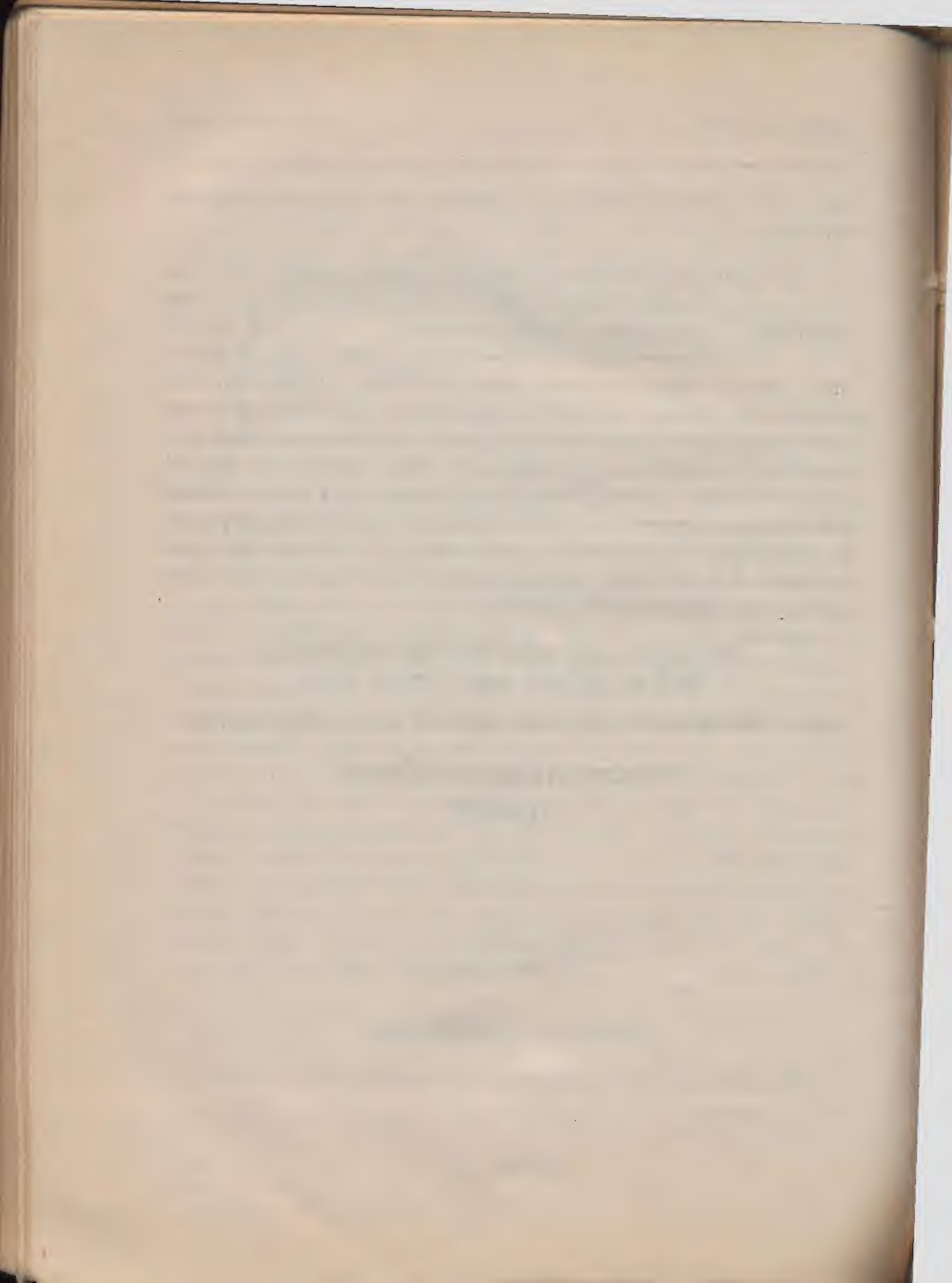
अब तक आपने अध्यात्मसंस्था में एक ही मन समझ रक्खा होगा। परन्तु आज से आप अपना यह अवैदिक विश्वास बदल दीजिए। अध्यात्म में एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं प्रकरणोपसंहार अपितु चार मन हैं। अव्यय-महान्-प्रज्ञान-प्राज्ञ, भेद से मन चतुर्धा विभक्त है। अव्ययमन शबोवसीयस् एवं शबोवस्थस्ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। महत्-मन सत्त्व कहलाता है, प्रज्ञान मन सर्वेन्द्रिय है एवं प्राज्ञ-मन इन्द्रियमन नाम से प्रसिद्ध है। प्राज्ञमन कर्मात्मा की प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान-मन विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा है, महत्-मन अमृतात्मा की प्रतिष्ठा है, एवं अव्ययमन सबकी प्रतिष्ठा है। इसमें अव्यय मन का एक स्वतन्त्र विभाग है। महत्-विज्ञान-प्रज्ञान, तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इन तीनों का कर्मगति से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि, श्राद्धकर्म की मूलप्रतिष्ठा शुक्रतत्त्व पर प्रतिष्ठित पितृप्राणमूर्ति महानात्मा ही है। सम्पूर्ण आत्मविवर्त्तों में से श्राद्ध एक मात्र महानात्मा के लिए ही किया जाता है। महान् के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ वक्तव्य है, क्योंकि इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इसी पर अवलम्बित है। अतः आगे आने वाले पितृप्राण-निरूपण-प्रकरण के लिए इसे छोड़ते हुए प्रकृत प्रकरण को यहीं समाप्त कर क्रमप्राप्त 'प्राणात्मा' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं—आकृति, प्रकृति—अहंकृतिभेदेन त्रिकलः—महत्-प्रज्ञानभेदेन
द्विकलो बायं महानात्मा, चन्द्रमा व्याख्यातो द्रष्टव्यः

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—‘आत्मविज्ञानोपनिषदि’ प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां

“महदात्मविज्ञानोपनिषत्”

पञ्चमी



- (६) { १—अधिदैवतम् → पृथिवी (पूर्णमदः)
२—अध्यात्मम् → प्राणः (पूर्णमिदम्) }

अथ

“प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्” षष्ठी

प्राणात्मा-वैकारिकात्मा-पृथिवी (५)

- | | | |
|----------------------------------|---|--------------------|
| १—त्रिवृतोऽग्निः (वैश्वानरात्मा) | } | → प्रत्यगात्मा (१) |
| २—त्रिवृतो वायुः (तैजसात्मा) | | |
| ३—त्रिवृत आदित्यः (प्राज्ञात्मा) | | |
| ४—भूवायुः (हंसात्मा) | } | → प्रेतात्मा (२) |
| ५—चित्पाग्निः (बाह्यात्मा) | | |
| | } | → शरीरात्मा (३) |
| | | |

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥१॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२॥—श्रीमद्भगवद्गीता २ अ० १२२, २७

(६) प्राणात्मस्वरूपपरिचयः— (ज्ञान-क्रिया-अर्थमयः प्राणात्मा)

रयिर्न चित्रा सूरौ न संदगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः ।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा ॥१॥
—ऋक् सं० १।६६।१

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥२॥

—ऋक् सं० १०।५।५

युजा कर्माणि जनयन्विश्वौजा अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट् ।

पीत्वी सोमस्य दिव आ वृधानः शूरो निर्युधाधमदस्यून् ॥३॥

—ऋक् सं० १०।५।५

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषध्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥४॥

—मुण्डको० ३।१।१

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥५॥

—मुण्डको० ३।१।२

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥६॥

—कठोप० २।५।१२

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥७॥

—श्वे० उ० ५।७

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं 'भोक्ते' त्याहुर्मनीषिणः ॥८॥

—कठोप० १।३।४

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतौर्विभाति विज्ञानं विद्वान् भवते नातिवादी ।

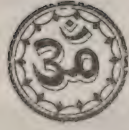
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥९॥

—मुण्डको० ३।१।४

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१०॥

—श्वे० उ० ३।१।४



॥ प्राणात्मब्रह्मणे नमः ॥

प्राणात्मा-पृथिवी

‘प्राणो ब्रह्म’ त्युपास्व

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ —श्वे० उ० ५।८

स एव माया परिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।

स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति ॥

—कैवल्योपनिषत् १।१२

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके ।

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥ —कै० १।१३

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।

पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ॥ —कै० १।१४

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥ —कै० १।१५

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते ।

तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥ —कै० १।१७

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ —श्वे० उ० ५।९

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेष्वनुधावति ।

एवं धर्म्मन् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥ —कठोपनिषत् ४।१४

यद्यपि सर्वशास्त्रमूर्द्धन्य, स्वतःप्रमाणभूत वेदशास्त्र में आत्मस्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध में किसी भी ग्रंथ में त्रुटि नहीं है, तथापि विज्ञानदृष्टि के विलुप्त प्रायः हो जाने से **अविज्ञानमूला तथा** विज्ञानात्मक वेदशास्त्र के वास्तविक तात्पर्य से हम बहुत पीछे हट गये हैं। **क्षणिकविज्ञानमूला आन्ति** अथवा तो बहुत आगे बढ़ गये हैं। एक दल कहता है—वेद में विज्ञान का अन्वेषण करना मृगमरीचिका है। वेद ईश्वर की पवित्र वाणी है (अवश्य), इस के द्वारा केवल ज्ञानोपासना कर्मकाण्डव्रथी का ही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। दूसरे दल की वेदार्थ के सम्बन्ध में इससे भी भयङ्कर मनोवृत्तियाँ हैं। वे महानुभाव वेद में विज्ञान अवश्य मानते हैं, परन्तु उनकी विज्ञान दृष्टि पाश्चात्य-क्षणिक-अशान्तिप्रवर्द्धक-भौतिक (अतएव एकान्ततः भयावह) विज्ञान की ही अनुगामिनी बन रही है। वे केवल इसी में वेद का महत्त्व समझते हैं कि एकमात्र भौतिक विज्ञान के उपासक प्रतीच्य वैज्ञानिकों ने तार-बायरलेस-टेलिग्राफी-फोनोग्राफ-रेलेवेट्रे-न-वेलून, आदि जो आविष्कार किए हैं, वे सब हमारे वेदशास्त्र में निहित हैं। फलतः भीमांसा-संगति के एकान्ततः विरुद्ध मन्त्रार्थों की दुर्दशा करते हुए वे महानुभाव आविष्कारों का स्वप्न देख रहे हैं। कितने ही महानुभावों की दृष्टि में वेद केवल राष्ट्रनीति का निरूपण करने वाला नीतिशास्त्र है। एक सज्जन ने अपनी इसी काल्पनिक भावना के लक्ष्य से दर्शपूर्ण-मास यज्ञ के सब मन्त्रों का राजनैतिक अर्थ करने का व्यर्थ प्रयास किया भी है। कितने ही अभिनिविष्ट कहते हैं कि, वेद केवल अध्यात्मशास्त्र हैं। वेद में जितने भी पदार्थ आये हैं, वे सब केवल अध्यात्मसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। कितने ही कृतयुगप्रेमियों की दृष्टि में वेद केवल खगोलीय चरित्र का, दूसरे शब्दों में ज्योतिर्विद्या का ही निरूपक है। इन सब प्रपञ्चियों को हम आगे बढ़ा हुआ कहेंगे। मध्यममार्गानुयायी अस्मदादि साधारण व्यक्तियों की दृष्टि में उक्त दोनों ही दल भ्रांति के उपासक बन रहे हैं। वेदार्थ के सम्बन्ध में सबसे पहला, एवं मुख्य कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि, हम अपने कल्पित-सिद्धांतों को पुष्ट करने की दृष्टि से वेदमन्त्रों को न देखते हुए, भीमांसाशास्त्र प्रतिपादित प्रसंग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहकैव्य, कार्यव्यवस्था, इन छहों सङ्गतियों की पूर्ण भीमांसा करते हुए, उपक्रम व उपसंहार पर पूर्ण ध्यान देते हुए, शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्” “ईक्षतेनाशब्दम्” “लक्षणै-कक्षुष्कावयम्” “तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्यकार्यव्यवस्थितौ” इत्यादि आप्तसिद्धांतों के अनुसार प्रत्येक विषय की सिद्धि के लिए शास्त्रीय प्रमाणों को आधार बनाते हुए ही आगे बढ़ें। तभी हम यथार्थ निर्णय पर पहुँच सकते हैं। अभिनिवेशमूलक मतवाद मनुष्य को सत्य मार्ग से सर्वथा च्युत कर देता है। यदि उक्त शास्त्र-दृष्टि से वेदार्थ का उपवृंहण किया जाता है, तो ब्रह्म (मन्त्र)-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में हमें विज्ञान, स्तुति, इतिहास, ज्ञान, कर्म, उपासना ये ६ विषय उपलब्ध होते हैं। इन ६ ओं में से वेद-रहस्य प्रतिपादक गाथा-नाराशंसी-रहस्य-निदान-कुम्ब्या, इन ग्रन्थों के विलुप्तप्राय हो जाने से विज्ञान एवं इतिहास, ये दो विषय स्मृतिगर्भ में विलीन हो चुके हैं। भारतीय विद्वानों की दृष्टि में वेद केवल स्तुति-ज्ञान-कर्म-उपासना- इन चार ही विषयों का प्रतिपादक बन रहा है। विज्ञान एवं इतिहासदृष्टि के अभाव से ही आज हम वेद के वास्तविक अर्थ से परा-परावत चले गये हैं। विशेषतः विज्ञान के अभाव से ही आज हम आत्म-परमात्म-परलोक-आत्मगति-श्राद्ध आदि विज्ञान सिद्ध विषयों के सम्बन्ध में सन्देह के भाजन बन रहे हैं। सबसे पहले आत्मा का ही विचार कीजिए।

आत्मा अखण्ड है, निर्विकार है, सर्वव्यापक है, अजन्मा है, यह भी शास्त्र का ही सिद्धांत है। शरीर से उत्क्रांत आत्मा कर्मफल-भोगने के लिए लोकान्तर में जाता है, विभिन्नपक्षसमर्थन— यह भी शास्त्रसम्मत पक्ष है शरीर के नष्ट होने पर आत्मा लोकान्तर में नहीं जाता, अपितु वह यहीं विलीन हो जाता है, यह भी वेदाभिमत ही सिद्धांत है। शरीर छोड़ने से पहले जब आत्मा अपना नया शरीर पहले से निश्चित कर लेता है, तभी पूर्व शरीर को छोड़ता है, इस सिद्धांत को भी अशास्त्रीय नहीं माना जा सकता। शरीर ही आत्मा है, शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है, इस नास्तिकवाद का मूल भी शास्त्र ही है। आत्मा न विश्व का कारण है न, कार्य है, उस असंग तत्त्व का असंग विश्व से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह भी शास्त्र की ही उक्ति है। आत्मा ही विश्व का कर्त्ता है, यह भी शास्त्र ही कहता है। आत्मा ही विश्व बना हुआ है, यह भी शास्त्र का ही सिद्धांत है। कहीं विश्वपर्वभूत सूर्य को आत्मा बतलाया जा रहा है, कहीं अग्नि को आत्मा कहा जा रहा है, कहीं चार पुष्पों की समष्टि आत्मा बन रहा है। कहीं लोमत्वङ्मांसस्थि की समष्टि को आत्मा माना जा रहा है, कहीं आत्मा को कृश एवं स्थूल कहा जा रहा है, कहीं आत्मा को मनःप्राण-वाङ्मय बतलाया गया है। इसी प्रकार इन्द्र-सोम-प्राण-वायु-पानी-आकाश-वाक्-आदित्य-विष्णु-आदि क्षर पदार्थों को भिन्न-भिन्न स्थलों में आत्म शब्द से व्यवहृत किया गया है। निम्नलिखित भिन्न-भिन्न शास्त्रीय प्रमाण इन्हीं भिन्न-भिन्न पक्षों का समर्थन कर रहे हैं—

(नित्यं) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ॥१॥

—वृ० आ० उप० ३।६।३८

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥२॥

—तैत्ति० उप० २।१।१

परं ब्रह्म परं सत्यं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।

अप्रमेयमनिर्द्वयमवाङ्मनसगोचरम् ॥३॥

शुद्धं सूक्ष्म निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम् ।

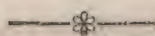
अनन्तमपरिच्छेद्यमनूपममनामयम् ॥४॥ —योगशिखोपनिषत् २ अ०।१६।१७

स्थूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविर्जितः ।

कारणादिविहीनात्मा तुरीयादिविर्जितः ॥५॥ —तेजोविन्दूपनिषत् ४।७।३

अखण्डैकरसोवाहमानन्दोऽस्मिविर्जितः ।

सर्वातीतस्वभावात्मा नादान्तज्योतिरेव स ॥६॥ —तेजोविन्दूपनिषत् ५।७



अथ यो हैवमेतमग्निं सावित्रं वेद, स एवास्मां-

ल्लोकात् प्रेत्य आत्मानं वेद ॥१॥

—तै० ब्रा० ३।१०।१११

एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि ॥२॥

—छा० उ० ३ अ० । १३ ख० । ४ क०

तद्य इत्थं विदु०++तेर्जचषमभि संभवन्ति०++रमणीयां

योनिं वा कपूयां योनिं वा आपद्येरन् ॥३॥

—छा० उ० ५।१०

द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।

ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥४॥

—ऋक् सं० १०।८८।१५

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः पराहताः ।

न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्ततेः ॥६॥

—गी० ८।२६

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते ॥१॥

—वृ० ब्रा० उ० ३।२।११।४।४६

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।

एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥२॥

—कठोपनिषत् ४।१५

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परात्परे ॥३॥

—मुण्डकोपनिषत् २।२।८

—**—

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।

एवं तृणजलौकेयं देही कर्ममर्गतिगतः ॥१॥

—श्रीमद्भागवत्

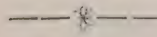
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२॥

—गी० २।२२

तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्विक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥३॥

—व्या० सू० ३।१।१

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति ॥४॥ —द्वा० उ० ५।६।१



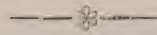
आत्मा वै तनू ॥१॥ —शत० ४।२।२।५

आत्मनो वाऽइमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति ॥२॥ —शत० ४।२।२।१

(शरीरं) तत् सर्वमात्मा वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति ॥३॥ —कौ० २।७

बाह्योह्यात्मा ॥४॥ —शत० ६।६।२।१६

आत्माह्ये वाग्रे सम्भवतः सम्भवति ॥५॥ —शत० ७।१।१।२१

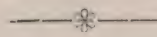


न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥१॥

—श्वे० उ० ६।८

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता ॥२॥ —श्वे० उ० १।६



विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।

सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥१॥

—श्वे० उ० ३।३

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

हृदा मनीषा मनसाभिवलृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥ —श्वे० ४।१९

तथाऽऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥३॥

—मुण्डक० २।१।१

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, ।

वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या औषधयः ॥४॥

—तै० उप० २।१

—३—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१॥ —यजुः सं० ३१।२

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥२॥ —गी० ७।७

स बाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।

इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥३॥ —महोपनिषत्० ६।१०

सर्वं खल्विदं ब्रह्म—ब्रह्मैवेदं सर्वम् ॥४॥ —छां० उप० ३।१।४।१

सर्वमुह्येवेदं प्रजापतिः ॥५॥ —शत० ५।१।१।४

त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोस्येहा भवत् पुनः ॥६॥ —यजुः सं० ३१।४

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः ।

स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतो मुखः ॥७॥

—४—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।

आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥१॥

—यजुः सं० ७।४२

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः । —प्र० उप० १।५

—५—

अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा ॥१॥—शत० १४।३।२।५

आत्मा वा अग्निः ॥२॥ —शत० ७।३।२।१

अग्निरेव ब्रह्म ॥३॥ —शत० १०।४।१।५

—ॐ—

स वै सप्तपुरुषो भवति । सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा,
त्रयः पक्ष पुच्छानि । चत्वारो हि तस्य पुरुषस्य आत्मा ॥१॥

—शत० ६।१।१।६

चतुर्विधोऽह्यमात्मा ॥२॥—शत० ७।१।१।१८

—ॐ—

पाङ्क्त इतर आत्मा—लोमत्वङ्मांसमस्थिमज्जा ॥१॥—तां० ब्रा० ५।१४

—ॐ—

तस्मादितर आत्मा मेद्यति च कृश्यति च ॥१॥—तां० ब्रा० ५।१।७

—ॐ—

एतन्मयो वाऽअयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥१॥

—ॐ—

पुरुषो वै संवत्सरः ॥१॥—शत० १२।२।४।१

स एष प्रजापतिरेव संवत्सरः ॥२॥—कौ० ६।१५

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः ॥३॥ —शत० १४।४।३।२२

—ॐ—

प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा—तं मामायुरमृतमित्युपास्व ॥१॥—(इन्द्रः)—कौ० उ० ३।२।२

सोमो वै प्रजापतिः ॥२॥ —शत० ५।१।३।७ (सोमः)

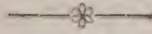
प्राणो वै ब्रह्म ॥३॥—शत० १४।६।१०।२ (प्राणः)

अयं वै ब्रह्म योऽयं (वायुः) पवते ॥४॥—ऐ० ८२८ (वायुः)

अद्भि र्वा इदं सर्वमाप्तम् ॥५॥—शत० १।१।१।१४ (आपः)

मनोमयो भारूप आकाशात्मा ॥६॥—छां० उप ३।१।४।२ (आकाशः)

वाग्वै ब्रह्म ॥७॥—ऐ० ६।३ (वाक्)



उपर्युक्त आत्मतत्त्व प्रतिपादक, परस्पर में सर्वथा विरुद्ध शास्त्रीय सिद्धान्त हमें उलझन में डाल रहे हैं। सत्यतत्त्व एक हो सकता है, अनेक नहीं, ऐसी स्थिति में कौन व्याख्यादोषमूला आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति से सिद्धान्त को सत्य समझा जाय ? हमारी दृष्टि से इन सारे प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है, आत्मस्वरूप की यथार्थप्रतिपत्ति। कहना अनुचित ही नहीं, साथ में अप्रासङ्गिक भी होगा, परन्तु आपको यह मान लेना पड़ेगा कि आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में आज जो भ्रान्तियाँ फैल रही हैं, यह शास्त्र का दोष नहीं है, अपितु व्याख्याताओं की कृपा का फल है। प्रत्येक विषय का सर्वथा परिष्कृत रूप से निरूपण करने वाला शास्त्र इन सम्प्रदायभक्त व्याख्याताओं की कृपा से दुरूह बन रहा है। व्याख्याताओं की दृष्टि में परमेश्वर-महेश्वर-ईश्वर-उपेश्वर-आत्मा-आदि सब तत्त्व समानार्थक हैं। उनकी दृष्टि में सर्वत्र अभेदवाद का साम्राज्य है। बस एकमात्र इसी व्याख्यादोष से सर्वथा विभक्त परमेश्वर-महेश्वरादि तत्त्व हमारे लिए अविज्ञात कोटि में प्रविष्ट रहते हुए सन्देह के कारण बन रहे हैं। आत्मस्वरूप परिचय के लिए पहले इन भेदों का स्वरूप-ज्ञान परम आवश्यक है। अतएव अप्राकृत होते हुए भी इस प्रकरण में आत्मभेदों का संक्षिप्त स्वरूप परिचय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है।

“आत्मा ह्ययं प्रजापति” (शत० ४।६।१।१) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आत्मतत्त्व को प्रजापति कहा जाता है। यह ‘प्रजापति’ शब्द बड़ा ही उलझा हुआ है। आत्मभेदस्वरूपपरिचय ब्राह्मणश्रुति के अवलोकन से आप को विदित होगा कि, एक ही प्रजापति शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों के लिए सैकड़ों स्थानों में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ एक स्थलों का दिग्दर्शन यहां भी करा दिया जाता है।

“एष वै प्रजापतिर्यदग्निः” (तै० ब्रा० १।१।१।५)—“यो ह जलु वाव प्रजापतिः, स उ एवेन्द्रः” (तै० ब्रा० १।२।२।५)—“प्रजापतिर्वै मनः” (कौ० १०।१)—“एष प्रजापतिर्यद्वृद्धयम्” (शत० १४।५।१)—“वाग्वै प्रजापतिः” (शत० ५।१।१।६)—“प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः” (शत० ५।१।१।१३)—“स एष सम्बत्सरः प्रजापतिः” (शत० १४।४।३।२२)—“स वै यज्ञ एव प्रजापतिः” (शत० १।७।

४।४) —“प्रजापतिर्वै सविता” (तां० ब्रा० १६।५।१७) —“प्राणा उ वै प्रजापतिर्वै” (शत० ८।४।१।४) —“अन्नं वै प्रजापतिः” (शत० ५।१।३।७) —“प्रजापतिर्वै ब्रह्मा” (गो० उ० ५।८) —“प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः” (शत० ६।१।३।१६) —“सोमो हि प्रजापतिः” (शत० ५।१।५।२६) —“प्रजापतिर्वै वसिष्ठः” (कौ० २।५।२) —“प्रजापतिर्वै व्योमा” (शत० ८।४।१।११) —“प्रजापतिर्वै ओदनः” (शत० १३।३।६।७) —“प्रजापतिर्वै हिङ्गारः” (तां० ६।८।५) —“प्रजापतिर्वै भूतः” (तै० २।१।१।३) —“प्रजापतिर्वै सुपर्णः” (शत० १०।२।२।४) —“प्रजापतिः स्वरः” (श० ब्रा० ३।७) —“सत्यं हि प्रजापतिः” (शत० ४२।१।२६) —“पुरुषो हि प्रजापतिः” (शत० ७।४।१।५) —“प्रजापतिर्वै भरतः” (शत० ५।८।१।१४) —“प्रजापतिर्धाता” (शत० ६।५।१।३८) —“को वै प्रजापतिः” (गो० उ० ६।३) —“प्रजापतिर्वै जमदग्निः” (शत० १३।२।२।१४) —“प्रजापतिर्वै क्षत्रम्” (शत० ८।२।३।११) —“द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः” (शत० ५।१।५।२३) —इत्यादि ।

उक्त श्रौत वचनों के अनुसार “अग्नि-इन्द्र-मन-हृदय-वाक्-वाचस्पति-सम्बत्सर-यज्ञ-सविता-प्राण-अन्न-ब्रह्मा-चन्द्रमा-सोम-वसिष्ठ-व्योम-ओदन-हिङ्गार-भूत-सुपर्ण-स्वर-सत्य-पुरुष-भरत-धाता-क-जमदग्नि-क्षत्र-द्यावापृथिवी-इत्यादि तत्त्वों के लिए प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है । इन सब वचनों का समन्वय करने के लिए-विज्ञ पाठकों को ‘आत्मप्राणपशूनां समष्टिः प्रजापतिः’ प्रजापति शब्द का यह लक्षण करना पड़ेगा जिस वस्तुतत्त्व में आप को आत्मा-प्राण-पशु” ये तीन विभाग उपलब्ध हों उसे अवश्य ही आप “प्रजापति” शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं । उक्त तत्त्व आत्मा है । वह मूल-तत्त्व जिससे तद्गत वस्तु के अवयव प्राणरूप से उठकर बाहर व्याप्त होते हैं — उक्त नाम से व्यवहृत होता है । यही उस वस्तु का आत्मा है । वस्तुतत्त्व से निकलने वाले अर्क रश्मियाँ हैं । अर्कमण्डल (रश्मिमण्डल) में प्रतिष्ठित अनात्म-भोग्य अशिति पशु है । उक्त-अर्क-अशितिरूप आत्मा-प्राण-पशु की समष्टि प्रजापति है । उदाहरण के लिए सूर्य को सामने रखिये । सूर्यपिण्ड रश्मिमण्डल का उक्त है । यहीं से उठकर रश्मियाँ चारों ओर व्याप्त हो रही हैं । प्राणमयी ज्योतिर्धना रश्मियाँ अर्क है । इस प्राणमय रश्मिमण्डल के गर्भ में अन्नरूप से प्रतिष्ठित पृथिवी-चन्द्रमा-मङ्गल-बुध-गुरु-शनि-आदि ग्रहोपग्रह, एवं रोदसी त्रैलोक्य में रहने वाला चतुर्दशविध भूतसर्ग अनात्मक अशिति है । प्रजापति शब्द प्रजासापेक्ष है । भोक्ता-भोगसाधन-भोग्य के समन्वय से ही यह अपेक्षा पूरी होती है । उक्त आत्मा भोक्ता है, यही तन्त्रपरिभाषा के अनुसार पशुपति है । अर्क प्राण भोग साधन है, यही पाश है, अशिति पशु भोग्य है । यही पशुभाव प्रजा है । इस का पति वही उक्त आत्मा है । इस प्रकार—“आत्मप्राणपशुत्वम्” “आत्मप्राणपशूनामन्योऽन्यपरिग्रहत्वम्” ही ‘प्रजापतित्व’ है । उपर्युक्त-अग्निन्द्रादि सब तत्त्वों के साथ इस प्रजापति-लक्षण का समन्वय हो जाता है, अतएव श्रुति ने सबको प्रजापति शब्द से व्यवहृत कर दिया है ।

यह प्रजापतितत्त्व—“चतुष्टयं वा इदं सर्वम्” (कौ० ब्रा० २।१) इस अनुगम सिद्धान्त के अनुसार “महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर” भेद से चार भागों में विभक्त है । इन चारों प्रजापतियों का अधिष्ठाता चारों से पृथक् “परमेश्वर” है, वह एकाकी है, सर्वव्यापक है, आत्म, प्राण, पशु-भाव से विरहित होता हुआ प्रजापति मर्यादा से बहिष्कृत है । वेदशास्त्र ही शास्त्र है । “शास्त्रयोनिस्त्वात्” (शा० सू० ३।१) इस

शारीरक सिद्धान्त के अनुसार शास्त्र शब्द प्रधानतया वेदराशि का ही बोधक माना गया है। इतर शास्त्रों का शास्त्रत्व वेदशास्त्रप्रामाण्य पर ही निर्भर है। सब इसी के अङ्गोपाङ्ग हैं। यह वेदशास्त्र, किंवा सर्व-शास्त्र एकमात्र इसी प्रजापति-चतुष्टयी का निरूपण करने में समर्थ है। प्रजापति-मर्यादा से बहिर्भूत व्यापक परमेश्वर का निरूपण करना इसके लिए असम्भव है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर उप-निच्छति कहती है—

संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

वेदशास्त्र एकमात्र प्राजापत्य-संस्थाओं का निरूपण करता है, अतएव इसका—“प्राजापत्यो वै वेदः” (तै० ३।३।७।२)—“प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद् वेदः” (तै० ३।३।९) ये लक्षण किए जाते हैं। आत्मस्वरूप-सम्बन्ध में इस प्रजापति के पूर्वोक्त महेश्वरादि चार प्रधान विवर्त हैं। यद्यपि इन प्रजापति-संस्थाओं का आरम्भ की “अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्” में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, तथापि प्रकरणसंगति के लिए सिंहावलोकनदृष्ट्या इन पर-पुनः दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

सर्वबलशून्य शुद्ध रसरूप ‘ऐकान्तिकसुख’ नाम से प्रसिद्ध विश्वातीत तत्त्व ‘निर्विशेष’ है, एवं-सर्वबलविशिष्ट—‘शाश्वतधर्म’ नाम से प्रसिद्ध रसबलात्मक विश्वातीत तत्त्व ‘परात्पर’ है। शुद्ध-रस की केवल भावना ही की जा सकती है। ऐसा कथमपि सम्भव नहीं है कि, रस कभी बल से ऐकान्तिकः पृथक् हो जाय। अतएव भातिप्रतिष्ठ शुद्ध रसरूप निर्विशेष का रसबलसमुच्चितरूप सर्वबलविशिष्ट रसमूर्ति परात्पर में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यही पहला अखण्ड सर्वव्यापक आत्मा है। यह तत्त्व ‘ईश्वर-जीव-जगत्’ तीनों विवर्तों से पृथक् है किन्तु तीनों में समान रूप से व्याप्त होता हुआ सर्वव्यापक है। इसकी सर्वव्यापकता ही इसकी अनिवर्चनीयता, अविज्येता अतएव शास्त्रानधिष्ठिता का मुख्य हेतु है। इसके उदर में अनन्त महेश्वर-ईश्वरादि प्रजापति प्रतिष्ठित हैं, अतएव इसे ‘परमेश्वर’ कहा जाता है। ‘परात्पर’ नाम से प्रसिद्ध इस परमेश्वर रूप-अखण्ड धरातल पर मायाबल के उदय से अश्वत्थमूर्तिमायी महेश्वर का जन्म होता है। माया बल अनन्त है। एक-एक माया बल से सीमित एक-एक परात्पर प्रदेश एक-एक महेश्वर है। परमेश्वर एक था, मायाबल के आनन्त्य के कारणमायी महेश्वर सहस्रबलेश्वर युक्त एक-एक अश्वत्थ वृक्ष है। एक-एक बलशा (दहनी) में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-ये पांच-पांच पर्व हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह पञ्चपर्व समष्टि—‘पञ्चपुण्ड्रीरा प्राजापत्या बलशा’ नाम से प्रसिद्ध है। इन पांचों पर्वों में पहला स्वयम्भू (जिसके महिमामण्डल में परमेष्ठ-सूर्यादि चारों पर्व प्रतिष्ठित हैं) “आभूप्रजापति”-“परमप्रजापति”-“विश्वकर्माप्रजापति”-“अव्यक्तप्रजापति”-“वेदप्रजापति”-“परोरजाप्रजापति” इत्यादि विविध-नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पांचों पर्वों की समष्टि हमारा एक विश्व है। अश्वत्थ-मूर्ति प्रत्येक महेश्वर के उदर में ऐसे-ऐसे सहस्र सहस्र विश्व हैं। विश्वावच्छिन्न विश्वोपाधिक बही महेश्वर विश्व का अध्यक्ष बनता हुआ ‘विश्वेश्वर’ है। विश्वेश्वर के स्वयम्भूपरमेष्ठी-आदि एक-एक पर्व उपेश्वर है एवं महापृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली विराट्-हिरण्यगर्भसर्वज्ञ की समष्टि ईश्वर है। उद्धृत तालिकाओं से उपर्युक्त आत्मसंस्थाओं का सम्यक् रूप से स्पष्टीकरण हो जाता है।

- १—भातिबुध्या—सर्वबलशून्यो विशुद्धो रसः—→निर्विशेषः
 २—सत्तादृष्ट्या—सर्वबलविशिष्टो रसः—→परात्परः } →विश्वातीतः परमेश्वरः

- चतुष्टयं वा इव सर्वम्
 २ { १—मायावच्छिन्नः सहस्रबलेश्वरोऽश्वत्थमूर्तिः षोडशी—→महेश्वरप्रजापतिः
 २—पञ्चपर्वीध्यक्षो विश्वाधिष्ठाता—→विश्वेश्वरप्रजापतिः
 ३—स्वयम्भूः—परमेष्ठी—सूर्यः—चन्द्रः—पृथिवी (पृथक् २)—→उपेश्वरप्रजापतयः
 ४—विराट्—हिरण्यगर्भ—सर्वज्ञमूर्तिः साक्षी—→ईश्वरप्रजापतिः

एक ही आत्मतत्त्व अनेक भागों में कैसे विभक्त हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर है आत्मपरिग्रह ।

परिग्रहों के तारतम्य से वह एक ही अनेक रूपों में परिणत होजाता

आत्मपरिग्रहमूलक—आत्मस्वरूपभेद है । प्रधान आत्मा है विश्वातीत अखण्ड परात्पर । इसीके आधार पर हमारा अद्वैत सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । यह आत्मा सर्वथा निर्धर्मक है । यद्यपि आत्मज्ञान-प्रकरण का चरम लक्ष्य निर्धर्मक यही व्यापक आत्मा है, तथापि परिग्रहों से ससीम, अतएव सखण्ड, अतएव च अनेक रूपों में परिणत सर्वधर्मा आत्मा को किंवा आत्मसंस्थाओं को भी आत्मकोटि से बाहर नहीं किया जा सकता । वस्तुतस्तु विश्व के गर्भ में रहने वाले हमारी अपेक्षा से तो आत्मशब्द से जन्मस्थितिभङ्ग हेतुभूत सर्वधर्मोपपन्न सखण्ड आत्मविवर्त्तों का ही ग्रहण अपेक्षित है । निर्धर्मक आत्मा निग्रहानुग्रह, दोनों भावों से परे रहता हुआ अविज्ञेय है, अनुपास्य है, शास्त्रानधिकृत है। हम केवल सखण्ड ब्रह्म की ही जिज्ञासा कर सकते हैं । वही हमारे ज्ञान का विषय बन सकता है । वही जन्मादि का कारण है, वही सर्वधर्मोपपन्न है । आत्मस्वरूपनिरूपक जिस वेदान्त दर्शन को हमारे कृपालु व्याख्याता निर्धर्मक, जन्मस्थितिभंगमर्यादा से सर्वथा बहिर्भूत शास्त्रयोनित्व से असंस्पृष्ट जिस अखण्ड-आत्मा का प्रतिपादक मानने का व्यर्थ का साहस कर रहे हैं, वही शारीरक दर्शन शारीरक शब्द से सखण्ड-आत्मा की ओर लक्ष्य कराता हुआ—“अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” “जन्माद्यस्य यतः” “शास्त्रयोनित्वात्” “सर्वधर्मोपपत्तेश्च” इस आरम्भ की सूत्रचतुष्टयी से विस्पष्ट शब्दों में विश्वमूर्ति सखण्ड ब्रह्म का ही निरूपण कर रहा है । बहुत प्रयास करने पर भी हम अद्वैताभिमानी व्याख्याताओं के—‘वेदान्त अखण्ड ब्रह्म का प्रतिपादक है’ इस कल्पित अवैदिक सिद्धान्त का पोषक सम्पूर्ण प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्-वेदान्त-दर्शन-गीता) में एक भी वचन उपलब्ध न कर सके । भगवान् ही जाने इन शास्त्रभक्तों ने किस आधार पर इस कल्पित अद्वैतवाद को इतना महत्त्व दे डाला । साथ ही में नीरक्षीरविवेकी विद्वानों ने भी न मालुम किस आधार पर इस मिथ्या भ्रान्ति को अपना लिया ।

अस्तु—परिग्रहों के सम्बन्ध से वही निर्धर्मक सर्वधर्मोपपन्न बन गया है, उसीका शास्त्र में निरूपण है, यह निर्विवाद है । वे आत्मपरिग्रह माया, कला, गुण, विकार, अञ्जन, आवरण, भेद से ६ भागों में विभक्त है । इन ६ धर्मों से परिग्रहीत आत्मतत्त्व ही सर्वधर्मोपपन्न है । इन ६ धर्मों में माया कला का

एक विभाग है, गुण-विकार का एक विभाग है, अञ्जन-आवरण का एक विभाग है। माया एवं कला अमृतपरिग्रह हैं, गुण एवं विकार ब्रह्मपरिग्रह हैं, अञ्जन एवं आवरण शुक्रपरिग्रह हैं। परिग्रहदृष्ट्या अमृतात्मा-ब्रह्मात्मा-शुक्रात्मा तीनों पृथक् पृथक् हैं। परिग्रह छोड़ देने पर—“तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवा-मृतमुच्यते” (कठ० ६।१) के अनुसार तीनों एक ही आत्मतत्त्व है। वही विशुद्ध आत्मा सपरिग्रहावस्था में तीन है, परिग्रहगुण्णावस्था में तीनों एक आत्मा है—“आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रयं सद्यमेक-आत्मा” (शत० १४।४।३।३)।

माया परिग्रह एकाकी है, निष्कल है। इसी को विश्व की अवान्तर खण्ड मायाओं की अपेक्षा ‘महामाया’ कहा जाता है। इस माया-परिग्रह के उदय से सीमाभावप्रवर्तक ‘माया’ परिग्रह वही परात्पर मायापुर से वेष्टित होता हुआ, सीमा बनता हुआ “पुरुष” नाम धारण कर लेता है। “मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्” (श्वे० उप० ४।१०) के अनुसार यही निष्कल विशुद्ध केवल सीमित आत्म-भाव महेश्वर कहलाता है। अभी-कलाओं का उदय नहीं है। कला ही विविध भाव की जननी है। अभी इसमें वैविध्य का अभाव है अतएव “न वैविध्यमेति” इस निर्वचन के अनुसार अव्यय नाम से व्यवहृत होता है। केवल-मायापरिग्रहोपाधिक अतएव निष्कल विशुद्ध अव्ययात्मक इसी मायी महेश्वर का स्वरूप बतलाती हुई गोपयश्रुति कहती है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ (गो० ब्रा० पू० १।२६ ।)

मायातीत परात्पर निरञ्जन है। वही निरञ्जन केवल मायासंसर्ग से मायी बना हुआ है, परन्तु निष्कलता अब भी इसकी अक्षुण्ण है। यदि इस निष्कल अव्यय की उपासना की जाती है, तो समानकक्ष, किंवा अभिन्नकक्ष होने से वह निरञ्जन परात्पर पद को प्राप्त हो जाता है। इसी अभिप्राय से उपनिष-छुति कहती है—

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च ।

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥

समस्तसार्धं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥ (कै० व० २ खं० ४)

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणो वा ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।१।८

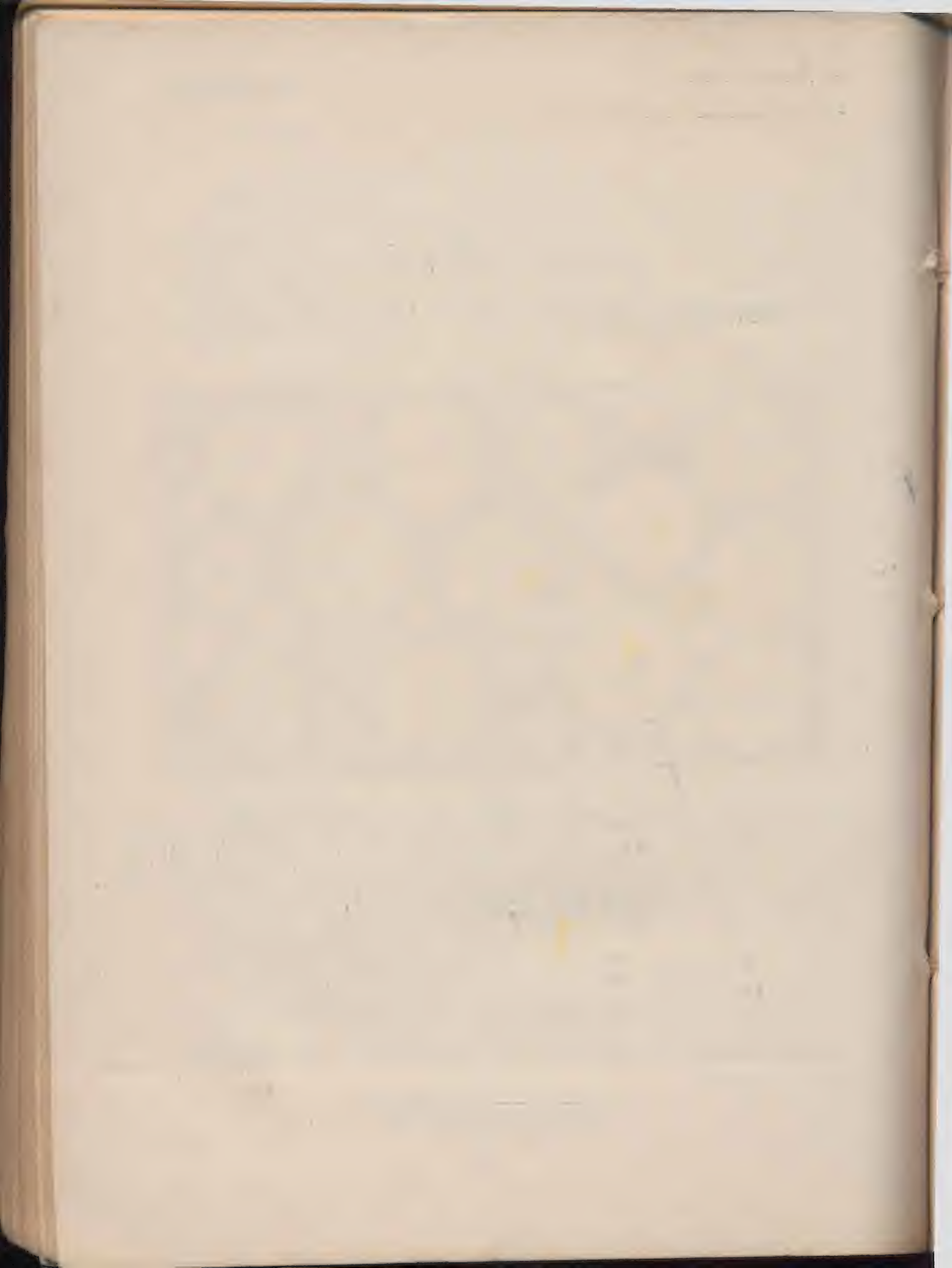
‘विशुद्ध भावात्मक (ज्ञानात्मक)’ इस निष्कल अव्यय से ही कला नाम के परिग्रह से आगे जाकर कलासर्ग का उपक्रम होता है, अतएव निम्नलिखित रूप से इस निष्कल को कलासर्ग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है—

परमेश्वर प्रतिकृति

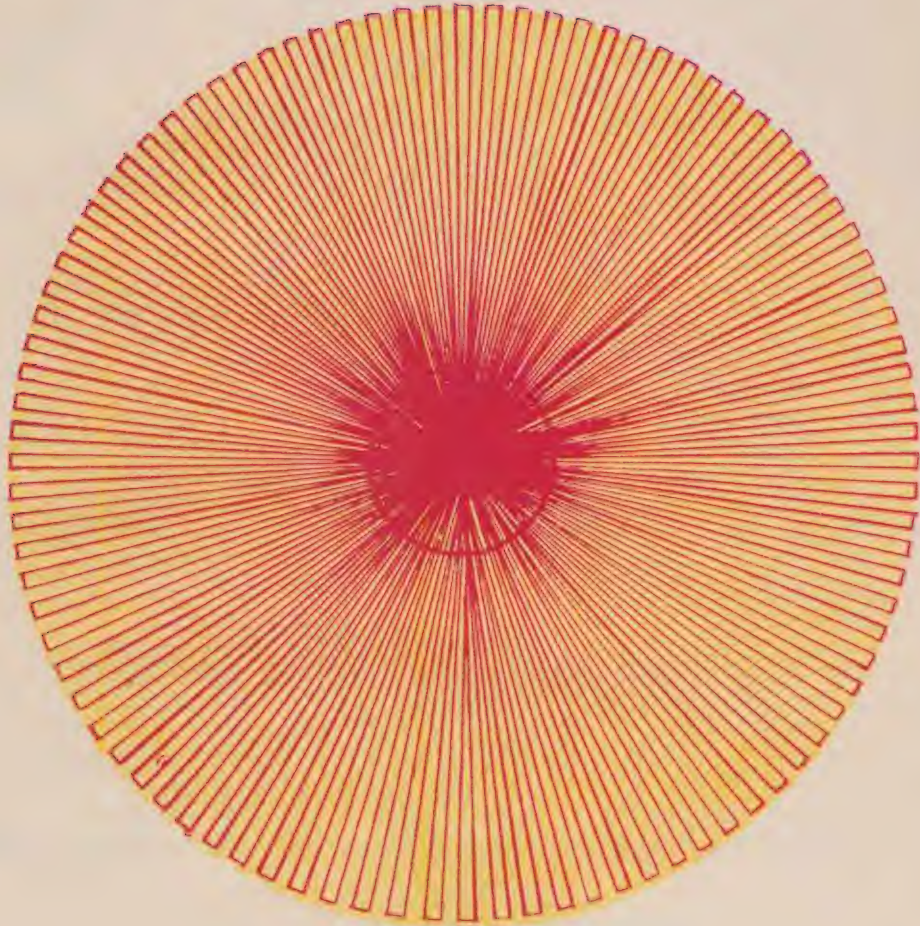
अनन्त महेश्वराधिष्ठाता अमायीपरमेश्वरः 'अविज्ञेय' परिलेखः—



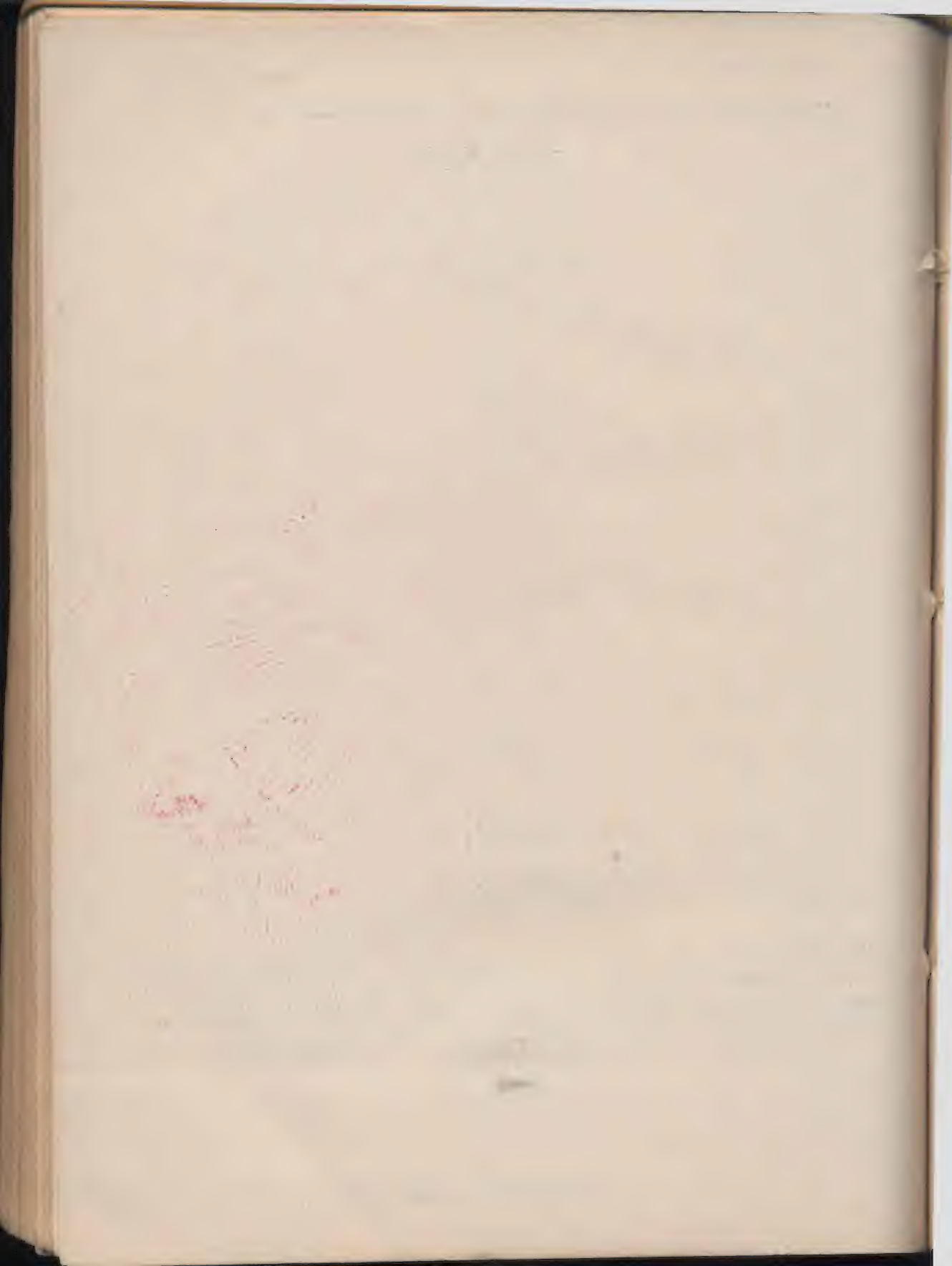
'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम सिद्धान्त के अनुसार 'महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर' इन चारों प्रजापतियों का अधिष्ठाता चारों से पृथक् 'परमेश्वर' है वह एकाकी है, सर्वव्यापक है, आत्म प्राण पशु-भाव से विरहित होता हुआ प्रजापति मर्यादा से बहिष्कृत है। यही पहला अखण्ड सर्वव्यापक आत्मा है। इसके उदर में अनन्त महेश्वर-ईश्वरादि प्रजापति हैं, अतएव इसे 'परमेश्वर' कहा जाता है।



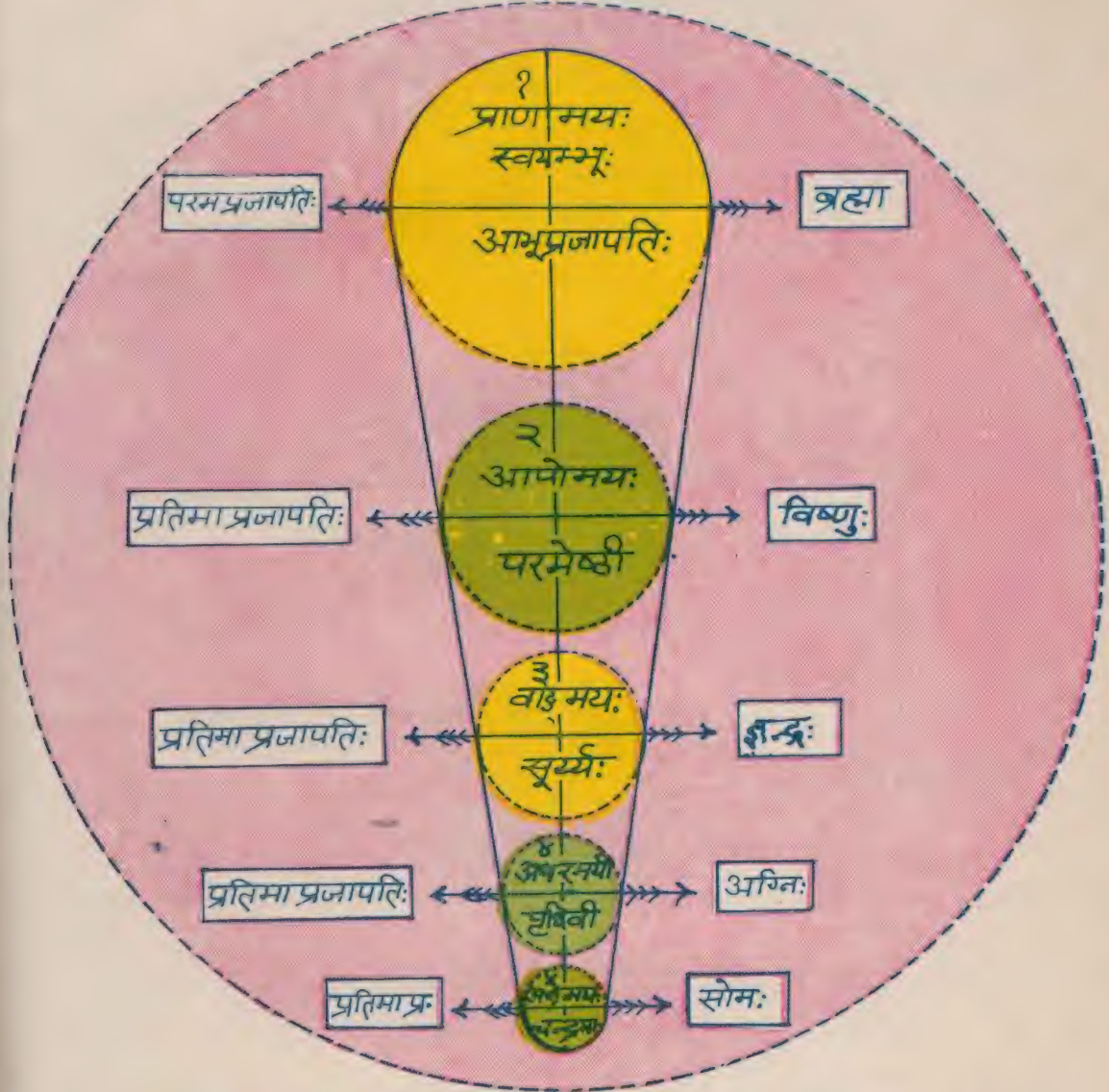
महेश्वर प्रतिकृति



‘परात्पर’ नाम से प्रसिद्ध इस परमेश्वर रूप अखण्ड घरातल पर मायाबल के उदय से अश्वत्थमूर्ति मायी महेश्वर का जन्म होता है। मायाबल अनन्त है। एक-एक मायाबल से सीमित एक-एक परात्पर प्रदेश एक-एक महेश्वर होता है। मायाबल की अनेकता के कारण मायी महेश्वर सहस्रबलेश्वरयुक्त एक-एक अश्वत्थ वृक्ष है। एक-एक बलशा (टहनी) में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये पाँच-पाँच पर्व होते हैं। इन पाँचों की समष्टि ही एक विश्व है, तथा इसका अधिष्ठाता महेश्वर है।



विश्वेश्वर प्रतिकृति—



महावन (परमेश्वर) में अनन्त महेश्वर होते हैं। प्रत्येक महेश्वर अश्वत्थ ऊर्ध्वमूल माना जाता है। वर्तुलवृत्त का केन्द्र परिधि से ऊर्ध्व माना जाता है। उस ऊर्ध्वमूलरूप केन्द्र बिन्दु से चारों ओर परिधि पर्यन्त सहस्र शाखाएँ निकलती हैं। प्रत्येक शाखा में 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-पृथिवी-चन्द्रमा' यह पाँच-पाँच पर्व होते हैं। उपक्रम में पुण्ड्रि स्वयम्भू व उपसंहार में चन्द्रमा है अतएव चान्द्रब्रह्म को 'निधन' कहा जाता है। स्वयम्भू की महिमा में परमेष्ठी, परमेष्ठी की महिमा में सूर्य, सूर्य की महिमा में पृथिवी, पृथिवी की महिमा में चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। इन पाँचों पर्वों की समष्टि ही हमारा एक विश्व है। अश्वत्था मूर्ति प्रत्येक महेश्वर के उदर में ऐसे-ऐसे सहस्र विश्व हैं। विश्वावच्छिन्न-विश्वोपाधिक यही महेश्वर विश्व का अध्यक्ष बनता हुआ 'विश्वेश्वर' कहलाता है।

उपेश्वर प्रतिकृति परिलेखः—

आत्म-पद-पुनःपदमूर्तयः पञ्च उपेश्वर
प्रजापतयः विज्ञेयाः



इत तीन देवताओं से सम्पन्न हुआ है। यहाँ पर ६-१५-२१ स्तोम त्रिलोकी को क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-
द्यौः लोक कहा गया है।

उपेश्वर प्रतिकृति परिलेखः—

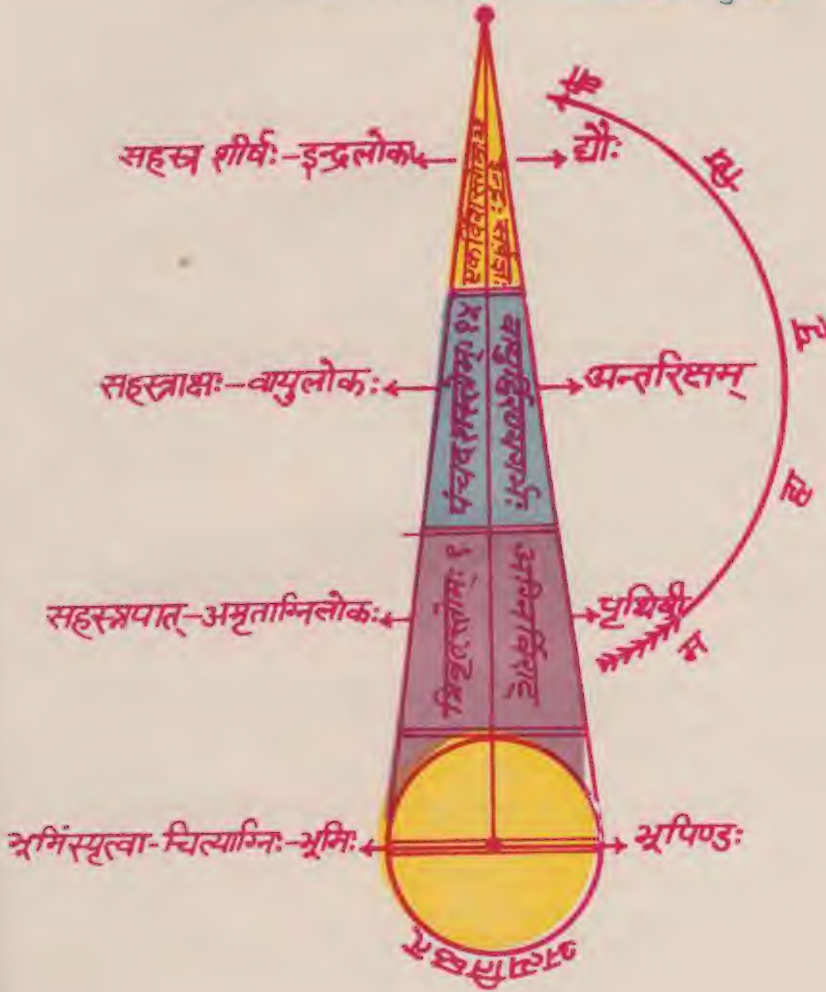
आत्म-पद-पुनःपदमूर्तयः पञ्च उपेश्वर
प्रजापतयः विज्ञेयाः



आत्मा-प्राण-पशु इन तीन कलाओं की समष्टि से 'प्रजापति' का स्वरूप निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि इन तीनों कलाओं द्वारा ही प्रजापति संस्था का उदय होता है। उक्थ तत्त्व (हृदय) को आत्मा कहा जाता है। अर्क प्राण है एवं अशिति पशु है। आत्मा भोक्ता है। अर्थरूपी प्राण भोग साधन व अशिति (अन्न) रूप पशु भोग्य वस्तु है। प्रजापति संस्था को 'पृष्ठ' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। उक्थ कला 'हृत्पृष्ठ' अर्क कला 'अन्तःपृष्ठ' एवं अशिति कला 'बहिःपृष्ठ' नाम से व्यवहृत हुये हैं। इन्हें क्रमशः 'आत्मा'-'पदम्'-'पुनःपदम्' भी कहा जाता है। यहाँ तीनों उक्त पौर्वा उपेश्वर मूर्तियों में स्पष्ट हो रहे हैं। इन्हें आत्मा, शरीर व महिमा के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है।

ईश्वर प्रतिकृति

विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मकः साक्षी-प्रजापतिः-“सुविज्ञेयः”



महापृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति (६-१५-२१) स्तोमत्रिलोको में प्रतिष्ठित तत्त्व का ही नाम ईश्वर प्रजापति है। देवसत्य को ही विराट्मूर्ति ईश्वर प्रजापति कहा गया है, कम्मत्मा के साथ इसी ईश्वर प्रजापतिरूप देवसत्यात्मा का ही सम्बन्ध होता है। ईश्वर का स्वरूप अग्नि-वायु-इन्द्र इन तीन देवताओं से सम्पन्न हुआ है। यहाँ पर ६-१५-२१ स्तोम त्रिलोकी को क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः लोक कहा गया है।

भावग्राह्यमनोडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।

कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ —श्वे० ५।१४

आगे जाकर 'कला' नाम के दूसरे परिग्रह का उदय होता है। अनेक खण्डों में विभक्त 'योगमाया' का ही नाम कला है। यह कलात्मिका माया महामाया से नित्य-षोडशकलाप्रवर्त्तक—'कला' परिग्रह युक्त रहती है, अतएव इसे योगमाया कहा जाता है। यही मोहमूलक नानात्वभाव की प्रथम भूमिका है—“योगमाया हरेश्चैतत् तथा संमोह्यते जगत् ।” इसके 'विष्णुमाया, रुद्रमाया, शिवमाया, अग्निमाया, सोममाया, इन्द्रमाया' आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। खण्डखण्डात्मिका अतएव 'कला' नाम से प्रसिद्ध इस योगमाया के उदय से वहाँ अव्ययमूर्ति निष्कल महेश्वर षोडशकल बनता हुआ—'योगेश्वर' नाम धारण करलेता है। योगमाया ही योगेश्वर की योगेश्वरता है। यही सकल प्रजापति सोलह योगकलाओं के सम्बन्ध से षोडशी नाम से प्रसिद्ध है—“षोडशकलं वा इदं सर्वम्” (कौ० ब्रा० ८।१)। इसी दूसरी आत्मसंस्था का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।

प्रजापतिः प्रजया संसराणस्त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी ॥

—यजुः सं० ८।३६

पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, सोलहवाँ अर्द्धमात्रिक वही परात्पर, इन की समष्टि ही षोडशी प्रजापति है। मायोपाधिक निष्कल महेश्वर एवं कलोपाधिक सकल योगेश्वर, दोनों की एक संस्था है। यही अमृतासंस्था-पुरुषसंस्था-अमृतात्मसंस्था इत्यादि अनेक नामों से व्यवहृत की जा सकती है। आरम्भ की अमृतात्मोपनिषत् में इसी संस्था का स्पष्टीकरण किया गया है।

कलाभाव के पीछे 'गुण' एवं 'विकार' नामक दूसरा आत्मपरिग्रह युग्म आता है इसका प्रधान सम्बन्ध-अक्षर मूर्ति प्रकृति भाव के साथ है। इसी अभिप्राय से—“विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्” (गी० १३।१६) यह कहा जाता है। गुण भाव के उदय से सत्यप्रजापति का उदय होता है। वही-पुरुषात्मा सर्व-गुणसम्पन्न बनता हुआ (सत्व-रजः-तमोगुण से युक्त होता हुआ) सत्यप्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगता है। विकार सम्बन्ध से (पञ्चीकृत गुणभूतों के समन्वय से) वही सत्य प्रजापति सविकार बनता हुआ 'यज्ञप्रजापति' नाम से व्यवहृत होने लगता है। सत्य के आधार पर ही यज्ञ प्रतिष्ठित है। सत्य त्रयीवेदात्मक है। त्रयीवेद ही त्रेताग्नियज्ञ की मूल प्रतिष्ठा है। मौलिक वेद सत्य प्रजापति है, जैसा कि पूर्व की 'यज्ञात्मोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी आधार पर “सैषा त्रयी विद्या यज्ञः” (शत० ११।४।३) “ते देवा अब्रुवन् यज्ञकृत्वा सत्यं तनवामहे” (शत० ६५।१।-१८) इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित है। महेश्वर-योगेश्वर का समन्वितरूप अव्यय प्रधान, अतएव अमृत

नामक पुरुष था। सत्य-यज्ञ-प्रजापति का समन्वितरूप अक्षर प्रधान, अतएव ब्रह्म नामक मूलप्रकृति संस्था है। ब्रह्म शब्द वृंहण भाव का सूचक है। 'यतो वृंहणं भवति तद् ब्रह्म' "विभर्ति सर्वं तद् ब्रह्म" इत्यादि के अनुसार 'भस्म' ही निरुक्त क्रमानुसार 'ब्रह्म' बना हुआ है। 'वृह' धातु से 'मन्' प्रत्यय करने से भी 'ब्रह्म' शब्द निष्पन्न हो जाता है। जो तत्त्व उपादान कारण बनता हुआ स्वस्वरूप से अविकृत रहता है, उसी अविकृत परिणामवाद के लिए "वृंहण" शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार मकड़ी स्वस्वरूप से अविकृत रहती हुई जाल का उपादान कारण बनती है, एवमेव गुण-विकारयुक्त सत्य यज्ञात्मक अक्षर स्व-स्वरूप से सर्वथा अविकृत रहता हुआ उपादान बनता है। इसी वृंहण भाव के कारण इसे ब्रह्म कहा जाता है,—“तथाऽक्षराद्विधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति” (मुण्डक) “अथातो ब्रह्म जिज्ञासा” यहाँ ब्रह्म शब्द से जन्मस्थितिभङ्ग-हेतुभूत प्रकृतिरूप सत्ययज्ञात्मक गुणविकारमय इसी अक्षर ब्रह्म का ग्रहण समझना चाहिए।

गुण विकार के अनन्तर आवरण-अञ्जनरूप तीसरा परिग्रह युग्म आता है। स्वच्छ आवरण अञ्जन है, मलिन आवरण आवरण है। कांच दीपक का अञ्जन है घट सावरण-साञ्जनभावप्रवर्तक दीपक का-आवरण है। कांच के आवरण से दीपप्रभा एकान्ततः अवरुद्ध 'आवरण-अञ्जन' परिग्रह नहीं होती, परन्तु-घट के आवरण से दीप प्रकाश सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है, अञ्जन और आवरण में यही अन्तर है। इन में आवरण ही जड़भाव का प्रवर्तक माना गया है। यज्ञप्रजापति ही अञ्जन परिग्रह से विराटरूप में परिणत होता है। इस के ईश्वर एवं जीव भेद से दो विवर्त हैं। सात्त्विक अञ्जन से ईश्वर विराट् का उदय होता है, एवं पाप्मा नाम से प्रसिद्ध तामस अञ्जन से जीव भाव का उदय-होता है। ईश्वरीय अञ्जन विभूति नाम से प्रसिद्ध है। इस के लोक-वेद-देव-भूत-पशु, ये पांच अवान्तर भेद हैं। इन पांचों विभूति-अञ्जनों से युक्त यज्ञप्रजापति ही ईश्वर विराट्-प्रजापति है। यही अंशात्मना १-पर्याय, २-ऊर्मि, ३-आशय, ४-अवस्था, ५-क्लेश, ६-कर्म, ७-विपाक इन सात पाप्मारूप तामस अञ्जनों से जीव विराटरूप में परिणत हो जाता है। ईश्वर नित्यमुक्त है। वह कभी मुक्त रहे, कभी बन्धन में रहे, इस पर्याय शब्द का उस में अभाव है, परन्तु जीव विद्याक्रमानुसार कभी बन्धपर्याय से युक्त रहता है, कभी मुक्तपर्याय से युक्त रहता है। ईश्वर में क्षुधा-पिपासा-शोक-मोह-जरा-व्याधि इन ६ ओं ऊर्मियों का (उच्चावच लहरों का) अभाव है, वह एक रस है। ईश्वर जीव इन ६ ओं से नित्ययुक्त है। ईश्वर में भावना-वासनात्मक ज्ञान-कर्म संस्काररूप दोनों आशयों का अभाव है। जीव दोनों से युक्त है। ईश्वर नित्यप्रबुद्ध, निर्विकल रहता हुआ जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-मोह-मूर्च्छा-मृत्यु इन ६ ओं अवस्थाओं से वियुक्त रहता है, जीव ६ ओं से युक्त रहता है। ईश्वर नित्य कर्ममठ बनता हुआ भी बुद्धियोग प्रभाव से कर्मलेश से पृथक् रहता हुआ कर्म-विरहित कहलाता है। परन्तु जीव यज्ञ-तपो-दान लक्षण विद्यासमुच्चित प्रवृत्ति सत्कर्म, इष्ट-आपूर्त, दत्त-लक्षण विद्यानिर-पेक्ष प्रवृत्ति सत्कर्म, सुरापान-अगम्यागमन-वृथाहिंसा-स्तेय-भ्रूणहत्या-श्लक्ष्ण धनोपार्जन, आदि शास्त्र निषिद्ध विकर्मरूप असत्-कर्म, जलताड़न-कराघात-पादभ्रमण-तृणच्छेदन-वृथाहास्य आदि शास्त्राप्रतिवि-द्वाविरहित अकर्म (निरर्थककर्म) रूप असत् कर्म, एवं सर्वकर्ममूर्द्धन्य बुद्धियोग लक्षण, अतएव मुक्ति-साधक निष्काम कर्म, इन कर्मों में से किसी न किसी कर्मानुष्ठान में नित्य रत रहता है। ईश्वर जाति-

आयु-भोग इन तीनों कर्मविषाकों से पृथक् रहता है, इधर जीव कर्मपरिष्ठाकस्वरूप योनि-आयु-भोग से नित्य युक्त रहता है। इसका जैसा कर्म-परिणाम होता है वसी के अनुसार योनि मिलती है, तदनुसार ही आयु मिलती है, तदनुसार ही भोग्यसंपत्ति मिलती है। तीनों का जन्म से सम्बन्ध है। इसी आधार पर निम्नलिखित सूक्ति प्रचलित है—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

जीवत्व संपादक उपर्युक्त पाप्माप्रों का आगे सोपपत्तिक स्पष्टीकरण होने वाला है। यहाँ केवल यही बतलाना है कि, अञ्जन की ही तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। ऐसा अञ्जन, **विभूति तथा पाप्मा** जो प्रकाश का अवरोधक न बने, उसे 'विभूति' कहा जायगा। ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का अवरोधक तो न हो, परन्तु प्रकाश को मलिन कर दे, वह 'पाप्मा' कहलायगा, एवं ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश को ही रोक दे, वह 'आवरण' कहलाएगा। इनमें विभूति अञ्जन ईश्वर स्वरूप समर्पक है। पाप्माञ्जन जीवस्वरूप समर्पक है, एवं आवरण विश्व एवं शरीर स्वरूप समर्पक है। आवरण से ही विश्वरूप ईश्वर का शरीर बनता है एवं आवरण से ही शरीररूप जीव के विश्व का निर्माण होता है। श्वेत दर्पण दीपक के लिये विभूतिरूप अञ्जन है। कृष्ण दर्पण दीपक के लिए पाप्माञ्जन है एवं चारों ओर से कज्जल से सर्वथा लिप्त दर्पण दीपक के लिये आवरण है।

जीव प्रजापति को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिए, केवल ईश्वर विराट्प्रजापति को ही अपना लक्ष्य बनाइए। यह कहा जा चुका है कि, अञ्जन नाम के पाँचवें परिग्रह से वही **विराट्प्रजापति** यज्ञप्रजापति विराट् प्रजापति बन जाता है। यहाँ तक आत्मज्योति का अपेक्षया विकास रहता है, अतः आत्मा किंवा चेतन व्यवहार इस विराट् संस्था-पर्यन्त ही रहता है, आवरण से आत्मविकास एकान्ततः अवरोध हो जाता है, जड़भाव का उदय हो जाता है। यही ६ ठा विश्वप्रजापति है यही उस विराट् प्रजापति का शरीर है। भौतिक क्षर प्रधान मर्त्य विश्व ही विश्व-प्रजापति है। एक बात का विशेष ध्यान रखिए। पूर्व-पूर्वसंस्था उत्तर की संस्था से परिगृहीत रहती है। आवरण विश्वप्रजापति में साञ्जन विराट्, सविकार यज्ञ सगुण सत्य, सकल षोडशी, मायी महेश्वर, चारों अन्तर्भूत हैं। सविकार यज्ञप्रजापति में सगुण सत्य, सकल षोडशी, मायी महेश्वर, तीनों अन्तर्भूत हैं। सगुण सत्यप्रजापति में सकल षोडशी, मायी महेश्वर, दोनों अन्तर्भूत हैं। सकल षोडशी मायी महेश्वर से नित्य युक्त है। मायी महेश्वर और अमायी परात्पर एक वस्तु है। विशुद्ध परात्पर विशुद्ध आत्मा है। ब्रह्मी परिग्रहवश उक्त संस्थाओं परिणत हो रहा है—“आत्मैवेदं सर्वम्, ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, एकं वा इदं विब्रभूव सर्वम्”, इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों का कौन विरोध कर सकता है ?

परात्पर ही एकमात्र आत्मा है, विश्वप्रजापति ही एकमात्र शरीर है। शेष मध्य की महेश्वर-षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराट्, ये पाँचों संस्थाएँ आत्मन्वी (शरीरविशिष्ट आत्मा) हैं। परात्परात्मा का कोई शरीर नहीं है। वह विभु है, सर्वमहान् है—“महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति” श्रुति

ने इस विभु (व्यापक) के लिए 'मत्वा' कहा है, 'ज्ञात्वा' नहीं कहा । वह केवल सत्तादृष्टया मानने की ही वस्तु है, जानने की नहीं । ज्ञान तो ससीम आत्मा का ही होता है । महेश्वर आत्मन्वी है । स्वयं निष्कल महेश्वर इस आत्मन्वीभाव का आत्मा है, षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराट्-विश्व इन पाँचों की समष्टि इस महेश्वरात्मा का शरीर है । वह पूर्णपुरुष सर्वत्र समानरूप से वृक्षवत् स्तब्ध रहता हुआ व्याप्त हो रहा है । इसी महेश्वरात्मा की व्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

यस्मात् पर नापरमस्ति किञ्चित्-यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।

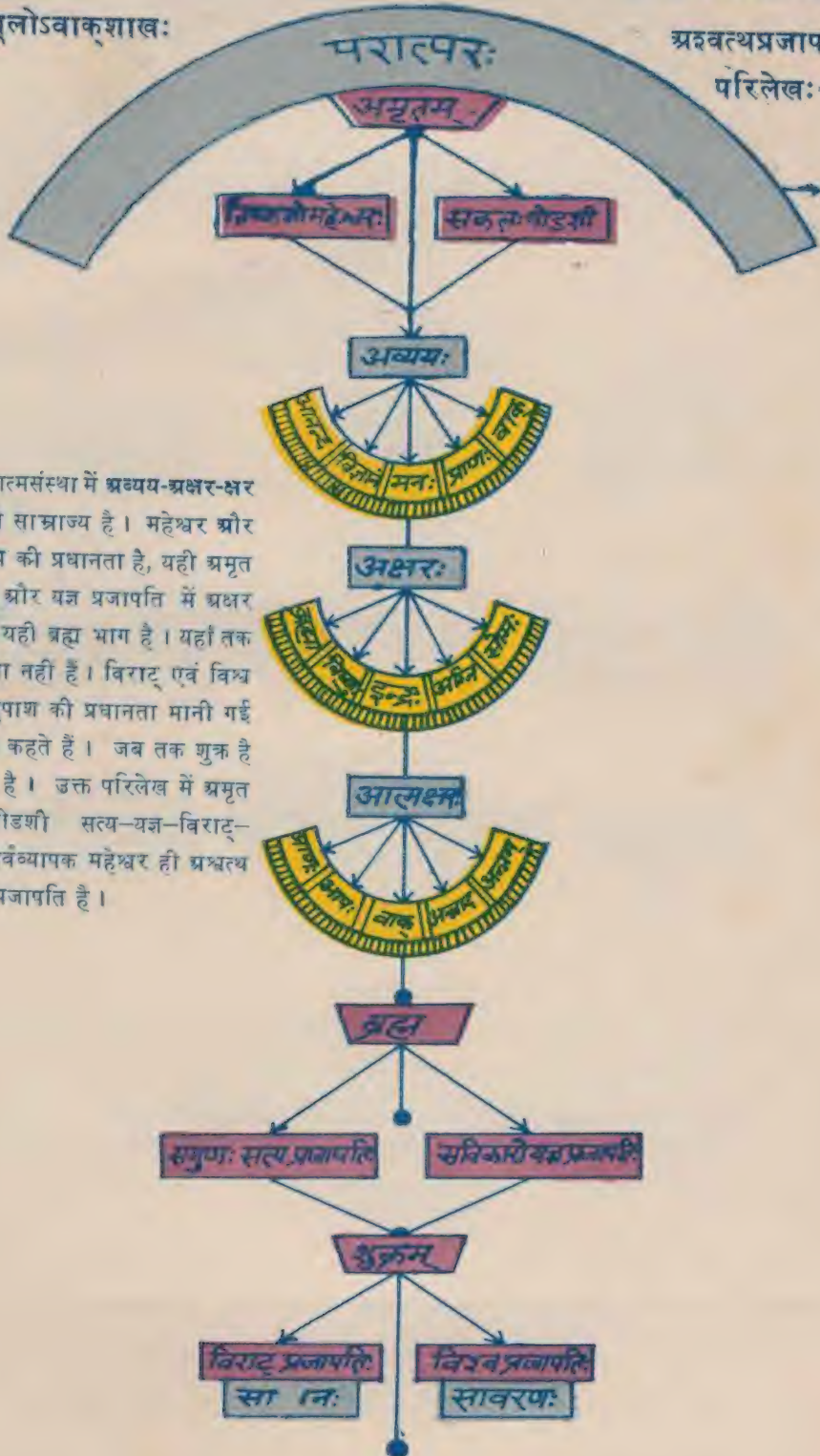
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥—श्वे० उ० ३।६

महेश्वरगर्भित षोडशी आत्मा है, सत्य-यज्ञ विराट् विश्वसमष्टि शरीर है । यही दूसरा आत्मन्वी है । महेश्वर-षोडशीगर्भित सत्यप्रजापति आत्मा है, यज्ञ-विराट् विश्व समष्टि सर्वधर्मोपपन्न पुरुषात्मा शरीर है, यही तीसरा आत्मन्वी है । महेश्वर-षोडशी-सत्यगर्भित यज्ञप्रजापति आत्मा है, विराट्-विश्व समष्टि शरीर है । यही चौथा आत्मन्वी है । महेश्वर-षोडशी-सत्य-यज्ञगर्भित विराट्प्रजापति आत्मा है, विश्व इसका शरीर है, यही पाँचवाँ आत्मन्वी है । मायादि छत्रों धर्मों की समष्टि विश्वप्रजापत्यवच्छिन्न महेश्वर प्रजापति के साथ ही सम्बन्ध रखती है । वहाँ से यहाँ तक एक ही आत्मतत्त्व व्याप्त है । यही सर्वधर्मोपपन्न नाम का दूसरा पदसंस्थ आत्मन्वी विवर्त्त है । निर्धर्मक विशुद्ध आत्मा दूसरा विवर्त्त है । आत्मसम्बन्ध में ये ही दो प्रधान दृष्टियाँ हैं ।

सर्वधर्मोपपन्न आत्मसंस्था में अव्यय-अक्षर-क्षर, इन तीनों का ही साम्राज्य है । महेश्वर, और षोडशी में अव्यय की प्रधानता है यही अमृतभाग है । सत्य और यज्ञ प्रजापति प्रजापति-चतुष्टयी में अक्षर की प्रधानता है, यही ब्रह्मभाग है । यहां तक तो मृत्यु की प्रधानता नहीं है । अमृतात्मा में मृत्यु का बन्धन हो जाना ही मृत्युपाश है । विराट्, एवं विश्व में क्षरमूर्ति इसी मृत्युपाश की प्रधानता है । यही तीसरा शुक्रविवर्त्त है । जब तक शुक्र है, तभी तक संसार है । शुक्र अतिक्रमण है—विश्वातिवर्त्तन है—“उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः” । वही आत्मा अव्ययरूप्या अमृत (महेश्वर-षोडशी) है, वही आत्मा अक्षररूप्या ब्रह्म (सत्य-यज्ञ) है, वही क्षररूप्या शुक्र (विराट्-विश्व) है । अमृतब्रह्मशुक्रमूर्ति-षोडशी सत्य-यज्ञ-विराट्-विश्वावच्छिन्न सर्वव्यापक महेश्वर ही अश्वत्थ प्रजापति है । यही आरम्भ में बतलाई गई पहली प्रजापति-संस्था है । महेश्वर-षोडशीयुक्त सत्यप्रजापति विश्वेश्वर नाम की दूसरी प्रजापतिसंस्था है । महेश्वर-षोडशी-सत्य-यज्ञ गर्भित विराट्प्रजापति उपेश्वर नाम की तीसरी-प्रजापतिसंस्था है, एवं महेश्वर-षोडशी-सत्य-यज्ञगर्भित विराट्प्रजापति ईश्वर नाम की चौथी प्रजापतिसंस्था है । इन चारों प्राजापत्यसंस्थाओं का पूर्व के चित्रों से भलीभांति स्पष्टीकरण हो जाता है एवं उपर्युक्त सम्पूर्ण विषय का परिलेखों से स्पष्टीकरण हो रहा है ।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः

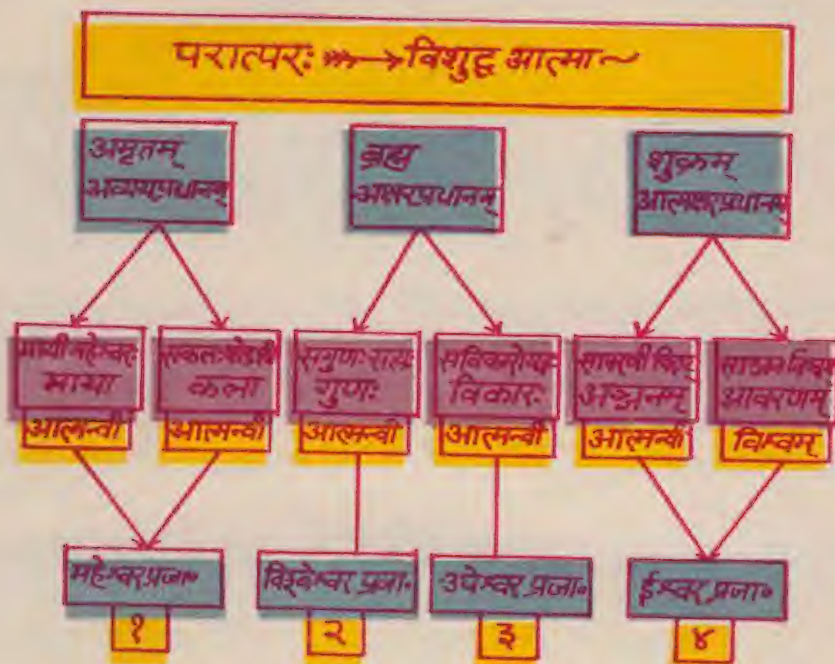
अद्वैतप्रजापति
परिलेखः—



सर्वधर्मोपपन्न आत्मसंस्था में अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीनों का ही साम्राज्य है। महेश्वर और पोडशी में अव्यय की प्रधानता है, यही अमृत भाग है। सत्य और यज्ञ प्रजापति में अक्षर की प्रधानता है, यही ब्रह्म भाग है। यहाँ तक मृत्यु की प्रधानता नहीं है। विराट् एवं विश्व प्रजापति में मृत्युपाश की प्रधानता मानी गई है। इसे ही शुक्र कहते हैं। जब तक शुक्र है तभी तक संसार है। उक्त परिलेख में अमृत ब्रह्म-शुक्रमूर्ति-पोडशी सत्य-यज्ञ-विराट्-विश्वानिच्छित्त सर्वव्यापक महेश्वर ही अद्वैत प्रजापति है।

सर्वप्रजापति परिलेखः—

षट्परिग्रहोपेतः—सर्वमूर्तिः



सर्वमूर्ति-सर्वप्रजापति परात्परात्मा का कोई शरीर नहीं होता है। विष्णु परात्पर ही विष्णु आत्मा कहलाता है। परात्पर मायाबल की कृपा से क्रमशः अमृत-ब्रह्म-शुक्ल इन तीन स्वरूपों को धारण कर लेता है। यह परात्परात्मा अव्ययदृष्ट्या अमृत (महेश्वर षोडशी) है, अक्षरदृष्ट्या ब्रह्म (सत्य-यज्ञ) है वही यह आत्मा क्षरदृष्ट्या शुक्ल (विराट्-विश्व) है। इसमें अमृतब्रह्मशुक्लमूर्तिषोडशी सत्य-यज्ञ विराट्विश्वच्छिन्न सर्वव्यापक महेश्वर ही पहली प्रजापति संस्था है। दूसरी विश्वेश्वर तीसरी उपेश्वर व चतुर्थ प्रजापति संस्था ईश्वर है।

- १—१—मायापरिग्रहः—मायीमहेश्वरो निष्कलः—आत्मन्वी } —महेश्वरप्रजापतिः १
- २—२—कलापरिग्रहः—सकलः षोडशी—आत्मन्वी }
- ३—१—गुणपरिग्रहः—सगुणः सत्यप्रजापतिः—आत्मन्वी } —विश्वेश्वरप्रजापतिः २
- ४—२—विकारपरिग्रहः—सविकारो यज्ञप्रजापतिः—आत्मन्वी } —उपेश्वरप्रजापतिः ३
- ५—१—अञ्जनपरिग्रहः—साञ्जनो विराट्प्रजापतिः—आत्मन्वी } —ईश्वरप्रजापतिः ४
- ६—२—आवरणपरिग्रहः—सावरणो विश्वप्रजापतिः—विश्वम् }

प्रसंगागत यह जान लेना भी अनुचित न होगा कि आज जो भिन्न भिन्न * दर्शनों में विरोध पाया जाता है, उसका मुख्य कारण भी उपर्युक्त आत्मसंस्थाओं का विवेकाभाव ही है। यदि आत्मसंस्थाओं का पार्थक्य समझ लिया जाता है, तो भिन्न भिन्न, एक एक आत्मसंस्था को प्रधान मानकर साथ ही में गौरुरूप से इतर आत्मसंस्थाओं का भी दिग्दर्शन कराने वाले दर्शनों में कोई विरोध नहीं रह जाता। इस दृष्टि में जो महत्त्व आस्तिक दर्शन का है, वही महत्त्व नास्तिक दर्शन का है। यहाँ दर्शन चर्चा अप्राकृतिक है, अतः तालिकारूप से ही प्रकृत में दर्शनों का समन्वय बतला दिया जाता है।

- | | | |
|-------------------------------------|----------------------|--------------------------|
| १—परमात्मरोपासकाः | → परात्परानुयायिनः | → परमास्तिका गीताचार्याः |
| २—अव्ययात्मोपासकाः | → पुरुषात्मानुयायिनः | → वेदान्तिनः |
| ३—अक्षरानुगृहीतात्माक्षरोपासकाः | → सत्यात्मानुयायिनः | → सांख्याः |
| ४—आत्माक्षरानुगृहीतविकारक्षरोपासकाः | → यज्ञात्मानुयायिनः | → वैशेषिकाः |
| ५—विकारक्षरानुगृहीतवैकारिकोपासकाः | → विराडात्मानुयायिनः | → साम्प्रदायिकाः |
| ६—वैकारिकविश्वोपासकाः | → विश्वानुयायिनः | → लौकायतिकाः |

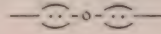
—:❀:—

- १—विश्व-विराट्-यज्ञ-सत्य-षोडशीप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्न-आत्मन्वी —मायी महेश्वरः
- २—विश्व-विराट्-यज्ञ-सत्यप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नमहेश्वरात्मगर्भितः-आत्मन्वी —सकलः षोडशीप्रजापतिः

* इस विषय का विवद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' २ खण्ड 'क' विभाग 'आत्मपरीक्षा' में देखना चाहिए।

❀ तदित्यं स्वस्वात्मसंस्थाविषयेषु सादोप-सन्नद्धास्तेऽस्मि-आत्मविचारपरकाः सर्वथा अविद्वद्वाः, इति सर्वेषामात्मानात्मदर्शनानां याथार्थ्येन समन्वयो द्रष्टव्यः ।

३-विश्व-विराट्-यज्ञरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरपोडशीगमितः-आत्मन्वी	—सगुणः सत्यप्रजापतिः
४-विश्व-विराट्-रूपशरीरावच्छिन्न महेश्वरपोडशी सत्यगमितः-आत्मन्वी	—सविकारो यज्ञप्रजापतिः
५-विश्वशरीरावच्छिन्नो महेश्वरपोडशीसत्ययज्ञगमितः-आत्मन्वी	—साञ्जनो विराट्प्रजापतिः
६-महेश्वरपोडशीसत्ययज्ञविराट्गमितस्तत्कृतात्मा	—सावरणो विश्वप्रजापतिः



इस प्रकरण में प्रधानरूप से हमें जीवात्मा का स्वरूप बतलाना है। जीवात्मा का वैज्ञानिक स्वरूप तो आगे जाकर स्पष्ट होगा ही, परन्तु बहुत दिनों से चली आने वाली दार्शनिक भावना के अनुसार भी जीवात्मा का संक्षिप्त स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। जीवात्मा ईश्वरात्मा का अंश है एवं उपाधिभेद से वह ताना (अनेक) है। इस जीवानात्त्वपक्ष को इष्टमूल बनाने हुए निम्नलिखित वेदान्तसूत्र हमारे सामने आते हैं।

१-“अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके” ॥

२-“मन्त्रवर्णाच्च” ॥

३-“अपिच स्मर्यते” ॥ —शा० सू० २ अ० । ३ पा० । १७ अधि० । ४३-४४-४५ सू०

महामायी पूर्ण पुरुष का स्मरण कीजिए। इसे ही हमने महेश्वर कहा है। सम्पूर्ण प्रपञ्च इसी महेश्वर की विभूति है। यही विशुद्ध अव्यय पुरुष है। यह पुरुष पुरुषत्वेन सर्वथा अजन्मा है। केवल अव्यय जीवरूप से कभी जन्म नहीं लेता। अपितु जीवभाव में परिणत होने के लिए इसे स्वभावभूत, अन्तरंग-प्रकृति नाम से प्रसिद्ध श्रयुक्त अव्यक्त अक्षर का आश्रय लेना पड़ता है, जैसा कि पूर्णेश्वर कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्यमात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ (गी० ४।६) ।

प्रकृतिविशिष्ट वही महेश्वर पुरुष षोडशकल बनता हुआ षोडशीप्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इस पुरुषात्मा चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास की सृष्टिश्रारा के सम्बन्ध में प्रधानरूप से चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास, ये तीन विवर्तभाव होते हैं। सर्वव्यापक सहस्रबलेश्वर षोडशीपुरुष ही चिदात्मा है। दूसरे शब्दों में हम महेश्वर को चिदात्मा कह सकते हैं। यह वृक्षवत् स्तब्ध है, इसमें यत्किञ्चित् भी गति नहीं है। यह नित्य कूटस्थ है। यह सर्वथा अजन्मा है। जीवस्वरूप का इस व्यापक चिदात्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवात्म-प्रकरण में सर्वव्यापक इस चिदात्मा का, पूर्ण-पुरुष का भी नाम ग्रहण उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे कि तत्सम निरञ्जन विश्वातीत परात्पर की चर्चा सर्वथा

व्यर्थ है। अतएव इसे हम यहीं छोड़कर चिदंश की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। यह चिदंश प्रत्यगात्मा शारीरकात्मा, भेद से दो भागों में विभक्त है। विराट्-वैश्वानर-हिरण्यगर्भमूर्ति, स्तोम्य त्रिलोकी में व्याप्त, जिस ईश्वर प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, जीवात्मा उसी का अंश है। वह ईश्वर किंवा चित्तत्त्व दो प्रकार से शरीरसंस्था में प्रविष्ट होता है। ईश्वर का जो अंश (चिदंश) प्रवर्ग्य बनकर अन्तर्यामि (ग्रन्थिबन्धन) सम्बन्ध से शरीर में प्रतिष्ठित होता है, वह तो शारीरपाप्माओं से संसृष्ट हुआ हुआ "शारीरकात्मा" (शरीराभिमानी जीवात्मा) कहलाता है, एवं जो चिदंश प्रवर्ग्य बनता हुआ केवल साक्षीरूप से बहिर्ग्राम (योग) सम्बन्ध से शरीरसंस्था में प्रविष्ट होता है, वह शरीरोपाधियुक्त प्रतीत होता हुआ भी शरीरबन्धन से, शरीरपाप्माओं से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ "प्रत्यगात्मा" नाम से प्रसिद्ध होता है। दोनों की प्रतिष्ठाभूमि एक ही शरीरघटि है। दोनों हृदय में प्रतिष्ठित हैं। केवल प्रतिष्ठा में तारतम्य है। एक निर्लेप है, दूसरा सलेप है। एक साक्षी है, दूसरा भोक्ता है।

प्रकारान्तर से यों समझिए कि, व्यापक चिदात्मा का शरीर के साथ विभूति सम्बन्ध है। ईश्वरात्मरूप त्रैलोक्यव्यापक चिदात्मा का चिदंशरूप से शरीर के साथ योग सम्बन्ध योग-बन्ध-विभूति है, एवं प्रवर्ग्यभूत चिदंश का शरीर के साथ बन्ध सम्बन्ध है। विभूतिसम्बन्धावच्छिन्न व्यापक चिदात्मा निग्रहानुग्रह से परे रहता हुआ केवल आलम्बनमात्र है, आश्रयण है, खंब्रह्म है, अविचाली है, एक प्रकार से शाश्वत ब्रह्म (परात्पर) ही है। योगसम्बन्धावच्छिन्न चिदंश निग्रहानुग्रह का अधिष्ठाता है। इसी की शक्ति से जीवात्मा सञ्चालित है। उसका सर्वत्र समान वैभव था, इसका एकमात्र हृदय के साथ योग है। इसी चिदंशरूप प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया (योगमायया) ॥ (गीता १८।६१)

बन्धसम्बन्धावच्छिन्न चिदंश ही शरीराभिमानी जीवात्मा है। प्रत्येक शारीरक आत्मा के लिए प्रत्यगात्मा स्वतन्त्र है। स्वस्वनियति-भेद से प्रत्येक का प्रत्यगात्मा शारीरकात्मा की भांति शरीरोपाधिभेद से पृथक् बन रहा है। इस चिदंशरूप प्रत्यगात्मा को यद्यपि शरीरोपाधियुक्त बतलाया जाता है, परन्तु वस्तुतः यह जीवमान में समान है। जीवशरीर में रहता हुआ जीवग्रहकारी यह चिदंश जीवमात्र का अनुग्रहाहक है। चिदंशभूत प्रत्यात्मा एवं चिदंशरूप ही शारीरकात्मा के स्वरूप परिचय के लिए उदाहरणार्थ सौरसंस्था पर दृष्टि डालिये।

जलपूर्णपात्र, दर्पण, स्फटिकमणि, आदि के साथ सूर्यज्योति का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध आतप (चमक-ज्योति-प्रकाश) एवं प्रतिबिम्ब भेद से दो भागों में विभक्त है। जल-दर्पणदि पर सूर्य का (क्षेत्रविन्यास के अनुसार) प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित होता है। यह प्रतिबिम्ब शरीरोपाधिकृत विलक्षण सम्बन्ध से वहीं बन्धन में आता हुआ प्रति पात्रादि भेद से पृथक् पृथक् बन जाता है। एक पात्र को तोड़ दीजिए, केवल उसीके प्रतिबिम्ब का विलयन होगा, शेष पात्रों के प्रतिबिम्ब ज्यों के त्यों अक्षुण्ण रहेंगे।

सब प्रतिबिम्ब उस एक ही सूर्य के अंश हैं परन्तु पात्र-आधार भेद से एवं आधारों के धर्मभेद से वह एक ही प्रवर्ग्यरूप से नानारूपों में परिणित हो रहा है। इन प्रतिबिम्बों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतिबिम्बभाव के अतिरिक्त प्रत्येक पात्र-दर्पणादिरूप शरीर के साथ त्रैलोक्य में व्यापक सूर्य के आतप भाग (ज्योतिर्भाग) का भी सम्बन्ध होता है। यह आतप भी यद्यपि देखने में तत्तच्छरीरपर्याप्त है, परन्तु प्रतिबिम्बवत् वह उस पात्र में प्रवर्ग्यरूप से प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव इसे हम त्रैलोक्यव्यापक एक ही सर्वसाधारण-सर्वसमान तत्त्व कहेंगे। यही परिस्थिति जीवेश्वर के सम्बन्ध में समझिए। विश्व-व्यापक चिदात्मा सूर्यस्थानीय है। वह स्वस्वरूप से सर्वथा अजन्मा है। इस व्यापक चिदात्मा के चिदंश का सम्बन्ध प्रतिशरीर के साथ चेतनारूप से एवं चिदाभासरूप से, दो दो प्रकार से होता है। चेतना (चिज्योति-चित्प्रकाश) को आतपस्थानीय समझिए एवं चिदाभास को प्रतिबिम्बस्थानीय समझिए। यद्यपि चेतनारूप चिदंश तत्तच्छरीर में आतपवत् व्याप्त है तथापि यह प्रवर्ग्य सम्बन्ध से वहां ग्रन्थिभाव-रूप से प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव स्थूलदृष्ट्या शरीरोपाधिक किंवा शरीरपरिच्छिन्न बनता हुआ भी यह सर्वशरीर साधारण है। प्रतिशरीर में व्याप्त उस चिदात्मा से अभिन्न यह ईश्वर तत्त्व जीवसहयोग से यथाकथंचित् जीवशब्द से भी व्यवहृत किया जा सकता है। यह “ज” है, दूसरा चिदाभास “अज्ञ” है। यह प्रवर्ग्यरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ प्रतिशरीर में भिन्न है। इन दोनों में प्रत्यगात्मरूप चेतना-भाव को लक्ष्य में रख कर ही—“अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्” (गी० १३।१६) “समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्” (गी० १२। २७) “आत्मादेवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः” ऋक्सं० (१०। १५८। ४) इत्यादि कहा जाता है। वेदान्तदर्शन इसी सर्वसाधारण प्रत्यगात्मा को आत्मा (जीवात्मा) मानता हुआ जीवनानात्त्व का खण्डन करता है। उधर प्रतिशरीर में क्षेत्रभेद से सर्वथा विभिन्न जीवात्मा का ही निरूपण करने वाला सांख्यदर्शन जीव नानात्त्व का अनुगमन कर रहा है। इस प्रकार यह भवीभांति सिद्ध हो जाता है कि, एकमात्र चिदात्मा ही चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शरीरकआत्मा-भेद से तीन भावों में परिणित होकर सब कुछ बन रहा है। इन तीनों में हमारे आत्म-प्रकरण में चिदात्मा बहिष्कृत है, प्रत्यगात्मा एवं शरीरक आत्मा ग्राह्य हैं। दोनों नित्य सहाचारी हैं। एक असंग है, दूसरा संग है। इनके इसी साहचर्यका द्विगुणन कराते हुए भगवान् व्यास कहते हैं—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१॥

कर्मर्मात्मत्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।

स ॥ सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते सदा ॥२॥

॥ ५—ज्ञानेन्द्रियाँ, ५—कर्मेंद्रियाँ, ५—विषय, १—बुद्धि तथा १—मन, इनकी समष्टि से जीवात्मा नित्ययुक्त रहता है ।

दार्शनिक दृष्टि से चिदाभासरूप कर्मात्मा का विवेचन हो चुका । अब विज्ञानदृष्टि से जीवात्म-स्वरूप का विचार किया जाता है । जीवात्मा ईश्वरप्रजापति का ही अंश है, यह निर्विवाद है । साथ ही में पूर्व प्रतिपादित चारों प्रजापतियों में से विराट्-हिरण्यगर्भ—सर्वज्ञमूर्ति स्तोम्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित तत्त्व का ही नाम ईश्वर प्रजापति है, यह भी सिद्ध विषय है । एतदंशभूत जीवात्म-स्वरूपपरिचय के लिए एकमात्र इसी त्रैलोक्य व्यापक ईश्वरप्रजापति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

“यदि मन्यसे सुवेदेति दध्मेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् । यदस्य त्वं, यदस्य च देवेषु, अथ
नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् । अन्यदेव तद्वि-
विदित-प्रविदित-विदिताविदितातीत-आत्मविवर्त्त तादथो अविदितादधि”—(केनोपनिषत्) इत्यादि
औपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार आत्मविवर्त्त

विदितात्मा, अविदितात्मा, विदिताविदितातीतात्मा भेद से तीन भागों में विभक्त है । हम जानते हैं, कर्म करते हैं, ज्ञानकर्माश्रित अर्थों का ज्ञानकर्म द्वारा उपभोग करते हैं । जानना ज्ञानशक्ति है, करना क्रियाशक्ति है । ज्ञानकर्माश्रित तीसरा भाव अर्थशक्ति है । इन तीनों ही भावों का आपामर-आविद्वज्जन आबालवृद्ध, सभी को समानरूप से प्रत्यक्ष है । इन तीनों शक्तियों का विकास क्रमशः मघवा इन्द्र, मात-रिश्व वायु, अग्नि, इन तीन देवताओं से हुआ है । अग्नि अर्थशक्ति की प्रतिष्ठा है, वायुदेवता क्रियाशक्ति का प्रवर्त्तक है एवं इन्द्र ज्ञान के सञ्चालक हैं । इन तीनों देवताओं की समष्टि ही देवता सम्बन्ध से “देवसत्यात्मा” नाम से प्रसिद्ध है । यह अवरात्मा सबके लिए सर्वथा विदित है । ज्ञानक्रियार्थमूर्ति, इन्द्र-वाय्वग्निमय, इस देवसत्यात्मा का अनुभव पूर्वकथनानुसार सभी को हो रहा है । इसी आधार पर इसे—“विदितात्मा” कहा जा सकता है । इन तीनों की आधारभूमि पञ्चप्रकृतिक ब्रह्मसत्यात्मा है । अव्यक्त-यज्ञ-विज्ञान-महान्-भूतात्मा, इन सुप्रसिद्ध पांच पर्वों की समष्टि ही ब्रह्मसत्यात्मा है । शास्त्रज्ञानविरहित साधारण मनुष्यों के लिए यह आत्मा अविज्ञात (न जाना हुआ) है अतएव इसे “अविदितात्मा” कहा जा सकता है । तीसरा विश्व-व्यापक पुरुषात्मा स्वानुभवेकगम्य होने से विदित-अविदित, दोनों कोटियों से परे रहता हुआ विदिताविदितातीतात्मा है । यही “यदस्य त्वम्” वाक्य से अभिनीत ब्रह्मसत्यात्मा की प्रतिष्ठा है यही “यदस्य च देवेषु” इस वाक्य से अभिनीत देवसत्यात्मा का आलम्बन है । ये दोनों ही सोपाधिक बनते हुए मीमांस्य हैं । यदि आत्मशब्द से आपने इन्हीं ब्रह्म-देव विवर्त्तों को आत्मा समझा है, यदि इन्हीं के परिज्ञान से आप अपने को सुवेदा (आत्मजानी) मान रहे हैं, तो विश्वास कीजिए ! अभी आपने आत्मा का स्वरूप बहुत दध (थोड़ा) समझा है । जिसके चिदंश से यह आत्मकोटि में प्रविष्ट हो रहे हैं, वह विदिताविदितातीत षोडशीपुरुष ही मुख्य आत्मा है । देवसत्यात्मा, ब्रह्मसत्यात्मा, दोनों इसी आत्मब्रह्म की विजय से महिमाशाली बन रहे हैं—“ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम् ।” यह पुरुषब्रह्म पुरुष है, अव्ययप्रधान है । ब्रह्मसत्य अक्षरप्रधान है एवं देवसत्य क्षरप्रधान है । पुरुषब्रह्म को ही पूर्व में महेश्वरप्रजापति कहा गया है, ब्रह्मात्म्य को ही समष्टिरूप से विश्वेश्वरप्रजापति एवं व्यष्टिरूप से उपेश्वर-प्रजापति कहा गया है एवं देवसत्य को ही विराट्मूर्ति ईश्वरप्रजापति कहा गया है । इन चारों संस्थाओं में से कर्मात्मा के साथ ईश्वरप्रजापतिरूप देवसत्यात्मा का ही सम्बन्ध है । आत्मपरिभाषाज्ञान के अभाव से देवसत्यात्मरूप ईश्वर को जिन महानुभावों ने सातवें आसमान की कोई अलौकिक अविज्ञेय वस्तु समझ

रक्खा है, विज्ञानदृष्टि के द्वारा आज हम आपको ईश्वर के साक्षात् दर्शन करा देते हैं। ईश्वर का स्वरूप अग्नि-वायु-इन्द्र, तीन देवताओं से संपन्न हुआ है। तीनों देवताओं की प्रतिष्ठाभूमि महापृथिवी नाम से प्रसिद्ध स्तौम्यत्रिलोकी है। अतः पहले इन्हीं का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया जाता है।

पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः, इन तीन लोकों की समष्टि त्रिलोकी है। यह त्रिलोकी आठ भागों में विभक्त है। उन आठों में से प्रकृत में रोदसीत्रिलोकी, स्तौम्यत्रिलोकी, ये पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः दो त्रिलोकियाँ ही अपेक्षित हैं। जिस प्रतिष्ठा पर आप सपरिवार-सणरीर-सपरिग्रह प्रतिष्ठित हैं, वह पृथिवीलोक है, यही भूलोक है। प्रत्यक्षदृष्ट सहस्रांशु सूर्य्यं द्यूलोक है, यही स्वर्लोक है। सूर्य्यरूपा द्यौः, पृथिवी का अन्तरालप्रदेश अन्तरिक्ष है। यही भुवर्लोक है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। “अन्तरिक्षायतना हि प्रजा” (तां० ब्रा०-४।८।१३) “यथायं पुरुषो (प्रजा) ऽमूल उभयतः (पृथिव्या सूर्येण च) परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति” (शत० १।१।२।४) इत्यादि निगम वचनों के अनुसार सम्पूर्णप्रजा (चतुर्दशविध भूतसंग) भुवर्लोकात्मक इस अन्तरिक्ष में ही प्रतिष्ठित है। सूर्य्य एवं पृथिवी के अन्तराल (मध्य) में जो आकाश देखा जाता है, वही—“अन्तः ईक्षते” के अनुसार अन्तरीक्ष है। अपि च सब कुछ इन दोनों लोकों के अन्तः (भीतर) प्रतिष्ठित है, अतएव इसे अन्तर्द्व्यक्ष कहा जाता है। यही अन्तरीक्ष किंवा अन्तर्यक्ष परोक्ष प्रिय देवताओं (विद्वानों) की परोक्षभाषा के अनुसार “अन्तरिक्ष” नाम से प्रसिद्ध है। अन्तरिक्ष के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“तद्यदस्मिन्नदं सर्वमन्तः—तस्मादन्तर्यक्षम् । अन्तर्यक्षं ह वै नामतत्—
तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते”—जै० उ० १।२०।४

“अन्तरेव वा इदमिति, तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम्” (तां० ब्रा० २०।१४।२)

“सह हैवेमावप्रे (पृथिविसूर्य्यौ) लोकावासतुः । तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणा-
काश आसीत् तदन्तरिक्षमभवत् । ईक्षं हैतन्नाम । ततः पुरान्तरा
वाऽइदमीक्षमभूदिति । तस्मादन्तरिक्षम्” (शत० ७।१।२।२३)

“मध्यं वाऽन्तरिक्षम्” (शत० ७।५।१।२६)

“छिद्रमिवेदमन्तरिक्षम्” (तां० ब्रा० ७।३।१८)

“अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे” (शत० १।२।१।१६) “एतेन इमौ लोको विष्कट्धौ” (जै० उ० १।२०।३) इत्यादि के अनुसार छिद्ररूप अनिरुक्त अन्तरिक्ष ही दोनों लोकों के स्वरूप को पृथक्-पृथक् बतलाने वाला, दोनों का स्तम्भ (स्तम्भ-धम्ब) स्थानीय है। अन्तरिक्षरूप आकाश ही “यह पृथिवी है,” “यह सूर्य्य है,” इस प्रकार पृथिवी तथा सूर्य्य के नामरूप का निर्बहिता है—“आकाशौ

बै नामरूपयोर्निर्बहिता" । यदि दोनों के मध्य में यह आकाशरूप अन्तरिक्ष न होता, तो उक्त पार्थक्य व्यवहार असम्भव था । न केवल बावापृथिवी का ही, अपितु पदार्थमात्र के नामरूप भेद व्यवहार का सम्पादक एकमात्र आकाशात्मक अन्तरिक्ष ही है ।

भूपिण्ड से एक निराकार प्राण निकल कर बड़ी दूर तक अपना एक मण्डल बनाता है । जहाँ तक यह प्राण व्याप्त है, वहाँ तक पृथिवीलोक की सत्ता मानी जाती है । इसी प्रकार जहाँ तक सौरप्राण की व्याप्ति है, वहाँ तक सूर्यलोक की सत्ता मानी जाती है । सूर्य के केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित होकर अक्षरूप से बाहर निकल कर वितरित होने वाला तत्त्व ही "अक्षर" कहलाता है । "स्वरोऽक्षरम्" (का० प्रा० १।६६) के अनुसार अक्षर को ही स्वर कहा जाता है । इसी अक्षररूप स्वर के सम्बन्ध से सूर्य को— "स्वरहर्षवाः सूर्यः" (शत० १।१।२।२१) इत्यादि के अनुसार स्वर्लोक कहा जाता है । विज्ञाननिष्ठ पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, सूर्य से ऊपर की ओर परमधाम में प्रतिष्ठित यज्ञमूर्ति परमेष्ठी एवं अव्यक्तमूर्ति स्वयम्भू, इन दो लोकों में मनोमय अमृतप्रधानता है । सूर्य से नीचे की ओर अवमधाम में महम्मूर्ति चन्द्रमा, एवं भूतमूर्ति पृथिवी में वाङ्मय मृत्युप्रधान क्षरपुरुष की प्रधानता है— "तस्माद्यत्किञ्चावाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" (शत० १०।१।१।४), एवं स्वयं मध्यस्थ सूर्य में अमृताव्यय से अमृतभावापन्न, मर्त्यक्षर के सम्बन्ध से मृत्युधर्म से भी सम्पृष्ट, अतएव अमृतमृत्युमय प्राणमूर्ति अक्षरपुरुष का विकास है । "यः सेतुरीजानानाम्" (कठोपनिषत् १।३।२) के अनुसार यज्ञकर्त्ता यजमान की परमप्रतिष्ठा यही सेतुरूप अक्षरतत्त्व, किंवा अक्षरमूर्ति सौरतत्त्व, किंवा सूर्यलोक है— "एषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति । तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतः । अथ यत् परं भाः (तद्रूपोऽक्षरः) प्रजापतिर्वा, स स्वर्गो वा लोकः (शत० १।६।३।१०) ।

शब्दब्रह्म विज्ञान के अनुसार अव्ययपुरुष स्फोट है, अक्षरपुरुष स्वर है, एवं क्षरपुरुष वर्ण है । वर्ण—(क्षरप्रधानभूत) का विकास चन्द्रगर्भिता क्षरप्रधाना पृथिवी में होता है, स्वर शब्दब्रह्मविवर्त्त की प्रतिष्ठा सूर्य है, स्फोट की विकासभूमि अव्ययगर्भित व्यक्ताव्यक्तमूर्ति महान् है । अव्ययनाम से प्रसिद्ध चिदात्मा की योनि महान् ही है— "मम योनिर्महद्ब्रह्म" । सम्पूर्ण अर्थ यहीं से स्फुट होते हैं । अव्यक्तगर्भित महदवच्छिन्न स्फोटरूप अव्यय अखण्ड धरातल है । इस पर सूर्यरूप स्वर प्रतिष्ठित है । स्वरात्मक सूर्य के आधार पर वर्णरूपा चन्द्रगर्भिता पृथिवी प्रतिष्ठित है । इधर शब्दसृष्टि में भी यही व्यवस्था है । पृथिवीरूप वर्ण (क-च-ट-त-वादि व्यञ्जन) सूर्यात्मक स्वर के (अ-प्रा- इ-ई-आदि के) आधार पर ही प्रतिष्ठित है । बिना स्वर को आलम्बन बनाए आप विनुद्ध व्यञ्जन का कथमपि उच्चारण नहीं कर सकते । क्योंकि बिना सूर्य के भूलोक कथमपि प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । इस स्वर की, किंवा सर्वप्रपञ्च की प्रतिष्ठा तीसरा सर्वव्यापक स्फोट है । राम शब्द में र-अ-अ- अ- अ इतने खण्ड हैं । इन सब खण्डों का आधार, इस छोर से उस छोर तक एक रूप से व्याप्त अखण्ड तत्त्व ही विस्फोट है । इसी के सम्बन्ध से राम-शब्दार्थ स्फुट होता है । यही कारण है कि, उच्चारणकाल में पूर्व पूर्व वर्ण के विलीन हो जाने पर भी "राम" इत्याकारक समूहालम्बनज्ञान की प्रतीति ज्ञात हो जाती है । दूसरे शब्दों में वही अखण्ड धरातल राम शब्द के अर्थ को स्फुट करता है । वर्णों में यह वर्ण-

रूप से, पदों में पदरूप से, वाक्यों में वाक्यरूप से यथास्थान प्रतिष्ठित रहता है—“यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स पुज्यते” । इसी आधारपर व्याकरणों ने इस शब्दात्मक स्फोट के “वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अक्षरस्फोट, आदि आठ विभाग माने हैं । इस प्रकार जैसी स्थिति परब्रह्म की है, ठीक वही स्थिति शब्दब्रह्म की है । एक के विज्ञान से अन्य स्वतः एव विज्ञात है—“शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति” ।

परब्रह्म —————> शब्दब्रह्म

१—अव्यक्तगर्भितमहान्—>अव्ययः—अमृतम्—>स्फोटः	} —“तदिदं सर्वम्”
२—सूर्यः—>अक्षरः—अमृतमृत्यु—>स्वरः	
३—चन्द्रगर्भितापृथिवी—>क्षर—मृत्युः—>वर्णः	

—○—

अक्षरात्मक सूर्यलोक स्वर सम्बन्ध से जहाँ “स्वलोक” कहलाता है, वहाँ क्षरात्मक पृथिवीलोक अमृताऽइयं प्रतिष्ठेति—तद्भूमिरभवत्, तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्” (शत०-विश्वा भुवनानि १।१।१५) इत्यादि के अनुसार “भूलोक” कहलाता है । सूर्य और भू एकाकी हैं परन्तु इन दोनों के अन्तराल प्रदेश में चन्द्रमा-बुध-शनि आदि अनेक भूपिण्ड हैं । इन्हीं अनेक भूपिण्डों के कारण तत्प्रतिष्ठारूप-अन्तरिक्ष को “भुवलोक” कहा जाता है । “अग्निर्वा रुद्रः” असौ के अनुसार सावित्राग्निमूर्ति सूर्य साक्षात् रुद्र है । यही क्षत्ररुद्र है, एकाकी है । सूर्य से निकलने वाले रश्मयश्चिह्न सौरप्राणाग्रनन्तरुद्र है, ये विट् रुद्र हैं । इसी समहिम एकाकी क्षत्ररुद्र का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रूः सुमङ्गलः ।

ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे ॥१॥

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ।

उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः ॥२॥

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।

अथो ये अस्य सत्त्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ॥३॥—यजुः सं० १६।६।७।८

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।

प्रत्यङ्जनांतिष्ठति सञ्चुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥४॥

(श्वे० ३।२)

भूः-भुवः-स्वः, इन तीनों लोकों का विकास इसी रुद्रसूर्य से हुआ है। रुद्रसम्बन्ध से ही यह त्रिलोकी “रोदसी” नाम से व्यवहृत हुई है। ब्रह्मा केवल प्राणप्रधान होने से देव हैं, रुद्र-त्रैलोक्य आदिदेव हैं। विष्णु आपोमय एवं वाङ्मय होने से देवश्रेष्ठ हैं। किन्तु ये रुद्रदेवता अन्नादमय-अन्नमय-होने से त्रिकल बनते हुए महादेव हैं। पूर्व प्रतिपादित अश्वत्थमूर्ति महेश्वर का स्मरण कीजिए। इस अश्वत्थवृक्ष को ही आगमशास्त्र में “द्युर्द्रुम” नाम से व्यवहृत किया गया है। हमारे रुद्रदेवता-दक्षिणामूर्ति भगवान् इस द्युर्द्रुम के अधोभाग में प्रतिष्ठित हैं। अश्वत्थवृक्ष के अमृत-ब्रह्म-शुक्र, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। अमृत विवर्त्त अव्ययप्रधान है, ब्रह्मविवर्त्त अक्षरप्रधान है एवं शुक्रविवर्त्त क्षरप्रधान है। क्षरतत्त्व वाङ्मयभूत की प्रतिष्ठा है, अक्षरतत्त्व प्राणमय देवता की प्रतिष्ठा है एवं अव्ययतत्त्व मनोमय सत्यप्रात्मा की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम, ये पांचों अक्षर प्राण-आपः-वाक्-अन्नाद-अन्न, इन पांच क्षरों से नित्ययुक्त रहते हैं।

इन पांचों के १-२-३-इस क्रम से तीन विभाग हो जाते हैं। प्राणमय ब्रह्मा का स्वतन्त्र विभाग है। इस पर अश्वत्थ महेश्वर के अमृत प्रधान अव्यय का अनुग्रह रहता है। दक्षिणामूर्ति शिवतत्त्व आपोमय विष्णु एवं वाङ्मय इन्द्र, इन दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। ‘इन्द्राविष्णु सयुजौ’ कहलाते हैं दोनों की समुच्चित अवस्था का नाम विष्णु है। जो इन्द्र है, वही विष्णु है। अतएव विष्णु को उपेन्द्र कहा जाता है। इस पर ब्रह्म प्रधान अक्षर का अनुग्रह रहता है एवं वाङ्मय इन्द्र, अन्नादमय अग्नि, अन्नमय सोम, इन तीनों क्षरगर्भित अक्षरों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इन तीनों की समष्टि ही महादेव है। इस पर शुक्र प्रधान भौतिक क्षर का अनुग्रह रहता है क्षर प्रधान होने से त्रिमूर्ति महादेव भूतनाथ हैं, वाक्पति हैं। अक्षरप्रधान होने से द्विमूर्ति विष्णु देवश्रेष्ठ देवनाथ हैं, प्राणपति हैं। अव्यय की प्रधानता से एकमूर्ति ब्रह्मा सत्यनाथ हैं, वित्पति हैं। ज्ञान-मूर्ति ब्रह्मा, क्रियामूर्ति विष्णु, दोनों ही ज्ञान-क्रिया के नीरूप होने से अप्रत्यक्ष हैं, दृष्टि से परे हैं। इन दोनों के ज्ञापक (परिचायकलिङ्ग) अर्थमूर्ति भूतपति महादेव ही हैं। अतएव इनकी लिङ्गरूप से उपासना की जाती है।

वाङ्मय व्यक्त भूतप्रपञ्च ही अव्यक्त का लिङ्ग है। शुक्रमूर्ति यह रुद्र किंवा भूतनाथ सचमुच द्युर्द्रुमरूप अश्वत्थ के सब से नीचे के स्थान में (रोदसी त्रैलोक्य में) प्रतिष्ठित हैं। रोदसी का यही रुद्र भोग करते हैं अतएव रोदसी को रुद्रपत्नी कहा जाता है। अन्नादमयी पृथिवी अग्निज्योति है, अन्नमय अन्तरिक्ष चन्द्रज्योति है, वाङ्मय सूर्य इन्द्रज्योति है। इन्हीं तीनों के सम्बन्ध से ये त्रैलोक्य व्यापक महादेव त्रिनेत्र बन रहे हैं। इसी दक्षिणामूर्ति शिव की उपासना का प्रकार बतलाता हुआ आगमशास्त्र कहता है—

दक्षिणामूर्तिः शिव

व्याख्यामुद्राक्षमालाकलशसुलिखिते बाहुभिर्वाग्मिपादम् ।

विभ्राणो जानुभूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिर्द्युर्द्रुमाधः ॥

सौवर्णं योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः ।

क्षीराभश्चन्द्रमौलिवितरतु विपुलां शुद्धबुद्धिं शिवो नः ॥१॥

“दुरपिस्थात्तदव्ययम्” के अनुसार ‘दु’ शब्द अव्यय का भी वाचक है। अव्यय ही अश्वत्थ वृक्ष-रूप में परिणत हो रहा है। इसका क्षरप्रधान शुक्रभाग सर्वाधः है, वहीं शिव प्रतिष्ठित हैं। सौर ज्योतिर्मण्डल स्थिर हिरण्यमय मण्डल है। यही सौवर्णं योगपीठ है। क्षर से ही क-च-ट-त-पादि मयी लिपि का विकास होता है। यही क्षरमूर्ति महादेव का आसन है। सूर्य्य इनका मस्तक स्थान है। इससे ऊपर पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति चन्द्रमा है। इसीलिए इन्हें “चन्द्रमौलि” कहा जाता है।

रोदसी त्रैलोक्य का सूर्य्य उस विश्वेश्वर की बुद्धि है, चन्द्रमा उसका मन है, आन्तरिक्ष्य वायु उसका हंसात्मा है, पृथिवी बाह्यात्मा स्थानीय है। इस रोदसी त्रैलोक्य के सम्बन्ध में वायुवेष्टित भूपिण्ड पाठकों को यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि, रोदसी के अन्तरिक्षरूप भुवर्लोक में चन्द्रमा-वायु-मरुत्वान् इन्द्र, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। चान्द्रसोम एवं मरुत्वा-निन्द्र, दोनों अभिन्न रहते हुए वायुवरातल पर प्रतिष्ठित हैं। यह वायु स्थिर-चर-भेद से दो प्रकार का है। स्थिर वायु वराह नाम से प्रसिद्ध है एवं चर वायु-वात (वात आवात भेजम्) नाम से व्यवहृत होता है। भूपिण्ड के चारों ओर स्थिर रहने वाला भूपिण्डस्वरूपसमर्पक वायु ही वराह है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इस पिण्डस्वरूप-समर्पक स्थिर वायु का भूपिण्ड में ही अन्तर्भाव है। दूसरा आन्तरिक्ष्य भुवर्लोक स्थानीय वायु ही सोमर्गभित इन्द्र की प्रतिष्ठा है। इस सोमर्गभित ऐन्द्रवायु को यज्ञविज्ञान के अनुसार “ग्रह” कहा जाता है। सोमर्गभित ऐन्द्र वायु ही अन्तरिक्ष का प्रधान अविष्ठाता है। इसीके लिए “इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते” यह कहा जाता है। इस वात वायु में एक चतुर्थांश इन्द्र रहता है। यदि सौ अंश वायु है, तो उसमें २५ अंश इन्द्र है, ७५ अंश वायु किंवा वायव्य सोम है। इस ग्रह नामक ऐन्द्र वायु के अवान्तर ४० विभाग हैं, जिनका निरूपण ग्रहविज्ञान में द्रष्टव्य है।

इस प्रकार सूर्य्य-चन्द्रमा-मरुत्वानिन्द्र-एमूषवराह-भूपिण्ड, भेद से इन पाँच तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। ये सब उसी ब्रह्मासत्यात्मक प्रकृतितन्त्र के अवयव हैं। दूसरे शब्दों में वह विभाग उपेश्वर से सम्बन्ध रखता है। १-सूर्य्य, २-इन्द्रर्गभित चन्द्रमा, ३-वायुवेष्टित भूपिण्ड, तीनों क्रमशः वाक्-अन्न-ग्रन्नाद नाम की प्रकृतियाँ हैं। इन तीनों प्राकृतात्माओं में से सूर्य्य का ‘विज्ञानात्मोपनिषत्’ में, मरुत्वानिन्द्रर्गभित चन्द्रमा का ‘प्रज्ञान’ रूप से ‘महदात्मविज्ञानोपनिषत्’ में निरूपण किया जा चुका है। प्रकृत में वायुवेष्टित भूतात्मस्थानीय भूपिण्ड का ही निरूपण अपेक्षित है। उक्त विषय का स्पष्टीकरण परिलेखों से भलीभाँति हो जाता है।

भूपिण्ड, किंवा पृथिवीलोक अन्नाद नाम की प्रकृति से युक्त है। यह पिण्ड पृथिवी (जिसे कि विज्ञान दृष्टि से हम पृथिवी न कहकर भू कहेंगे), अन्नादाग्निमयी है, साथ ही में वराह नामक स्थिर वायु से चारों ओर से नित्य वेष्टित है। आज आप जिस पिण्ड पृथिवी का चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर रहे हैं, किसी समय इसका दूसरा ही रूप था। आपोमय अर्णव समुद्र में पृथिवी ‘कालवालीकृतरूपा’ थी। सर्वत्र

चिदात्मा प्रतिकृति —

१-सूर्यः



२-चन्द्रः

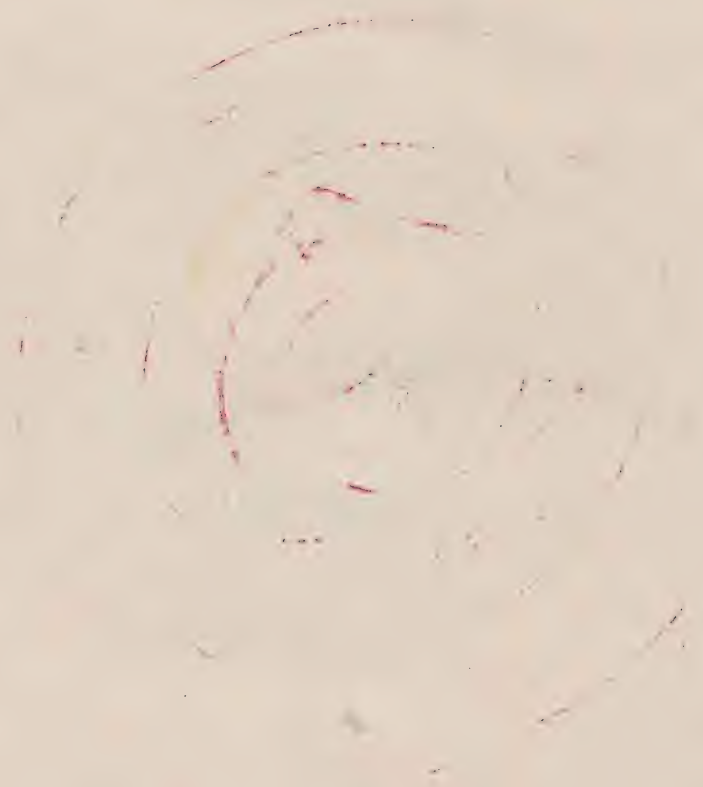


वेद विज्ञान में प्रकृति विनिष्ट महेश्वर पुरुष षोडशकल वनता दृष्टा षोडशीप्रजापति नाम से व्यवहृत होता है। इसी महेश्वर को चिदात्मा कहते हैं। यह वसवत् स्तब्ध रहता है इसमें यत्किंचित भी गति नहीं है। नित्य कूटस्थ है। यह सर्वथा अजन्मा है। जीव स्वरूप का इस व्यापक चिदात्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उक्त परिलेख में त्रिकल आत्मा प्रजामात्रा (मन), प्राण मात्रा (प्राण), भूत मात्रा (वाक्) अर्थात् मन-प्राण-वाक् का स्वरूप बतलाया गया है। यहाँ पर मन (प्रजामात्रा) जान है, प्राण क्रिया है, वाक् अर्थ है।

भूतात्मा [पृथिवी] प्रतिकृति परिलेखः—



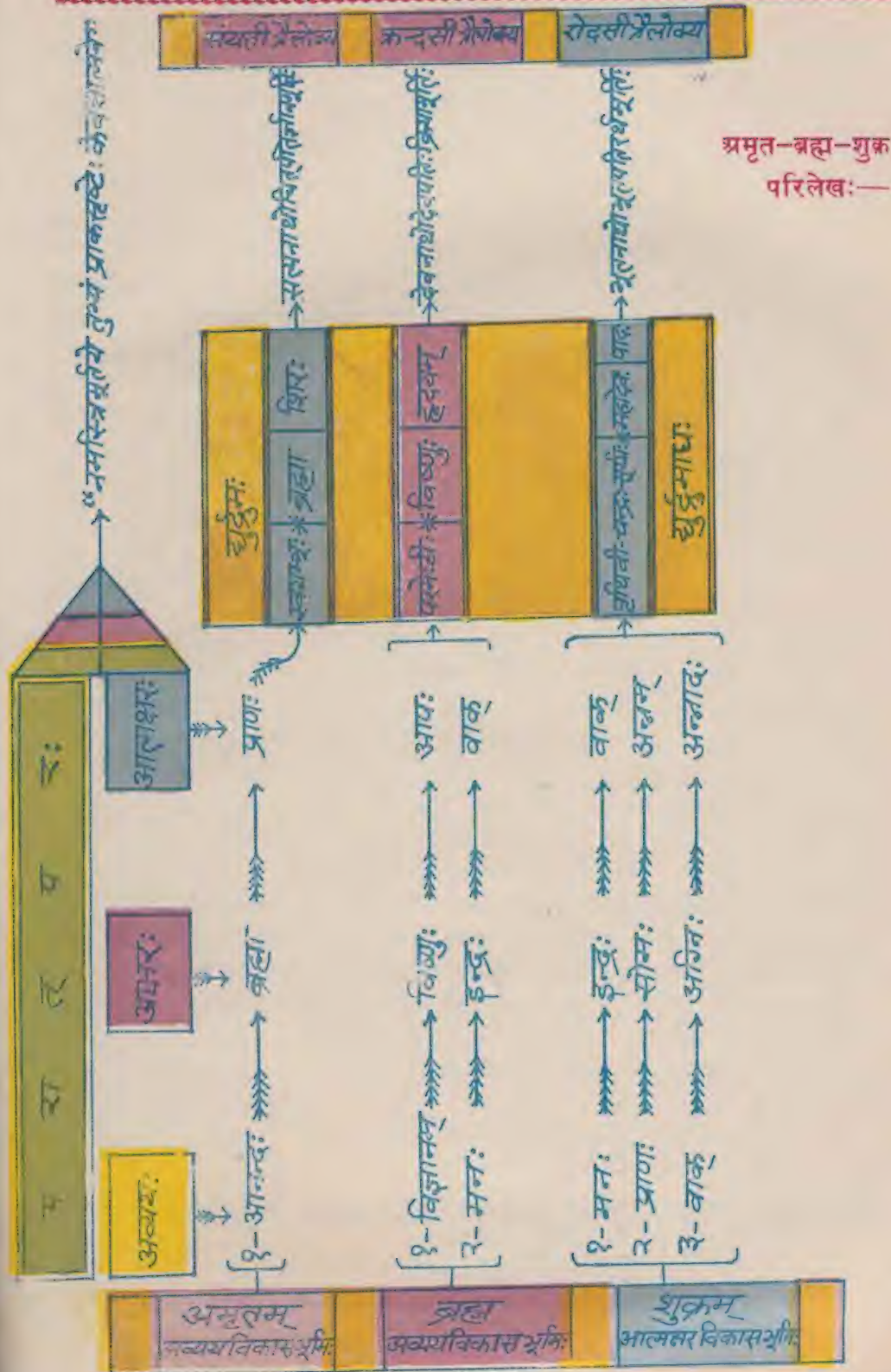
जितने भी पिण्ड दृश्य हैं, उन सब का स्वरूप सम्पादक वराह नामक वायु है। अधिदैवत संस्था में पाँच पिण्ड होते हैं। पिण्ड प्राण भेद से पिण्ड सम्पादक वराहवायु भी पाँच स्वरूपों में ही परिणत होता है। इन पाँचों में भूपिण्ड (पृथिवी) भी एक पिण्ड है, तथा इसके स्वरूप को सम्पादित करने वाला वराहवायु "एमूषवराह" नाम से प्रसिद्ध है। यह अत्यन्त ही घनवायु है, इसी घनता के कारण ही इसमें स्थिरता का उदय होता है। भूपिण्ड का निर्माण पञ्चीकृत प्राणादि से निष्पन्न होता है। ये पाँचों ही भूतात्मक, प्राणात्मक (देवात्मक) भेद से दो भागों में विभक्त हैं। भूपिण्ड के केन्द्र और पिण्ड ये दो भाग हैं। केन्द्र को भूतात्मा कहते हैं। इसमें ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र प्रतिष्ठित हैं। स्वयं पिण्ड भूतप्रधान अग्नी-वोममय होता है। अर्थात् भूतात्मा में प्रतिष्ठित भूताग्नि एवं एमूषवराह के यज्ञ द्वारा भूपिण्ड की निष्पत्ति होती है।



द्युर्द्रुमाधः शिव परिलेखः—



अश्वत्थ वृक्ष को ही आगमशास्त्र में “द्युर्द्रुम” नाम से व्यवहृत किया गया है। रुद्र देवता दक्षिणामूर्ति भगवान् इस द्युर्द्रुम के अधोभाग में प्रतिष्ठित है। अश्वत्थ वृक्ष में अमृत-ब्रह्म-शुक्र विवर्त बतलाये गए हैं। वाङ्मय इन्द्र, अन्नादमय अग्नि, अन्नमय सोम इत तीनों क्षरगर्भित अक्षरों की समष्टि ही महादेव भूतनाथ कहलाती है। इस पर शुक्र प्रधान भौतिक क्षर का अनुग्रह रहता है। शुक्रमूर्ति यह रुद्र, किंवा भूतनाथ द्युर्द्रुमरूप अश्वत्थ के सबसे नीचे के स्थान में (रोदसी त्रैलोक्य में) प्रतिष्ठित हैं।



पार्थिव मृत् परमाणु इतस्तत व्याप्त थे । सत्यसंकल्प प्रजापति की सत्यकामता से वायुद्वारा एक ही समय में चारों ओर से इन मृत्परमाणुओं का नियत प्रदेश में संगठन हुआ । कालान्तर में पृथिवी पिण्डरूप में परिणत होती हुई—“अभूत्-प्रतिष्ठा” इस निर्वचन के अनुसार भूमि नाम से प्रसिद्ध हो गई । वायुद्वारा ही आपो-मय समुद्र में से काल्वालीकृतरूपा पृथिवी का पिण्डरूप से उद्धार हुआ अतएव यह दायुतत्त्व “वृणुते-इति-वरः, अद्भोतीति अहः, वरश्चासौ अहश्चेति वराहः” इस निर्वचन के अनुसार वराह नाम से प्रसिद्ध हुआ । आप जितने भी पिण्ड देख रहे हैं, उन सब का स्वरूपसम्पादक यह वराह वायु ही है । अधिदैवतसंस्था में—स्वयम्भू-परमेष्ठी, आदि पांच पिण्ड हैं । पिण्डप्राण-भेद से संपादक वराहवायु पांच स्वरूपों में परिणित हो रहा है । स्वयम्भू-पिण्ड सम्पादक वायु “आदिवराह” है, परमेष्ठीपिण्ड का “यज्ञवराह” है, सूर्यपिण्ड का “श्वेतवराह” है, चन्द्रपिण्ड का “ब्रह्मवराह” है एवं भूपिण्ड का स्वरूप समर्पक वराह वायु—“एमूष-वराह” नाम से प्रसिद्ध है । यही वराह अध्यात्मसंस्था की अपेक्षा से “एवयामरुत्” नाम से प्रसिद्ध है । औपनिषदविज्ञान के अनुसार इसका * “मातरिश्वा” यह साधारण नाम है । माता पृथिवी का नाम है । संकेत भाषा के अनुसार पृथिवी शब्द पिण्ड का वाचक है । जो वायु पिण्ड के—चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त रहता है, वह ‘मातरि (पृथिव्यां—तदुपलक्षिते पिण्डे)—श्वयते’ इस निर्वचन से अवश्य ही मातरिश्वा नाम से व्यवहृत किया जा सकता है ।

प्रकृत में भूपिण्ड के सम्बन्ध से एकमात्र पार्थिव एमूषवराह ही अपेक्षित है । “आ—(अभिध्याप्य-समन्तात्) ईम् (पृथिवीम्) वसति” इस व्युत्पत्ति से अङ्गुली निर्देश से अभि-
पार्थिव ‘एमूषवराह’ नीत यह पार्थिव वराह एमूष (आ—ईम्—वस) कहलाता है । यह अत्यन्त घन-वायु है । घनता के कारण ही इसमें स्थिरता का उदय होता है । “घृतमन्तरिक्षस्य” (शत० ७।५।१।३) के अनुसार इस आन्तरिक्ष्य वायु में घृत (स्नेहतत्त्व) भरा हुआ है । इसी घृतालुप्त एमूष वायु से शूकर पशु का जन्म होता है । दूसरे शब्दों में शूकर के आत्मा में इतर प्राणियों की अपेक्षा वराहवायु की प्रधानता है, इसी प्रधानता के कारण शूकर पशु को “वराह” कहा जाता है । वराह वायु को हमने स्तब्ध बतलाया है । भूपिण्ड की ओर ही इसका रुख रहता है, दूसरे शब्दों में यह भूपिण्डानुगत है । अतएव तत्प्राणप्रधान शूकर पशु सदा भूपिण्ड की ओर ही अपना ‘शुंश’ किए, भूपिण्ड से संलग्न (सटकर) होकर सर्पण करता हुआ ही चलता है । घृताक्त वायु की प्रधानता से ही वराह में इतर पशुओं की अपेक्षा घृत (चर्बी) अत्यधिक मात्रा में रहता है अतएव इसे मेदुर (मेदस्वी) कहा जाता है—(देखिए शत०-५।४।३।१६) । सोमयाजी दीक्षित इसी के चर्म की उपानत् (जूता) पहनता है । पृथिवी पूषाप्राण प्रधान है, तमोमय पार्थिव पूषाप्राण ही शूद्र का आत्मा है । दूसरे शब्दों में जिसके आत्मा में जन्म से पार्थिव पूषाप्राण की प्रधानता रहती है, वही वर्णमृष्टि में शूद्र कहलाता है । इसी आधारपर निम्न-लिखित निगम वचन प्रतिष्ठित हैं—

*मातरिश्वा’ का विशद वैज्ञानिक विवेचन ‘ईश’ भाष्य के ‘तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति’ मन्त्र-भाष्य में द्रष्टव्य है ।

“स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम् । इयं (पृथिवी) वै पूषा । इयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च” —शत० १४।४।२।२५

इयं वै पृथिवी पूषा” —शत० २।१।४।७।

दैववर्णव्यवस्था-विज्ञान के अनुसार पूषाप्राण शूद्र हैं, यह पार्थिव तत्त्व है, अतएव पृथिवी से नित्य सम्बद्ध वराह वायु के साथ इस शौद्र पूषा प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है । पूषाप्राणात्मक भूपिण्ड, एवं तद्वेष्टनरूप वराह वायु के इसी तादात्म्य को लक्ष्य में रख कर इस वराह को भी पूषा कह दिया जाता है । जैसा कि श्रुति कहती है—

अयं वै पूषा, योऽयं (वातः) पवते । एष हीदं-सर्वं पुष्यति”

(शत० १४।२।१।६) इति ।

इस परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भौतिक सृष्टि में शूद्र-एवं शूकरपशु का समान स्थान है । शूद्र मनुष्य में जिस पूषाप्राण की प्रधानता रहती है, शूद्रपशुरूप वराह पशु में भी उसी पूषाप्राण की प्रधानता है । ब्राह्मण मनुष्य के साथ ब्राह्मण अज पशु की, क्षत्रिय मनुष्य के साथ क्षत्रिय अश्वपशु की, वैश्य मनुष्य के साथ वैश्य गौ पशु की यदि समानता है, तो शूद्र मनुष्य के साथ शूद्र वराह पशु की समानता है । यही कारण है कि वराह पशु को मलमार्जक शूद्र (महतर-मंगी) ही आश्रय देते हैं । याद रखिए, जो कार्य महतर का है, वही कर्म शूकर पशु का है । प्रकारान्तर से दोनों ही मल का संवरण करते हैं । मलभाग आसुर है । असुरप्राण आपोमय है, आपोमय, अतएव असुरप्राणप्रधान समुद्र गर्भ में से भूपिण्ड का उद्धार करना इसी वराहवायु का कार्य है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । दूसरे शब्दों में वराहवायु आसुर-भाव का नाशक है । अतएव असुरसम्प्रदाय वाले मलीमस यवन आज भी वराह पशु से सहज बैर रखते हैं ।

जिस समय इस वराह वायु ने पिण्डनिर्माण प्रक्रिया आरम्भ की थी, उस समय इसे एक वर्ष लगा था । एक सम्वत्सर के अनन्तर जब भूपिण्ड पूर्ण घन हो गया, तभी वह वराह वायु के चारों ओर विकसित हुआ । कहने का तात्पर्य यही है कि, पिण्डरूप घनभाव की निष्पत्ति के अनन्तर ही वराह को पूर्णरूप से जन्म लेने का अवसर मिलता है । इस प्रकार “भू” नाम से व्यवहृत प्राकृतात्मा में भूपिण्ड-वराह वायु, इन दो भावों की सत्तासिद्धि हो जाती है । इन दोनों में से वराह वायु को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, केवल भूपिण्ड को अपना लक्ष्य बनाइये ।

ऋषेः (प्रजापतिः) वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत् । स पृथिवीमथ आर्क्षत् । तस्या उपहत्योदमज्जत् । तत् पुष्करपर्णं प्रथयत् । तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्” (तै० ब्रा० १।१।३।६।७।) “इयतो ह वाऽइयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री । तामेमूष इति वराह उज्जिघ्रान । सोऽस्याः (पृथिव्याः) पतिः प्रजापतिः” (शत०-१४।१।२ २१।)

भूपिण्ड को हमने अन्नादप्रकृतिक बतलाया है। अग्नि-अक्षर ही आगे जाकर अक्षरभाव में परिणत होता हुआ अन्नाद नाम से व्यवहृत होने लगता है। अन्नादतत्त्व साक्षात् अग्नि है। यह अन्नादअग्नि विश-कलनधर्मा है। संकोचधर्मा अन्नप्रकृतिक सोम के बिना यह अग्नि एक क्षण भी स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। इस अन्न सम्बन्ध की नित्यता के कारण ही तो अग्नि को "अन्नाद" (अन्नमत्तीति-अन्नादः-अन्न खाने वाला) कहना अन्वर्थ बनता है। अन्नादगर्भित अन्नसोम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, अतएव अग्निसोममयी पृथिवी को केवल अग्निमयी मान लिया है। "अल्लैवाख्यायते नाद्यम्"। जैसा कि निम्न-लिखित श्रौत प्रमाणों से स्पष्ट है—

“आग्नेयी पृथिवी” —ता० ब्रा० १५।४।८

“इयं वा अग्निः” —शत० ७।३।१।२२

“अयं वै (पृथिवी) लोकोऽग्निः” —शत० १४।१।१।१४

“अग्निगर्भा पृथिवी” —शत० १४।१।४।२१

“अयं वा अग्निर्लोकः” —शत० १।१।२।१३

पृथिवी-संस्था से सम्बन्ध रखने वाले अन्नाद अग्नि, अन्न सोम, दोनों ही अमृत-मृत्यु-भेद से दो दो अवस्थाओं में विभक्त हैं। मर्त्य अग्नि एवं मर्त्य सोम दोनों ही अमृत-मर्त्यलक्षणा पार्थिवसंस्था सुप्रसिद्ध तेज एवं जल नाम के भूत हैं। अग्निभूत एवं जलभूत के समन्वय से ही भूपिण्ड बना है। पानी ही अग्नि के प्रवेश से वराह वायु के द्वारा क्रमशः 'आपः-फेन-मृत्यु-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य' इन आठ घनावस्थाओं में परिणत होता हुआ पिण्डरूप में परिणत हो गया है। इन आठ अवयवों के कारण ही छन्दोविज्ञान के अनुसार इस पिण्ड पृथिवी को "गायत्री" कहा जाता है। कारण अष्टाक्षर छन्द का ही नाम गायत्री है—“या वै सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी” (शत० १।४।१।३४)। दूसरा है अमृत विभाग। अमृतानि एवं अमृतसोम को "देवता" कहा जाता है। इसी देवता के आधार पर मर्त्यभूत प्रतिष्ठित है। ये दोनों प्राणदेवता भूकेन्द्र से बढ होकर, दूसरे शब्दों में केन्द्र को स्वप्रतिष्ठा बना कर भूपिण्ड से बाहर निकलते हुए अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते हैं। वही प्राणमण्डल किंवा देवमण्डल विज्ञानभाषा के अनुसार 'पुनःपद-साहस्री-महिमा-विभूति' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। याज्ञिक लोग अपनी यज्ञ-परिभाषा के अनुसार इसी को "वषट्कार" कहते हैं—“देवपात्रं वा यदेव वषट्कारः” (शत० १७।२।१३)। प्रत्येक वस्तु में पिण्ड एवं महिमा भेद से दो विभाग अवश्य रहते हैं। पिण्ड उस वस्तु का अन्तर्मण्डल है, महिमा उस वस्तु का बहिर्मण्डल है। पिण्डरूप अन्तर्मण्डल स्पृश्य है, इसे आप छू सकते हैं, देख नहीं सकते। महिमारूप बहिर्मण्डल दृश्यमण्डल है, इसे आप देख सकते हैं, छू नहीं सकते। जिस वस्तु का आप स्पर्श करने में समर्थ हैं, विश्वास कौजिए वह आपकी दृष्टि में कभी नहीं आ सकता। साथ ही में जिसे

आप देखने का अभिमान कर रहे हैं, स्वप्न में भी आप उसका स्पर्श नहीं कर सकते। इस प्रकार विज्ञान शास्त्र आपके चिरानुभूत कल्पित सिद्धान्तों को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर देता है। भूपिण्ड एवं भूमहिमा का विचार कीजिए। अमृताग्निसोमगर्भित, मर्त्याग्निसोमप्रधान भूपिण्ड है एवं मर्त्याग्निसोमगर्भित, अमृताग्निसोमप्रधान भूमहिमा है। दूसरे शब्दों में भूपिण्ड में मर्त्याग्निसोमरूप भूतों का साम्राज्य है एवं भूमहिमा में अमृतअग्निसोमरूप देवताओं का प्रभुत्व है। मर्त्यभूपिण्ड में से अर्करूप से बाहर निकलने वाले अमृतरूप प्राणमूर्ति अग्नि एवं सोम, बाहर निकलते हुए अपनी पाँच संस्थाएँ बनाते हैं।

रोदसी त्रैलोक्य की अपेक्षा से बृहतीछन्द नाम से प्रसिद्ध विष्वद्वृत्त पर स्थिररूप से प्रतिष्ठित सूर्य के चारों ओर सौर प्रकाशमण्डल के गर्भ में नियत क्रान्तिवृत्त पर समहिम देवासुरप्रतिस्पर्द्धा भूपिण्ड परिक्रमा लगाया करता है। परिक्रममाण्डल इस पृथिवी का अर्द्धभाग सदा सूर्य के सम्मुख रहता है एवं आधा भाग सदा विमुख रहता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य की ओर रहता है, उस भाग की ओर सौर तेज (प्रकाश) अविच्छिन्न रूप से पृथिवी पर आया है। इसी सौर प्रकाश के सम्बन्ध से इस ओर का पार्थिव प्राणाग्नि प्रकाशित रहता है। प्रकाश अग्नि का धर्म नहीं अपितु “रूपं रूपं सधवा बोभवीति” (ऋक्सं० ३।५३।८) के अनुसार सौर सधवा इन्द्र ही प्रकाश-लक्षण है। अग्नि केवल तापलक्षण है। इस ज्योतिर्मय इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से सौर प्राणानुगत पार्थिव अग्नि भूतप्रधान होता हुआ भी “देवता” नाम से व्यवहृत होने लगता है। देवप्राणगर्भित (सौरप्राणगर्भित), अतएव ज्योतिर्मय इसी पार्थिव सूर्यानुगत अग्नि को “देवानां दूतः” कहा जाता है। पृथिवी का वह अर्द्धभाग, जिस ओर सौर ज्योति का सम्बन्ध नहीं होता, उस ओर भी प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। क्योंकि केन्द्र से निकलने वाला यह प्राणाग्नि चारों ओर व्याप्त होता हुआ वर्तुलवृत्त बन कर महिमामण्डल का स्वरूप सम्पादक बनता है। सूर्य की विरुद्ध दिक् में प्रतिष्ठित अर्द्धमण्डलस्थ इस प्राणाग्नि में प्रकाश का अभाव है, यह विशुद्ध कृष्णमूर्ति है, तमोमय है, अतएव आसुर भावापन्न है। तम और माया, असुरों की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति मानी गई है—(देखिए शत० २।४।२।४)। अतएव आसुरप्राणप्रधान इस अर्द्धपार्थिव प्राणाग्नि को “असुराणां दूतः” कहा जाता है। देवदूत अग्नि है, असुरदूत सहरक्षा है। इस प्रकार दिग्भेद से मण्डलावच्छिन्न एक ही पार्थिव प्राणाग्नि के दो रूप होजाते हैं। दोनों की मूलप्रतिष्ठा भूकेन्द्रस्थ अमृतमृत्युमय हृदय प्रजापति ही है। सूर्यविरुद्धभागानुगता अतएव मलीमस प्राणमयी पृथिवी सौर प्रकाश के कट जाने से “दितिपृथिवी” (प्रकाश से वञ्चित पृथिवी) कहलाता है एवं सूर्यभागानुगता, अतएव ज्योतिर्मयी पृथिवी सौर प्रकाश के अविच्छिन्न सम्बन्ध से “अदितिपृथिवी” नाम से व्यवहृत होती है। वहां पृथिवी अर्द्धभाग से अदिति है, अर्द्धभाग से दिति है। अदिति में ज्योतिर्मय देवता प्रतिष्ठित हैं, दिति में तमोमय असुरों का साम्राज्य है। पूर्व कथनानुसार दोनों उसी हृद्य प्रजापति की सहजन्मा सन्तान हैं। दिति-अदिति, दोनों इस हृद्य प्रजापति की पत्नियाँ हैं। भूपिण्ड इन्द्रयज्ञ के द्वारा नोदनावल प्राप्त करता हुआ घूमता है। इस भूपरिभ्रमण से दिति-अदिति गर्भ में प्रतिष्ठित असुर एवं देवप्राण का परस्पर में सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। यही देवता एवं असुरों की प्रतिस्पर्द्धा है। दोनों के समुच्चय से ही भौतिक जड़ चेतन पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतएव प्रत्येक पदार्थ में

अपेक्षाकृत तारतम्य से विभूति सम्बन्ध से दैव-आसुर, दोनों भाव उपलब्ध होते हैं, जैसा कि आगे आने वाले कर्मतिमिरूपण-प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा ।

पार्थिव केन्द्राग्नितत्त्व पार्थिव प्रजा का अधिष्ठाता होने से “प्रजापति” नाम से प्रसिद्ध है । अग्नि-मूर्ति यह प्रजापति अपने विशकलनरूप स्वरूप धर्म के कारण निरन्तर विस्तृत-पार्थिव प्रजापति विस्तृत होता है । विस्तृत प्रजापति का स्वाभाविक कर्म है । इस विस्तृत के कारण ही इस सोमगर्भित प्राणाग्नि की अग्नि-वायु-आदित्य दिक्सोम-भास्वरसोम, ये पाँच अवस्थाएँ हो जाती हैं । यहाँ इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि, रोदसी-त्रिलोकी में जिन अग्निवायु-सूर्य चन्द्रमा का दिग्दर्शन कराया गया है, वे सर्वथा पृथक् तत्त्व हैं, एवं उक्त अग्न्यादि स्वतन्त्र तत्त्व हैं । नाम साम्य मात्र से इनमें सांकर्य का भ्रम नहीं करना चाहिए । विस्तृत पार्थिव अग्नि रसरूप में परिणत होकर वाङ्मय आधारपात्ररूप वषट्कार मण्डल में प्रतिष्ठित होता है । सौर अग्नि सम्बत्सराग्नि कहलाता है, एवं पार्थिव अग्नि “उरुवाग्नि” नाम से प्रसिद्ध है । विस्तृत पार्थिव प्रजापति की क्षतिपूर्ति इसी सौर संवत्सराग्नि से होती है । कैसे होती है ? , इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए अग्नि संस्कार-विज्ञान की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

“अग्निपोमात्मकं जगत्” यह हमारा ध्रुव सिद्धान्त है । स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी, इन पाँच उपेश्वरों की समष्टि ही विश्व है । यह विश्व शुक्र की प्रधानता षट्शुक्रात्मक पार्थिव विवर्त से वास्तव में अग्निपोमात्मक ही बना हुआ है । अमृतभाव प्रधान *वाक्-आपः-अग्नि, मर्त्यभावप्रधान अग्नि-आपः-वाक् ये ६ क्षरप्रधान शुक्र ही विश्व के मूल उपादान हैं । इन ६ओं में मध्य के दोनों अग्नियों का एक ही स्थान में समावेश है, फलतः ५ ही विवर्त रह जाते हैं । वाङ्मय अमृत शुक्र का प्राणप्रकृतिक स्वयम्भू से सम्बन्ध है । आपोमय अमृत शुक्र का अप्रकृतिक परमेष्ठी से सम्बन्ध है, अमृताग्नि शुक्र, एवं मर्त्याग्नि इन दोनों का वाक्प्रकृतिक सूर्य से सम्बन्ध है । मर्त्य आपः शुक्र का अन्नप्रकृतिक चन्द्रमा से सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि, जहाँ प्रकृति की अपेक्षा से विश्व के ‘स्वयम्भू-परमेष्ठी, आदि पाँचों पर्व क्रमशः प्राणमय-आपोमय-वाङ्मय-अन्नमय-अन्नादमय कहलाते हैं, वहाँ शुक्रापेक्षया वे ही क्रमशः अमृतवाङ्मय अमृतापोमय-अमृतमर्त्याग्निमय-मर्त्यापोमय-मर्त्यवाङ्मय, इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं । यदि प्रकृति-भाव की दृष्टि से इन अग्निपोमात्मक शुक्रों का विचार किया जाना है, तो स्वयम्भू प्राणाग्नि है, सूर्य वागग्नि है, पृथिवी अन्नादाग्नि है, परमेष्ठी आपोमय सोममूर्ति है, चन्द्रमा अन्नमय सोममूर्ति है । यदि शुक्र की दृष्टि से ही विचार किया जाता है, तो स्वयम्भू वागग्नि है, सूर्य अमृतमर्त्याग्नि है, पृथिवी वागग्नि है । परमेष्ठी एवं चन्द्रमा आपोमय सोममूर्ति है ।

*इन ६ओं शुक्रों का सोपपत्तिक विवरण ईशोपनिषत् हिन्दीविज्ञान भाष्यान्तर्गत शुक्र निरुक्ति प्रकरण में देखना चाहिये ।

भौतिकपिण्ड	प्रकृत्यपेक्षया	शुक्रापेक्षया	
↓	↓	↓	
१—आकाशात्मा स्वयम्भूः—	प्राणाग्निमयः—	अमृतवागग्निमयः—	अग्निः
२—वाय्वात्मा परमेष्ठी—	अप्सोममयः—	अमृतआपोमयः—	सोमः
३—तेजोमयः सूर्यः—	वागग्निमयः—	अमृतमर्त्याग्निमयः—	अग्निः
४—जलमूर्तिश्चन्द्रमाः—	अन्नसोममयः—	मर्त्यापोमयः—	सोमः
५—मृण्मयो भूपिण्डः—	अन्नादाग्निमयः—	मर्त्यावागग्निमयः—	अग्निः

“अग्नीषोमात्मकं जगत्”—इत्याहुः

इन में स्वायम्भुवाग्नि अपौरुषेय वेद सम्बन्ध से वेदाग्नि नाम से, यजुः सम्बन्ध से सार्वयाजुषाग्नि, सत्यावाक् के सम्बन्ध से सत्याग्नि, ब्रह्मा के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि, अश्वत्थ के अवयवभूत अमृत के सम्बन्ध से अमृताग्नि इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्ध है ।

सौर अग्नि पौरुषेय वेद के सम्बन्ध से पुरुषाग्नि, ज्योतिर्मयी गायत्री के सम्बन्ध से गायत्राग्नि, संवत्सरप्रवृत्ति से संवत्सराग्नि, अङ्गिरा के सम्बन्ध से अङ्गिरोऽग्नि, देवप्राण के विकास से देवाग्नि, अश्वत्थ के अवयवभूत ब्रह्मभाग के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि, इत्यादि रूप से अनेक नामों से प्रसिद्ध है ।

तीसरा पार्थिव अग्नि यज्ञमात्रिक वेद के सम्बन्ध से यज्ञाग्नि, अष्टावयव-सम्बन्धिनी तमोमयी गायत्री के सम्बन्ध से गायत्राग्नि, उख्यभाव के सम्बन्ध से उख्याग्नि, क्षरप्रधान भूत के सम्बन्ध से भूताग्नि, अश्वत्थ के अवयवभूत शुक्र भाग की प्रधानता से शुक्राग्नि, आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है ।

१—वागग्निः—शुक्र की अपेक्षा से

२—प्राणाग्निः—प्रकृति की अपेक्षा से

३—वेदाग्निः—अपौरुषेय वेद की अपेक्षा से

४—सार्वयाजुषाग्निः—यजुर्वेद की अपेक्षा से

५—सत्याग्निः—सत्यावाक् की अपेक्षा से

६—ब्रह्माग्निः—अक्षर ब्रह्मा की अपेक्षा से

७—अमृताग्निः—अमृत भाग की अपेक्षा से

→स्वयम्भूः

- १-अमृतमर्त्याग्निः—शुक्र की अपेक्षा से
- २-वागग्निः—प्रकृति की अपेक्षा से
- ३-पुरुषाग्निः—पौरुषेयवेद की अपेक्षा से
- ४-गायत्राग्निः—ज्यो० गायत्री की अपेक्षा से
- ५-सम्बत्सराग्निः—संबत्सरापेक्षा से
- ६-अङ्गिरोऽग्निः—पारमेष्ठ्य अङ्गिरा की अपेक्षा से
- ७-देवाग्निः—देवप्राण की अपेक्षा से
- ८-ब्रह्माग्निः—ब्रह्म भाग की अपेक्षा से

→सूर्यः

- १-मर्त्यवागग्निः—शुक्र की अपेक्षा से
- २-अन्नादाग्निः—प्रकृति की अपेक्षा से
- ३-यज्ञाग्निः—यज्ञमात्रिक वेद की अपेक्षा से
- ४-गायत्राग्निः—तमोमयी गायत्री की अपेक्षा से
- ५-उख्याग्निः—महिमा के सम्बन्ध से
- ६-भूताग्निः—भूत की अपेक्षा से
- ७-शुक्राग्निः—शुक्रभाग की अपेक्षा से

→पृथिवी

यद्यपि—“अन्नाद एवान्यतरोऽभवत्, अन्नमन्यतरः । अन्नाद एवाग्निरभवत्, अन्नं सोमः । अन्नादश्च वाऽद्वंद्वं सर्वमन्नं च” (शत० ११का० ११अ० १६ब्रा० ११६कं०) इस श्रौत-
पार्थिवाग्नि का अन्नादत्त्व सिद्धान्त के अनुसार स्वायम्भुव-सौर-पार्थिव, इन तीनों ही अग्नियों को अग्निसम्बन्ध से अन्नाद कहा जा सकता है, एवं पारमेष्ठ्य-चान्द्र, दोनों सोमों को अन्न कहा जा सकता है, तथापि प्रकृतिभाव की अपेक्षा से केवल पार्थिव अग्नि को ही अन्नादाग्नि कहा जायगा, एवं केवल चान्द्रसोम को ही अन्नसोम कहा जायगा । प्राणादि पाँचों प्रकृतियों में अन्नाद-प्रकृति का केवल पृथिवी में, एवं अन्नप्रकृति का केवल चन्द्रमा में ही विकास होता है । अन्न केवल चान्द्र-सोम है । इसे न स्वायम्भुव अग्नि खाता, न सौरअग्नि । इसकी आहुति एक मात्र पार्थिव अग्नि में ही

होती है। अन्न (चान्द्र) सोम को खाने वाला तो केवल पार्थिव अग्नि ही है, इसलिए भी पार्थिव अग्नि को ही अन्नाद कहना न्यायप्राप्त होता है। अन्नाद अग्नि की अन्नव्यवस्था नियत है, सौर वाग्नि की अन्नव्यवस्था अनियत है। उदाहरण के लिए पार्थिव-अन्नादाग्नि-प्रधान पुरुष को ही लीजिए। हमारे लिए "सायंप्रातराश्वेवस्यात्" (शत० २४।२।६) के अनुसार अन्नव्यवस्था सर्वथा नियत है। सायंप्रातः हमें नियतमात्रा में अन्न खाना पड़ता है। परन्तु सौर अग्नि निरन्तर अन्न खाया करता है। अन्नादाग्नि का अन्न अवगर्भित चान्द्रसोम है, सौराग्नि का अन्न ब्रह्मणस्पतिसोमगर्भित पारमेष्ठ्य आपः है। स्वायम्भुव अग्नि केवल आवपनमात्र है, जहाँ प्रतिष्ठित होकर सौर, एवं पार्थिव अग्नि अन्न खाते हैं, ऐसा खंब्रह्म है। इस प्रकार यह मान लेते में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि, केवल पार्थिव अग्नि ही "अन्नाद" है।

उपर्युक्त अग्नि अपनी-अपनी संस्था के प्रजापति है। ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टिधारा के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह प्रजापति शब्द किसी कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण एक अर्थ से सम्बन्ध न रखता हुआ प्रकरणभेद से भिन्न-भिन्न तत्त्वों का ही सूचक बनता है। प्रकृत में अन्नादमूर्ति पार्थिव प्रजापति ही अभिप्रेत है। इस की 'अन्नाद एवं उह्य' भेद से दो प्रधान अवस्थाएँ हैं। जब तक पार्थिव अग्नि भूपिण्ड में प्रतिष्ठित रहता है तब तक तो अन्नाद नाम की पाँचवीं प्रकृति से अनुगृहीत रहता हुआ यह 'अन्नादाग्नि' नाम से ही व्यवहृत होता है। यही अन्नाद विस्मृत होता हुआ भूपिण्ड से बाहर निकलकर क्रमशः अह्न्यादि देवतारूप में परिणत होता हुआ 'उह्यग्नि' नाम से प्रसिद्ध होता है। पूर्वोक्त ब्रह्मसत्य देवसत्य विज्ञान के अनुसार अन्नाद ब्रह्मसत्य का अवयव है। अतः अन्नादाग्निमूर्ति इस भूपिण्ड को हम "ब्रह्मसत्यात्मा" नामक भूतात्मा ही कहेंगे। दूसरा प्राणमूर्ति उह्यग्नि देवमूर्ति है, अतः इसे देवसत्यात्मा नामक प्राणात्मा कहेंगे। हाँ, तो निष्कर्ष यह निकला कि अन्नादाग्नि से भूपिण्ड का, एवं उह्यग्नि से उह्य पृथिवी नाम से प्रसिद्ध महापृथिवी का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार मर्त्यभूतभागप्रधान, त्रयीमान अन्नादाग्नि "चित्याग्नि" नाम से एवं अमृतप्राणभागप्रधान चित्य पर निहित उह्यग्नि 'चित्तेनिधेय' नाम से व्यवहृत हुआ है। चयनविज्ञान के अनुसार अन्नादाग्निमूर्ति भूपिण्ड कृष्णाजिन है, एवं उह्यग्निमूर्ति महापृथिवी पुष्करपर्ण है। कृष्णाजिनमूर्ति भूपिण्ड ही अषाढा नाम से भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार निम्नलिखित निगम वचनों के अनुसार अग्नि पार्थिव उभयविध अग्नि के उक्त नामों की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

१-"अन्नादोऽग्निः" (शत० २।१। १२८)

२-"अन्नाद एवाग्निः" (शत० ११।१।६।१६)

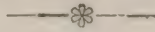
१-३-"अन्नादो वा एषोऽन्नपतिर्यदग्निः" (ऐ० १।८)

४-"इयं वाऽग्निः" (शत० ७।३।१।२२)

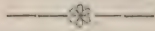
1
→ अन्नादाग्निः-भूः

— ० —

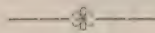
- १—"अयं वा अग्निरुख्यः" (शत० ८।२।१।४)
 २—"इमे वै लोका उखा" (शत० ६।५।२।१७)
 ३—"योनिर्वा उखा" (शत० ७।५।२।२)
 ४—"इमे वै लोका एषोऽग्निः" (शत० ६।७।१।१६)
- २
→ उख्याग्निः—पृथिवी



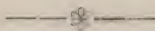
- १—"चेतव्यो ह्यासीत् तस्माच्चित्तयः" (शत० ६।१।२।१६)
 २—"अयं वाव लोकोऽग्निश्चित्तयः" (शत० १०।१।२।२)
 ३—"यच्चेतयमाना अपश्यंस्तस्माच्चित्तयः" (श० ६।२।२।१६)
 ४—"पञ्च ह्येतेऽग्निवो यदेताश्चित्तयः" (शत० ६।२।१।१६)
 ५—"अयमेव स योऽयमग्निश्चीयते" (शत० ६।१।१।५)
- १
→ चित्ताग्निः—भूः



- १—"अथ यश्चित्तेऽग्निर्निधीयते, यैवैतेषां श्रीः, यो रसः, तमूर्ध्वं
 समुद्रहन्ति" (शत० ६।१।१।१६)
- २
→ चित्तेनिधेयाग्निः—पृथिवी



- १—"इयं वै कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।२।१६)
 २—"तस्य (अग्नेः) एष स्वलोको यत्कृष्णाजिनम्" (श० ६।४।२।१६)
 ३—"यज्ञो वै कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।१।१६)
- १
→ कृष्णाजिनम्—भूः



- १—"इयं वै पुष्करपर्णम्" (शत० ७।४।१।१२)
 २—"वाक्पुष्करपर्णम्" (शत० ६।४।१।७)
 ३—"योनिर्वै पुष्करपर्णम्" (शत० ६।४।१।७)
- २
→ पुष्करपर्णम्—पृथिवी

भूपिण्ड गार्हपत्यकुण्ड है। इसमें रहने वाला अन्नादाग्नि गार्हपत्याग्नि है। उर्यत्रिलोकी आहवनीयकुण्ड है। पार्थिवअन्नाद ही प्राणप्रधान बनकर इस में प्रतिष्ठित होता है, अतएव इस उर्यआहवनीयाग्नि को आहुत (ले गया हुआ) कहा जाता है। यही कारण है कि, इस नित्य प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर वितत वैध यज्ञ में गार्हपत्यअग्नि को ही तत्पूर्वस्थ आहवनीयकुण्ड में ऋत्विक् लोग प्रतिष्ठित करते हैं।

सौर सम्बत्सराग्नि पृथिवी की ओर निरन्तर आया करता है, ठीक इसके विपरीत पार्थिवविस्त्रस्त अन्नादाग्नि सम्बत्सर की ओर जाया करता है। सूर्य से आनेवाला सम्बत्सराग्नि सत्यधर्मा होने के कारण भूपिण्ड से टकराकर परावर्तित होता हुआ उसी अपने मण्डल (सम्बत्सर) में प्रतिष्ठित हो जाता है। भूपिण्डाघात से प्रतिफलित, गायत्रीमात्रिक नाम से प्रसिद्ध -पौरुषेय वेदावच्छिन्न (ऋक्-यजुः-सामावच्छिन्न) सम्बत्सरमण्डल में प्रतिष्ठित, अतएव सम्बत्सररूप यही सौराग्नि तत्रस्थ उर्याग्नि में अन्तर्गम्य सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता हुआ, इस पार्थिवाग्नि की पुष्टि का कारण बनता हुआ इस का अन्न बन जाता है। सीधे शब्दों में प्रतिफलित सम्बत्सराग्नि पार्थिव अग्नि का अन्न है। पार्थिव अग्नि अस्मदादि प्रजा निर्माण में विस्त्रस्त (खर्च) होता रहता है। इस कमी की पूर्ति सम्बत्सराग्नि से ही होती है। सौर सम्बत्सर, एवं पार्थिव उर्याग्नि का एक स्थान पर समन्वय होता है। इसी सम्बन्ध से सम्बत्सराग्नि द्वारा पार्थिव अग्नि का संस्कार होता रहता है। दूसरे शब्दों में वेदावच्छिन्न अतएव ऋग्-यजुः-साम मूर्ति सौर अग्नि की विस्त्रस्त पार्थिव अग्नि में चिति होती रहती है, अतएव यह अग्नियज्ञ (अग्नि में अग्नि का आहुत होना ही अग्नि यज्ञ है) “चित्या-चिति-चयन” आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

विस्त्रस्त पार्थिवाग्नि प्राणदपातु व्यापार से उर्य त्रिलोकी में जाता है, अतएव “अचश्चरति” इस ब्राह्मणोक्त निर्वचन के अनुसार इसे “अर्क” कहा जाता है। यह अर्का-अर्क्य-महाव्रत-उक्थ्य परिचय - ग्नि यद्यपि प्रातिस्विकरूप से एक ही स्वरूप रखता है, परन्तु इसकी विस्त्रस्ति की पूर्ति (क्षतिपूर्ति) करने वाला, अतएव ‘अग्नि’ होते हुए भी ‘अन्न’ नाम से प्रसिद्ध, ऋग्-यजुः-सामरूप-सम्बत्सराग्नि के सम्बन्ध से इस के अर्क्य-महाव्रत-उक्थ्य, ये तीन रूप हो जाते हैं। आत्मरूप अन्नादाग्नि में आहुत होने वाला अन्न अन्तर्गम्य सम्बन्ध में आत्मसात् बनता हुआ आत्मा ही बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने अन्नावच्छिन्न पार्थिव अग्नि को ‘अर्क्य-महाव्रत-उक्थ्य’ नामों से व्यवहृत किया है। अर्क-महा-उक् इन तीनों की समष्टि अन्नादाग्नि है एवं वयम्-व्रतम्-थम् इन तीनों की समष्टि सम्बत्सराग्निरूप अन्न है। वयं-यजुरूप अन्न है। इसके सम्बन्ध से पार्थिव अर्काग्नि ‘अर्क्यम्’ बना हुआ है। व्रत-सामरूप अन्न है। इसके सम्बन्ध से पार्थिव महदग्नि “महा-व्रतम्” बना हुआ है। थम्-ऋगरूप अन्न है इसके सम्बन्ध से पार्थिव उगग्नि “उक्थम्” बना हुआ है। इस प्रकार एक ही पार्थिव अग्नि-ऋग्-यजुः-साममय उक्-वयं-व्रतम्-सम्बत्सराग्निरूप अन्नभेद से त्रिमूर्ति बन रहा है। अर्क्याग्नि को ही परोक्ष-भाषा में “वयम्” कहा जाता है। इस प्रकार ऋग्-यजुः-सामात्मक सौर सम्बत्सराग्नि, एवं पार्थिव अन्नादाग्नि (उर्याग्नि) का परस्पर सम्बन्ध होता रहता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

जिस स्वान पर वेदावच्छिन्न सौर सम्बत्सराग्नि एवं विस्त्रस्त पार्थिव उल्हाग्नि, इन दोनों का समन्वय होता है, वही प्रदेश विराट्-पुरुष की आधार-भूमि है। दूसरे शब्दों में अदितिमण्डल को विराट् की प्रतिष्ठा माना जा सकता है। पूर्व में पृथिवी के दिति और अदिति दो भेद बतलाए गये हैं। भूविवर्त के लिए 'भूमि, पृथिवी, दिति, अदिति, मेदिनी, सागराम्बरा, मही, अषाढा' इत्यादि अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं। भूविवर्तत्वेन इन सब में यथाकथञ्चित् पर्याय सम्बन्ध मान लेने पर भी विज्ञान-दृष्ट्या सभी शब्द भिन्न-भिन्न वस्तुतत्त्व के वाचक हैं। सुप्रसिद्ध भूपिण्ड ही भूमि है। इसी को अन्नादाग्निमूर्ति कहा गया है। आगे जाकर भूपिण्डस्थ प्राणाग्नि रस का वाक् के आधार पर प्रथन होता है, अर्थात् भूपिण्ड प्राणाग्नि-रसरूप से बाहर निकल कर अपना मण्डल बनाता है। इस अग्नि के साथ आपः और वाक् नाम के दो गुण और हैं। वाक्-आपः-अग्नि का समुचित रूप ही भूपिण्ड है। इन तीनों गुणों के आधार पर क्रमशः द्यौ-गौ-वाक्, इन तीन पार्थिव मनोताओं का उदय होता है। स्मरण कीजिए हृद्य प्रजापति का। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र की समष्टि ही हृद्य प्रजापति है। इन में ब्रह्मा एकाकी है, विष्णु के साथ सोम का सम्बन्ध है, इन्द्र के साथ अग्नि का सम्बन्ध है। ब्राह्माक्षर द्यौमय है, विष्णुसोमाक्षर गौमय है, इन्द्राग्निक्षर वाङ्मय है। अग्निस्वरूप पहली संस्था 'अग्निर्भूस्थानः' के अनुसार भूः (महापृथिवी) है, आपस्तरूप दूसरी संस्था गोमय भुव है, एवं वाक्स्तरूप तीसरी संस्था द्यौरूप स्वः है। केन्द्रस्थ यही तत्त्व रस रूप से ऊर्ध्वगमन करते हुए अपनी संस्थाएं बनाते हैं। वाङ्मय ब्रह्मा केन्द्र से बढ़ रहते हुए प्राणरूप से जहां तक वितत होते हैं, वहां तक वाक् गुण व्याप्त रहता है। यही सर्वाधारभूता द्यौमयी पहली संस्था है। इसमें एक सहस्र मनः प्राणगर्भिता-वाग्विवर्त माने जाते हैं। अतएव आलम्बन रूप यह वाक्स्तर 'वाक्साहस्री' नाम से प्रसिद्ध है। इसी का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्यावापृथिवी तावदित्तत् ।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥

(ऋक्सं० १०।११।५)

इन सहस्र वाक्-तत्त्वों में से ३०-३० वाक्-राशि का एक एक अहर्गण होता है। इस संख्या क्रम से ९९० वाग्विभागों के कुल ३३ अहर्गण हो जाते हैं। १० अहर्गण शेष रह जाते हैं। यही उच्छिष्ट भाग चौतीसवाँ प्राजापत्य अहर्गण है — "प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः" (शत० ४।५।७।१)। वाङ्मय ३३-अहर्गणों में तीन अहर्गणों का भोग तो भूकेन्द्रस्थ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, इन तीन हृदयाक्षरों के साथ हो जाता है। दूगरे शब्दों में तीन अहर्गण तो भूपिण्ड में ही अन्तर्भूत हैं। शेष भूपिण्ड से आरम्भ कर पूरे वाङ्मण्डल में ३० अहर्गण बच जाते हैं। इन ३० में से ६-६ अहर्गणों का एक स्वतन्त्र विभाग होता है। भूकेन्द्रस्थ ३ अहर्गणों के साथ ६ अहर्गणों को मिला दीजिए। इन ९ अहर्गणों का एक स्तोम त्रिवत्स्तोम कहलायेगा। इन में ६ और मिला दीजिए। इन ११ अहर्गणों का दूसरा स्तोम पञ्चदशस्तोम कहलायेगा और ६ अहर्गणों के योग से एकविंशस्तोम का और ६ अहर्गणों के योग से त्रिणवस्तोम का एवं ६ अहर्गणों के योग से त्रयस्त्रिंशस्तोम का स्वरूप सम्पन्न होगा। इस प्रकार ९/१-१५/२ २१/३ २१/६ ३३/५ इस क्रम से पांच

प्रधान स्तोम हो जायेंगे। यही पञ्चस्तोमात्मक वाङ्मण्डल बहिर्मण्डल कहलाएगा। जिस प्रकार अन्तर्मण्डलरूप भूपिण्ड का एक निश्चित केन्द्र होता है, एवमेव अहर्गणात्मक इस बहिर्मण्डल का भी एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। वह स्थान सत्रहवाँ अहर्गण माना गया है। ३३ का केन्द्र १७ वाँ ही बन सकता है। यही स्थान सप्तदशप्रजापति, उद्गीथप्रजापति, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही ६ ठा सप्तदशस्तोम है। इस प्रकार ब्रह्ममयी वाक् के ६ स्तोम हो जाते हैं। इन्हीं ६ स्तोमों के कारण यह वाङ्मण्डल “वषट्कार” कहलाया है। वाक् का षट्कार (६ स्तोम) ही “वाक्-षट्कार” है। परोक्ष-भाषानुसार वाक्-षट्कार ही वषट्कार है।

वाङ्मय वषट्कार में ३३ अहर्गण, किंवा ३ स्तोम बतलाए गए हैं। यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है तो ४८ स्तोम हो जाते हैं। त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक वषट्कार वाङ्मय स्तोमविवर्त्त में एकविंश स्तोम पर्यन्त इन्द्रात्मक अग्निःशुक्र व्याप्त है, त्रिणवस्तोमपर्यन्त विष्णुमय आपःशुक्र की प्रतिष्ठा है, एवं त्रयस्त्रिंशस्तोम पर्यन्त वाङ्मय ब्रह्मा का साम्राज्य है। ३४वें अहर्गण में विशुद्ध ब्रह्मा प्रतिष्ठित है। अष्टाचत्वारिंशत्स्तोमात्मक वषट्कार में २१ पर्यन्त अग्निः, ३३ पर्यन्त आपः, एवं ४८ पर्यन्त वाक् है। इन तीनों की आधार भूमि वही अग्नि-गर्भित इन्द्र, सोमगर्भित विष्णु, एवं ब्रह्मगर्भित वाक् है। जहाँ तक अग्निगर्भित इन्द्र व्याप्त है, वह द्युलोक है, यही द्यौ है। जहाँ तक विष्णुगर्भित अप्सत्त्व व्याप्त है, वह गोलोक है, एवं ब्रह्मगर्भित वाङ्मलोक ही ‘वाक्’ है। केन्द्रस्थ अग्निगर्भित इन्द्र, सोमगर्भित विष्णु, तथा ब्रह्मा-युक्त वाक् तत्त्व ही वितत होकर ४८ पर्यन्त व्याप्त हुआ है। वाक् का यह वितान ही इसका प्रथम है। इसीलिए—“यदप्रथमत्” इस निर्वचन के अनुसार इस भौमविवर्त्त को ‘पृथिवी’ कहा जाता है। यह पृथिवी उस भूपिण्ड के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में पृथिवी के केन्द्र में भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इसके चारों ओर प्रथम स्तर अग्नि का है, द्वितीय स्तर आपः (जल) का है एवं तृतीय स्तर वाक् का है।

इस स्तरभाव का यह अभिप्राय नहीं है कि अग्नि के अनन्तर अप्सस्तर का एवं अप्सस्तर के अनन्तर वाक्स्तर का आरम्भ होता है। अपितु तीनों स्तरों का उपक्रम भूकेन्द्र ही है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ पर्यन्त व्यापक वाक्स्तर है। केन्द्र से ३३ पर्यन्त अप्सस्तर है एवं भूकेन्द्र से २१ पर्यन्त अग्निस्तर है। इसीलिए युग्म-अयुग्म स्तोमों की व्यवस्था केन्द्र से ही की जाती है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ पर्यन्त प्रतिष्ठित रहने वाले उपर्युक्त त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश, ये ६ ओं स्तोम अयुग्मस्तोम हैं एवं केन्द्र से ४८ पर्यन्त गायत्री के सम्बन्ध से चतुर्विंशस्तोम, त्रिष्टुप् के सम्बन्ध से चतुश्चत्वारिंशस्तोम एवं जगती के सम्बन्ध से अष्टाचत्वारिंशस्तोम, ये तीन छन्दोमास्तोम हैं, ये ही “युग्मन्ति स्तोमानि” हैं।

भूपिण्ड पञ्चीकृत प्राणादि से निष्पन्न हुआ है। ऐसी अवस्था में इसमें ब्रह्मादि पाँचों अक्षरों से नित्य युक्त प्राणादि पाँचों क्षरप्रकृतियों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।
लोकसाहस्री—स्वरूप परिचय भूपिण्ड में प्राणमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु, वाङ्मय इन्द्र, अन्नादमय अग्नि, अन्नमय सोम, पाँचों का भोग सिद्ध है। ये पाँचों ही भूतात्मक, प्राणात्मक (देवात्मक), भेद से दो भागों में विभक्त हैं। इनमें भूतात्मक पाँचों से तो भूपिण्ड का निर्माण

हुआ है, एवं प्राणात्मक पाँचों वण्टकारात्मिका पृथिवी के स्वरूप समर्पक हैं। भूषण्ड में केन्द्र और पिण्ड, ये दो भाग हैं। इनमें केन्द्र में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-प्रतिष्ठित है। स्वयं पिण्ड भूतप्रधान अग्नीषोममय है। इस प्रकार भूषण्ड में पाँचों का भोग सिद्ध हो जाता है। पृथिवी के २१ पर्यन्त अग्निगर्भित इन्द्र है, ३३ पर्यन्त सोमगर्भित विष्णु है, एवं ४८ पर्यन्त ब्रह्मा है। इस स्तोम क्रम से पृथिवी में अमृत प्रधान इन पाँचों का भोग सिद्ध हो जाता है, स्वयम्भू का जो अंश प्रवर्ग्य बन कर पृथिवी में आता है, वही ४८ स्तोम में प्रतिष्ठित होकर पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है। परमेष्ठी का प्रवर्ग्यांश ३३ पर प्रतिष्ठित है, एवं सूर्य का प्रवर्ग्यांश २१ पर प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा स्वयं पृथिवी का ही उपग्रह है। अष्टाक्षत्वारिंशस्तोम पृथिवी की अन्तिम परिधि है। इस का जगती छन्द से सम्बन्ध है। अतः समष्ट्यात्मिका भूपिण्डयुक्ता इस महापृथिवी को हम “जगती” कहेंगे। “यत् किञ्च जगत्यां जगत्” (ईशोपनिषत्) से यही जगती अभिप्रेत है। यदि ३३ वें अर्हर्गण पर्यन्त पृथिवीलोक अपेक्षित है, तो ऐसी अवस्था में इसे हम जगती न कह कर “सागराम्बरा” कहेंगे। कारण, ३३ का स्तर आपोमय है। यही सागर (अर्णवसमुद्र) अग्न्यवच्छिन्न पृथिवी का आवरण बना हुआ है। यदि २१ विंशस्तोमपर्यन्त पृथिवी लोक अपेक्षित है, तो ऐसी अवस्था में इस पृथिवी को हम “उरुष्या” कहेंगे। कारण, उरुष्याग्नि एकविंश पर्यन्त ही व्याप्त है। यदि अन्तरिक्ष पर्यन्त पृथिवी लोक अपेक्षित होगा, तो उस अवस्था में हम इसे “मेदिनी” कहेंगे। कारण, मेदभाव-प्रवर्तक घृताक्त वायु अन्तरिक्षस्थानीय इसी पञ्चदश स्तोम में व्याप्त है। यदि केवल पिण्ड ही लक्ष्य रहेगा, तो उस अवस्था में हम इसे “भूमि” कहेंगे। यहाँ प्रथन का अभाव है। जगती-सागराम्बरा-उरुष्या-मेदिनी-दिति-अदिति, सब का प्रथन भाव से सम्बन्ध है, अतः इन सब को पृथिवी नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। पृथिवी इनका साधारण नाम है। परन्तु-पिण्डभाग केवल भूमि-धरा-धरित्री-धरणी-क्षमा-इत्यादि नामों से ही व्यवहृत होगा। फलतः विज्ञान काण्ड में भूमि और पृथिवी को परस्पर में पर्याय समझना एवं उक्त जगती आदि नामों में पर्याय सम्बन्ध मानना नितान्त असंगत हो जाता है।

ब्रह्म के सम्बन्ध से पूर्व में वाक्-साहस्री का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रसंगोपात्-लोक-वेद-साहस्री का भी नाम मात्र जान लेना अनावश्यक न होगा। अग्निमूर्ति इन्द्र ही वेद साहस्री का प्रवर्तक है। २१ पर्यन्त व्याप्त रहने वाला इन्द्रमूर्ति अग्नि-वायु-आदित्य, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। इन्हीं तीनों से क्रमशः यज्ञस्वरूप समर्पक, अतएव यज्ञमात्रिक नाम से प्रसिद्ध पार्थिव शरात्मक ऋक्-यजुः-साम का विकास होता है। वेदसाहस्री है। सोमगर्भित विष्णु ही लोकसाहस्री के प्रवर्तक हैं। ३३ पर्यन्त व्याप्त रहने वाला विष्णु-मूर्ति-सोम, किंवा आपः ही भूकेन्द्र से ३३ पर्यन्त व्याप्त होता हुआ-“पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-आपः” इन चार लोकों का आरम्भक बनता है। यही तीसरी लोकसाहस्री है। इसी त्रयी को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

“उभा जिज्ञथुर्न पराजयेथे न पराजिज्ञे कतरश्च नैनोः ।

इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रैधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥

(ऋक्सं० ६।६।८) ।

किं तत् सहस्रमिति ? — इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात् ।”

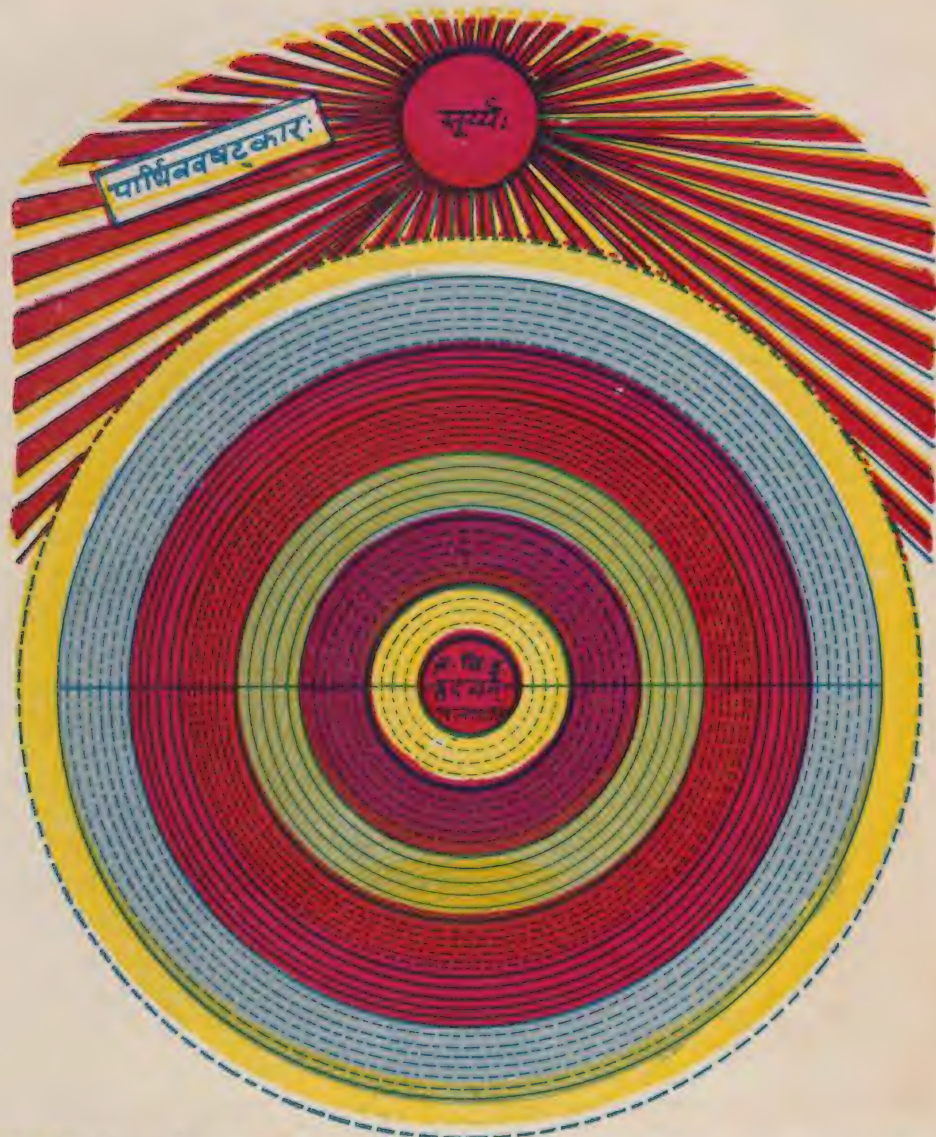
(ऐ० ब्रा० ६।१५) ।

भौम प्रपञ्च के सभी विवर्तों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया गया । अब केवल दिति-अदिति का स्वरूप अवशिष्ट रहता है । संक्षेप से उसका भी दिग्दर्शन करा इस आधिभौतिक प्रकरण को समाप्त किया जाता है ।

पृथिवी का वह भाग, जो सूर्य की ओर रहता हुआ प्रकाश से युक्त रहता है, उसीको पूर्व में हमने-अदिति कहा है । उल्थापृथिवी, ३३ यज्ञिय देवता, अग्नित्रयी, वितान-अदिति-दिति-विवर्त नयज्ञ, सब कुछ इसी अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित है । विराट्-प्रजापति नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति स्वयं ईश्वर प्रजापति भी इसी अदिति के गर्भ में जन्म लेते हैं । अदिति पृथिवी ही जगन्माता है । भूपिण्डस्थ अग्नि की पूर्व में मर्त्य-अमृत भेद से दो अवस्थाएँ बतलाई गई हैं । मर्त्य अन्नादाग्नि भूत है, अमृत प्राणाग्नि रस है । यही रसाग्नि ऊपर जाता हुआ उल्थ नाम से प्रसिद्ध होता है । बाह्यमय वषट्कार के त्रिवृत-स्तोम पर्यन्त यह रसाग्नि घनभाव से रहता है, यही घनाग्नि अग्नि कहलाता है । पञ्चदशस्तोम पर्यन्त वितत होकर यही तरलावस्था में परिणत होजाता है । इसी तरलाग्नि को वायु कहा जाता है । आगे जाकर वितत होता हुआ यह अग्नि वाष्पावस्था में परिणत हो जाता है । इसकी स्थिति सप्तदशस्तोम पर है । विरलावस्था-पक्ष इसी अग्नि को आदित्य कहा जाता है । त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न वषट्कार के अर्द्ध भाग में अमृताग्नि का साम्राज्य है एवं अर्द्धभाग में सोम प्रतिष्ठित है । १६ पर्यन्त अग्नि है, ३३ पर्यन्त सोम है, सत्रहवां स्थान इसका केन्द्र है । यही आहवनीय है । इसमें ऊर्ध्वस्थित सोम की आहुति होती है । इसी सोमाहुति के कारण “आहूयते यत्र सोमः” के अनुसार यह सप्तदशस्तोमावच्छिन्न आदित्याग्नि आहवनीय कहलाता है । आदित्याग्नि दाहक है, सोम दाह्य है । दाह्य सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो जाता है । प्रज्वलित होकर यह एकविंशस्तोम पर्यन्त व्याप्त होजाता है । इस प्रकार १५ से १७ पर्यन्त मूलरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले इस आदित्याग्नि का २१ स्तोम पर्यन्त वितान होजाता है । अग्नि पृथिवी-लोक का अधिष्ठाता माना जाता है । इस सामान्य परिभाषा के अनुसार भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ स्तोमावच्छिन्न इस आग्नेय प्रदेश को हम यज्ञिया-पृथिवी मानने के लिए तैयार हैं । अग्नित्रय को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली सूर्यानुगता यह महापृथिवी ही “अदिति” है । अग्नि की इन्हीं तीन रसावस्थाओं का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

“आपो वाऽअर्कः । तद्यदपां शर आसीत्, तत्समहृयत । सा पृथिव्यभवत् । तस्यामश्राम्यत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्तताग्निः । स त्रेधात्मानं व्याकुरुत-आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम् । स एष प्राणः (प्राणाग्निः-अमृताग्निः) त्रेधा विहितः” (शत० १०।६।१२) ।

पार्थिव वषट्कार परिलेखः—



जिस स्थान पर वेदावच्छिन्न सौर सम्बत्सराग्नि एवं विवस्वत पार्थिव उल्थाग्नि का समन्वय होता है वही प्रदेश विराट्-पुरुष की आधार भूमि है। सुप्रसिद्ध भूपिण्ड ही भूमि है। पृथिवी इसी भूपिण्ड के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में पृथिवी के केन्द्र में भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इसी भूपिण्ड का प्राणाग्नि रसरूप से बाहर निकल कर अपना मण्डल बनाता है। वाक्-आपः-अग्नि का समुच्चित रूप ही भूपिण्ड है। इन तीनों शुक्रों के आधार पर क्रमशः द्यौ-गौ-वाक् नामक पार्थिव मनोताम्रों का उदय होता है। केन्द्रस्थ भाग हृदय कहलाता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र की समष्टि ही हृदय प्रजापति है। इसी हृदय प्रजापति से ३३ अहर्गण पर्यन्त ६-१५-२१-२६-३३ इस क्रम से पाँच प्रधान स्तोम हो जाते हैं। यह पञ्चस्तोमात्मक वाङ्मण्डल कहलाता है। जिस प्रकार अन्तर्मण्डलरूपी भूपिण्ड का निश्चित केन्द्र होता है। इसी प्रकार इस बहिर्मण्डल का भी एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है वह स्थान १७वां अहर्गण माना गया है। यही स्थान सप्तदश-प्रजापति, उद्गीथ प्रजापति इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही छठा स्तोम है। इसलिए इन्हीं छः स्तोमों के कारण यह वाङ्मण्डल "वषट्कार" कहलाया है।

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न घनावस्थापन्न अग्नि की घनता में तारतम्य है। इसी तारतम्य से इसकी अवान्तर आठ अवस्थाएँ हो जाती हैं। तरलावस्थापन्न रुद्रमूर्ति वायु की अवान्तर ११ अवस्थाएँ ही ११ रुद्र हैं। विरलावस्थापन्न आदित्याग्नि की अवान्तर १२ अवस्थाएँ ही १२ आदित्य हैं। इस प्रकार अग्निप्रमुख आठ वसु, वायु प्रमुख ग्यारह रुद्र, इन्द्रज्येष्ठ १२ आदित्य भेद से ३१ प्राण देवता हो जाते हैं। त्रिवृत्-पञ्चदश, पञ्चदश-एकविंश, इन दो सन्धियों में रहने वाले दो प्राण अश्विनी नाम से प्रसिद्ध हैं। वही अग्नि पहले अग्नि-वायु-आदित्य, इन तीन स्वरूपों में परिणत होता है। अनन्तर इसीकी अवान्तर ३३ अवस्थाएँ हो जाती हैं। ये ही ३३ यज्ञिय देवता हैं। इन्हीं को लक्ष्य में रख कर यजुः-श्रुति कहती है—

इति स्तुतासो असथा रिशादशो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।

मनोर्देवा यज्ञियासः ॥ (ऋक् सं० ८।३०।२)

सम्पूर्ण देवता एक मात्र अग्नि के ही विवर्त हैं—“अग्निः सर्वा देवताः”—“अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्”। उक्त तीनों अग्नियों में त्रिवृदवच्छिन्न घनाग्नि गार्हपत्याग्नि है, यह एकाकी है। एक-विंशोऽवच्छिन्न आदित्याग्नि आहवनीयाग्नि है यह भी एकाकी है। मध्य के तरलाग्नि में आठ नाक्षत्रिक सर्पप्राण प्रविष्ट रहते हैं। इन नाक्षत्रिक धिष्ण्य प्राणों के समावेश से यह आन्तरिक्ष अग्नि अष्टकल बन जाता है। इस यज्ञिय क्रम से १-गार्हपत्य, ८ धिष्ण्य, १ आहवनीय, इस प्रकार पाथिब अग्नि दशकल बन जाता है। यही दशाक्षर विराट् छन्द के अनुसार रुद्रमूर्ति विराट् भगवान् हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनेवाला है। जिस प्रकार आग्नेय लोक पृथिवी कहलाता है, एवमेव वायव्यलोक अन्तरिक्ष एवं आदित्यलोक द्यु नाम से प्रसिद्ध है। इस परिभाषा के अनुसार एक ही अग्नि की व्याप्ति के कारण जहाँ ६-१५-२१ स्तोमयुक्त महाप्रदेश को हमने महापृथिवी कहा था, एवमेव इस महापृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित ६-१५-२१, इन तीनों स्तोम प्रदेशों को क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-द्वारा शासित होने के कारण क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न घनाग्नि प्रदेश महा-पृथिवी के गर्भ में रहने वाला पृथिवीलोक है, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न तरलाग्नि (वायु) प्रदेश महापृथिवी के गर्भ में रहने वाला अन्तरिक्षलोक है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न विरलाग्नि (आदित्य-) प्रदेश महापृथिवी के गर्भ में रहने वाला द्यूलोक है। इस प्रकार महापृथिवीरूपा अदिति के गर्भ में पु० अ० द्यौ, इन तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। विज्ञानभाषा में पृथिवी को माता कहा जाता है, द्यौ को पिता कहा जाता है—“द्यौर्ष्वितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने०” (ऋक् सं० ६।१५।५)। इस परिभाषा के अनुसार अदितिरूपा महापृथिवी त्रिवृत्स्तोमावच्छेदेन पृथिवी स्थानीया बनती हुई माता है, एकविंशस्तोमावच्छेदेन द्युस्थानीया होती हुई पिता है। अदिति के इसी स्वरूपविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

अदित्यौरदितिरन्तरिक्षमादितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१॥

(ऋक् सं० १।६९।१६)

अदितिर्द्यावापृथिवी ऋतं महद्दिन्द्राविष्णू भरुतः स्वर्बृहत् ।

देवां आदित्यां अश्वसे हवामहे वसुन्द्रुन्त्सवितारं सुदंससम् ॥२॥—ऋक् सं० १०।६६।४

वसु-रुद्र-सविता-अग्नि-वायु-आदित्य, आदि सभी देवता यहीं प्रतिष्ठित हैं, इसी के पुत्र हैं।
जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

अदित्यां जज्ञिरे देवास्यस्त्रिशदरिन्दम् !

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परन्तप ! बाल्मीकिरामा०

इन सब देवताओं का स्वरूपधर्म आगे की पितृदेवता-स्वरूपविज्ञानोपनिषत् में बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि भू पृष्ठ से संलग्न वषट्कार के एकविंश-स्तोम पर्यन्त व्याप्त महापृथिवी का सूर्याभिमुख, अतएव प्रकाशित, त्रैलोक्यात्मक अर्द्धभाग ही अदिति पृथिवी है। स्तोम सम्बन्ध से ही इस महापृथिवीरूपा अदिति त्रिलोकी, किंवा उरुया त्रिलोकी को "स्तोम्य-त्रिलोकी" कहा जाता है। 'या प्राणेन सम्भवत्पदितर्देवतामयी' (कठ० ६।७) के अनुसार इस का प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध है, यह देवतामयी है। इस के सम्बन्ध में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि, सौर सम्बन्ध प्राण के आगमन से ही इसका स्वरूप निष्पन्न होता है, जैसा कि पूर्व के अश्व-महाव्रत-उक्थ्य-प्रकरण में बतलाया जा चुका है, सौर तेज सावित्री रूप से भूपिण्ड पर आता है। भूपिण्ड के दोनों प्रांतों को काटता हुआ वह आगे निकल जाता है। आगे जा कर भूच्छायारूप राहु का शिरच्छेद करता हुआ यह सावित्र सौर प्रकाशः पुनः मण्डलरूप में परिणत हो जाता है। जितना सा सौर प्रकाश भूपृष्ठ से संलग्न रहता है, वह सत्य भाव के कारण वापस लौटता हुआ, गो पृथिवी से सम्बन्ध होने के कारण गायत्री नाम से प्रसिद्ध होता है। इसी को अश्व कहा जाता है—(देखिये ऐ० ब्रा० ६।५)। जैसा आकार भू के सूर्य विरूद्ध दिक् में प्रतिष्ठित भूच्छाया का है, ठीक वैसा ही आकार इस अश्व का है। यही ज्योतिर्मय सौर अश्व किंवा ज्योतिर्मया गायत्री अदिति की प्रतिष्ठा है। अदिति सहचारिणी तमोमयी अर्द्ध-भागात्मिका वषट्कार-पृथिवी दिति-पृथिवी है। यही असुरों की आवास भूमि है। दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'देवेभ्यश्च जगत् सर्वम्' (यजुः ३।२०१) के अनुसार अदितिमय देवता एवं चकार से परिग्रहीत दितिगर्भ में प्रतिष्ठित असुर ही स्तोम्य त्रैलोक्य में रहने वाली प्रजा के आरम्भक बनते हैं। इन दोनों में से त्रैलोक्य का विकास (देवता के सम्बन्ध से) केवल अदिति पृथिवी में ही होता है। इसी पार्थिव विवर्त को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“इयं ये पृथिव्यदितिः, सेयं देवानां पत्नी”—शत० १।३।१।४

“ऋत्विजो वा इमाः पृथिव्यः । इयमहैका, द्वेऽस्याः परे” (शत० ५।१।५।२१)

ॐ भूपिण्ड एक पृथिवी है, स्तोमत्रययुक्ता महापृथिवी दूसरी पृथिवी है। इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित त्रिवृत्स्तोमस्थानीया तीसरी पृथिवी है। इन तीनों में "इयमहैका" के अनुसार एक का भूपिण्ड से सम्बन्ध है, शेष दोनों का परस्थानरूप महिमामण्डल से सम्बन्ध है, यही तात्पर्य है।

“अश्वा (अश्वरूपा) ह वा ऽइयं भूत्वा मनुमुवाह” (शत० १४।१।३।२५)

“इयं वे देव्यदितिर्विश्वरूपी” (तै० ब्रा० १।७।६।७)

“तस्या एतत् परिमितं रूपं यदन्तर्वेदि (भूपिण्डः) अथैष भूमाऽपरिमितो यो

❁ बहिर्वेदिः (महापृथिवी) (ऐ० ८।५) ।

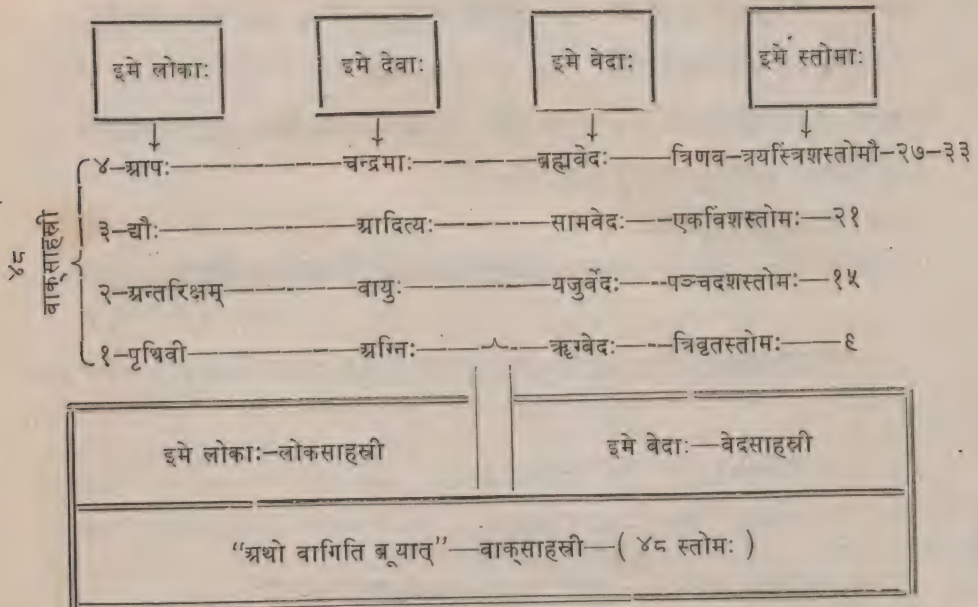
“गायत्री वाऽइयं पृथिवी” (४।३।४।६) ।

“पृथिव्यामिमे (पृथिवी-अन्तरिक्षं-द्यौरिमे त्रयो) लोकाः प्रतिष्ठिताः”
(जै० उ० १।१०।२) ।

भू-विवर्त के सम्बन्ध से अब तक जो कुछ कहा गया है, वह आगे के परिलेखों से सर्वथा बुद्धि-
ग्राह्य बन जाता है ।

महापृथिवीऽमृतम्	<div> <div>४८</div> <div>[१—ब्रह्मा (प्राणः)—अक्षरब्रह्मा]</div> </div> <div> <div>३३</div> <div>{ २—विष्णुः (आपः)—अक्षरविष्णुः</div> <div>{ ३—सोमः (अन्नम्)—अक्षरसोमः</div> </div> <div> <div>२१</div> <div>{ ४—इन्द्रः (वाक्)—अक्षरेन्द्रः</div> <div>{ ५—अग्निः (अन्नादः)—अक्षराग्निः</div> </div>	—अश्वत्थाय नमो नमः	} विवर्तम्
भूपिण्डः मृत्युः	<div> <div>पिण्डः</div> <div>{ ५—अग्निः (अन्नादः)—क्षरअग्निः</div> <div>{ ४—सोमः (अन्नम्)—क्षरसोमः</div> </div> <div> <div>अन्तर्यामी</div> <div>{ ३—इन्द्रः (वाक्)—क्षरइन्द्रः</div> <div>{ २—विष्णुः (आपः)—क्षरविष्णुः (मध्यतो विष्णुरूपिणे)</div> <div>{ १—ब्रह्मा (प्राणः)—क्षरब्रह्मा (मूलतो ब्रह्मरूपाय)</div> </div>	—अग्रतः शिवरूपाय	

❁ नित्ययज्ञ में भूपिण्ड हविर्यज्ञ की वेदि है, इसी को यज्ञभावा में अन्तर्वेदि कहा जाता है, एवं २१ स्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी सोमयज्ञ की प्रतिष्ठारूपा महावेदि है । इसे ही बहिर्मण्डलात्मिका होने से ‘बहिर्वेदि’ कहा जाता है । महापृथिवी के इसी याज्ञिक रूप के आधार पर—“इयं वे देविः” (शत०—७।३।१।१५) । “एतावती वे पृथिवी, यावती वेदिः” (तै० ब्रा० ३।२।६।१२)—“तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी इति” (शत० १।२।५।७) “वेदिर्वे परोऽन्तः पृथिव्याः” (तै० ३।६।५।५) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं ।



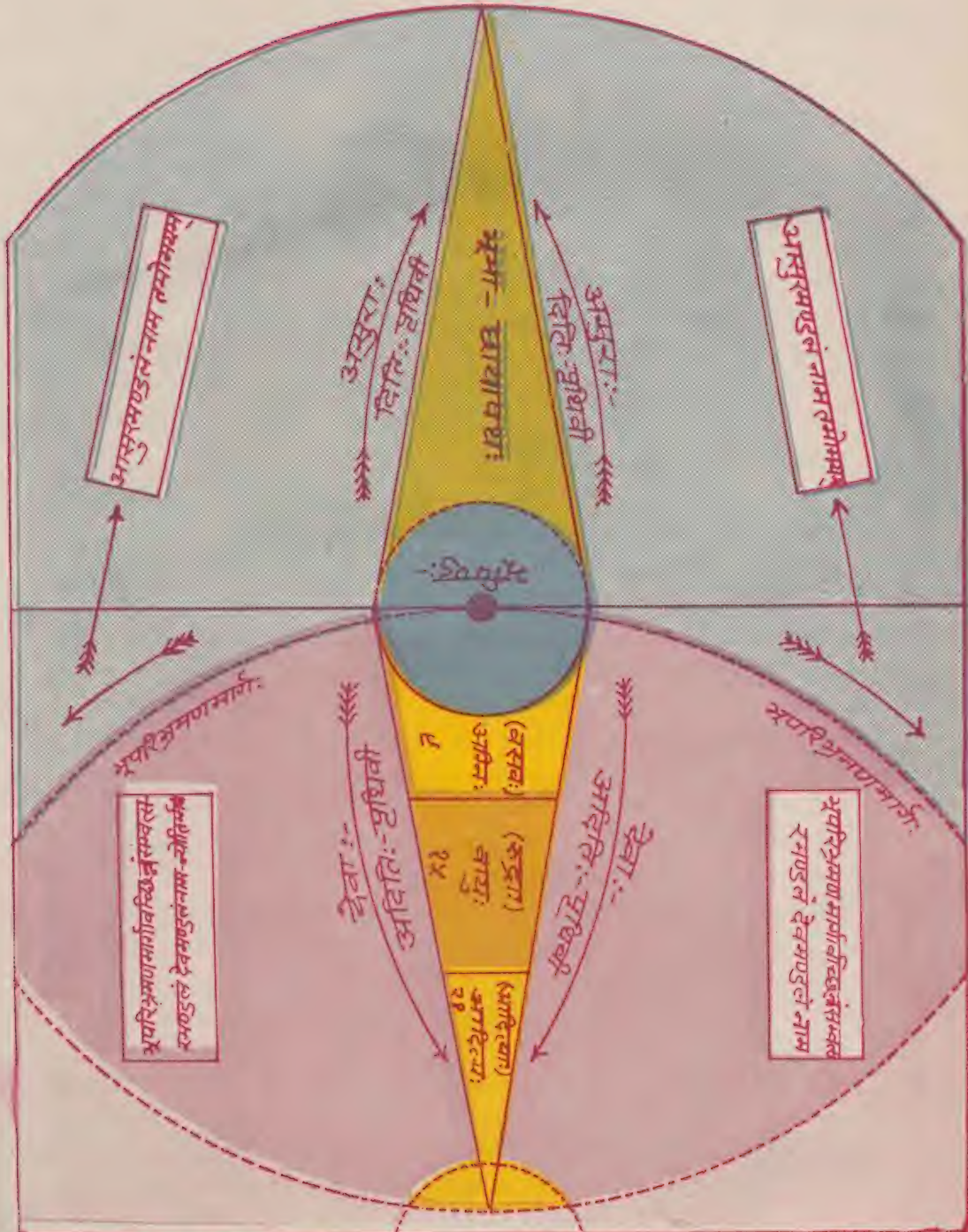
पूर्व के भौमविवर्त-निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पृथिवी भिन्न वस्तु है एवं भूपिण्ड भिन्न वस्तु है। भूपिण्ड-भूतप्रधान है, पृथिवीमण्डल देवप्रधान है। भूतमय भूपिण्ड सर्वभूतान्तरात्मा का अन्नाद-प्रकृति से सम्बन्ध है, अन्नादतत्त्व ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध रखता है। अतएव ईश्वरीय आत्मसंस्था-क्रम में हम इसे ब्रह्मसत्यात्मा, किंवा भूतात्मा कहेंगे। देवता-मयी पृथिवी का प्राणात्मक उरुयाग्नि से सम्बन्ध है। प्राणतत्त्व ही देवता है। इसका विकास-अदिति पृथिवीस्वरूप-समर्पक एकविंशस्तोम पर्यन्त है। इस प्रकार २१ पर्यन्त व्याप्त, अग्नि-वायु-आदित्यात्मक इस प्राणाग्नि को हम प्राणात्मा किंवा देवसत्यात्मा नाम से व्यवहृत करेंगे। इसी देवसत्य का नाम विराट् प्रजापति है, यही ईश्वर है। स्मरण कीजिए अश्वत्थवृक्ष की पञ्चपुण्ड्रीका बल्गा का। ईश्वर को साक्षीसुपर्ण-सर्वभूतान्तरात्मा, इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। गुहानिहित विज्ञानरहस्य का प्रसादभाषा में निरूपण करते हुए कहा जाता है कि, ‘एक ही वृक्ष पर सुनहरे पक्ष (पंख-पर) वाले जोड़ले पक्षो बैठे हैं। इन दोनों में एक पक्षी उस वृक्ष का फल खा रहा है, एक पक्षी फल खाने वाले की चौकसी कर रहा है।’ इन दोनों पक्षियों का एक ही वृक्ष में प्रतिष्ठित रहना केवल अध्यात्मसंस्था की अपेक्षा से ही उपपन्न हो सकता है। पूर्वप्रतिपादित चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरकात्मा, इन तीनों में व्यापक षोडशी चिदात्मा है। वह जन्मातीत बतलाया गया है। बाकी वचा हुआ प्रत्यगात्मा उस व्यापक का ही अंश होने से चिदंश है। यद्यपि यह व्यापक षोडशी की अपेक्षा परिच्छिन्न है, व्याप्य है, तथापि पाथिव चतुर्दशविध भूत सर्ग में एक रूप से व्याप्त होने के कारण इसे सर्वभूतान्तरात्मा कह दिया जाता है। जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध शारीरकात्मा (चिदाभास) इसी का अंश है, जैसा कि वहीं स्पष्ट कर

भूविवर्त्तम् परिलेख—



भूविवर्त्त के लिए, "भूमि, पृथिवी, दिति, अदिति, मेदिनी, सागराम्बरा, मही, आषाढा" इत्यादि अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं। भूपिण्ड में केन्द्र और पिण्ड ये दो भाग हैं। इनमें केन्द्र में 'ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र' प्रतिष्ठित हैं। स्वयं पिण्ड भूतप्रधान अग्निधोममय है। इन्हीं ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र की समष्टि ही हृदय प्रजापति है। इनमें ब्रह्मा एकाकी है, विष्णु के साथ सोम का सम्बन्ध है, इन्द्र के साथ अग्नि का सम्बन्ध है। ब्रह्माक्षर यौमय, विष्णुसोमाक्षर गौमय, इन्द्राग्निक्षर वाङ्मय है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ स्तोम पर्यन्त ब्रह्मागभित वाक्स्तर केन्द्र से ३३ पर्यन्त विष्णुगभित अपस्तर व भूकेन्द्र से २१ स्तोम पर्यन्त इन्द्राग्निगभित अग्निस्तर व्याप्त होते हैं। इसी को अग्रादाग्नि भूति भी कहा जाता है।

दित्यदिति मण्डल परिलेखः—



महापृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित ६-१५-२१ स्वीम प्रदेशों को क्रमशः अग्नि-वायु-प्रादित्य द्वारा ज्ञानित होने के कारण पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ नामों से व्यवहृत करते हैं। सूर्याभिमुख अर्थात् प्रकाशित ज्योतिर्मय भाग अदिति पृथिवी देवमण्डल कहलाता है। अदिति की सहचारिणी अर्द्धभागान्तिका दिति पृथिवी असुरमण्डल कहलाता है।

दिया गया है। इन दोनों में सर्वभूतान्तरात्मा वही सुप्रसिद्ध अग्नित्रयमूर्ति, अदिति त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित देवसत्यात्मा है।

प्रकारान्तर से देखिए। पूर्व में प्रजापति के सहेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर, ये चार विवर्त बतलाए गए हैं। इसी विभाग को आत्मा-ब्रह्म-देवता, भेद से देखिए।
आत्म-ब्रह्म-देव-विभूतित्रयी इन तीन विभागों का मूलकारण अव्यय-अक्षर-क्षरमूर्ति, त्रिपुरुष-पुरुषात्मक अमृतात्मा ही है। क्षराक्षरगर्भित अव्ययप्रधान वही आत्मा आत्मा है। अव्ययक्षरगर्भित अक्षरप्रधान वही आत्मा ब्रह्म है, एवं अव्ययाक्षरगर्भित क्षरप्रधान वही आत्मा देवता है। मूल आत्मा ही ब्रह्म और देवभेद से दो प्रधान विभागों में परिणत होता हुआ मीमांस्य बन रहा है। इन दोनों में अव्ययप्रधान आत्मा चिद्वन बनता हुआ चिदात्मा है। शेष दोनों अंशरूप होने से “चिदंश” हैं। एक चिदात्मा है, दो चिदंशात्मा है। ये तीनों ही पुनः दो-दो भागों में विभक्त हैं। इस प्रकार संभूय आत्मविवर्त पटुसंस्थ बन जाता है।

इन ६ विवर्तों के प्रधान कारण माया-कला, आदि पूर्वोक्त ४ परिग्रह ही हैं। माया-परिग्रह के सम्बन्ध से विणुद्ध परात्पर ही अंशात्मा ससीम बनता हुआ निष्कल पुरुष है, इसी को हमने पूर्व में महेश्वर कहा है। कला-परिग्रह के सम्बन्ध से वही षोडशकल बनता हुआ षोडशीपुरुष है। दोनों में पहला विणुद्ध अव्यय है, दूसरा अक्षरक्षरगर्भित अव्ययप्रधान है। यही पहला आत्मविभाग है। यह सर्वव्यापक (महामायाव्यापक-महाविश्वव्यापक), अतएव खण्डात्म-मय्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। दूसरा है चिदंशरूप ब्रह्मविवर्त। इसके भी दो रूप हैं। समष्टि इसका पहला रूप है, व्यष्टि इसका दूसरा रूप है। स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्ड पर्यन्त उस अश्वत्थवृक्ष की एक शाखा मानी गई है। इस सम्पूर्ण शाखा में एकरूप से रहने वाला अवार-पारीण (इस छोर से उस छोर तक रहने वाला) समष्टिरूप एकात्मक चिदंश ही बलेश्वर नाम का पहला ब्रह्मविवर्त है। षोडशीपुरुष सहस्रबल्शात्मक महाविश्व का साक्षी था, यह पञ्चपर्वीयक बल्शरूप खण्डविश्व का साक्षी है। यही आगे जाकर व्यष्टिरूप में परिणत होता हुआ पांच भागों में विभक्त हो जाता है। स्व० पर० सु० च० भू०, पाँचों में पृथक् पृथक् साक्षी आत्मा प्रतिष्ठित हैं। पाँचों अपनी संख्या के स्वतन्त्र सञ्चालक हैं। इन पाँचों का साक्षी, पाँचों विभिन्नों में अभिन्नरूप से व्याप्त उक्त बलेश्वर प्रतिष्ठित है। परस्पर की अपेक्षा से अतिविदूर, अतएव असमीपरूप से प्रतिष्ठित ये पाँचों उस एक ही के उप (समीप) बैठे हुए हैं अतएव इन्हें उपेश्वर कहा जाता है। बलेश्वर यद्यपि अश्वत्थेश्वर की अपेक्षा चिदंशरूप था परन्तु इन उपेश्वरों की अपेक्षा यह चिदात्मा है, उपेश्वर चिदंशरूप भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। इन दोनों में बलेश्वर विणुद्ध अक्षरमूर्ति है एवं उपेश्वर क्षराव्ययगर्भित अक्षरप्रधान है। इन दोनों का क्रमशः गुण-विकास नाम के दो परिग्रहों से सम्बन्ध है। बलेश्वर सगुण सत्यप्रजापति है, उपेश्वर सविकार-यज्ञप्रजापति है। तीसरा है चिदंशरूप देवविवर्त। इसके भी साक्षी भोक्ता-रूप से दो विवर्त हैं। ब्रह्मसत्यात्मिका बल्शा के भूरूप अग्रभाग से सम्बन्ध रखने वाले पृथिवी विवर्त से ही इन दोनों का सम्बन्ध है। त्रैलोक्य व्यापक अग्नित्रयमूर्ति देव सत्यात्मा साक्षी है। यह यद्यपि उपेश्वरादि की दृष्टि से चिदंश है, परन्तु जीवमृष्टि को अपने गर्भ में रखने के कारण जीवमृष्टि की अपेक्षा से यह चिदात्मा ही कहा जायगा इसी को भौतिक

पार्थिव विवर्त्त में व्याप्त रहने के कारण "सर्वभूतान्तरात्मा" कहा जाता है। चिदात्मरूप सर्वव्यापक (भौमत्रैलोक्य में व्यापक) इस सर्वभूतान्तरात्मा के आगे जाकर प्रत्यगात्मा, शारीरकात्मा, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित रहने वाला, केवल पार्थिव विवर्त्तरूप आधिभौतिक प्रपञ्च का साक्षी रहने वाला वही चिदात्मा कहलाता है। अध्यात्म-संस्था में प्रविष्ट होकर यही अपने दो रूपधारण कर लेता है। अश्वत्थवृक्ष कर्म-ब्रह्म, भेद से दो भागों में विभक्त है। इनमें ब्रह्माश्वत्थ का सम्बन्ध आधिभौतिक संस्था से है, एवं कर्माश्वत्थ का सम्बन्ध अध्यात्मसंस्था से है। इसी में फल भोगने के लिए प्राणी को आना पड़ता है। इस फलभोक्ता प्राणी के साथ उसी हृदयस्थान में साक्षीरूप से सर्वप्राणी-समान वही त्रैलोक्य व्यापक साक्षी आत्मा सर्वभूतसाधारणापेक्षया एकरूप से किन्तु तत्तच्छरीरोपाधि-भेद से तत्तच्छरीरावच्छिन्न बनता हुआ चिदंश रूप से प्रतिष्ठित होता है। यही प्रत्यगात्मा है। इस प्रकार एक ही कर्माश्वत्थ के शाखारूप एक ही शरीर में (केन्द्र में), एक ही स्थान पर अभिन्नरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए अतएव 'सयुजौ' (जोड़ले) नाम से प्रसिद्ध ये दोनों प्रतिष्ठित हो रहे हैं इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं (एकं) वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
—मुण्डकोपनिषत् (३।१।११)

इन दोनों चिदंशों में प्रत्यगात्मरूप साक्षी चिदंश शरीरोपाधिक बनता हुआ भी, सूर्यग्रातपवत् चेत-
मारूप से सूर्यप्रतिबिम्बस्थानीय सर्वथा विभिन्न जीवात्माओं का समा-
नोपकारक बनता हुआ उस त्रैलोक्य व्यापक साक्षी से अभिन्न है। अतः
आत्मगत्यधिष्ठाता—सुपर्णात्मा इसका, और उसका अभेद मानते हुए दोनों को एक ही तत्त्व मान लिया जाता है। जो चिदात्मा है, वही शरीरोपाधिक, परमार्थतः निरुपाधिक रहता हुआ, शरीर दोषों से सर्वथा निर्लिप्त रहता हुआ प्रत्यगात्मा है। इसका उस सविकार यज्ञप्रजापति में अन्तर्भाव है। यही सर्वभूतान्तरात्मा नाम का पहला देवसत्तात्मा है। दूसरा जीवात्मा इसी का अंशरूप चिदाभास लक्षण शारीरकात्मा है। इसी का अञ्जन परिग्रह से सम्बन्ध है। यही साञ्जन प्रतिशरीर भिन्न प्रत्यगात्मात्मा से नित्य अविनाशूत भोक्ता जीवात्मा अपनी अपनी प्रातिस्विक भूतसंस्था का अभिमानी बनता हुआ "भूतात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। मधुरूप फल भोगने के कारण ही महर्षि कठ ने "मध्वद" (मधुरूप फल खाने वाले वाला) नाम से व्यवहृत किया है। इस मध्वद के साथ इस का ईशिता, अतएव "ईशान" नाम से प्रसिद्ध सर्वभूतान्तरात्मा अमध्वद सदा साथ रहता है। जो जीव स्वान्तिक (समीपस्थ) इस ईश को न जानता हुआ अनीश बना रहता है, वह "अनीशया शोचति मुह्यमानः" के अनुसार क्लेशादि में फँसा रहता है, परन्तु जो जीव अपने प्रत्यगात्मरूप इस ईश रूप को पहचान लेता है वह—"अमुह्यमानो न शोचति, न शोचति" ।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतमव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । ऐतद्वै तत् ॥ (कठो० ४।५)

इन दोनों में सर्वभूतान्तरात्मा नामक देवसत्यात्मा ही ईश्वर है, भूतात्मा नामक देवसत्यात्मा ही ही जीव है। दोनों में ईश्वर विशुद्ध आत्मक्षरमूर्ति है, जीव अव्ययाक्षरगर्भित आत्मक्षरमूर्ति है। यही आत्म विवर्त्त की तीसरी संस्था है। दोनों ही सुपर्ण नाम से व्यवहृत हुए हैं। सुपर्ण शब्द का भी विचार कीजिए। जिस प्रकार मनुष्य का सौन्दर्य उसके सदाचार पर अवलम्बित है, स्त्री का उत्कर्ष पातिव्रत्य पर निर्भर है, एवमेव पक्षी का सौन्दर्य उसके पक्षों पर आश्रित है। पक्ष सम्बन्ध से ही वह पक्षी कहलाया है। पक्षों से पक्षी आकाश में बिचरण किया करता है। जो पक्षी अपने पक्षों से आकाश में जितना अधिक दूर उड़ सकता है, वहीं पक्षों की प्रशंसा है, यही पक्षों का सौन्दर्य है। पक्षसौन्दर्य केवल उड़ने से सम्बन्ध रखता है। इतर पक्षियों की अपेक्षा गरुड़ पक्षी अधिक वेग से, अधिक दूर तक उड़ सकता है, अतएव इसके पक्ष इतर पक्षियों की अपेक्षा सुष्ठु (सुन्दर) माने जाते हैं। गरुड़ पक्षी के इसी पक्ष सौन्दर्य के कारण वैज्ञानिकों ने इसे “सुपर्ण” (अच्छे पक्ष वाला) कहा है। अतएव इसे खगेश्वर कहा गया है। “वीर्यं वै सुपर्णं गरुत्मान्” (शत० १०।२।३।४)। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवेश्वर की है। पक्षी अधिक से अधिक भू-वायु का तलस्पर्श कर सकता है। परन्तु हमारा यह कर्मभोक्ता जीवात्मा तो सुदूर स्थित विविध लोकों में जाया करता है। यहाँ तक कि, पृथिवी के २१ अहर्गण पर सूर्य है—“एकविंशो वा इतः (पृथिवीलोकात्) आदित्यः (तं ब्रा० १।५।१०।६) वहां तक यह जा सकता है। भला इस से अधिक दूर जाने की किस पक्षी में शक्ति है? जीव के साथ प्रत्यगात्मरूप ईश्वर भी नित्य सम्बन्ध रहता हुआ बटाकाशादिवत् लोकान्तर में घूम रहा है। यही इन दोनों की सुपर्णता है। इसी सुपर्णसाध्य से प्राणाचार्यों ने आत्मगति में आरुढ़ इस प्रेत जीव को “गरुड़” नाम से व्यवहृत किया है। इसीलिए इन सयुजों को “सुपर्ण” (अच्छे-शक्तिशाली पक्षों) वाला पक्षी शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। अपिच, सुपर्ण शब्द का दूसरा अर्थ है—सुनहरी पक्ष। अग्नि को हिरण्यरेता कहा जाता है। हिरण्य ही सुपर्ण है। उधर अग्नित्रयमूर्ति को ही हमने साक्षी कहा है। जीव भी इसी का अंश होता हुआ अग्नित्रयमूर्ति ही है। इस हिरण्यअग्नि के सम्बन्ध से भी इसे सुपर्ण (सुनहरी-आग्नेय-पक्षवाला) कहना उचित होता है। अपिच, इन दोनों ही पक्षियों का सुपर्णचिति नाम से प्रसिद्ध अग्निचिति से सम्बन्ध है। भूषण्ड से निकलने वाला पार्थिव अग्नि ठीक पक्षी के आकार में परिणत होकर ही २१ स्तोम पर्यन्त वितत रहता है। सौर सम्बत्सररूप ही बन जाता है। इसी रहस्य का वैज्ञानिकों ने सुपर्णख्यान रूप से निरूपण किया है। पार्थिव अग्नि गायत्री है। वह सुपर्ण पक्षी बनकर ही २१ स्थ सूर्य से ऊपर रहने वाले सौम्यगन्धर्व-प्राणों से सुरक्षित पारमेष्ठ्य सोम का अपहरण करती है। इसी आधार पर निम्नलिखित निगमवचन प्रतिष्ठित हैं—

“इमे वै लोका गायत्री” (तां ब्रा० १।५।१०।६)।

“अग्निर्ह वाव राजन् गायत्री मुखम्” (जै० उ० ४।८२।)।

गरुड़रूप प्रेतात्मा शरीर से निकलकर किन किन लोकों में जाता है? वहाँ क्या फल भोगता है? इत्यादि विषयों का निरूपण करने वाला आयत्तीवादात्मक पुराण ही “गरुड़पुराण” नाम से प्रसिद्ध है। मृत प्राणी के द्वादश अहर्गणात्मक आशौचकाल में तद्वंशधर इसी का श्रवण करते हैं।

“यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्-तेन सा श्येनः”

—शत० ३।४।१।१२

“तृतीयस्याभितो दिव सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत्” —तै० १।१।३।१०

“इमऽउ लोकाः संवत्सरः” —शत० ८।१।१।१७

“अग्निर्वाव संवत्सरः” —तां० ब्रा० १७ १३।१७

उक्त वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पार्थिव त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित गायत्राग्नि, संवत्सर, श्येन आदि तत्त्व अपेक्षया भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत होते हुए भी अग्नित्वेन अभिन्नार्थ के ही बोधक हैं। इस पञ्चचितिक अग्नित्रयी का ही नाम ईश्वर, किंवा देवसत्यात्मा है, यही संवत्सर प्रजापतिरूप महा सुपर्ण है। इसी का अंशरूप जीव क्षुद्र सुपर्ण है। सुपर्ण की इसी सुपर्णता का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

ईश्वरः—‘अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव यत् सम्बत्सरः । तस्य-यत् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षः । अथ यान् षडुपरिष्ठात् सोऽन्यतरः । आत्मा विषुवान् ॥’ —शत० १२।२।३।७

जीवः—“पुरुषः सुपर्णः” —शत० ७।४।२।४

हां, इस सम्बन्ध में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि, यदि सुपर्ण शब्द का “पञ्चचितिक अग्निमय पुरुष सुपर्ण है” यह अर्थ अभिप्रेत है, तब तो आत्मगति से कोई सम्बन्ध न रखने वाला स्थिर-स्वरूप सम्बत्सरात्मक त्रैलोक्य व्यापक चिदात्मरूप ईश्वर ही सुपर्ण शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। यदि सुपर्ण का—“लोकांतर में पक्षों से गमन करने वाला सुन्दर पक्षी सुपर्ण है” यह अर्थ है, तो उस दशा में चिदंशरूप शरीरोपाधिक प्रत्यगात्मेश्वर का साक्षी सुपर्ण शब्द से ग्रहण करना पड़ेगा। “इहा सुपर्णः” इत्यादि में सुपर्ण शब्द से इसी आध्यात्मिक सुपर्णयुग्म का ग्रहण अपेक्षित है। कारण—दोनों सुपर्णों का समान (एक)वृक्ष में अवस्थान, दोनों का समुग्भाव अध्यात्मसंस्था में ही संभव हो सकता है। अधिदैवतसंस्था का अध्यक्ष सम्बत्सरात्मक-चिदात्मक महासुपर्ण भौतिक विश्व का समानरूप से साक्षी होता हुआ भी, अपने इस व्यापकरूप से वह अध्यात्मसंस्था का साक्षी नहीं माना जा सकता। साथ ही में उस व्यापक का इस परिच्छिन्न चिदाभास के साथ समान वृक्ष में अवस्थान, एवं समुग्भाव भी उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार द्विकल आत्मा, द्विकल ब्रह्मा, द्विकल देव, इन तीनों युग्मों में आत्म विवर्तन समाप्त है। उत्तर-उत्तर का युग्म पूर्व-पूर्व के आधार पर प्रतिष्ठित है। इस क्रम से देवसत्ययुग्म में शेष दोनों आत्म-ब्रह्मयुग्मों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। देवसत्यात्म-परिज्ञान से सब कुछ विज्ञात है। देव सत्यात्मयुग्म त्रिकल है, इसी आधार पर “त्रिःसत्या वे देवः” यह अनुगम प्रतिष्ठित है।

अपरिच्छिन्न का परिच्छिन्न बन जाना ही मृत्युबन्धन है, यही भोग्य भाव है। इस सीमा भाव के तारतम्य से विश्वविवर्त में (महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित उक्त तीनों विवर्तों परिच्छिन्न-मृत्युबन्धन को हम भोग्य कह सकते हैं। इस दृष्टि से विशुद्ध भोक्तृलक्षण आत्मा केवल विश्वातीत अखण्ड परात्पर ही है। यही ब्राह्मी स्थिति है, यही ब्राह्मी उपनिषत् है। इस के गर्भ में प्रविष्ट सभी आत्मविवर्त परस्पर की अपेक्षा भोक्ता भी हैं, योग्य भी है। साक्षी भी है, भोक्ता भी हैं। पहले आत्मयुग्म की ही लीजिए, अवान्तर युग्मों की अपेक्षा भोक्ता बनता हुआ भी षोडशी-गर्भित महेश्वर परात्परदृष्टा भोग्य है। परात्पर चिदात्मा है, पुरुष चिदंश है। परात्पर साक्षी है, पुरुष भोक्ता है। परात्पर प्रतिष्ठा है, पुरुष प्रतिष्ठित है। परात्पर अन्नाद है, पुरुष अन्न है। स्वयं आत्म-विवर्त में निष्कल महेश्वर चिदात्मा है, साक्षी है। षोडशी चिदंश है, भोक्ता है। इस की अपेक्षा ब्रह्मस-त्यात्मविवर्त भोक्ता है, आत्मयुग्म साक्षी है। स्वयं ब्रह्मसत्यात्मविवर्त में बलेश्वर साक्षी है, उपेश्वर भोक्ता है। इस की अपेक्षा देवसत्यात्मविवर्त भोक्ता है, ब्रह्मसत्यात्मयुग्म साक्षी है। स्वयं देवसत्यात्मविवर्त में त्रैलोक्येश्वर साक्षी है, जीवप्रजापति भोक्ता है। सुपर्ण केवल इसी अन्तिम संस्था का नाम है। कारण, आत्मगत के साथ इस देवसत्यात्मविवर्त का ही सम्बन्ध है।

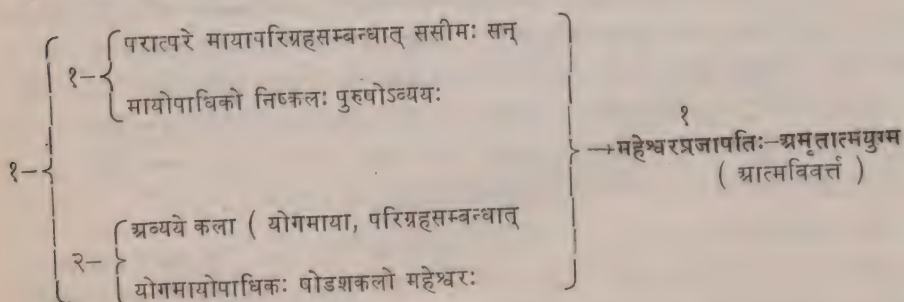
एक और चमत्कार देखिए। सभी आत्मसंस्थाओं में पञ्चकल अव्यय की प्रधानता है—“मत्त परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय” (गीता० ७।७), अव्यय भी मनः-चामत्कारिक-पुरुषात्मा प्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी है। अव्यय का ज्ञानधन मन, क्रियाधन प्राण, अर्थरूप वाक्त्व ही षोडशी संस्था में क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर रूप से विकसित होता है। स्वयं अव्यय मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानप्रधान है। अक्षर प्राणप्रधान होता हुआ क्रियाप्रधान है। स्वयं अक्षर वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। समष्टिरूप से स्वयं षोडशी अव्ययप्रधान है, ब्रह्म-सत्यात्मयुग्म अक्षरप्रधान है, देवसत्यात्मयुग्म क्षरप्रधान है। प्रत्येक में पुनः मनःप्राणवाक्प्रधान, अतएव ज्ञानक्रियामूर्ति अव्यय-अक्षर-क्षर का विकास है। उदाहरण के लिए आत्मयुग्म को ही लीजिए। इसमें भी पहले विशुद्ध पञ्चकल अव्यय नामक महेश्वर को लीजिए। इस की पाँच कलाओं में से आनन्द विज्ञान का एक विभाग है। यह विभाग ज्ञानप्रधान बनता हुआ अव्ययप्रधान है। प्राणवाक् का स्वतन्त्र विभाग है। यह विभाग अर्थप्रधान बनता हुआ क्षरप्रधान है। मध्यस्थ उभयात्मक मन का स्वतन्त्र विभाग है। यह उभयात्मक बनता हुआ अनुस्थानीय बनता हुआ अक्षरप्रधान है। केवल सृष्टिसाक्षी त्रिकल अव्यय में मन ज्ञानधन बनता हुआ अव्ययप्रधान, प्राण क्रियाधन बनता हुआ अक्षरप्रधान, वाक्अर्थधन बनती क्षरप्रधाना है। षोडशी संस्था में पञ्चकल अव्यय ज्ञानप्रधान बनता हुआ मनोमय, पञ्चकल अक्षर क्रिया-प्रधान बनता हुआ प्राणमय, एवं पञ्चकल क्षर-अर्थप्रधान बनता हुआ वाङ्मय है।

ब्रह्मसत्यात्मरूप दूसरे युग्म का विचार कीजिए। इस में भी पहले विशुद्ध अक्षरात्मक अवारपारीण ओंकारात्मक बलेश्वर पर दृष्टि डालिए। प्राणवस्थानीय, पार्थिव संस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही बलेश्वर मकारात्मक, अतएव वाक्प्रधान क्षर है। उद्गीथस्थानीय, सौरसंस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही उकारात्मक बलेश्वर प्राणप्रधान अक्षर है, एवं ओंकारस्थानीय, स्वाधस्त्व संस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही अकारात्मक बलेश्वर मनःप्रधान अव्यय है। पर (अव्यय), परम

(अक्षर) अक्षर (क्षर) रूप ओंकारात्मक विष्णु ही पारोक्ष्यीण विष्णु अक्षरमूर्ति ब्रह्मेश्वर नामक ब्रह्मसत्यात्मा है । उपेश्वरसंस्था में से प्रत्येक का विचार कीजिए । पहले स्वयम्भू को लीजिए । *स्वयम्भू के वेद-सूत्र-नियति-भेद से तीन मनोता माने गए हैं वेदमूर्ति वही स्वयम्भू उपलब्धिरूप ज्ञान का प्रवर्तक बनता हुआ वेदावच्छेद से मनोमय बनता हुआ अव्ययप्रधान है । सम्बन्धसूत्रावच्छेदेन वही प्राणमय बनता हुआ अक्षरप्रधान है । नियति-सम्बन्ध से वही वाङ्मय बनता हुआ आत्मक्षरप्रधान है । इन तीनों विवर्तों का स्वरूप पूर्व की अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत् में बतलाया जा चुका है । इसी प्रकार परमेष्ठी नाम के उपेश्वर में इडा (मनोमय अव्यय), ऊर्क (प्राणमय अक्षर), भोग (वाङ्मय क्षर) इस रूप से, सूर्योपेश्वर में ज्योति (वाङ्मय क्षर), गौ (प्राणमय अक्षर), आयु (मनोमय अव्यय) इस रूप से, चन्द्रोपेश्वर में रेतः (वाङ्मय क्षर), श्रद्धा (प्राणमय अक्षर), यश (मनोमय अव्यय) इस रूप से, एवं भूषिडरूप उपेश्वर में वाक् (वाङ्मय क्षर), गौ (प्राणमय अक्षर), द्यौः (मनोमय अव्यय), इस रूप से तीनों पुरुषों का अवस्थान सिद्ध हो जाता है !

सर्वान्त में देवसत्यात्मरूप तीसरे विवर्त का विचार कीजिए । इसमें भी साक्षीरूप प्रत्यगात्मविवर्त पर पहले दृष्टि डालिए । इसकी वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ, ये तीन कलाएँ हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । इनमें अर्थप्रधान वैश्वानर वाङ्मय क्षर की विकास भूमि है । क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ प्राणमय अक्षर से अनुगृहीत है, एवं सर्वज्ञ मनोमय अव्यय के अनुग्रह से युक्त है । इसी प्रकार भोक्ता (जीवमुपगर्ण) देवसत्यात्मा की वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, ये तीनों कलाएँ क्रमशः क्षर-अक्षर-अव्यय से सम्बन्ध रखती हैं । यह है स्थूलनिदर्शन । यदि दशाक्रमानुसार इस त्रिपुरूप की व्याप्ति के सूक्ष्म दर्शन किए जाते हैं, तो अन्ततः त्रिपुरूप पर विश्राम करते हुए, इसके द्वारा पञ्चकलपुरुष, तद्द्वारा निष्कलपुरुष, सर्वान्त में उसी अक्षण्ड परात्पर का आश्रय लेना हड़ता है—“ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” । उक्त विषय का निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्टीकरण हो जाता है ।

१—आत्मन्वीविवर्त



*इस विषय का का विशद दिग्दर्शन ईशोपनिषत् विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड के पुरुषात्माधिकरणा-
न्तर्गत “मनःप्राणवाङ्मय अव्यय की व्यापकता” नाम के प्रकरण में देखा चाहिए ।

१-	१-	{ पोडशीपुरुषो गुणपरिग्रहयोगात् पञ्चपुण्डरीरात्मको बलेश्वरः सत्यात्मा	}	२ विश्वेश्वरप्रजापतिः
	— ❧ —			
२-	२-	{ सत्यात्मनि विकारपरिग्रहयोगात् स्व० पर० सू० चन्द्र० भूः-इत्येताः- पृथक् पृथक् पञ्चोपेश्वरा यज्ञात्मानः	}	३ उपेश्वरप्रजापतयः
	}			
२ ब्रह्मसत्यात्मयुग्म (ब्रह्मविवर्त)				

ईश्वरप्रजापतिः-देवसत्यात्मयुग्म
(देवविवर्त)

२-चिदात्म-चिदंशविवर्त-

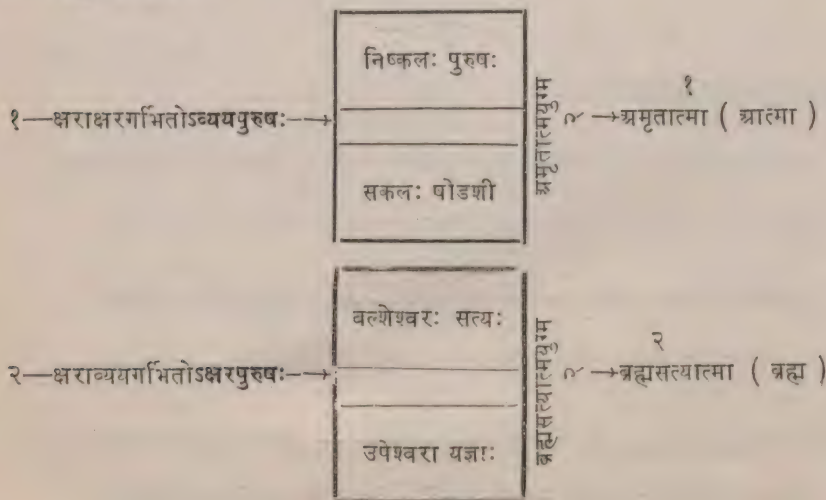
१— { १—सर्वबलविशिष्टरसमूर्तिरमायी—अखण्डः परात्परः—चिदात्मा—विशुद्धात्मा
 २—षोडशकलो महामायी विश्वव्यापको महेश्वरः—चिदंशः—आत्मन्वी

२— { १—मायामात्रो निष्कलो विशुद्धोऽव्ययपुरुषः—चिदात्मा—आत्मन्वी
 २—अव्ययक्षराक्षरकृतरूपः षोडशकलस्त्रिपुरुषः पुरुषः—चिदंशः—आत्मन्वी

३— { १—षोडशकलस्त्रिपुरुषः पुरुषो महेश्वरः—चिदात्मा—आत्मन्वी
 २—उपेश्वर—विश्वेश्वर—कृतरूपो ब्रह्मसत्यात्मा—चिदंशः—आत्मन्वी

- ४— { १-अवारपारीणो बलशेषवरो ब्रह्मसत्यात्मा—चिदात्मा—आत्मन्वी
 २-पृथक्संस्थाः स्व० प० सू० च० भू० इत्येता उपेश्वराः—चिदंशः—आत्मन्वी
 —❧—
- ५— { १-उपेश्वरविश्वेश्वरकृतरूपो ब्रह्मसत्यात्मा—चिदात्मा—आत्मन्वी
 २-अग्नित्रयमूर्तिस्त्रैलोक्यव्यापको देवसत्यात्मा—चिदंशः—आत्मन्वी
 —❧—
- ६— { १-वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति-महासंवत्स-
 रात्मको महासुपर्णः } → चिदात्मा—आत्मन्वी
 २-वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति-शरीरोपा-
 धिविशिष्टः—साक्षी सुपर्णः प्रत्यगात्मा } → चिदंशः—आत्मन्वी
 —❧—
- ७— { १-महासंवत्सरसुपर्णसाभिन्नः साक्षी प्रत्यगात्मा—चिदात्मा—आत्मन्वी
 २-वै०-तैजसप्राज्ञकृतमूर्तिर्भोक्ता सुपर्णः शारीरकात्मा—चिदंशः—आत्मन्वी
 —❧—
- ८— { १-विश्वप्रपञ्च-विशुद्धं शरीरम्—चिदात्मनः साक्षिणः
 २-शरीरप्रपञ्च-विशुद्धं जगत्—चिदंशस्य भोक्तुः
 —❧—

३—त्रिपुरुषविवर्त्त



३—अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरपुरुषः—

प्रत्यगात्मा साक्षी
शारीकात्मा भोक्ता

देवसत्यात्मयुग्म

३

→ देवसत्यात्मा (देव.)

४—मनःप्राणवाङ्मयविवर्त्त—

- १—प्राणवाङ्गर्भितं त्रिवन् मनः—तत्प्रधानः—अमृतात्मा ज्ञानमयः
 २—मनोवाङ्गर्भितस्त्रिवृत प्राणः—तत्प्रधानः—ब्रह्मसत्यात्मा क्रियामयः
 ३—प्राणमनोर्गर्भिता त्रिवृता वाक्—तत्प्रधानः—देवसत्यात्मा—अर्थमयः

५—भोक्तृभोग्यविवर्त्त—

- १—{ १—असीमः परात्परः—भोक्ता (साक्षी)
 २—निष्कलोऽव्यययुक्तः षोडशीपुरुषः—भोग्यः (भोक्ता)
 २—{ १—निष्कलोऽव्ययपुरुषः—भोक्ता (साक्षी)
 २—षोडशी महेश्वरः—भोग्यः (भोक्ता)
 ३—{ १—षोडशीपुरुषो महेश्वरः—भोक्ता (साक्षी)
 २—सोपेश्वरो बलेश्वरः—भोग्यः (भोक्ता)
 ४—{ १—अवारपारीणो बलेश्वरः—भोक्ता (साक्षी)
 २—पञ्चोपेश्वराः पृथक् पृथक्—भोग्यः (भोक्ता)
 ५—{ १—सोपेश्वरो बलेश्वरः—भोक्ता (साक्षी)
 २—प्रत्यगात्माभिन्नो महासुपर्णः—भोग्यः (भोक्ता)
 ६—{ १—संवत्सरात्मको महासुपर्णः—भोक्ता (साक्षी)
 २—प्रत्यगात्मा साक्षी सुपर्णः—भोग्यः (भोक्ता)

- ७— { १—महासुपर्णाभिन्नः साक्षी—भोक्ता (साक्षी सुपर्णः)
२—शारीरको भोक्तात्मा—भोग्यः (भोक्ता सुपर्णः)

६—पुरुषात्मविवर्त्त (पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्)

१—पञ्चकलोऽव्ययो ज्ञान-काम-कर्ममूर्तिः—

- १—आनन्दविज्ञाने (ज्ञानात्माव्ययः) → ज्ञानघनोऽव्ययः
२—मनः (कामात्माव्ययः) → क्रियाघनोऽक्षरः
३—प्राणवाचौ (कर्मात्माव्ययः) → अर्थघनः क्षरः

३—त्रिकलोऽव्ययः सृष्टिसाक्षी—

- १—ज्ञानमूर्तिर्मनः—ज्ञानघनोऽव्ययः
२—क्रियामूर्तिः प्राणः—क्रियाघनोऽक्षरः
३—अर्थमूर्तिर्वाक्—अर्थघनः क्षरः

३—षोडशकलो महेश्वरः क्षराक्षरर्गाभितोऽव्ययप्रधानः (सृष्टेरालम्बनम्)

- १—पञ्चकलोऽव्ययो मनोमयः—मनोऽव्ययरूपम्
२—पञ्चकलोऽक्षरः—प्राणमयः—प्राणोऽक्षररूपम्
३—पञ्चकलः क्षरः—वाङ्मयः—वाक्क्षररूपम्

४—बलेश्वरप्रजापतिविशुद्धाक्षरमूर्तिः

- श्रीङ्कारो बलेश्वरः { १—स्वायम्भुवसंस्थानुग्राहकः—ओङ्कारात्मको विशुद्धाक्षरमूर्तिर्मनोमयोऽकारः—अव्ययः
२—सौरसंस्थानुग्राहकः—उग्दीथात्मको विशुद्धाक्षरमूर्तिः प्राणमयः—उकारः—अक्षरः
३—पार्थिवसंस्थानुग्राहकः—प्रणवात्मको विशुद्धाक्षरमूर्तिर्वाङ्मयो—मकारः—क्षरः

५—बलेश्वरगर्भितः-अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरप्रधानः-उपेश्वरः स्वयम्भूः (१)

१—वेदसत्यमूर्तिर्ज्ञानात्मा मनोमयः—अव्ययः (वेदाः)

२—सूत्रसत्यमूर्तिः कामात्मा प्राणमयः—अक्षरः (सूत्रम्)

५—नियतिः सत्यमूर्तिः कर्मात्मा वाङ्मयः—क्षरः (नियतिः)

६—बलेश्वरगर्भितः-अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः-उपेश्वरः-परमेष्ठी (२)

१—इष्टमूर्तिर्ज्ञानप्रवर्तको मनोमयः—अव्ययः (इडा)

२—ऊर्गमूर्तिः क्रियाप्रवर्तकः प्राणमयः—अक्षरः (ऊर्क्)

३—भोगमूर्तिरर्थप्रवर्तको वाङ्मयः—क्षरः (भोगाः)

७—बलेश्वरगर्भितः-अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः-उपेश्वरः सूर्यः ३

१—आयुमूर्तिर्ज्ञानप्रवर्तको मनोमयः—अव्ययः (आयुः)

२—गौमूर्तिः क्रियाप्रवर्तकः प्राणमयः-अक्षरः (गौः)

३—ज्योतिर्मूर्तिरर्थप्रवर्तको वाङ्मयः—क्षरः (ज्योतिः)

८—बलेश्वरगर्भितः-अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः-उपेश्वरश्चन्द्रमाः (४)

१—यशोमूर्तिर्ज्ञानाधारो मनोमयः—अव्ययः (यशः)

२—श्रद्धामूर्तिः क्रियाधारः प्राणमयः—अक्षरः (श्रद्धा)

३—रेतोमूर्तिरर्थाधारो वाङ्मयः—क्षरः (रेतः)

९—बलेश्वरगर्भितः-अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः-उपेश्वरो भूपिण्डः (५)

१—द्यौमूर्तिर्ज्ञानसञ्चालको मनोमयः—अव्ययः (द्यौः)

२—गौमूर्तिः क्रिया सञ्चालकः प्राणमयः-अक्षरः (गौः)

३—वाङ्मूर्तिरर्थसञ्चालको वाङ्मयः—क्षरः (वाक्)

१०—अग्नित्रयमूर्तिः-अव्ययक्षरगर्भितात्मक्षरप्रधानः प्रत्यगात्मा साक्षी सुपर्णः (१)

१—सर्वज्ञमूर्तिरादित्यप्रधानो ज्ञानप्रदाता मनोमय-अव्ययः (सर्वज्ञः)

२—हिरण्यगर्भमूर्तिर्वायुप्रधानः क्रियाप्रदाता प्राणामयः-अक्षरः (हिरण्यगर्भः)

३—वैश्वानरमूर्तिरग्निप्रधानोऽर्थ प्रदाता वाङ्मयः—क्षरः (वैश्वानरः)

११—अग्नित्रयमूर्तिरव्ययाक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः सावरणो भोक्ता सुपर्णः (२)

१—प्राज्ञमूर्तिरादित्यप्रधानो—अव्ययः (प्राज्ञः)

२—तैजसमूर्तिर्वायु—अक्षरः (तैजसः)

३—वैश्वानरमूर्तिरग्नि—क्षरः (वैश्वानरः)

आदित के गर्भ में हमने विराट्प्रजापति की सत्ता बतलाई है। इसी विराट्प्रजापति को हमने साक्षीसुपर्ण कहा है। यही हमारी इस प्राणात्मा-विज्ञानोपनिषत् की मूल प्राणात्मोपनिषत् की उपनिषत् प्रतिष्ठा है। यही हमारा (जीवात्मा का) उपास्य ईश्वर है। पूर्वोक्त आत्मविवर्त्तों में से हम सुगमता पूर्वक इसी की उपासना कर सकते हैं, अतएव पूर्व की प्राजापत्यसंस्थाचतुष्टयी में हमने इसे सुविज्ञेय कहा है। इस बात को न भूल जाइए कि, कर्म सदा विश्व से सम्बन्ध रखता है, उपासना एकमात्र ब्रह्मगर्भित देवता की ही हो सकती है एवं ज्ञान का सम्बन्ध एकमात्र आत्मा के साथ ही है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, कर्मकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा सावरण भौतिक विश्वरूप में परिणत आत्मा है, उपासना की आधारभूमि ब्रह्मसत्यगर्भित देवसत्यात्मा है एवं ज्ञानकाण्ड का आश्रय अमृतात्मरूप षोडशी पुरुष है। अथवा यों कहिए कि, भौतिक विश्व को साथ लेकर वही आत्मा साञ्जन-सावरण बनता हुआ कर्म का प्रवर्त्तक बनता है। प्राण (स्वयम्भू), आपः (परमेष्ठी), वाक् (सूर्य), अन्न (चन्द्रमा), अन्नाद (भूपिण्ड), इन ब्रह्मसत्यात्मक पाँचों प्रकृतियों से नित्ययुक्त अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टिरूप देवत्रयी को साथ लेकर तद्विशिष्ट यही आत्मा उपासना का प्रवर्त्तक बनता है, एवं अपने विशुद्ध षोडशीरूप से वही ज्ञान का प्रवर्त्तक बनता है। सर्वा-तीत परात्पर (निराकार परमेश्वर) कर्म उपासना ज्ञान, तीनों धर्मों से बहिर्भूत होता हुआ सर्वथा निर्धर्मक है। और सूक्ष्मविचार कीजिए। क्षराक्षरगर्भित अव्ययमूर्ति अमृतात्मा ज्ञानकाण्ड का, क्षराव्य-यगर्भित अक्षरमूर्ति ब्रह्मसत्यात्मानुगृहीत देवसत्यात्मा उपासनाकाण्ड का एवं अक्षराव्ययगर्भित क्षर (विकार क्षर) मूर्ति विश्व कर्मकाण्ड का आश्रय है। कर्म का भौतिक क्षरविवर्त्त से ही सम्बन्ध है—“क्षरः सर्वाणि भूतानि ।” उपासना का क्षरकूट पर एकरूप से प्रतिष्ठित, अतएव-कूटस्थ नाम से प्रसिद्ध अक्षरविवर्त्त से ही सम्बन्ध है—“कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।” इसीलिए उपनिषदों ने इसी अक्षरप्रधान देवसत्यात्मा को किंवा देव-सत्यसंस्था में विकसित अक्षर को उपास्य माना है, जैसा कि श्रुति कहती है—

धनुर्गृहीत्वोपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशित सन्धीयत ।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि ॥१॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मा तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्व्यं शरवत्तन्मयोभवेत् ॥२॥ (मुण्डक २।२।३-४)

विशुद्ध अक्षर उपास्य नहीं है, अपितु देवसत्यात्यर्गभित ब्रह्मासत्यावच्छिन्न, अतएव ब्रह्म नाम से व्यवहृत सोपाधिक अक्षर ही उपास्य बनता है । यद्यपि उपासना का आश्रय ब्रह्मा (ब्रह्मासत्यात्मक देवसत्यात्मा) है, परन्तु प्रधान लक्ष्य वही अक्षर है । इन्हीं दोनों भावों को सूचित करने के लिए पहले श्रुति ने—“लक्ष्यं तदेवाक्षरम्” यह कहा एवं आगे जाकर “ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते” यह कहा । ज्ञान का सर्वालम्बनरूप अव्ययविवर्त से ही सम्बन्ध है । इस आलम्बनरूप अव्ययप्रधान आत्मा की न आप उपासना कर सकते एवं न इसे कर्म में अग्रणी बनाया जा सकता । यह केवल बुद्धिगम्य (जानने की वस्तु) है—“तद्विज्ञानेन परिपश्यन्तिः धीराः ।” इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महर्षि कठ कहते हैं—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ —कठोपनिषत् १।२।१७

उपर्युक्त आत्मविवर्त के वैज्ञानिक पृथक्करण से असंस्कृतात्मा अभिनिविष्टों ने आज निराकार को उपास्यदेव मान रक्खा है । जहां उपास्य न निराकार आत्मा है, न साकार आत्मा, अपितु सगुण-सवि-कार देवसत्यात्मा है । तभी तो इसे उपास्य “देव” कहा जाता है, वहाँ निराकार की गाथा गाते रहने का कितना महत्व है ? यह उन्हीं वेदभक्त निराकार-वादियों से पूछना चाहिए । हम तो विज्ञान प्रधान भारत-वर्ष की इस अवैज्ञानिकता से सिवाय दुःखानुभाव के और कर ही क्या सकते हैं ?

१—षोडशीपुरुषोऽव्ययप्रधानः—ज्ञानकाण्डम्

२—ब्रह्मासत्यात्मगर्भितो देवसत्यात्माऽक्षरप्रधानः—उपासनाकाण्डम्

३—पञ्चभौतिकं जगत् क्षरप्रधानम्—कर्मकाण्डम्

—❀—

१—क्षराक्षरगर्भितः—अव्ययः (अमृतात्मा)—ज्ञानम्

२—क्षराव्ययगर्भितः—अक्षरः (ब्रह्मासत्यगर्भित देवसत्यात्मा)—उपासनम्

३—अक्षराव्ययगर्भितः—क्षरः (सर्वगर्भितं वैकारिकं जगत्)—कर्म

—❀—

इन तीनों विवर्तों से विज्ञ पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि, क्षराक्षरगर्भित अव्यय का ईश्वरसंस्था से सम्बन्ध है, क्षराव्ययगर्भित अक्षर का जीवसंस्था से सम्बन्ध है, एवं अक्षराव्ययगर्भित क्षर का जगत् संस्था से सम्बन्ध है । तीनों तीनों हैं, इसलिए तीनों ही पूर्ण हैं—“पूर्णमदः पूर्णमिदम्”—“यद-मुत्र तदन्विह”, विज्ञानभाषा के अनुसार इन तीनों को “जगत्-ईश्वर-महेश्वर” नामों से व्यवहृत किया

जाता है। जीवरूप भोक्ता सुपूर्ण ईश्वररूप अक्षरप्रधान ब्रह्मासत्यात्मगर्भित उसी देवासत्यात्म नामक साक्षी सुपूर्ण का अंश है। न अव्यय जीव बनता, न क्षर। जीव बनता है देवसत्यात्मरूप अक्षर का अंश। अक्षर को पराप्रकृति कहा जाता है। यही जीवसृष्टि का प्रवर्तक है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

.....इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो यथेदं धार्यते जगत् ॥

यही अक्षर “ब्रह्मा तत्त्वक्षयमुच्यते” के अनुसार ब्रह्मा है। प्रकृति को ही ब्रह्मात् ब्रह्मा कहा जाता है। अक्षर-प्रतिपादक शारीरक दर्शन के “अथातो ब्रह्म जिज्ञासा” वाला सर्वधर्म्मोपपन्न यही अक्षरब्रह्मा है। विश्व सम्बन्ध से आरम्भ में प्रतिपादित मायादि ६ ओं परिग्रहधर्म्मों का पूर्ण विकास यही होता है। वेदान्तदर्शन ने—“जन्याद्यस्य यतः” के अनुसार विजिज्ञास्य ब्रह्मा को जन्मस्थितिभङ्ग का कारण माना है। ऐसा ब्रह्मा निर्धर्म्मक व्यापक तत्त्व नहीं हो सकता। वह तो एकमात्र अक्षर ही हो सकता है। कारण—“तथाऽऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति” (मुण्डकोपनिषत् २।१।१) इत्यादि श्रुति अक्षर को ही जन्मस्थिति भङ्ग का कारण बतलाती है। “अव्यक्ताव्यक्तयः सर्वाः प्रभवयन्तगमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके (अक्षरे)” इत्यादि स्मृतियाँ भी उक्त श्रौत अर्थ का ही समर्थन कर रही हैं। ऐसी स्थिति में जो व्याख्याता अभिनिवेश में पड़कर अक्षरब्रह्मा-प्रतिपादक वेदान्त दर्शन को असण्डब्रह्मा का प्रतिपादन मान रहे हैं, वह उनका प्रौढवाद ही समझना चाहिए। क्षर कार्यरूप जगदीश्वर है, अव्यय कार्यकारणातीत सर्वालम्बन तत्त्व है। इन तीनों पूर्णों से अक्षर द्वारा अद्वैत जीवसृष्टि का विकास होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जाएगा।

जहाँ तक हमारा अनुमान है, पाठक इस आत्मविवर्त्त से ऊब गये होंगे। अच्छा तो एक बार अपने उपास्यदेव (विराट् प्रजापति) के दर्शन कर विश्राम कीजिए। अदिति का वंशानर-हिरण्यगर्भ—स्वरूप बतलाते हुए इस में अग्नि-वायु-आदित्यात्मक, तीन देवताओं की सर्वज्ञात्मक विराट् के दर्शन सत्ता बतलाई गई है। अग्नि के ये तीन विवर्त्त जहाँ देवतासम्बन्ध से पूर्व-कथनानुसार ३३ अवस्थाओं में परिणत होते हैं, वहाँ यज्ञ की अपेक्षा से इसकी १० कलाएं हो जाती हैं। दशाक्षरछन्द को ही विराट्छन्द कहा जाता है—“दशाक्षरा वै विराट्” (शत० १।१।१।२२)। पार्थिव प्राणामि-तत्त्व दशकल बनता हुआ, अतएव विराट्संपति से युक्त होता हुआ विराट् प्रजापति नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। त्रिवृत्स्तोमपर्यन्त एकल गार्हपत्याग्नि है, पञ्चदश पर्यन्त अष्टकलै धिष्ण्याग्नि है, एवं एकविंश स्तोम पर्यन्त एकल आहवनीयाग्नि है। इन तीनों अग्नियों की स्व-स्व-स्तोमों में तो उक्थावस्था रहती है, शेष दोनों स्तोमों में यही अर्करूप से व्याप्त रहते हैं। त्रिवृतिरूप पृथिवी पर्यन्त अग्नि उक्थरूप से, पञ्चदश एवं एकविंश पर्यन्त अर्करूप से व्याप्त है। पञ्चदश-रूप अन्तरिक्ष में धिष्ण्यरूप वायव्याग्नि उक्थरूप से, एकविंश एवं त्रिवृत् में अर्करूप से व्याप्त है। एकविंश-स्तोमरूप सुलोक में इन्द्ररूप आदित्याग्नि उक्थरूप से, एवं त्रिवृत्-पञ्चदश में अर्करूप से व्याप्त है। इस प्रकार महापृथिवी (अदिति पृथिवी) के अवयव भूत ६-१५-२१ स्तोमात्मक पृ० अन्त द्यौः, तीनों में अग्नि-वायु-इन्द्र, तीनों की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि, स्व स्व स्थान में तीनों

अव्यय संस्था [पूर्ण पुरुषः] परिलेखः—

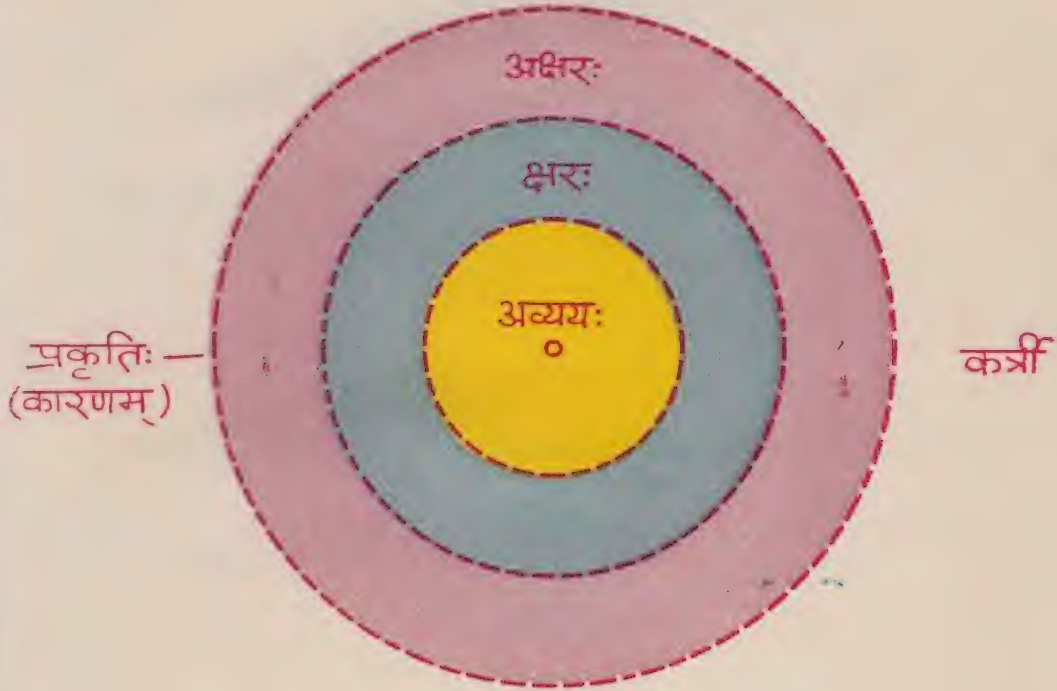
क्षराक्षरगर्भितः अव्ययप्रधानः ब्रह्म-देवसत्याधिष्ठाता अमृतात्मा



षोडशी (पूर्ण) प्रजापति (पुरुषः) नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा ईश्वर-जीव-जगत् इन तीनों विवर्तों में क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर आत्मावयव हो जाते हैं। उक्त मूर्ति केवल अव्ययप्रधान है। इसी कारण यह ईश्वर संस्था मानी गई है, क्योंकि ईश्वर संस्था में ही आत्मा का अव्यय भाग विकसित होता है। इसी संस्था में ज्ञानतत्त्व प्रधान होता है। क्योंकि अव्यय प्रधान आत्मा की न आप उपासना कर सकते हैं, न ही इसे कर्म में अग्रणी बनाया जा सकता है। यह केवल बुद्धिगम्य है।

अक्षर संस्था [पूर्ण प्रकृति] परिलेखः—

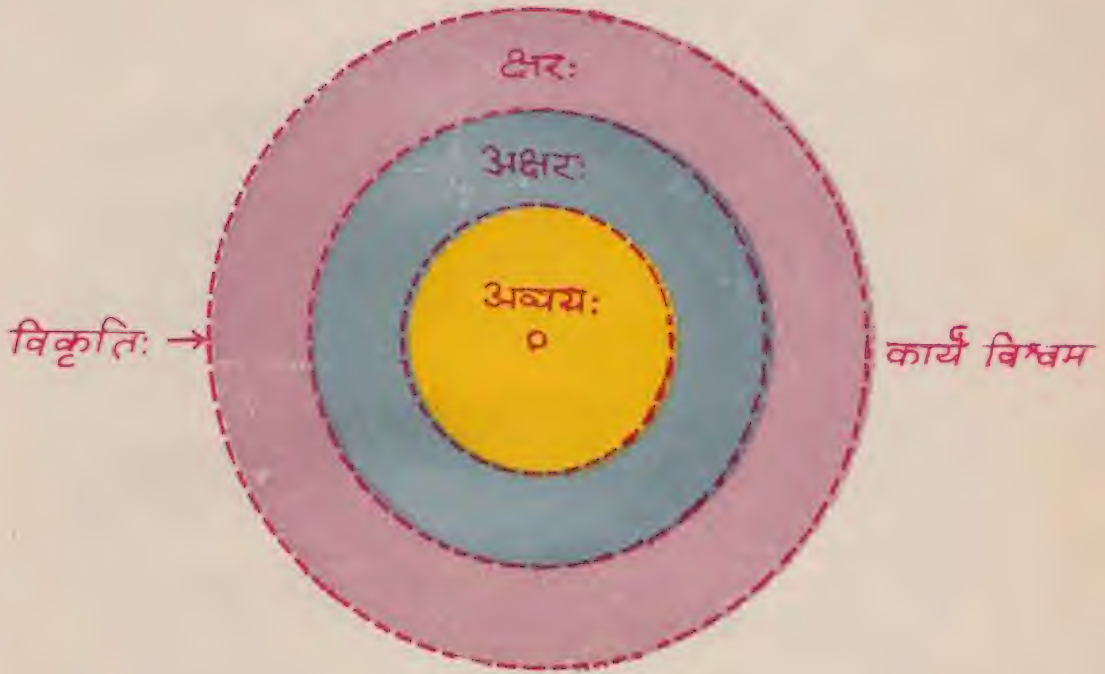
क्षराव्ययगर्भितः—अक्षरप्रधानः ब्रह्मसत्यात्मकः प्राकृतात्मा



क्षराव्ययगर्भित अक्षर प्रधान—ब्रह्मसत्यात्मक प्राकृतात्मा (पूर्ण प्रकृति) के जीव-जगत्-ईश्वर ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इनमें प्राकृतात्मा समान है परन्तु इन तीनों विवर्त्तों के क्रमशः अक्षरः—क्षरः—अव्ययः ये तीन प्राकृतात्मकावयव हो जाते हैं। उक्त प्राकृतात्मा मूर्ति में केवल अक्षर ही प्रधान है, इसीलिए यह जीवसंस्था मानी गई है, क्योंकि जीवसंस्था में प्राकृतात्मा का विकास माना जाता है, तथा इसी संस्था में क्रियात्मा प्रधान होता है।

क्षर संस्था [पूर्ण विकृति] परिलेखः—

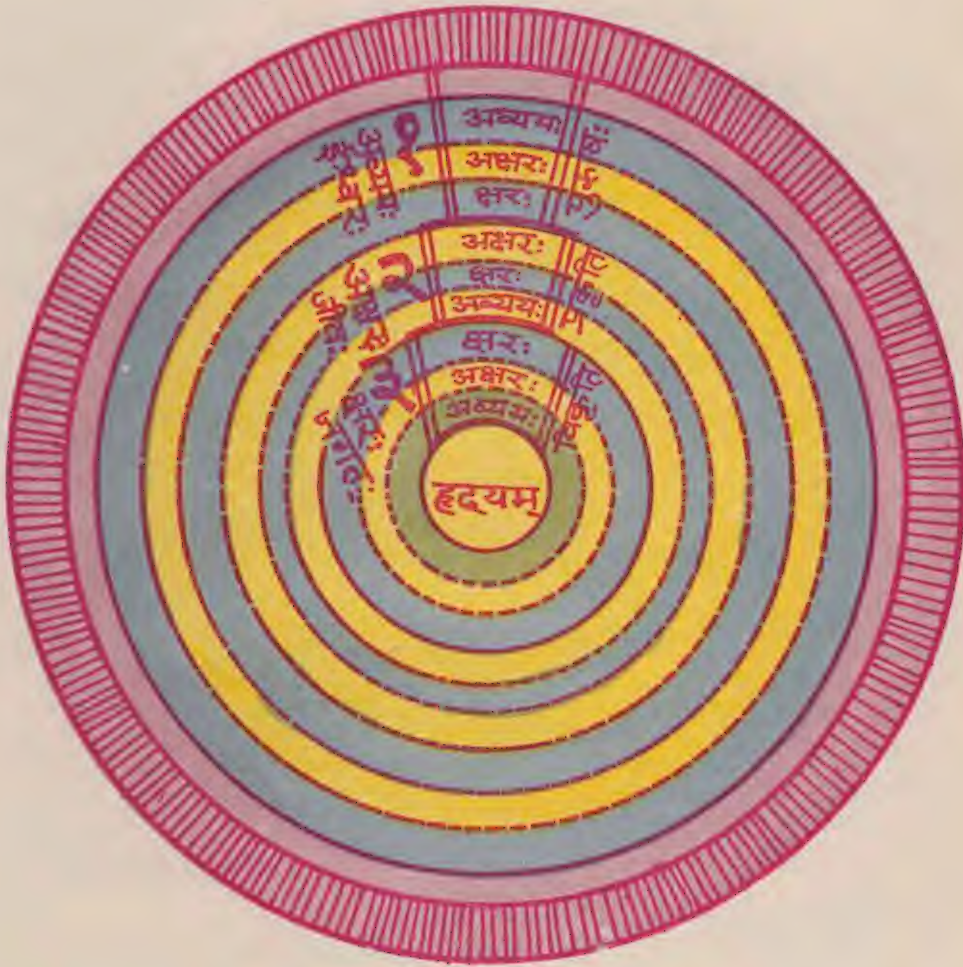
अक्षराव्ययगमितः क्षर प्रधानः विश्वमूर्तिविकृतात्मा कर्मकाण्डाधिष्ठाता सूतात्मा



अक्षराव्ययगमित क्षर प्रधान विश्वमूर्तिविकृतात्मा जगत्-जीव-ईश्वर इन तीनों विवर्तों में क्रमशः क्षर-अक्षर-अव्यय ये तीन विकृतात्मावयव हो जाते हैं। उक्त मूर्ति क्षर प्रधान है। इसी कारण यह जगत् संस्था मानी गई है। क्योंकि जगत् संस्था में कर्मत्व ही प्रधान होता है। इसीलिए क्षरमूर्ति विश्व कर्मकाण्ड का आश्रय है। कर्म का भौतिक क्षरविवर्त से ही सम्बन्ध होता है।

समष्टि परिलेखः—

(तदिवं सर्वम्)



उक्त तीनों (१-२-३) विवर्तों में क्षराक्षरगर्भित अव्यय का ईश्वर संस्था से, क्षराव्यय गर्भित अक्षर का जीव संस्था से तथा अक्षराव्यय गर्भित क्षर का जगत् संस्था से सम्बन्ध है। प्रकृति के अमृत प्रधान पर, मृत्यु प्रधान अपर भेद से दो विवर्त हैं। इस प्रकार अमृत मृत्यु समभूति पुरुष अमृतप्रधाना मृत्युगर्भित पराप्रकृति और मृत्युप्रधाना अमृतगर्भिता अपरा प्रकृति भेद से एक ही आत्मा के तीन रूप हो जाते हैं।

ये तीनों आत्मरूप क्रमशः ईश्वर-जीव-जगत् की प्रतिष्ठा बनते हैं।

की क्रमशः प्रधानता है। अतः अग्निपृथिवीलोक का, वायु अन्तरिक्षलोक का, एवं आदित्य द्युलोक का अधिपति माना जाता है। स्वस्थान से अतिरिक्त तीनों की दोनों स्थानों में गौणता है। साथ ही में त्रैलोक्यभेद से तीनों के नाम-रूप-कर्म भी बदल जाते हैं। पार्थिव उक्थ अग्नि पवमान कहलाता है, आन्तरिक्ष्य अर्काग्नि पावक कहलाता है, एवं दिव्य अर्काग्नि शुचि नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव वायु मातरिश्वा (पिण्डावच्छिन्न वायु) कहलाता है। आन्तरिक्ष्य वायु यम कहलाता है। दिव्य वायु पवित्र नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव इन्द्र वासव कहलाता है। आन्तरिक्ष्य इन्द्र मरुत्त्वान् कहलाता है, एवं दिव्य इन्द्र मघवा नाम से प्रसिद्ध है। देवत्रयी के इसी त्रिवृद्भाव का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित निगम वचन हमारे सामने आते हैं।

- १ पवमानः— { १—“स वा अग्नये पवमानाय निर्वपति”———(शत० २।२।१।६)
 २—प्राणो (प्राणाग्निः) वै पवमानः”———(शत० २।२।१।६)
 ३—“यो वा अग्निः पवमानः”———(ऐ० २।३७)
 ४—“स यदग्नये पवमानाय निर्वपति यदेवास्या- }——(शत० २।२।१।१५)
 स्यां पृथिव्यां रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोति”
 ५—“यदस्य पवमान-रूपमासीत्-तदस्यां- }——(शत० २।२।१।१४)
 पृथिव्यां न्यधत्त”
- २ पावकः— { १—“अथाग्नये पावकाय निर्वपति”———(शत० २।२।१।७)
 २—“अन्नं वै पावकम्”———(शत० २।२।१।७)
 ३—“यत् (अग्नेः) पावकं (रूपं) तदन्तरिक्षे (न्यधत्त)”——(शत० २।२।१।१४)
 ४—“अथ यदग्नये पावकाय निर्वपति—यदेवा- }——(शत० २।२।१।१५)
 स्यान्तरिक्षे रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोति”
- ३ शुचिः— { १—“अथाग्नये शुचये निर्वपति”———(शत० २।२।१।८)
 २—“वीर्यं वै शुचिः”———(शत० २।२।१।८)
 ३—“अथ यत् (अग्नेः) शुचिः (रूपं) तद्विदि (न्यधत्त)”——(शत० २।२।१।१४)
 ४—“अथ यदग्नये शुचये निर्वपति-यदेवास्य- }——(शत० २।२।१।१५)
 दिवि रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोति”

- १ मातरिश्वा— { १—“अयं वै वायुमतिरिश्वा योऽयं पवते” — (शत० ६।२।३।२)
 २—“सर्वादिशो (भूपिण्डस्य समन्तात्) ऽनुविवाति, }
 सर्वादिशो ऽनुवाति—स वा एष मातरिश्वैव” } — (तै० ब्रा० २।३।६।६)
- २ यमः— { १—“अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते” — (शत० ६।१।२।१२)
 २—“यमो ऽवा अस्या अवस्थानस्येष्टे” — (शत० ८।१।१।३)
- ३ पवित्रः— { १—“अयं वै पवित्रं योऽयं (वायुः) पवते” — (शत० १।१।३।२)
 २—“पवित्रं वै वायुः ————— (तै० ब्रा० ३।२।५।११)
- १ वासवः— { १—“इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु” — (शत० ३।५।२।४)
 २—“(वासवो वृत्रहा वृषा)” — (अमरः)
- २ मरुत्वान्— { १—“इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः” — (गो० उ० १।२३)
 २—“(इन्द्रो मरुत्वान्)” — (अमरः)
- ३ मघवा— { १—“इन्द्रो वै मघवान्” — (शत० ४।१।१।५)
 २—“(मघवा बिडौजाः) (अमरः)
- १ अग्नि— { १—पवमानाग्निः—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः पार्थिवः—उक्थरूपः
 २—पावकाग्निः—पञ्चदशस्तो० आन्तरिक्ष्यः—अर्करूपः
 ३—शचिरग्निः—एकविंशस्तो० दिव्यः—अर्करूपः } — पृथिविप्रधानः
- २ वायुः— { १—मातरिश्वा वायुः—त्रिवृत्० पार्थिवः—उक्थरूपः
 २—यम वायुः—पञ्चदश० आन्तरिक्ष्यः—अर्करूपः
 ३—पवित्रवायुः—एकविंश० दिव्यः—अर्करूपः } — अन्तरिक्षप्रधानः
- ३ इन्द्रः— { १—वासव इन्द्रः—त्रिवृत्० पार्थिवः—उक्थरूपः
 २—मरुत्वानिन्द्रः—पञ्चदश० आन्तरिक्ष्यः—अर्करूपः
 ३—मघवाइन्द्रः—एकविंश० दिव्यः—अर्करूपः } — द्यु प्रधानः

अग्नि-वायु-इन्द्र (आदित्य), इन तीनों देवताओं के (प्रत्येक के) तीन-तीन रूप क्यों हो गए ? इस प्रश्न का समाधान तानूनप्त्रविज्ञान पर निर्भर है । जिस याज्ञिक प्रक्रिया-विशेष के कारण इन तीनों देवताओं के शरीर सुरक्षित रहते हैं । जिसयज्ञ के आधार पर इनके तनू गिरने नहीं पाते, वही यज्ञेष्टि "तानूनप्त्रेष्टि" नाम से प्रसिद्ध है । पार्थिव अग्नि अर्थशरीरी है, आन्तरिक्ष्य वायु ज्ञानशरीरी है, एवं दिव्य इन्द्र ज्ञानशरीरी है, ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों स्वतंत्र रहकर कभी विकसित नहीं हो सकते । इन तीनों में अर्थ एवं क्रिया के बिना ज्ञान यद्यपि स्वस्वरूप से रह सकता है, परन्तु अर्थ, एवं क्रिया बिना नित्यधर्मा ज्ञान को आलम्बन बनाए जीवित ही नहीं रह सकते । यदि ज्ञान को अर्थ, तथा क्रिया का सहकार प्राप्त नहीं होगा, तो वह निर्विकल्पक बनता हुआ विज्ञान (ज्ञानना) कोटि से बाहर मात्र निकल जायगा, परन्तु इस की स्वरूप हानि नहीं होगी । "अयं घटः—अयं पटः—तमहं जानामि" इस प्रकार का लौकिक ज्ञान बिना अर्थ (विषय) के कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । उधर श्रणिक क्रिया बिना ज्ञानाश्रित विषय (अर्थ) को अपना आधार बनाए सर्वथा अनुपपन्न है । इस प्रकार विश्वोपाधिक ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों की ही स्वस्वरूपसिद्धि के लिए परस्पर तीनों का सहयोग अपेक्षित है । जब तक तीनों पृथक् है—(यद्यपि ऐसा संभव नहीं है), तब तक तीनों ही आसुर भावापन्न नास्तिसार बल से अभिभूत होते हुए पराजित हैं । जब तीनों परस्पर मिल जाते हैं, इस बात की प्रतिज्ञा (शपथ) कर लेते हैं कि, असुरबल को नष्ट करने के लिए हम सदा मिल जुल कर रहेंगे, कभी अलग नहीं होंगे, तो इस संधशक्ति के प्रभाव से तीनों का सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य (सम्बत्सर) में एकच्छत्र शासन हो जाता है । सम्बत्सर में से असुर निकल जाते हैं । इसी शपथ (प्रतिज्ञा) से कारण इन के तनू नहीं गिरने पाते, अतएव शपथ को भी विज्ञान भाषा में 'तानूनप्त्र' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है । देवताओं का यह तानूनप्त्र कर्म (शपथ कर्म) वरुण के घर में होता है । भूपिण्ड के चारों ओर अर्णव व्याप्त है । यही आपोमण्डल वरुणप्राण प्रधान होने से वारुणलोक कहलाता है । इसी वरुण अपृतत्त्व के आधार पर इन्द्राविष्णु की स्पर्धा से वेद-लोक-वाक्-साहस्रियों का वितान होता है । जैसा कि—'इन्द्रश्च विष्णु यदपस्पृधेयां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्' इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जा चुका है । इस तानूनप्त्र का विशद रहस्य शतपथ की तानूनप्त्रेष्टि में देखना चाहिए—(शत० ३।४।२)

अग्नितत्त्व सदा गायत्रीछन्द से छन्दित रहता है । अष्टाक्षर गायत्री छन्द के सम्बन्ध से इस गायत्राग्नि की आठ मात्राएँ हो जाती हैं । अष्टाक्षर गायत्रछन्दा अग्नि के ही अग्नि-वायु-इन्द्र, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं । इस दृष्टि से पार्थिव अग्नि-(अग्नि)-आन्तरिक्ष्य अग्नि (वायु)-दिव्याग्नि-(इन्द्र), तीनों की आठ-आठ मात्राएँ हो जाती हैं । पार्थिव अग्नि की आठ मात्राओं में से ४ मात्रा पर तो स्वयं अग्नि प्रतिष्ठित होता है, एवं शेष चार में से २ पर वायु, २ पर इन्द्र प्रतिष्ठित है । इस प्रकार अर्द्ध-भाग में अग्नि की सत्ता सिद्ध हो जाती है, एवं अर्द्धभाग में वायु, तथा इन्द्र दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । फलतः पार्थिव अग्नि-अग्नि-वायु इन्द्रात्मक बनता हुआ सर्वमूर्त्ति बन जाता है । अग्नि अर्थ है, वायु क्रिया है, इन्द्र ज्ञान है । अग्नि यद्यपि त्रिमूर्त्ति है, तथापि प्रधानता अर्थमूर्त्ति की ही है । अतः—इस त्रिदेवमूर्त्ति अग्नि को अर्थशक्ति का ही अधिष्ठाता माना जाता है । पृथिवी एक विश्व है, अन्तरिक्ष एक विश्व है, द्युलोक एक स्वतन्त्र ही विश्व है । इन तीनों विश्वों के अग्नि-वायु-इन्द्र, ये तीन नर हैं ।

त्रिमूर्ति तापधर्मा अग्नि इन्हीं वैश्वानरों के सम्बन्ध से संपन्न हुआ है अतएव इसे "वैश्वानर" कहा जाता है। यह त्रैलोक्य में व्याप्त है, इसी आधार पर "वैश्वानरो यतते सूर्येण" (ऋक्सं० १।६८।१) आ यो छां भात्या पृथिवीम् यह कहा जाता है ठीक यही व्यवस्था आन्तरिक्य वायु, दिव्य इन्द्र की आठ-आठ मात्राओं के सम्बन्ध में समझिए। वायु में से चार में वायु, २-२ में अग्नि-इन्द्र हैं। इन्द्र में से चार में स्वयं इन्द्र, २-२ में अग्नि-वायु हैं। यही त्रिमूर्ति वायुप्रधान, अतएव क्रियाप्रधान वायु हिरण्यगर्भ नाम से, त्रिमूर्ति इन्द्र प्रधान, अतएव ज्ञान प्रधान इन्द्र सर्वज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, पार्थिव अग्नि-अग्नि है, इसमें सोमस्थानीय वायु-इन्द्र की आहुति से वैश्वानर का जन्म होता है। वायु अग्नि है, इसमें अग्निन्द्र की आहुति से हिरण्यगर्भ प्रकट होता है, एवं इन्द्र अग्नि है, इसमें वाय्वग्नि की आहुति होने से सर्वज्ञ का विकास होता है। सर्वज्ञ (ज्ञान) की प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ (क्रिया) है, हिरण्यगर्भ की प्रतिष्ठा वैश्वानर (अर्थ) है। वैश्वानर की प्रतिष्ठा भूपिण्ड है। भूपिण्ड से आरम्भ कर त्रिकलयुक्त त्रिमूर्ति दशकल अग्निमूर्ति विराट् पुरुष खड़ा हुआ है। समष्टि रूप से एक अग्नि ही विराट् है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“दश वा एतान्गर्भोश्चनुते । अष्टौ द्यिष्यान्, आहवनीयं च-

गार्हपत्यं च । तस्मादाहुर्विराडग्निरिति । दशाक्षरा हि विराट् । तान्नु

सर्वान्नेक इवैवाचक्षते-अग्निरिति । एतस्यैवैतानि सर्वाणि रूपाणि”

—शत० १०।३।२।१ इति ॥

वैश्वानर इसके पाद है, हिरण्यगर्भ हृदयस्थानीय है, सर्वज्ञ शिरःस्थानीय है, भूपिण्ड प्रतिष्ठा है, जैसा कि पूर्व की ईश्वर प्रकृति में स्पष्ट कर दिया गया है। अग्नित्रयकृतमूर्ति सम्बत्सरात्मक यह विराट्-प्रजापति स्वसिमृक्षा से पतिपत्नीरूप धारण कर लेता है। विराट् अग्निमूर्ति है, यह अन्नाद की ही अवस्थान्तर है। अन्न सोम के बिना यह अप्रतिष्ठित है। फलतः विराट् को अग्निसोममूर्ति मानना आवश्यक हो जाता है। एक स्थान पर अग्नि आधार है, सोम आधेय है, यही पति है। अन्यत्र सोम आधार है, अग्नि आधेय है, यही पत्नी है। सोमगर्भित अग्नि वृषा है, अग्निगर्भित सोम योषा हैं। वृषा पुरुष है, योषा स्त्री है। दोनों स्वतन्त्र विराट् हैं। दोनों में १०-१० कल अग्नि विद्यमान है। केवल अग्नि सोम की प्रधानता, अप्रधानता का तारतम्य है। दोनों एक मूर्ति बनकर त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित हैं। दोनों में प्रधानता अत्ता अग्नि पुरुष की ही है, अतः विराट् को पुरुष शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। योषा-वृषात्मक इसी विराट्-मिथुन से प्रजोत्पत्ति होती है। पति-पत्नी-भाव से यह विराट् सर्वत्र विराजमान हो रहा है। यह "विराजते" से ही विराट् नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। हमारे प्रकरण का यही साक्षी मुपार्ण है। तन्त्र परिभाषा के अनुसार यही 'पक्षीराज' नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषत् परिभाषा के अनुसार यही 'सर्वभूतान्तरात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञ परिभाषानुसार यही 'सर्वहृतयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। अध्यात्मभाषानुसार यही 'प्रत्यगात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में यही 'देवसत्यात्मा' नाम से प्रसिद्ध है—“सोऽनुध्यातव्यः, स विजिज्ञासितव्यः, स उपासितव्यः, सोऽन्वेष्टव्यः”। इसमें आवरण मूलक

क्लेशकर्मादि का अभाव है। अतएव इस का "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" यह लक्षण किया जाता है।

इसी त्रैलोक्य व्यापक अग्निमूर्ति विराट की स्वरूप से भी उपासना की जा सकती है, ब्रह्मारूप से भी की जा सकती है, विष्णुरूप से भी की जा सकती है। क्योंकि अर्थशक्तियुत अग्नि का अव्यय के वाग्भाग से अनुग्रहित इन्द्र-सोम-अग्नि समष्टिरूप तीनों अक्षरों से सम्बन्ध है। अक्षरत्रय समष्टि ही रुद्र, किंवा शिव है। यह मूल में सब की प्रतिष्ठा बना हुआ है। व्यक्त मूर्तिक्षरप्रधान बनता हुआ यह देवादि-देव शीघ्र ही आत्मसात् हो जाता है, अतएव इसे "आशुतोष" कहा जाता है। यही रुद्र त्रैलोक्याग्नि रूप में परिणत होते हुए, विष्णु और ब्रह्मा की प्रतिष्ठा बनते हुए विश्वाधिप बन रहे हैं, जैसा कि भगवान् श्वेताश्वेतर कहते हैं—

यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपा रुद्रो महर्षिः ।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुध्या शुभया सयुनक्तु ॥ —श्वे० ३।४

इस का पार्थिव प्राणाग्नि से सम्बन्ध है, इसी को. अग्निविज्ञान के अनुसार पूर्व में हमने पवमान कहा है। रुद्रमूर्ति पवमानाग्नि प्राणरूप होने से "ऋषि" है। अतः इसे ऋषि शब्द से व्यवहृत किया गया है "अग्निऋषिः पवमान-इति" (ऐ० २।३७)। ऋषिमूर्ति आन्तरिक्ष्य दिव्याग्निर्गो की यही एकपि रुद्र मूल प्रतिष्ठा है, अतएव इसे महर्षि कहा गया है। मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य अग्नि अव्यय के प्राणभाग से अनु-गृहीत मध्यस्थ विष्णु-अक्षर से सम्बन्ध रखता है, एवं दिव्य अग्नि अव्यय के मनोभाग से अनुगृहीत शीर्ष स्थानीय ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध रखता है। इन तीनों में भी रुद्र क्षरप्रधान अक्षर है, विष्णु अक्षरप्रधान अक्षर है, एवं ब्रह्मा अव्ययप्रधान अक्षर है। उपासना का प्रधान सम्बन्ध अक्षर से है, इसकी प्रधानता अक्षरमूर्ति विष्णु में है, अतः उपासनाकाण्ड में विष्णु ही प्रधान माने जाते हैं। इसी प्रधानता के आधार पर प्रजा को "वैष्णवी" कहा जाता है। रुद्र क्षरप्रधान अक्षर है, जैसा कि श्रुति कहती है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावोशते देव एकः ।

तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥—श्वे० १।१०

अतएव भारतवर्ष में विष्णु की उपासना की अपेक्षा रुद्रोपासना की कम प्रधानता है। उधर अव्यय-प्रधान अक्षरमूर्ति ब्रह्मा की उपासना का प्रचार तो और भी कम है, क्योंकि अव्यय प्रत्येक दशा में अनुवाक्य ही रहता है।

१—वैश्वानरमूर्तिरिन्द्राग्निसोमाक्षरमयः क्षरप्रधानः—रुद्रः

२—हिरण्यगर्भमूर्ति विष्णवक्षरमयोऽक्षरमयोऽक्षरप्रधानः—विष्णुः

३—सर्वज्ञमूर्तिर्ब्रह्माक्षरमयोऽव्ययप्रधानः—ब्रह्मा

} —विराट्

इन तीनों की समष्टि ही विराट् है। विराट् की उपासना से ईश्वर उपासित होता है। जो एक एक अङ्ग (देवता) की उपासना करते हैं, वे भी परम्परया ईश्वर की ही उपासना करते हैं।

१—अन्नादाग्निः—पार्थिवः—अग्निः

२—दिश्याग्निः—आन्तरिक्ष्यः—वायुः

३—अन्नाग्निः—दिव्यः—इन्द्रः

—समन्वयात्-विराडुत्पत्तिः

१—गार्हपत्याग्निरेकलः—पार्थिवः

२—धिष्ण्याग्निरेष्टकलः—आन्तरिक्ष्यः

३—ग्राहवनीयाग्निरेकलः—दिव्यः

—स एव रुद्रविष्णुब्रह्ममूर्तिर्दशकलो विराट्

१—अर्थः—
 { १-पवमानः—पार्थिवाग्निः (अर्थः)
 २-मातरिश्वाः—पार्थिववायुः (क्रिया)
 ३-वासवः—पार्थिवेन्द्रः (ज्ञानम्) } त्रिमूर्तिरनिरर्थप्रधानः
 पार्थिवः (१)

वैश्वानर

२—क्रिया—
 { १-पावकः—आन्तरिक्ष्योऽग्निः (अर्थः)
 २-यमः—आन्तरिक्ष्यो वायुः (क्रिया)
 ३-मरुत्वान्—आन्तरिक्ष्य इन्द्रः (ज्ञानम्) } त्रिमूर्तिर्वायुः क्रियाप्रधानः
 आन्तरिक्ष्यः (८)

हिरण्यगर्भः

३—ज्ञानम्—
 { १-शुचिः—दिव्याग्निः—(अर्थः)
 २-पवित्रः—दिव्याग्नि—(क्रिया)
 ३-मघवा—दिव्य इन्द्रः—(ज्ञानम्) } त्रिमूर्तिरिन्द्रः—ज्ञानप्रधानो
 दिव्यः (१)

सत्यम्

दशकलो—विराट्प्रजापतिरीश्वर साक्षी

पाठकों को स्मरण होगा कि, इस विराट् प्रकरण के आरम्भ में हमने महिमा-पृथिवी में रहने वाले अमृतभावापन्न अग्नि एवं सोम, दोनों की संभूय पांच अवस्थाएँ बतलाई हैं—(देखिए पृ० सं० २६८)। पार्थिव अग्नि, वायु, आदित्य, तीनों की पूर्व में उक्त-अर्क-भेद से दो दो अवस्थाएँ बतलाई हैं। इन दोनों में उक्तावस्था मूलप्रतिष्ठा बनती हुई आत्मा है एवं अर्कावस्था मूलप्रतिष्ठा बनती हुई प्राण है। प्राणों

की अनुचीन, मुख्य, भेद से दो जातियाँ हैं। मुख्यप्राण आत्मा है। यही उक्थ है, इसीको छान्दोग्य श्रुति ने उद्गीथ कहा है। इस उक्थ (विम्ब) रूप उद्गीथात्मक आत्मप्राण से निकलने वाले पञ्चप्राण अनुचीन नाम से व्यवहृत होते हैं। ये अङ्गप्राण हैं। “यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविशे” (मुण्डकोपनिषत् ३।१।६) के अनुसार आत्मप्राणरूप उस मुख्य प्राण में ये पांच अनुचीन अङ्गप्राण नित्य युक्त रहते हैं। वह मुख्य-अग्नीषोमात्मक है। अतएव उससे निकलने वाले ये पाँचों अङ्गप्राण भी अग्नीषोमात्मक ही हैं। इन में तीन अग्निप्रधान हैं, दो सोम किंवा अप्रप्रधान हैं। ये पाँचों उसी उद्गीथ की उपासना किया करते हैं। यही उद्गीथ ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ प्राण माना गया है। मुख्यप्राण के इसी आत्मभाव का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहाती है—

“अथ ह य एवायं मुख्यप्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे ।

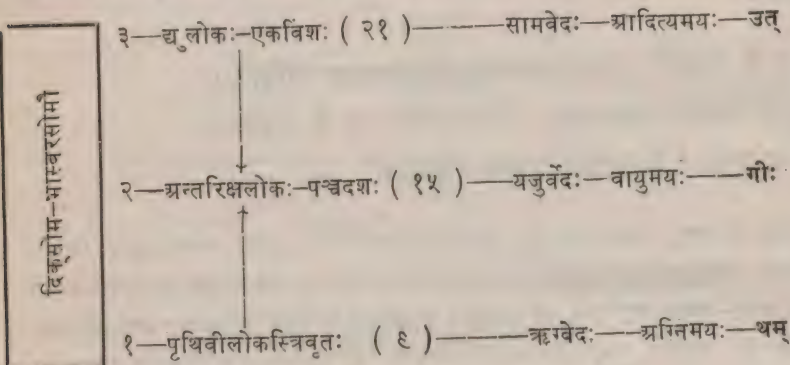
तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः ++आगाता ह वै कामानं

भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते” (छां० ३।२)

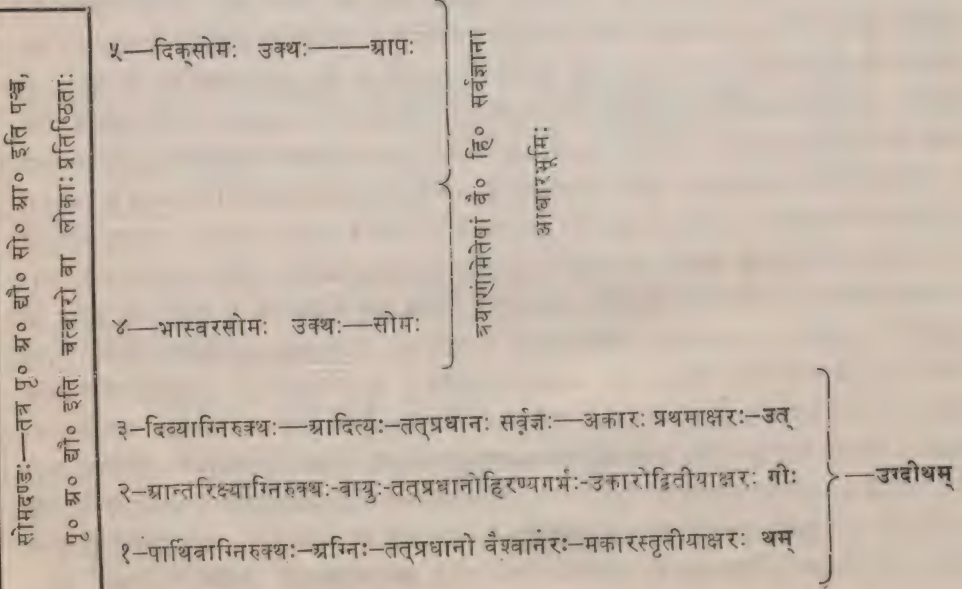
उद्गीथ में ‘उत्-गी-थम्’-तीन अक्षर है। उत्-सर्वोच्चभाव का सूचक बनता हुआ शिरः-स्थानीय है, ‘गी’-गच्छत् भाव का सूचक बनता हुआ हृदयस्थानीय है, थम्-स्थितिभाव का सूचक बनता हुआ पादस्थानीय है। अन्त-मध्य-मूल, प्राण की इन तीन अवस्थाओं के लिए ही क्रमशः उत्-गी-थम्, ये तीन अक्षर प्रयुक्त हुए हैं। तीनों में ‘थम्’ इन्द्राग्नि सीमाक्षर है, ‘गी’ विष्ण्वक्षर है, ‘उत्’ ब्रह्माक्षर है। त्रिमूर्तिरूप यही एकमूर्ति सम्पूर्ण त्रैलोक्य का उद्गीथ (प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण) है। छौं-सामवेद-आदित्य, तीनों का ‘उत्’ से सम्बन्ध है। अन्तरिक्ष-यजुर्वेद-वायु, इन तीनों का ‘गी’ से सम्बन्ध है। पृथिवी-ऋग्वेद-अग्नि, इन तीनों का थम्-अक्षर से सम्बन्ध है। पृथिवी ही स्तोमभेद से पृ० अ० छौं, तीन रूप में परिणत हो रहा है। ऋग्वेद ही वितान के तारतम्य से ऋक्-यजुः-साम-रूप में परिणत हो रहा है। अग्नि ही अवस्था भेद से अग्नि-वायु-आदित्यरूप में परिणत हो रहा है। तीनों लोकों में प्रतिष्ठित तीनों वेदों से कृतशरीरी तीनों देवता ही उत् गी-थम् हैं। यही आपका सुपरिचित त्रिराद् पुरुष है। यद्यपि अग्नि-वायु-आदित्य, तीनों ही प्राणमय हैं, तथापि आदित्य में प्राण की प्रधानता है। वायु में वाक्त्व की प्रधानता है। अग्नि में अन्न की प्रधानता है। प्राणमय आदित्य उत् है, वाङ्मय-वायु-गी है; अन्नमय अग्नि थम् है, समष्टि उद्गीथम् है। उत्तरूप आदित्य अकार है, गीरूप-वायु उकार है, थम्-रूप अग्नि मकार है, समष्टिरूप उद्गीथ ओंकार है। “अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथः” (छां० ३।५) के अनुसार यही प्रणव है। प्रणव की अकार कला का विकास आदित्यप्रधान सर्वज्ञ में है, उकार कला का विकास वायु-प्रधान हिरण्यगर्भ में है एवं मकार का विकास अग्निप्रधान वैश्वानर में है। इस दृष्टि से इस ईश्वर-प्रजापति का भी प्रणवमूर्तित्व सिद्ध हो जाता है—‘तस्य वाचकः प्रणवः ।’ निष्कर्ष यही हुआ कि, उक्थ रूप अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टि ही ‘थम्-गी-उत्’ रूप उद्गीथ प्राण है। यही मुख्य प्राण है, यही आत्मा है। इस त्रिकल उद्गीथाक्षररूप प्राणात्मा के अर्क ही पञ्चप्राण हैं। उक्थाग्नि की अर्कावस्था आग्नेयप्राण है, उक्थवायु की अर्कावस्था वायव्यप्राण है, उक्थ आदित्य की अर्कावस्था ऐन्द्रप्राण है। भास्वर सोममयप्राण सौम्यप्राण है, दिक्सोमावच्छिन्न प्राण

आध्यप्राण है। ये पांचों अनुचीन प्राण उस ईश्वरात्मरूप मुख्य प्राण के इन्द्रिय स्थानीय है, जैसा कि अध्यात्मविवेचन से स्पष्ट हो जायगा। इसी प्राणरहस्य को लक्ष्य में रख कर सामश्रुति कहती है—

‘अथ खलु-उद्गीथाक्षराण्युपासीत इति (आदेशः)। प्राण एवं उत्, प्राणेन ह्युत्तिष्ठति। वाक्-गीः, वाचो ह गिर इत्याचक्षते। अन्नं थम्, अन्ते हीदं सर्वं स्थितम्। द्यौरेव उत्, अन्तरिक्षं गीः, पृथिवी थम्। आदित्य एव उक् वायुर्गीः, अग्निस्थम्। सामवेद एवं उत्, यजुर्वेदो गीः, ऋग्वेदस्थम्’ (छां० उ० १।३।६)। ‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ (छां० १।४) ॥ इति ॥



मुख्यप्राणः—आत्मा—अङ्गी—



अनूचीनप्राणः—अङ्गानि—

आत्मा	
विराट्	→ प्राणाः विराड्विभूतयः
उक्थापः	५—त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्नाः—आप्याः—अर्काः—(आप्यप्राणः)
उक्थसोमः	४—त्रिणवस्तोमावच्छिन्नाः—सौम्याः—अर्काः—(सौम्यप्राणः)
उक्थादित्यः	३—एकविंशस्तोमावच्छिन्नाः—दिव्याः—अर्काः—(ऐन्द्रप्राणः)
उक्थवायुः	२—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नाः—आन्तरिक्ष्याः—अर्काः—(वायव्यप्राणः)
उक्थाग्निः	१—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नाः—पार्थिवाः—अर्काः—(आग्नेयप्राणः)

आधारभूमि

आवेष्टा

- १—ब्रह्माक्षरः—प्राणः—उत् (सर्वज्ञो ब्रह्मा)
 २—विष्णुरक्षरः—वाक्—गीः (हिरण्यगर्भो विष्णुः)
 ३—इन्द्राग्निसोमाक्षरः—अन्नम्—थम् (वैश्वानरो रुद्रः)

मुख्यः—प्राणात्मा

उम्दीथरूप विराट्प्रजापति साक्षी देवसत्यात्मा है। यही ईश्वर है, इसमें कोई सन्देह नहीं। साथ ही में उम्दीथरूप शुद्ध विराट्प्रजापति भोक्ता देवसत्यात्मा है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं, तथापि जिस प्रकार जीवात्मा एकाकी न रहता हुआ अपने परिकर के साथ रहता है, एवमेव उक्त ईश्वर भी अपने परिकर के साथ नित्य सम्बद्ध रहता है। जीवात्मा में 'शरीर-पाप्मा-विभूति-मन-बुद्धि-महत्-अव्यक्त-पुरुष' इत्यादि परिकर हैं। अतः परिकरविशिष्ट जीव ही जीव जगद् से व्यवहृत कर दिया जाता है। एवमेव भूः—विभूति-चन्द्रमा-सूर्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू-पुरुष' इत्यादि परिकरो से ईश्वरात्मा कभी पृथक् नहीं होता, अतएव परिकरविशिष्ट ईश्वर ही ईश्वर कहलाने योग्य है। ईश्वरीय संस्था में जितने खंडात्मा है, उन सब की आधारभूमि वही षोडशीपुरुष है। दूसरे शब्दों में समष्टि में एकरूप से व्याप्त रहता हुआ भी षोडशीपुरुष खंडात्मोपाधि भेद से प्रत्येक का स्वतन्त्ररूप से आलम्बन बना हुआ है—“अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्”। इसी विभक्तभाव के कारण ईश्वरीय, एवं जीवसंस्था में अनेक कलाएँ हो जाती हैं। इन विशेषकलाओं का विचार आगे कीजिए। अभी दोनों की सामान्य कलाओं पर दृष्टि डालिए। एक ओर ईश्वरसंस्था को रख लीजिए, दूसरी ओर जीवसंस्था को रख लीजिए। दोनों का संस्थानक्रम आपको समान मिलेगा। संयती-क्रन्दसी-रोदसी-भेद से ईश्वर में तीन त्रैलोक्य हैं। रोदसी भूः है, क्रन्दसी भुवः है, संयती स्वः है। प्रत्येक लोक त्रिवृद्भाव से पुनः 'भूः भुवः—स्वः' भेद से तीन-तीन लोकों में

विभक्त है। इस प्रकार यद्यपि तीन के ६ लोक हो जाने चाहिए थे। परन्तु रोदसी त्रिलोकी का स्वर्लोक, क्रन्दसी त्रैलोक्य का भूलोक बन जाता है एवं क्रन्दसी का स्वर्लोक संयतीत्रैलोक्य का भूलोक बन जाता है। इस क्रम से दो लोकों का मध्य में अन्तर्भाव हो जाता है, ६ के स्थान में सात ही लोक रह जाते हैं। एक-एक वितस्ति है। अतएव सप्त लोकात्मक ईश्वर को 'सप्तवितस्ति काया' कहा गया है। एक वितस्ति में १२ अङ्गुल होते हैं। संभूय सात वितस्तियों के ८४ अङ्गुल हो जाते हैं। ईश्वरात्मक विराट् पुरुष अपनी अङ्गुलियों के प्रमाण से ८४ अङ्गुलात्मक है। जीव इसी का अंश है, फलतः इसमें भी इस जीव के अङ्गुलि प्रमाण से ८४ अङ्गुल ही माने जाते हैं। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि, ईश्वरीय परिमाण जहाँ वितस्ति नाम से व्यवहृत होता है, वहाँ जीव परिमाण प्रादेश नाम से प्रसिद्ध है। वितस्ति जहाँ १२ अङ्गुल की है, वहाँ प्रादेश १०॥ (साठे दस) अङ्गुल का माना गया गया है। सप्तचित्मय अतएव सप्तलोकात्मक अग्नि से अग्निमूर्ति ईश्वर जहाँ सप्तवितस्तिरूप होता हुआ ८४ अङ्गुल का है, वहाँ गायत्राग्नि की चित्ति के सम्बन्ध से अग्निमूर्ति जीव अष्ट प्रादेशमित होता हुआ ८४ अङ्गुल का है। गायत्राग्नि से ही जीवसंस्था का स्वरूप निर्माण हुआ है। गायत्राग्नि अष्टाक्षर बनता हुआ गायत्री छन्द से छन्दित (सीमित) है। एक-एक अक्षर एक-एक स्वतन्त्र प्राण है। एक गायत्राग्नि ऐसे आठ प्राणों की समष्टि है "प्रादेशमितो वै प्राणः (कौ० ब्रा० २।३।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्राण की व्याप्ति प्रादेशमित है। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्यन्त एक प्रादेश, कण्ठ से हृदयपर्यन्त दूसरा प्रादेश, हृदय से नाभिपर्यन्त तीसरा प्रादेश, नाभि से ब्रह्मग्रन्थिपर्यन्त चौथा प्रादेश, यहाँ से गोडों तक दो प्रादेश, यहाँ से पादपर्यन्त दो-प्रादेश, संभूय पुरुषशरीर में आठ प्रादेश हैं। सब के संकलन से ८४ अङ्गुल हो जाते हैं। एक छः मास का शिशु भी अपनी अपनी अङ्गुली के परिमाण से ८४ अङ्गुल का है, साठे तीन हाथ का एक दीर्घकाय मनुष्य भी अपनी अङ्गुली के परिमाण से ८४ अङ्गुल का ही है। यह समानता सर्वात्मना केवल पुरुष (मनुष्य) के साथ ही समन्वित होती है, अन्य प्राणियों के साथ नहीं जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

ईश्वर यदि पादस्थानीय वैश्वानर भाग से भूविण्ड पर खड़ा है, तो तत्समानधर्मा पुरुष भी अपने पैरों से इसी भूविण्ड पर प्रतिष्ठित है। पैर से आरम्भ कर हृदयपर्यन्त रोदसी त्रैलोक्य है। हृदय से आरम्भ कर तालुमूल पर्यन्त क्रन्दसी त्रैलोक्य है एवं यहां आरम्भ-कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त संयती त्रैलोक्य है। ईश्वरीय संस्थावत् ब्रह्मरन्ध्र में स्वयम्भू प्रतिष्ठित है, तालुमूल में ब्रह्मस्तन (कागली) रूप से परमेष्ठी प्रतिष्ठित है, हृदय में प्रज्ञानचन्द्रमा के आधार पर विज्ञानसूर्य प्रतिष्ठित है। ईश्वरशरीररूप विश्व के केन्द्र में यदि सूर्य है, तो जीवशरीररूप विश्व के केन्द्र में विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है—“आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्।” पाद से हृदय पर्यन्त पृथिवी लोक की प्रधानता है। तीनों में पुनः भूः-भुवः-स्वः का विकास है। पृथिवीरूप भूलोक की प्रतिकृति ब्रह्मग्रन्थि (गुदस्थान) है, यही पुच्छ प्रतिष्ठा है, प्रतिष्ठा ही पृथिवी है—(देखिए जत० ६।६।१।१५)। ब्रह्मग्रन्थि से आरम्भ कर पादमूल पर्यन्त पार्थिव प्राण की प्रधानता है, अतएव इस प्रादेश को हम महिमापृथिवी मानने के लिए तय्यार हैं। पादमूल से आरम्भ कर गोडों तक त्रिवृत्स्थानीय पृथिवी लोक है, यही स्तौम्य-त्रिलोकी का भूलोक है। यहां से जङ्घामूल तक का प्रादेश पञ्चदश स्थानीय अन्तरिक्ष लोक है, यही स्तौ० का भुवर्लोक है। यहां से नाभि पर्यन्त

एकविंश स्थानीय ब्रूलोक है। यही स्तो० का स्वर्लोक है। तीनों की समष्टि रोदसी त्रिलोकी का मूलोक है। नाभि एवं हृदय के मध्य का प्रदेश रोदसी त्रिलोकी का अन्तरिक्ष लोकात्मक भुवर्लोक है, विज्ञान प्रज्ञान प्रतिष्ठारूप हृदयस्थान रोदसी का ब्रूलोकात्मक स्वर्लोक है। तीनों की समष्टि रोदसी त्रिलोकी है। हृदयरूप ब्रूलोक क्रन्दसी त्रिलोकी का मूलोक है, हृदय से तालुमूल तक का प्रदेश क्रन्दसी का अन्तरिक्ष लोकात्मक भुवर्लोक है, स्वयं तालुस्थान क्रन्दसी का ब्रूलोक स्थानीय स्वर्लोक है। यही संयती त्रैलोक्य का मूलोक है, शिरोगुहा संयती का भुवर्लोक है, ब्रह्मरन्ध्र संयती का स्वर्लोक है। इस प्रकार ईश्वर विवर्त्तवत् जीवसंस्था में सातों लोकों का संस्थान सिद्ध हो जाता है। यहां केवल विषमता इतनी ही है कि, जीवतत्त्व अध्यात्मसंस्था में, रोदसी त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित है एवं अधिदेवत में, स्तौम्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित है। स्तौम्यत्रिलोकी का ब्रूलोक स्थानीय, रोदसी त्रिलोकी का मूलोक स्थानीय ब्रह्म ग्रन्थिस्थान वैश्वानर की प्रतिष्ठा है। नाभि और ब्रह्मग्रन्थि का मध्यस्थान जैजस की प्रतिष्ठा है, एवं स्वयं नाभि प्राज्ञ की प्रतिष्ठा है। हृदय का अधः प्रदेश चन्द्रात्मक प्रज्ञान की, सायं हृदय सूर्यात्मक विज्ञान की, ब्रह्मरन्ध्र स्वयम्भू की प्रतिष्ठा है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सोमदण्ड है। इसके आधार पर तीन आग्नेय प्राण, दो सौम्य प्राण प्रतिष्ठित हैं। मूल में रहने वाला सौम्य (भास्वरसौम्य) प्राण इन्द्रियमन है, वाक् (मुख) अग्निप्रधान है, प्राण (नासिका) वायुप्रधान है, चक्षु आदित्यप्रधान है, श्रोत्र दिक्-सौम्य प्राणप्रधान है। अधिदेवत में ये पांचों स्तौम्य त्रिलोकी में ही प्रतिष्ठित हैं। भुवायु का अंश ही अध्यात्मा में हंसात्मा हैं, भूपिण्डांश ही बाह्यात्मा है। इस प्रकार दोनों संस्थाओं के सम्बन्ध में—“यदेवेह तवमुत्र । यदमुत्र तदमुत्र तदन्विह” यह श्रौत सिद्धान्त सर्वात्मना संगत हो रहा है, जितने पदार्थ ईश्वरसंस्था में हैं, उतने तो जीवसंस्था में हैं ही परन्तु प्रज्ञापराध्वन जीवसंस्था में कुछ और भी पदार्थ सम्मिलित हो जाते हैं। वे ही आगन्तुक पाप्मा ईश्वर और जीव के पार्थक्य के कारण हैं। यदि इन प्रतिबन्धकों को हटा दिया जाता है, तो जीव अपना जीवत्व छोड़ता हुआ ईश्वरकोटि में प्रविष्ट हो जाता है।

ईश्वरसंस्था—

षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा

१—सत्यलोकः १—	स्वयम्भूः	स्वः	} संयतीत्रिलोकी स्वः
२—तपोलोकः २—	❀	भुवः	
३—जनलोकः ३—	परमेष्ठी	भुः	
४—महर्लोकः	❀	भुवः	
५—स्वर्लोकः ३—	सूर्यः स्वः	भुः	

क्रन्दसीत्रिलोकी
भुवः

६—भुवर्लोकः ४—
 { १—चन्द्रमाः
 २—वायुः
 ३—महत्त्वानिन्द्रः } —भुवः
 रोदसी त्रिलोकी भूः

७—भूलोकः—५—
 {
 ————— दि० सौ० प्राणः (५)
 ————— भा० सौ० प्राणः (४)
 सर्वज्ञः ————— ऐन्द्रप्राणः ————— (३)
 हिरण्यगर्भः ————— वायव्यप्राणः ————— (२)
 वैश्वानरः ————— अग्नेयप्राणः ————— (१)
 एमुपवराहो भूवायुः
 भूपिण्डः }
 प्राणात्मा
 विवर्तकः }
 अनुचीनाः प्राणाः—
 स्तौम्यत्रिलोकी भूः

सत्त्वितस्तितायः—ईश्वरः
 { १—स्वयम्भूः—सत्यलोकः—स्वः—
 २—सूत्रवायुः—तपोलोकः—भुवः—
 ३—परमेष्ठीः—जनल्लोकः—स्वः—
 ४—शिववायुः—महल्लोकः—भुवः—
 ५—सूर्यः—स्वलोकः—स्वः—
 ६—चन्द्रमाः—भुवर्लोकः—भुवः—
 ७—पृथिवी—भूलोकः—भूः—
 {
 ————— दि० सौ० प्राणः (५)
 ————— भा० सौ० प्राणः (४)
 सर्वज्ञः ————— ऐन्द्रप्राणः ————— (३)
 हिरण्यगर्भः ————— वायव्यप्राणः ————— (२)
 वैश्वानरः ————— अग्नेयप्राणः ————— (१)
 एमुपवराहो भूवायुः
 भूपिण्डः }
 प्राणात्मा
 विवर्तकः }
 अनुचीनाः प्राणाः—
 स्तौम्यत्रिलोकी भूः

जीवसंस्था—

षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा

१-सत्यः—१—अव्यक्तात्मा (ब्रह्मरन्ध्र)	स्वः	संयती-स्वः भुवः भूः
२-तपः—२—(शिरोगुहा)	भुवः	
३-जनत्—३—यज्ञात्मा—(ब्रह्मस्तन)	स्वः	
४-महः—४—(उरोगुहा)	भुवः	
५-स्वः—५—विज्ञानात्मा—(हृदयम्)	स्वः	
६-भुवः—६— १-चान्द्रः प्रज्ञानात्मा २-शुक्रमूर्तिर्महानात्मा ३-प्रज्ञात्मकः प्राणः	(उदरगुहा)—भुवः	क्रोदसी-भुवः मूः रोदसी-भूः
७-भूः—७— मनः (५) ब्रह्मः (४) प्राज्ञः—बक्षुः (३) तैजसः—प्राणः (२) वैश्वानरः—वाक् (१) हंसात्मा—(वस्तिगुहा) शरीरम्	अनुचीनाः प्राणाः स्तोमत्रिलोकी भूः	
अष्टप्रादेशमितः—पुरुषः	१—ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठपर्यन्त १ प्रादेश १० अंगुल २—कण्ठ से—हृदयपर्यन्त " " ३—हृदय से—नाभिपर्यन्त " " ४—नाभि से—ब्रह्मग्रन्थिपर्यन्त " " ५—ब्रह्मग्रन्थि से—अर्द्धजङ्घापर्यन्त " " ६—अर्द्धजङ्घा से—जातुकपालपर्यन्त " " ७—जातुकपाल से—अर्द्धपादपर्यन्त " " ८—अर्द्धपाद से—गुल्फपर्यन्त " "	
		८४-अंगुल

जिस प्रकार वै० हि० सर्वज्ञ की समष्टि का नाम ईश्वर है, एवमेव वै०-तैजस-प्राज्ञ, इन तीनों के समुचितरूप को ही जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा का वैश्वानर भाग अर्धप्रधान बनता हुआ शरीर रसादि सप्तधातु-उपधातुओं का निर्माण करता है। तैजसात्मा क्रिया का प्रवर्तक है। गर्भाशय में आरम्भ में शुक्र रूप में प्रतिष्ठित गर्भ प्रादेश पर्यन्त कैसे फैल गया ? एवं वही बाहर निकलकर प्रादतवास्क होता हुआ ३॥ हाथ लम्बा कैसे हो गया ? इन प्रश्नों का समाधान क्रियामूर्ति इसी तैजसात्मा पर ही अवलम्बित है, एवं विषय-भोग करना तीसरे ज्ञान प्रधान प्राज्ञात्मा का काम है। यह प्राज्ञ आत्मा अन्तरसमय है। इसका अन्तर्ध्यामि सम्बन्ध शुक्र के द्वारा होता है, बहिर्ध्यामि सम्बन्ध प्रपद से होता है, जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट हो जायगा। वास्तव में यद्यपि देवसत्यात्मा का यह प्राज्ञ भाग ही भोक्तात्मा है, परन्तु यह तैजस-वैश्वानर से अविनाभूत रहता है, अतः तीनों के समुचित रूप को ही भोक्तात्मा मान लिया जाता है। ईश्वरीय देवसत्य के सर्वज्ञादि तीनों विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। अब क्रमप्राप्त जीव-देवसत्य के तीनों खण्डात्माओं का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है।

त्रिवत् पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश च, ये तीन विश्व हैं, तीनों विश्वों के शव-सोमपात् (अतिष्ठावा-अधिष्ठाता) क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य, तीन नर हैं, अर्धसूति-वैश्वानरात्मा जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। पार्थिव अग्निनर में आन्तरिक्ष्य वायुनर तथा दिव्य इन्द्रनर की आहुति होने से अग्नि-वायु-इन्द्र, तीनों का यजन (संगति-करण) होता है। इस रासायनिक संयोग लक्षण, अन्तर्ध्यामि सम्बन्धात्मक योग से जो एक अपूर्व सांयौगिक, वैकारिक भाव उत्पन्न होता है, वही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों ही प्राणाग्नियों हैं। प्राणमय होने से तीनों ही रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द, इन मात्राओं से शून्य है। परन्तु एतल्लक्षण इन तीनों प्राणियों से उत्पन्न वैश्वानर में ताप है। सर्वाङ्गशरीर में यह व्याप्त हैं। पार्थिव प्राणाग्नि अपान है, आन्तरिक्ष्य प्राणाग्नि व्यान है, दिव्य प्राणाग्नि प्राण है। इन तीनों में प्राणापान विचाली हैं, मध्यस्थ व्यान स्थिर है। यह स्थिरधर्मा व्यान ही ग्रहयज्ञपरिभाषा के उपांशुसवन (शिला-सिल) नाम से प्रसिद्ध है, एवं विचाली पार्थिव अपान अन्तर्ध्यामि विचाली दिव्य प्राण उपांशु नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि ग्रहश्रुति कहती है—

“प्राणे ह वा अस्य (यज्ञात्मानः) उपांशुः, व्यान उपांशुसवनः,

* उदान (अपान) एवान्तर्ध्यामिः” — शत० ४।१।११

यदि उपांशुसवन रूप व्यान दृषत् (सिल) है, तो उपांशु एवं अन्तर्ध्यामि रूप प्राणोदान (प्राणापान) उपल (लोड़ी) है। उपांशुसवन रूप स्थिर शिला पर होने वाला उपांशु-अन्तर्ध्यामिरूप प्राणापान व्यापार

* शतपथ के ग्रहकाण्ड में उदानशब्द से सर्वत्र अपान ही अभिप्रेत है। तभी प्राणापान व्यापार का समन्वय होता है।

ही 'उपोश्वन्तर्यामि' नाम से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव प्राण मूलग्रन्थि से जब ऊपर की ओर (हृदय की ओर) जाता है, तो उस समय यह समान नाम से व्यवहृत होने लगता है। ज्यों-ज्यों यह ऊर्ध्वगमन करता है, त्यों-त्यों व्यानशिला पर आया हुआ दिव्य प्राण पार्थिव प्राणाघात से ऊपर (कण्ठ-प्रदेश की ओर) चढ़ने लगता है, इस अवस्था में यही दिव्य प्राण उदान नाम से व्यवहृत होने लगता है। चरम सीमा पर (मूलग्रन्थि नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मरन्ध्र पर) पहुँचने के अनन्तर यह उदान प्रत्याघात से वापस लौट कर हृदय की ओर आने लगता है। इस आगच्छत् अवस्था में यही दिव्य प्राण प्राण कहलाने लगता है। ज्यों ज्यों व्यानशिला पर आया हुआ पार्थिव समान प्राण इस दिव्य प्राण के आघात से नीचे की ओर (गुद स्थान की ओर) आने लगता है, इस आगच्छत् अवस्था में यही पार्थिव प्राण अपान कहलाने लगता है। चरम सीमा पर (मूलग्रन्थि नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मग्रन्थि पर) पहुँचने के अनन्तर यह उदान प्रत्याघात से वापस लौट पड़ता है। ज्यों ज्यों यह समानावस्था में परिणत होता हुआ ऊपर चढ़ने लगता है, त्यों त्यों प्राणावस्था में परिणत दिव्य प्राण ऊपर जाता हुआ उदानभाव में परिणत होने लगता है। प्राणापान की इसी निर्गच्छत्-आगच्छत् अवस्था का नाम "प्राणदपानत्" है। प्राणानिमयी सौर रश्मियों में आप जो ताप (गर्मी) देखते हैं, वह इसी प्राणदपानत् व्यापार की महिमा है। "अस्य प्राणादपानती" (यजु० सं० ३।६)। इसी वर्षण से प्राण-अपान-व्यानरूप इन्द्र-अग्नि-वायु के समन्वय से शरीर-संस्था में तापलक्षण अपूर्ण अग्नि उत्पन्न हो जाता है। यही आध्यात्मिक वैश्वानर है। क्रियामूर्ति तैजसात्मा ज्ञान-मूर्ति प्राज्ञात्मा, दोनों की मूल प्रतिष्ठा यह वैश्वानर है, एवं इसकी प्रतिष्ठा व्यान है। व्यानाधार पर प्रतिष्ठित यह वैश्वानर रुधिररूप आशय में व्याप्त रहता है। शरीर में जहाँ तक रुधिर का व्याप्ति है, वहीं तक वैश्वानराग्नि व्याप्त है। वहीं तक वैश्वानराभिन्न तैजसप्राज्ञ व्याप्त हैं, इसी आधार पर "यावानु वै रसस्तावानात्मा" यह कहा जाता है। केश-लोम-नखाय भागों में रसरूप रुधिर का अभाव है। प्राणाग्नि से वारित (निवारित-प्रक्षिप्त) मूल भाग (अग्नि का उच्छिष्ट भाग) ही निवारित होने से वार है, वार ही बाल, किंवा बाल (केशलोम) है। 'स' रूप इन्द्रियप्राणशून्य मूल भाग ही 'न-स' के अनुसार नख है। लोकभाषा में यही नामून (खून से विरहित भाग) है। यही अग्निग्न का अभाव है। अतएव इन में आत्मा नहीं रहता। अतएव इनके निकृन्तन से कोई पीड़ा नहीं होती, अपितु भार (बोझ) उत्तरा या मालूम होता है। केश नखों का जो मूल भाग रसाग्निरूप रुधिर में अन्तःप्रविष्ट रहता है, उसमें अवश्य ही आत्मा है। यही कारण है कि यदि नापित की असावधानी से उस रसमय, अतएव आत्ममय केशनख मूल पर क्षुरिका (उत्तरा) से किसी प्रकार का आघात हो जाता है, तथा पीड़ा होने लगती है। अतएव आत्मव्याप्ति के सम्बन्ध में—"आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः" यह कहा जाता है। हम शरीर को जहाँ छूते हैं, गरम पाते हैं, यही वैश्वानर की दृष्टि (त्वक्प्रत्यक्ष) है, एवं कान-नाक बन्द कर लेने से जो एक धक्-धक् शब्द सुनाई पड़ता है, वह इसकी श्रुति (श्रोत्रप्रत्यक्ष) है। शरीर में तो अधिक भाग पानी का है, जैसाकि अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् में "अयात्मकत्वात् भूयस्त्वात्" इत्यादि सूत्रार्थ के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। शरीररूप पात्र में पानी भरा है, नीचे के स्तर में वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित हो रहा है। इसी अग्नि से वह पानी खोल रहा है। खोलते हुए पानी का जो शब्द है, वही अनाहतनाद है। कान-नाक बन्द करने पर हम इसे ही सुनते हैं। नाद शब्द को कहते हैं। 'संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' (बं० द० २। २।३१) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार शब्द आघात से उत्पन्न होता है। परन्तु यह शब्द विना

आवात के उत्पन्न होता हुआ अनाहृत है। वैश्वानर की इसी दृष्टिश्रुति का निरूपण करती हुई मैत्री श्रुति कहती है—

“अन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेद-
मन्नं पच्यते, यदिदमद्यते, तस्यैष घोषो भवति, यमेतत्
कर्णाविपिधाय शृणोति। स यदोत्क्रमिष्यन् भवति, नैनं घोष
शृणोति। स वा एष पञ्चधात्मानं विभज्य निहितो गुहायां
मनोमयः, प्राणशरीरः, भारूपः, सत्यसंकल्पः, आकाशात्मा”

—(मै० उ० २।६) इति।

प्राण-व्यान-अपान के उपाश्वन्तर्यामि लक्षण प्राणादपानत् व्यापार से ही तापलक्षण वैश्वानर का जन्म होता है। जबतक वैश्वानर स्वरूप से प्रतिष्ठित है, तभी तक तैजसात्मा, एवं प्राज्ञ आत्मा की स्वरूप रक्षा है, तभी तक जीवन सत्ता है। वैश्वानर के इसी सांयोगिक धर्म का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

“स एको नाशकत्। स पञ्चधात्मानं विभज्योच्यते, यः प्राणोऽपानः,
समान, उदानो, व्यान इति। अथायं य उर्ध्वमुत्क्रामति, एष वाव स प्राणः।
अथयोऽयमवाङ् संक्रामति वाव सोऽपानः। अथ येन वैतानुगृहीतेत्येष वाव
स व्यानः।

अथ योऽयं स्थविष्ठो धातुरन्नस्यापाने प्रापयति, अणिष्ठोवाऽङ्गो समान
यति एष वाव स समानसंज्ञा। उत्तरं व्यानस्य रूपं चैतेषामन्तरा प्रसूतिरेवो-
दानस्य। अथ योऽयं पीताशीतमुद्गिरति निगिरति-इति वैष वाव स उदानः।
अथोपांशुरन्तर्यामिमभिभवति, अन्तर्यामि उपांशुं (प्राणः अपानं अपानः
प्राणम्)। चैतयोरन्तरादेवौष्ण्यं (तापं) प्राप्नुवत्। यदौष्ण्यं स पुरुषः। अथ
यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरः।” मै० २।६ इति।

जब तक ताप है, तभी तक जीवनसत्ता है। जब तक वैश्वानर है, तभी तक ताप है। जब तक प्राणापान का उपाश्वन्तर्यामिरूप प्राणदपानत् (घर्षण) व्यापार है, तभी तक वैश्वानर है। जब तक मध्यस्थ व्यान स्वरूप से प्रतिष्ठित है, तभी तक उपाश्वन्तर्यामि है। इस प्रकार परस्परया मध्यस्थ, प्रादेशमित, अतएव वामन नाम से प्रसिद्ध, ऊर्ध्वस्थ दिव्य सौरप्राणदेवता, एवं अधोऽवस्थित पार्थिव प्राणदेवताओं का अनुग्राहक व्यानप्राण ही जीवनसत्ता का मूल आधार बन जाता है। इसी व्यानविज्ञान को लक्ष्य में रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।

मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥१॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुभाश्चितौ ॥२॥

—कठोपनिषत् ५।३४

यद्यपि पूर्व कथनानुसार अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों का समुचित रूप ही वैश्वानर है । परन्तु आधार भाव की मुख्यता के कारण प्रधानता इसमें अग्नि की है । अग्नि योनि है, वायु-इन्द्र-रेत है । दूसरे शब्दों में अग्नि आधार है, वायु इन्द्र आधेय है । चतुर्मात्रिक अग्नि है, द्विमात्रिक वायु है, द्विमात्रिक इन्द्र है, जैसा कि ईश्वरीय देवसत्यनिरूपण में बतलाया जा चुका है । अग्नि का अर्थमात्रा से सम्बन्ध है । अर्थ-भौतिक है । वैश्वानर में इसी की प्रधानता है । क्रियामूर्ति तैजस तथा ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ, दोनों इसमें सुप्त हैं । अतएव जिन असंज्ञ जीवों में (लोष्ठ-पाषाण-धातु आदि जड़ पदार्थों में) केवल वैश्वानर का विकास होता है, न उनमें किरारूप वृद्धि व्यापार देखा जाता, न उनमें भोग-सामर्थ्य देखा जाता । दूसरे शब्दों में लोकभाषा में धातुजीव जड़पदार्थ, आदि नामों से प्रसिद्ध जीवों की जीवन सत्ता यही वैश्वानर है । अतएव इन्हें विज्ञान भाषा में 'ऐकात्मक' जीव कहा जाता है, दर्शन भाषा में यही 'असंज्ञ' (जड़) नाम से प्रसिद्ध हैं ।

शरीर में शिरा-धमनी-स्नायु, भेद से तीन प्रकार की नाड़ियाँ हैं । रक्तवहन करने वाली नाड़ियाँ 'शिरा' हैं । वायु वहन करने वाली धमनी हैं' एवं ज्ञान का संचार करने वाली नाड़ियाँ 'स्नायु' हैं । इन तीनों में से वैश्वानर के साथ रक्तवाहिनी 'शिरा' नाम की नाड़ियों का ही सम्बन्ध है । रक्ताग्नि का वैश्वानर का आशय (व्याप्तस्थान) है, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है । इन्हीं के द्वारा वैश्वानर अग्नि का सर्वाङ्गशरीर में सञ्चार होता है । भुक्त अन्न का परिपाक करना, केशलोमादि उत्पन्न करना, भुक्तान्न को रसायुष्मांसादि धातुओं में परिणत करना, उत्पन्न धातुओं को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना, अर्थशक्तिप्रधान वैश्वानर का ही कर्म है । साथ ही में वागिन्द्रिय, धातु, आग्नेय प्राण (समान-अपान), शरीरसंस्था इनकी प्रतिष्ठा भी यही वैश्वानर है । भूताग्नि के सम्बन्ध से इस वैश्वानर को हम 'भूतात्मा' कह सकते हैं । इस वैश्वानर का प्रभव त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न आधिदैविक वैश्वानरावच्छिन्न पार्थिव अन्नात्मक शुक्र है, प्रतिष्ठा ब्रह्मग्रन्थि है, योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्ग शरीर है । त्रिमूर्ति इस वैश्वानर का स्वरूप निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

स यः स वैश्वानरः-इमे स लोकाः । इयमेव पृथिवी विश्वं-अग्निर्नरः ।

अन्तरिक्षमेव विश्वं-वायुर्नरः । द्यौरेव विश्वं-आदित्यो नरः ॥

—शत० ६।३।१।३

पार्थिव पञ्चदश स्तोम में वायुदेवता की प्रधानता है। यहाँ हृदय में वायु प्रतिष्ठित है। इस वायु के साथ पार्थिव अग्नि एवं दिव्य आदित्य का सम्बन्ध होता है। चतुर्मात्रिक तैजसात्मा-क्रियामूर्ति: वायु में द्विमात्रिक अग्नि एवं द्विमात्रिक आदित्य का प्रवेश होता है। इस प्रकार वायुप्रधान वायु-अग्नि-आदित्य के समन्वय से जो सांयोगिक, श्वास-प्रश्वासरूप से प्रत्यक्षानुभूत अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, वही "तैजसात्मा" है। यहाँ वायु योनि है, अग्नि एवं आदित्य रेत है। दूसरे शब्दों में वायु आधार है, अग्नि है। अग्नि-आदित्य आधेय हैं, सोम हैं। तैजस में प्रधानता वायु की ही है, उधर वायु ही एकमात्र क्रियातत्त्व का अधिष्ठा है, अतः तत् प्रधान इस तैजसात्मा को हम अवश्य ही क्रियामूर्ति मानने के लिए तय्यार हैं। "तेजो वै वायुः" (तै० ब्रा० ३।२।६।१) के अनुसार वायु तेज है। इसी के सम्बन्ध से यह क्रियात्मा "तैजसात्मा" कहलाया है। औषधि-वनस्पतियों में वैश्वानर के साथ-साथ इस तैजसात्मा का भी विकास रहता है। ज्ञानप्रधान प्राज्ञ आत्मा यहाँ गुप्त है, अतएव इन्हें-अन्तःसंज्ञ कहा जाता है—"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः"। दो आत्माओं के विकास के कारण ही इन्हें विज्ञानभाषा में "द्व्यात्मक" जीव माना गया है। ये ही अर्द्धचेतन जीव हैं। इन का मूल पृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है, अतः इन्हें मूलजीव भी कहा जाता है। तैजस के विकास से ही इन का ऊर्ध्व गमन होता है, यही क्रियामूर्ति तैजसात्मा के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं।

इस तैजसात्मा का प्रधान सम्बन्ध वायुवाहिनी धमनी नाम की नाड़ियों से हैं। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह वैश्वानर द्वारा निर्मित धातुओं का वायु द्वारा सर्वाङ्ग शरीर में संचार करता हुआ धातुओं को पुष्ट करता है। यदि तैजसात्मा न होता तो प्रादेशमित गर्भ कभी पुरुषाकार में परिणत न होता। शरीरगत दूषित भावों को निकालना, शरीरधातुओं का सर्वाङ्गशरीर में प्रसार करना, धातुओं की वृद्धि-गत करना, श्वासप्रश्वास का संचालन करना, इस तैजसात्मा के मुख्य कर्म हैं। प्राणेन्द्रिय (नासेन्द्रिय), वायव्यप्राण (ध्यान) ओज, इनकी प्रतिष्ठा भी यही तैजसात्मा है। वायुतत्त्व प्राणप्रधान होता हुआ ही क्रियामूर्ति है। इसी प्राण के सम्बन्ध से हम इसे "प्राणात्मा" नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। यही देव-सत्यात्मा का दूसरा विवर्त है। इस तैजसात्मा का प्रभव पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आदिदैविक हिरण्यगर्भा-वच्छिन्न आन्तरिक्ष वायु प्रधान अन्नात्मक शुक्र है, प्रतिष्ठा हृदय है, योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्ग-शरीर है।

पार्थिव एकविंशस्तोम में आदित्य (इन्द्र-) तत्त्व प्रतिष्ठित है। इस इन्द्र तत्त्व के साथ पार्थिवअग्नि एवं आन्तरिक्ष वायु का सम्बन्ध होता है। यहाँ इन्द्र चतुर्मात्रिक है, अग्नि द्विमात्रिक ज्ञानमूर्ति-प्राज्ञात्मा है एवं वायु भी द्विमात्रिक है। अतएव इन्द्र की प्रधानता सिद्ध हो जाती है। इन्द्र योनि है, अग्नि एवं वायु रेत है। इन्द्र आधार है, अग्नि है, अग्नि-वायु आधेय हैं, सोम है। इन्द्र-तत्त्व एकविंशस्तोमावच्छिन्न बुध्नोक्त की वस्तु है। इसके ऊपर ही त्रिणव-त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न पारमेष्ठ्य बीध्र सोम प्रतिष्ठित है। इस सोम का भी इन्द्र के साथ, सम्बन्ध हो जाता है। सोम महदंश है, महान् ही ज्ञानवन चिदात्मा की योनि है। अतएव (महत्सोम सम्बन्ध से) इस इन्द्र में चिच्छक्ति (ज्ञानशक्ति) का विकास हो जाता है। इन्द्र-सोम-चिदंश तीनों की समष्टि दिव्य इन्द्र है।

इसके गर्भ में अग्नि वायु प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार सोमचिदंशगर्भित इन्द्रप्रधान-इन्द्र-अग्नि-वायुसृष्टि इस तीसरे दिव्य आत्मा का ज्ञानमयस्व भली-भाँति सिद्ध होजाता है। इसी ज्ञान के सम्बन्ध से इसे 'प्राज्ञात्मा' कहा जाता है। चिद्विशिष्ट सोम प्रज्ञा है, तद्युक्त प्राण इन्द्र है। प्रज्ञाप्राण की समष्टि ही प्राज्ञात्मा है। इन्द्र ही चिदंशरूप ब्रह्म के समीपतम है, इसी आधार पर इसके लिए— "स हि नेदिष्ठं पस्पशं" (केनोपनिषत्) यह कहा जाता है। भोग का ज्ञान से ही प्रधान सम्बन्ध है, अतः इस प्राज्ञ को ही हम प्रधान-तथा "भोक्तात्मा" कहने के लिए तैयार हैं। नागदन्त (खूँटी) में टंगे हुए एक दर्पण में आने जाने वाले पदार्थों का प्रतिबिम्ब विकसित होता रहता है। प्रतिबिम्बरूप से वे पदार्थ दर्पण के उदय में भुक्त होजाते हैं। यही दर्पण का भोक्तृत्व है। जिसके उदर में जो वस्तु चली जाती है वह भोग्य है, भोग्य को उदर में रखने वाला अन्ता ही भोक्ता है। यही भोग-भोक्ता की साधारण मीमांसा है। बिना बीध पदार्थ के यह भोग्य भोक्तृभाव उदित नहीं हो सकता। एक पाषाण न प्रतिबिम्बों का भोक्ता हो सकता, न प्रतिबिम्ब पाषाण के उदर में भुक्त हो सकते। दर्पण बीध है, अतः यहाँ भोक्तृभोग्य भाव का उदय सुलभ है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, तीनों में महत् सोम सम्बन्ध से एकमात्र प्राज्ञ ही बीध है। इन्द्रिय-मन-बुद्धि के संयोग जनित व्यापार से आने वाले प्रतिबिम्ब स्थानीय विषय संस्कार यही प्रतिबिम्बित होते हैं। यही संस्कारों की आवास भूमि है। विषय संस्कार रूप से प्राज्ञोदर में भुक्त है, अतः इसी को भोक्तात्मा मानना उचित होता है।

इस प्राज्ञात्मा का प्रधान रूप से ज्ञानवाहिनी रसायु नाम की नाडियों से सम्बन्ध है। इन्हीं नाडियों के द्वारा यह ज्ञानधारा सर्वत्र व्याप्त रहती है। यदि कहीं भी, किसी प्रकार की भी पीड़ा होती है, तो इसी प्राज्ञ ज्ञान से तत्काल उसका अनुभव हो जाता है। यही प्राज्ञ सुख-दुःख भोक्ता है। यही संस्कार-वश जन्म लेता है। यही पाप-पुण्य का फल भोक्ता है। यद्यपि व्यात्मक ससंज्ञ नाम से प्रसिद्ध कृमि-कोट-पक्षी-पशु-पुरुष, पाँचों में प्राज्ञ का विकास है, दूसरे शब्दों में पाँचों में ही वै० तै० प्राज्ञ, तीनों आत्माओं का विकास है, परन्तु प्राज्ञ का पूर्ण विकास तो पुरुष में ही होता है। वै० तै० प्राज्ञ की समष्टि रूप यह देव-सत्यात्मा अर्थ-क्रिया ज्ञानमय है। यह खण्डात्मा अव्यय नाम से प्रसिद्ध मनःप्राणवाङ्मय उसी अखण्ड विश्वेश्वर आत्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है। जिस क्षर भाग में आत्मा की मनः-प्राण-वाक्, इन तीनों कलाओं का पूर्ण विकास होता है, क्षरसृष्टि में वही क्षरतत्त्व पुरुष कहलाता है। धातु-मूल-पशु-पक्ष, आदि क्षर प्रजाएँ पुरुष नहीं कहलाती। कारण, इनमें वै० तै० प्रा० अल्पमात्रा में अवस्थित है। मनुष्य में तीनों का पूर्ण विकास है, अतः यही पुरुष कहलाता है। और जीवों की अपेक्षा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ के पूर्ण विकास के कारण एकमात्र पुरुष ही उस अव्ययेश्वर प्रजापति के नेदिष्ठ (निकटतम) कहलाता है। इसी विज्ञान के आधार पर— "पुरुष वे प्रजापतेर्नेदिष्ठस्" (शत० २।१।१।१।) यह कहा जाता है। वैश्वानर अर्थशक्ति प्रधान है, यह अव्ययेश्वर की वाक् कला का विकास है। तैजस क्रियाशक्ति प्रधान है, यह अव्यय की प्राण कला का विकास है। इस प्रकार वह देवसत्य तत्त्व मनः प्राण-वाङ्मय अव्ययेश्वर के क्षर भाग को आगे कर अग्नि-वायु-इन्द्र को अपना स्वरूप समर्थक बनाता हुआ वैश्वानर तैजस प्राज्ञरूप से स्रष्टात्मना जीवस्वरूप में परिणत हो रहा है— "ममैवांशो जीवलोके जीवभूत-सनातनः" (गीता)

भूतात्मा वैश्वानर, प्राणात्मा तैजस, भोक्तात्मा प्राज्ञ, तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। तीनों मिल कर ही आध्यात्मिक कर्मकलाप का संचालन करने में समर्थ होते हैं। कर्म में ज्ञान क्रिया-अर्थ तीनों का सहयोग अपेक्षित है। अतएव उक्त तीनों की समष्टि को हम “कर्मात्मा” नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। साथ ही में तीनों के अविनाभाव से समष्टि को भी वैश्वानरदृष्ट्या भूतात्मा, तैजसदृष्ट्या प्राणात्मा, प्राज्ञदृष्ट्या भोक्तात्मा कहा जा सकता है। इन तीनों में से प्राज्ञात्मा का प्रभव एकविंशस्तोमावच्छिन्न आधिदैविक सर्वज्ञावच्छिन्न दिव्य इन्द्र प्रधान अन्नात्मक शुक्र है, प्रतिष्ठा ब्रह्मरन्ध्र है, योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्ग शरीर है। इस के अतिरिक्त पार्थिव इरारस प्रधान होने से हिरण्य नाम से प्रसिद्ध यह पार्थिव प्राज्ञपुरुष प्रपद से भी प्रविष्ट होता है। अतएव उत्पन्न शिशु के पैरों में ही सर्वप्रथम चेतना का विकास देखा जाता है। विषयानुभव, सुख-दुःख भोग, धातुवर्ग, का यथाव्यवस्थित संचालन, इत्यादि प्राज्ञ के मुख्यकर्म हैं। साथ ही में मनु, चक्षुरिन्द्रिय, दिव्यप्राण, आदि की प्रतिष्ठा भी यही है।

पूर्व कथन से निष्कर्ष यह निकला कि अग्नि-वायु-आदित्य प्रधान वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टि रूप, ज्ञान-क्रिया-अर्थ शक्तिमय उखत्रिलोकी में प्रतिष्ठित, वै० हि० सर्वज्ञमूर्ति साक्षी देवसत्य का अंशभूत चिद्विंशष्ट देवसत्य ही “जीवात्मा” है। स्थूलशरीर के नष्ट हो जाने पर यही कर्मात्मा कर्मफल भोगने के लिए लोकान्तर में जाता है। इस जीवात्मा का स्वरूप सुपर्ण (गहड़पक्षी) जैसा है। पाँच अग्निशो की चिति से इसका स्वरूप निष्पन्न हुआ है। प्रकारान्तर से चार आत्मा, दो पक्ष, पुच्छ प्रतिष्ठा, इस प्रकार सात अवयवों से इसका चयन हुआ है। विज्ञानभाषा में यही चिति सुपर्णचिति नाम से प्रसिद्ध है। चान्द्र मन भोगसाधन है। चान्द्र विवर्त्त में सोम-चिदंश-प्राण इन तीनों तत्त्वों का समावेश है। प्राण इन्द्र है सोम भूत है। इसी के सम्बन्ध से यहाँ चिदंश प्रतिष्ठित हुआ है। अतएव यह चान्द्र सोम भी दिव्य इन्द्र-वत् प्रज्ञा नाम से व्यवहृत होता है, जैसा कि पूर्व की महदात्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस प्राज्ञ प्राण की समष्टि ही प्रज्ञान मन है। बिना इसके विषयभोग सम्भव नहीं है। साथ ही में बिना बुद्धि एवं इन्द्रियों के भी भोग अनुपपन्न है। इसी आधार पर उक्त भोक्तात्मा का—“आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः” (कठोपनिषत् १।३।४) यह लक्षण किया जाता है। अव्यक्त-यज्ञात्मा-विज्ञान-महद्यत् प्रज्ञान-शरीर की समष्टि ब्रह्मसत्य है, एवं वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टि देवसत्य है। यह चान्द्र प्रज्ञान के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, उसके बिना भोग भी नहीं बन सकता, अतएव ब्रह्मसत्यांशभूत इस चान्द्र प्रज्ञान का “एतद्वै देवसत्यं यच्चन्द्रमाः” के अनुसार देवसत्यरूप उक्त लक्षण जीवात्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। यह तो हुआ भूपिण्ड के आधार पर वितत पार्थिव उख्या त्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाले कर्मात्मा का संक्षिप्त स्वरूप परिचय। अब एमुषवराह नाम से प्रसिद्ध पार्थिव स्थिर वायु (भूवायु) से निष्पन्न होने वाले हंसात्मा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

शुक्र-शोणित के समन्वितरूप में ओषपातिक कर्म-भोक्ता जीवात्मा गर्भाशय में प्रविष्ट होता है। ज्यों-ज्यों पार्थिव मात्रा की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों गर्भ पुष्ट होने लगता है। वायुमूर्ति-हंसात्मा ऋतुकाल में पिता योनिगत आग्नेय हृदिर में सौम्य शुक्र की आहुति देता है। सिक्त वीज औषपातिक आत्मा से अनुग्रहित रहता हुआ एक अहोरात्र की प्रतिष्ठा के अनन्तर कलल रूप में परिणत हो जाता है। ईषद्वनवत्तलवृत्तभावापन्न शुक्रशोणित समष्टि

ही कलस है। सात रात्रि में बुद्बुदावस्था होती है। एक पक्ष में पिण्ड निष्पत्ति होती है। एक मास में कठिनता आती है। दो मास में भस्त्रक बनता है, तीन मास में पाद निर्माण होता है। चतुर्थ मास में अंगुलियाँ, जठर एवं कटि प्रदेश सम्पन्न होते हैं। पञ्चम मास में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) बनता है। षष्ठमास में नासा-चक्षु-श्रोत्र की स्वरूप निष्पत्ति होती है। सप्तम मास में जीवनीय शक्ति उद्बुद्ध होती है। अष्टमास में सर्वाङ्ग निष्पत्ति होती है। (इन सब अङ्गोपाङ्गों की बीजावस्था के अनुसार महर्षि चरक के मतानुसार सब की एक साथ ही अष्टम मास में पूर्ण निष्पत्ति हो जाती है—(देखिए चरक सं० शा० ३) *पिता के रेत (शुक्र) की अधिकता से पुरुष (लड़का) प्रजा, माता के रेत (शोणित) की अधिकता से स्त्री (लड़की) प्रजा के चिन्ह बनते हैं। दोनों की समानता से नपुंसक प्रजोत्पत्ति होती है, एवं विषमता में शुक्राहुति व्यर्थ जाती है। शुक्राहुति देते समय यदि पिता का चित्त व्याकुल रहता है, उस समय उसकी जिस इन्द्रिय में, जिस अवयव में विकार रहता है, वही विकृतावस्था प्रजा में उत्पन्न हो जाती है। अन्ध-खज्ज-कुब्ज-वामन-बधिर-अतिरिक्ताङ्ग आदि विकृत भावों का यही कारण है। योनिगत आग्नेयवायु शुक्र-गत सौम्यवायु, आङ्गिरस भार्गव वायुओं का यदि परस्पर संघर्ष हो जाता है, तो वहाँ का “एवयामरुत्” नाम से प्रसिद्ध रेतोष्ण मातरिषवा वायु भी दो भागों में विभक्त होता हुआ शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है। द्विधा विभक्त ऐसे शुक्र से यमज (जोड़ली) सन्तान उत्पन्न हो जाती है। यदि एवयामरुत् के तीन-चार अथवा इससे अधिक विभाग हो जाते हैं, तो उतने में ही स्वतन्त्र गर्भ बन जाते हैं। इसी वायु-विभेद की कृपा से एक ही समय में सात सात गर्भों की स्थिति देखी गई है। इस गर्भोत्पत्ति क्रम से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, गर्भ उत्तरोत्तर घन बनता जाता है। नवम मासानन्तर एवयामरुत् के प्रत्याघात से जब वह गर्भाशय से बाहर निकलकर भूमिष्ठ होता है, तो इसके साथ उसी पार्थिव स्थिर वायु का सम्बन्ध होने लगता है। इस वायु में अश्मा सोम रहता है। वायुद्वारा अश्मा सोम की घनता उत्पन्न शिशु में धीरे धीरे प्रविष्ट होने लगती है। यदि माता पिता सबल एवं पूर्ण स्वस्थ होते हैं, तो इन के मिश्रणभाव से उत्पन्न शिशु में पृथिवी की एक साम्बत्सरिक परिक्रमा के अनन्तर ही इसमें अश्मासोम “दन्त” (दांत) रूप से प्रतिष्ठित होजाता है। अश्मा सोमगर्भित एमुषवायु एक वर्ष में ही प्रविष्ट हो जाता है, इसकी सत्ता के द्योतक दांत ही है। पृथिवी का प्रातिस्विक प्राण पूषा है। यह अश्मासोम—विरहित है। एक वर्ष तक बच्चे में इसी पार्थिव पूषा—प्राण की प्रधानता रहती है अतएव इस काल में बच्चे के दांत उत्पन्न नहीं होते। इसी विज्ञान के आधार पर—“तस्मादाहुरदन्तकः पूषा” (शत० १।७।४।७) यह कहा जाता है। जब तक दांत उत्पन्न नहीं होते, तब तक भूस्थिर वायु प्रविष्ट नहीं होता, दूसरे शब्दों में प्रविष्ट होकर भी स्थिर नहीं होता। दन्तपङ्क्ति उत्पत्ति के सहकाल में ही प्रविष्ट

* आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादात्तंवाधिके ।

नपुंसक तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी ॥ (भावप्रकाश)

♀ पहले नीचे के दांत क्यों उत्पन्न होते हैं ? नीचे के पतले संहत, ऊपर के मोटे एवं वितत क्यों होते हैं ? द्रष्टा बरीयसी क्यों होती है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए शतपथ विज्ञान भाष्य द्रष्टव्य है।

होने वाला यही वायव्यांश "हंसात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। हंसात्मा के उपादानभूत वायु का एमूप वराह रूप से पूर्व में निरूपण किया जा चुका है अतः यहाँ पिण्डपेषण की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में केवल हंसात्मा के कुछ एक कर्मों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

हंसात्मा का उपादान भूवायु है। एक वर्ष के पार्थिव परिभ्रमण से शरीर में जब घनता (प्रतिष्ठा) आ जाती है, तभी दांत उत्पन्न होते हैं, यह कहा जा चुका है। तभी हंसात्मा उत्पन्न होता है। भूवायु तब तक स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, जब तक कि भूपिण्ड स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। ठीक इसी प्रकार यह वायव्य हंसात्मा भी तक शरीर से अवश्य ही बढ रहता है, जब तक कि शरीरधातु प्रतिष्ठित रहते हैं। जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध पूर्वोक्त कर्मात्मा के शरीर से निकलते ही अव्यक्त-यज्ञ-विज्ञान-महत्-प्रज्ञान आदि सब खण्डात्मा उत्क्रान्त हो जाते हैं। परन्तु शरीर-पिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला यह हंसात्मा यही, इसी भौतिक मर्त्य शरीरपिण्ड से बढ रह जाता है। यह तब तक शरीर-पिण्ड से बढ रहेगा, जब तक कि शरीरभौतिक धातु अग्नि के सम्बन्ध से विणकलित न कर दिए जायेंगे। इसकी उत्पत्ति दन्तोत्पत्ति समकालीन बतलाई गई है। अतएव जिस बालक के दांत पैदा नहीं होते, धर्मशास्त्रने उसे केवल भूमि में गाड़ने का आदेश दिया है। परन्तु दांत पैदा होने के अनन्तर यदि शव को नहीं जलाया जाता है, तो हंसात्मा को शरीर के साथ बंधा रहना पड़ता है। कर्मात्मा अपने गृह रूप शरीर को छोड़ कर लोकान्तर में कर्म भोगने के लिए चला जाता है परन्तु हंसात्मा प्राण शून्य अतएव मर्त्य शरीरगृह के साथ ही बढरहता है। इसी आधार पर अन्य संप्रदाय वाले आचार्यों ने (मुहम्मदियों ने) कर्मात्मा को "सैलानी" (लोकान्तर में सैर करने वाला), एवं हंसात्मा को "मक्कानी" (गृहरूप-शरीर में बढ रहने वाला) कहा है। जिसका शरीर भूमि में गाड़ दिया जाता है, उनका हंसात्मा वही बढ रहता है। जिस प्रकार एक पक्षी दिन भर इधर उधर घूम घाम कर सायंकाल अपने कुलाय (घोंसले) का आश्रय ले लेता है एवमेव यह हंसात्मा भी दिनभर इधर उधर घूमघाम कर पुनः उसी स्थान पर विश्राम करता है। "कब्रों से वहाँ निकला करती हैं" यह सच्ची किंवदन्ती है। यह "रूह" वही हंसात्मा है। परम कारुणिक अतीतानामतज आर्य महर्षियों ने अपनी आर्षदृष्टि में हंसात्मा के इस शरीर बन्धन को देखा एवं इसे इस बन्धन से मुक्त करने के लिए ही शवदाह की धर्माज्ञा प्रचलित की। दुःख है कि, अना-र्षदृष्टि वाले हठवादी इस मर्म को न समझते हुए आज भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ते।

इस हंसात्मा की मुक्ति अमर्यादित है। किन्हीं ऋषियों का मत है कि, जब सृष्टि का प्रतिसंचर (प्रलय) होगा, तभी हंसात्मा की मुक्ति होगी, तब तक हंसात्मा इसी भूवायु में घूमता रहेगा। संभव है, इसी आधार पर मुहम्मदियों का—"क्यामत के दिन खुदा ताला बूह का फैसला करेंगे, जिनकी आखिरी पैगम्बर मुहम्मद साहिब सिफारिश करेंगे, उन्हें बहिश्त (स्वर्ग) बक्शी जायगी, जिनको वे काफिर कहेंगे, उन्हें दोजख (नर्क) मिलेगी" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो। इतना अवश्य है कि, ईश्वरवादी आस्तिकों का हंसात्मा मुक्त रहता है एवं अनीश्वरवादी नास्तिकों का हंसात्मा दुःखी रहता है। जिस मनुष्य का सात्त्विक-राजस-तामस, तीनों में से जैसा स्वाभाव होता है, उनके हंसात्मा का भी वैसा ही स्वभाव होता है। हंसात्मा का शरीर वायव्य है एवं इसमें २५ इन्द्रियाँ हैं। यह छोटे से छोटा शरीर

धारण कर सकता है, मोटा बन सकता है। तत्तद् विशेष योनिवाँ धारण कर यह मनुष्यों का उपकार-अपकार करने में समर्थ है। यह एक प्रकार की प्रेतयोनि है। इसी हंसात्मा पर मेस्मेरेजम (Mesmerism) किया जाता है। रामचन्द्र-कृष्ण-परशुराम-व्यास कपिल-कणादादि अवतार पुरुष एवं महापुरुषों का कर्मात्मा नित्य मुक्त था, परन्तु इनके हंसात्मा आज भी प्रतिष्ठित हैं। इतना ही नहीं दृष्टिनिरोधरूपा संयमविद्या से आज भी इसका साक्षात्कार किया जा सकता है। यही हंसात्मा दर्शनभाषा में—“अभिमानी” देवता नाम से प्रसिद्ध है। “अमुक देवता ने दर्शन दिए” “अमुक मनुष्य आज हमें स्वप्न में दिखलाई दिया” “अमुक प्रेतात्मा आज हमें दीक्षा और उसने यह कहा” यह ‘अमुक’ शब्द-वाच्य यही हंसात्मा है।

मनुष्य जब घोर निद्रा में (बेखबर) सो जाता है, तो उसका हंसात्मा उसकी रक्षा करता है। आप सो रहे हैं। कर्मात्मा प्रज्ञात विज्ञान को साथ लेकर पुरीतति नाड़ी में प्रतिष्ठित हो रहा है। ऐसी अचेतनावस्था में यदि एक विषधर सर्प आपकी ओर आता है अथवा ऊपर की छत गिरना चाहती है अथवा कोई शत्रु आक्रमण करने आ रहा है, अथवा और कोई आकस्मिक आपत्ति आ रही है, तो इस समय आप अकस्मात् हड़बड़ा कर जग पड़ते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। यह कर्म उसी हंसात्मा, विचार में स्फूर्ति डालकर अथवा अन्य योनि में आकर संकेत द्वारा आपको सावधान कर देगा। आप किसी विषय की गुत्थी (ग्रन्थि) सुलझाने में व्यस्त हो रहे हैं। एक व्यक्ति आपके सामने से कुछ बड़बड़ाता हुआ निकल जाता है। वह उस समय ऐसी बात बोलता है, जिससे आप की गुत्थी सुलझ जाती है। यह उसी हंसात्मा का संकेत है। बच्चे का हंसात्मा निर्मल, अतएव सत्यवादी होता है। इसीलिए शकुन परीक्षक बच्चे से प्रश्न कर उस के निर्णय के आधार पर शुभाशुभ की व्यवस्था कर लेते हैं। योग प्रक्रियाविशेष से वह हंसात्मा सिद्ध हो जाता है, एवं इससे यथेच्छ काम लिया जाता है। यही सिद्धि पातञ्जल योगदर्शन में “छायापुरुषसिद्धि” कहलाती है। आप सोते समय जरा इढ़ भावना से यह विचार कर लीजिए कि, मुझे आज प्रातः ३ बजे उठना है। घोर निद्रा में निमग्न रहते हुए भी आप अपने उसी संकल्पित समय में जग पड़ेंगे। इस सम्बन्ध में हम आप से प्रश्न करेंगे कि, कर्मात्मा-विज्ञान-प्रज्ञान, सब इस समय सुप्त थे, फिर किसने आप को जगाया? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान वही हंसात्मा होगा। साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि, कर्मात्मा जिस समय शरीर छोड़ता है, उस समय शरीर की सुखी अथवा दुःखी जैसी अवस्था होती है, उस का हंसात्मा भविष्य में उसी अवस्था से युक्त रहता है। जीवित अवस्था में भी जो अवस्था शरीर की होती है, वही अवस्था हंसात्मा की रहती है। शरीर के जला देने पर यह स्वायतनभूत भूवायु में विचरा करता है। सौर प्रकाश इस का घोर शत्रु है, चान्द्रज्योति इसका परम मित्र है। हंसात्मा जब रहेगा छाया में, एवं चन्द्रिका में। धूप में यह क्षणमात्र भी नहीं रह सकता। इसी हंसात्मा के स्वरूप परिचय के लिए देव प्रतिमाओं के चारों ओर विशेषतः शिरोमण्डल के चारों ओर एक ज्योतिर्मण्डल बनाया जाता है। जिस का हंसात्मा सात्त्विक-पवित्र-ज्ञानयुक्त रहता है, उन मनुष्यों के शरीर के एवं मुख मण्डल के चारों ओर भी एक कांतिमण्डल रहता है। अतितैजस्वी के मुख पर साधारण व्यक्ति की आंखें नहीं ठहर सकती। यह मण्डल उसी हंसात्मा का है। तामस हंसात्मा का वहर्मण्डल अप्रत्यक्ष रहता है। इसी वायुमय हंसात्मा को लोकभाषा में—“बातावरण” कहा जाता है। इस के परिज्ञान से

मनुष्य के मानसिक भाव विदित हो जाते हैं। कारण, मनुष्य अपने मन में जैसा संकल्प करता है, उसका हंसात्ममण्डलरूप वातावरण, किंवा बहिर्मण्डल वैसे ही भावों से युक्त हो जाता है। मार्मिक विद्वान इससे उस के अन्तर्भावों का पता लगा लेते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर यजुःश्रुति कहती है—

“तस्मादाहुः—‘मनो वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति’—इति । मनसा संकल्प-
यति, तत्प्राणमपि पद्यते, प्राणो वातं, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष मनः ।
तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तम्—

“मनसा संकल्पयति तद्वातमपि गच्छति ।

वातो देवेभ्य आचष्टे यथाः पुरुष ते मनः ॥” (शत० ३।४।२।६)

इस हंसात्मा का प्रभव भूवायु है, प्रतिष्ठा बहिर्मण्डल है, योनि सम्बत्सर चक्र है, आशय सर्वाङ्ग शरीर है। ईश्वर शरीर में यही एमूषवराह नाम से प्रसिद्ध है, एवं जीव शरीर में यही “हंसात्मा” नाम से व्यवहृत होता है। “त्रिवृतं च हंसात्माहुः” (ग्रथर्व सं० १०।८।१७), “हंसो वातस्य” (यजुःसं० २४।३५) “वायुं तृतीयम्” (शत० १०।६६।३) इत्यादि मन्त्र ब्राह्मणोक्त प्रमाणों के अनुसार ही यह वायव्यात्मा “हंसात्मा” नाम से प्रसिद्ध है। लोकभाषा में जिस तत्त्व के लिए—हंसा उड़ गया, शरीर रह गया” यह किंवदन्ती प्रचलित है, वह “हंसा” (पक्षी) यही हंसात्मा है। हंसात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद्, इन पाँचों पुरञ्जनों का पञ्चीकृत रूप ही भूपिण्ड है, पाँचों ही अग्नि मूर्ति है, जैसा कि पूर्व प्रकरणों में कई स्थलों में स्पष्ट किया जा चुका है। वाह्यात्मा-भूतमूर्तिः अग्नि गायत्र छन्द से छन्दित रहने के कारण अष्टाक्षर माना जाता है। इस गायत्र भाव के कारण प्राणादि पाँचों पुरञ्जनों की (प्रत्येक की) आठ-आठ मात्राएं हो जाती हैं। इन में चार मात्रा में प्राणादि स्वयं रहते हैं, शेष चार मात्राएं इतर पुरञ्जनों में रहती हैं, यही प्रक्रिया पञ्चीकरण नाम से प्रसिद्ध है। इन में यदि चतुर्मात्रिक अन्नाद् है, एवं प्राण-आपः-वाक्-अन्न, ये चारों एक एक मात्रिक हैं, तो पञ्चीकृत अन्नाद् का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही पञ्चीकृत अन्नाद् विज्ञान भाषानुसार भूत किंवा महाभूत नाम से प्रसिद्ध है। इसी पञ्चीकृत अन्नाद् प्रधान पञ्च महाभूतात्मक भूत से भूपिण्ड निष्पन्न हुआ है। प्राण आकाश है, आपः वायु है, वाक् तेज है, अन्न जल है, अन्नाद् मिट्टी है। “पृथिवी वै सर्वेषां भूतानां रसः” (शत० १४।१।४।१) इस श्रौत सिद्धांत के अनुसार भूपिण्ड में पाँचों महाभूतों का समन्वय है, तभी तो इस का सर्वभूत-रसमूर्तित्व सिद्ध हो सकता है। इन्हीं पञ्चात्मक पञ्च महाभूतों से शरीरयष्टि का निर्माण होता है।

मांस-अस्थि-कपाल-त्वचा-मेद-सज्जा-युक्त, आदि आपेक्षिक घन भाग पृथिवी है। स्वेद-सूत्र-रस-अमृक-त्वाला-कफ, आदि तरलभाग जल है। शरीर उष्मा (गर्मी) तेज है श्वासप्रश्वासादि वायु है। विवर आकाश है। इस प्रकार शरीरसंस्था में पाँचों महाभूतों का सर्वथा प्रत्यक्ष हो रहा है। पञ्च महाभूतों से निष्पन्न होने वाले ये शरीर महाभूत “सत्त्वभूत,” किंवा भूतभौतिक नाम से प्रसिद्ध हैं।

सत्त्वभूतों के मूल महाभूत हैं, महाभूतों के मूल अपञ्चीकृत भूत हैं, इन के मूल पञ्चतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध अणुभूत हैं। इन्हें ही (जो कि सर्वथा अयोगिक हैं) भारतीय विज्ञान ने “तत्त्व” नाम से व्यवहृत किया है। इन्हीं तत्त्वों की चरम योगिक अवस्था शरीररूप सत्त्वभूत हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से इस शरीर को भूतात्मा कहा जाता है। पार्थिव उरुषा त्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाला कर्मात्मा भी पार्थिव प्राण-प्रधान भूतमय बनता हुआ भूतात्मा है, उधर शरीर भी भूतात्मा है। उधर वायव्य हंसात्मा भी भूतात्मा है। तीनों में अन्तर केवल इतना ही है कि, कर्मात्महंसात्मरूप भूतात्मा प्राणप्रधान होते हुए अन्तरात्मा है एवं भूतप्रधान शरीररूप भूतात्मा बाह्यात्मा है। इन्हीं दोनों भूतात्मविवर्तों के पार्थक्य का विस्पष्ट निरूपण करती हुई सत्रीश्रुति कहती है—

“कोऽयमात्माख्यो योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः
सदसद्योनिमापद्यता इति ? अवाञ्चोर्ध्वा वा गतिर्द्वन्द्वैरभि-
भूयमानः परिभ्रमति ? अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्माख्यो योऽ-
यं सितासितैः परिभ्रमति इत्यस्य (प्राणात्मकस्य भोक्तुर्भूतात्मन)
उपव्याख्यानम्। पञ्चतन्मात्रा भूतशब्देनोच्यन्ते । अथ पञ्च-
महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते । अथ तेषां यत् समुदयं तच्छरीर-
मित्युक्तम् । अथ यो ह खलु वाव शरीर इत्युक्तं स “भूतात्मा”
इत्युक्तम्” (मै० उ० ३ प्र०) इति ।

इस शरीररूप भूतात्मा का प्रभव भूषिण्डांशात्मक शुक्र-शोणित की समष्टि है, प्रतिष्ठा आत्मा है, योनि अन्न है, आशय सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था है। यही इस प्राणात्माधिकरण का पांचवाँ विवर्त है।

इस प्रकार भूषिण्ड, सूवायु, त्रिवृतस्तोमरूप पृथिवी में प्रतिष्ठित वैश्वानर, पञ्चअन्तरिक्ष में प्रति-
ष्ठित हिरण्यगर्भ, एकविंश० शुल्क में प्रतिष्ठित सर्वज्ञ, इन पाँच पार्थिव विभूतियों से क्रमशः शरीररूप
बाह्यात्मा, वायुरूप हंसात्मा, वैश्वानरांशभूत वैश्वानरात्मा, हिरण्यगर्भांशभूत तैजसात्मा, सर्वज्ञांशभूत
प्राजात्मा, इन पाँच आध्यात्मिक प्रपञ्चों का उदय हो जाता है, यह अब तक के प्रकरण से भलीभाँति
सिद्ध हो जाता है। साथ ही में यह भी सिद्ध हो जाता है कि उक्त पाँचों विवर्तों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ
की समष्टि ही भोक्तात्मा, किंवा कर्मात्मा है। यही लोकान्तर में कर्म भोगने के लिए जाता है। साथ
ही में विज्ञ पाठकों को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उक्त पाँचों विवर्तों से किसी विवर्त के साथ
श्राद्धकर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल गयाश्राद्ध का सम्बन्ध वायव्य हंसात्मा के साथ है जैसा कि
आगे के श्राद्धप्रकरण में स्पष्ट हो जायगा।

महापुरुषिणी	३-५—सर्वज्ञः—	२१—एक० द्यौः—	→ प्रज्ञात्मा (५)	}	कर्ममात्मा	}	अन्तरात्मा
	२-४—हिरण्यगर्भः—	१५—पञ्च० अ०—	→ तैजसात्मा (४)				
	१-३—वैश्वानरः—	६—त्रि० पृ०—	→ वैश्वानरात्मा (३)				
भूमिः	२-२—भूवायुः—	एमुषवराहः—	→ हंसात्मा (२)	}	हंसात्मा	}	
	१-१—भूपिण्डम्—	पञ्चमहाभूतानि—	→ शरीरम् (१)				

प्रकरणारम्भ से अब तब आधिदैविक-आध्यात्मिक, जिन दो संस्थाओं का स्वरूप निरूपित हुआ है, उक्तांश में दोनों ही समानधर्मी हैं। जितनी कलाएँ ईश्वर में हैं, ठीक उतनी ही कलाएँ जीव में हैं। ये सब तो दोनों के स्वरूप धर्म हैं। इनके अतिरिक्त विभूति-पाप्मा, ये दो विभाग बच जाते हैं। इन दोनों में से विभूति भाग ईश्वर का स्वरूप धर्म है, साथ ही में उसमें पाप्मा का अभाव है। जीव में रहने वाली विभूति पाप्मा के अभाव में जीव का स्वरूप धर्म है एवं पाप्मा के रहने पर वही विभूति आश्रित धर्मकोटि में प्रविष्ट हो जाती है। यही जीवेश्वर की पहली विषमता है। ईश्वर पूर्णेश्वर है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, सर्ववित् है, जीव अर्द्धेश्वर है, अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति है, अल्पवित् है। यही जीवेश्वर की दूसरी विषमता है। इन सब विषमताओं का मूल पाप्मा ही है। इन पाप्माओं का ईश्वर संस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जीवात्मा की स्वतन्त्र कमाई है। स्वतन्त्र कमाई क्या है, प्रज्ञापराध है, बन्धन के मूल हैं। यद्यपि बन्धन-मुक्ति-लक्षणा विभूति का भी यह संग्रह करता है, परन्तु वित्त-मोह से मुग्ध बना हुआ यह विशेषरूप से बन्धन के हेतुभूत पाप्माओं का ही संचय करता है। पशु-पक्षी-प्रादि आदि इतर योनियाँ प्राज्ञ भाग की अल्पता से प्रज्ञापराध करने में असमर्थ हैं। एकमात्र मनुष्य ही प्रज्ञा की पूर्णमात्रा लेकर उससे अनुचित लाभ उठाता हुआ प्रज्ञापराध कर बैठता है। इसकी स्वतन्त्रता प्रज्ञापराध के कारण इसीके बन्धन का कारण बन जाता है। जब से सृष्टिक्रम चला है, तब से अद्यावधि देवता-असुर-पितर-पशु, आदि किसी भी प्रज्ञाने ईश्वरीय सत्य-नियमों का उल्लङ्घन नहीं किया है। कारण इसका यही है कि, इनमें किसी में भी पूर्णमात्रा नहीं है, अतएव इनमें से कोई भी ईश्वर प्रज्ञापति के नेदिष्ठ नहीं है। एकमात्र मनुष्य ही ईश्वरी सम्पूर्ण सम्पत्ति प्राप्त कर नियति का अतिक्रमण करने लगता है—

“ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति, यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् । नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः । मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति”
(शत० २।४।२।५।६) ।

“देव-पितर-प्रसुरादि सबकी अपेक्षा ईश्वरीय मात्रा को पूर्णरूप से लेने के कारण, साथ ही में प्रजाबल से अपनी मुक्ति का अधिष्ठाता बनने के कारण ‘मानवतन उत्कृष्टतम, अतएव दुर्लभ है’—यह आर्यसर्वस्व (पुराण) का निश्चित सिद्धान्त है। परन्तु प्रज्ञापराधजनित पाप्माओं से आक्रान्त होकर मुक्ति के स्थान में यह अपने आपको और भी अधिक बन्धन में डाल लेता है।

पूर्व में विभूति को हमने पाप्मा के सम्बन्ध से जीव का आश्रित धर्म कहा है एवं पाप्मा के अभाव में उसीको स्वरूप धर्म कहा है। इन विभूतियों के सम्बन्ध में इतना स्पष्टीकरण और कर लेना चाहिए कि कुछ विभूतियाँ तो ऐसी हैं, जो पाप्मा के रहने, न रहने, दोनों अवस्थाओं में स्वरूपधर्म ही बनी रहती हैं, एवं कुछ विभूतियाँ ऐसी हैं, जो पाप्मा के रहने पर उसी स्वरूप-धर्मरूप में परिणत हो जाती हैं। जीववर्ग-के विभूति-पाप्मा-प्रपञ्च को थोड़ी देर के लिए छोड़िए। पहले ईश्वरीय विभूति का विचार काजिए। संह्याकृत्य के अनुसार ईश्वर में २८२ (दो सौ बियासी) तो विभूति-कलाएँ हो जाती हैं एवं ७२ (बहत्तर) आत्मकलाएँ हो जाती हैं। सम्भूय स्थूलदृष्टि से ईश्वर विराट् ३५४ (तीन सौ चौवन) कलाओं से युक्त माना जा सकता है। आत्मकलाओं का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। केवल विभूति-कलाओं के नामों का उल्लेख कर दिया जाता है। इस ईश्वरीय विभूति के भी सामान्य, विशेष रूप से दो विभाग हैं। इनमें सामान्य विभूतियाँ २३१ (दोसौ इक्कीस) हैं, विशेष विभूति ५१ (इक्यावन) हैं। सम्भूय २८२ हो जाती हैं। इनमें २३१ सामान्य विभूतियों की ईश्वर, जीव दोनों में समानता है एवं ५१ विशेष विभूतियाँ असाधारण हैं। इनमें से प्रथम सामान्य विभूतियों का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

१—ऋषयः १२ —(विरूपास इद् ऋषयः)

सब से पहली विभूति 'ऋषि' है। असत् प्राण को ही ऋषि कहा जाता है। ये ही सृष्टि के मूल-प्रवर्तक हैं। इस ऋषि प्राण की एकविंशत्य-सप्तविंशत्य-आदि विभूतिलक्षण 'ऋषि' तत्त्व अनेक जातियाँ हैं। "विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीर वेपसः" (ऋक्सं० १०।६२।५) के अनुसार यद्यपि ऋषि प्राण अनन्त हैं, परन्तु सृष्टिविद्या में १२ ऋषि प्राणों को ही ईश्वर की प्रधान विभूति मान गया है। आप वसिष्ठ-कश्यप-भरद्वाज-जमदग्नि, आदि जितने ऋषि नाम सुना करते हैं, विश्वास कीजिए ये सब मौलिक प्राणों के नाम हैं। यह ऋषि प्राण वेदमूर्ति है, इसी आधार पर "ऋषिर्वेदमन्त्रः" यह कहा जाता है। जिस ऋषि प्राण का जिस विद्वान् ने आर्पणदृष्टि से सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, आविष्कार किया, प्रथम द्रष्टा वह विद्वान् उसी ऋषि प्राण नाम से प्रसिद्ध होगया। वसिष्ठ-अगस्त्य-विश्वामित्रादि मौलिक ऋषिप्राणों के प्रथम द्रष्टा विद्वान् ही वसिष्ठ-अगस्त्य-विश्वामित्रादि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इस ऋषि प्राण का- 'रूपरसगन्धस्पर्शान्यत्त्वमतेवाधामच्छदत्वं प्राणत्वम्" यह लक्षण किया जासकता है। यह रूप रसादि से पृथक् होता हुआ नीरूप है, अतएव यह जगह नहीं रोकता। एक ही बिन्दु (point) में अनन्त प्राण समा सकते हैं। जिसे आप शक्ति (Force) कहते हैं, थोड़ी देर के लिए उसे ही आप ऋषि प्राण कह सकते हैं। प्राण सामान्य शब्द है। ऋषिवत् पितर-देवता-गन्धर्व, सभी प्राण हैं। परन्तु जो मौलिक वेद-मूर्ति असत् प्राण है, उसे ही ऋषि कहा जायगा। इस ऋषिप्राण की विकासभूमि ईश्वरीय संस्था का "स्वयम्भू" भाग है। दूसरे शब्दों में अणुरूपेय वेदमूर्ति स्वायम्भुव असत् प्राण को ही ऋषि कहा जाता है। गोत्रसृष्टि का इसी ऋषि प्राण से सम्बन्ध है। इस विभूति का प्रधान कर्म है—ज्ञानतन्तुप्रसार। हमारे अध्यात्म में इस ईश्वरीय संस्था का जो ऋषि भाग आता है, वही "ऋषिऋण" नाम से प्रसिद्ध है। स्वाध्ययज्ञरूप ज्ञान दान ही ऋषिऋण का शोधक है। बिना अध्ययनाध्यापन (वेदाध्ययनाध्या-

पन) के हमारा आत्मा कभी ऋषिऋण से मुक्त नहीं हो सकता। आगे की सम्पूर्ण विभूतियाँ इसी ऋषि विभूति पर प्रतिष्ठित हैं, अतएव हम इसे **मूलविभूति** कह सकते हैं। जब कुछ नहीं रहता, तब एकमात्र इसी असत्प्राण का साम्राज्य रहता है। यही आगे जाकर पितर-देवादि का उपादान बनता हुआ विश्व-सृष्टि का कारण बनता है—(देखिए शत० ६।१।१)। इस विभूति के प्रधान १२ विवर्त हैं।

२—पितरः (८)

विजातीय अनेक अथवा दो मौलिक ऋषि प्राणों के संयोग से उत्पन्न होने वाला यौगिक अपूर्व-भाव ही पितृतत्त्व है। भार्गव-आङ्गिरस प्राण के समन्वय से ही पितर की स्वरूप निष्पत्ति होती है। यही पितर प्राण मैथुनी सृष्टि का प्रथम आरम्भक है, अतएव इसे पितर (पिता-बाप) कहा जाता है। भार्गव प्राण सौम्य है, आङ्गिरस प्राण आग्नेय है। दोनों ही पारमेष्ठ्य तत्त्व हैं। इन पारमेष्ठ्य तत्त्वों के समन्वय से उत्पन्न, दूसरे शब्दों में ऋषिप्राण के समन्वय से उत्पन्न इन पितरों की आठ जातियाँ हैं, जैसा कि आगे की पितृस्वरूपनिरूपणोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अभी प्रकरण सङ्कति के लिए केवल यही ज्ञान लेना पर्याप्त होगा कि, अनेक ऋषि-प्राणों के योग से उत्पन्न मैथुनी सृष्टि का मूल प्रवर्त्तक परमेष्ठी से सम्बन्ध रखने वाला सांयौगिक अग्निगर्भित सोमप्रधान तत्त्व (आग्नेय प्राणगर्भित सौम्य-प्राण) ही पितृविभूति है।

३—असुराः (१९)

परमेष्ठी में प्रतिष्ठित भृगु की सौम्यावस्था का सम्बन्ध पितरों से है, एवं घनावस्थारूपआप्यभाव का सम्बन्ध असुरों से। दूसरे शब्दों में आप्य पारमेष्ठ्य प्राण का ही नाम असुर है। यह असुर प्राण संख्या में भी देवताओं से भी त्रिगुण है, एवं उत्पत्ति में भी प्रथम है। कारण, परमेष्ठी के अनन्तर ही देवावास भूमि-रूप सूर्य का उदय होता है। उधर देवता ३३ हैं, तो असुर प्राण ६६ हैं। ये ही असुर प्राण जातियाँ—वृत्र, नमूचि, अररु, त्वष्टा, विरूपाक्ष, किलात, आकुली, आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। बल प्रदान करना इस असुर प्राण का मुख्य कर्म है। देवता यदि ज्ञान प्रधान है, तो असुर बल प्रधान है। असुर एवं पितर दोनों विभूतियों का ईश्वरीय संस्था के दूसरे परमेष्ठी विवर्त के साथ सम्बन्ध है।

४—देवाः (३३)

परमेष्ठी के अङ्गिरा नाम के मनोता से सोम-सम्बन्ध द्वारा जो एक ज्योतिर्मय प्राण उत्पन्न होता है, वही द्योतनात् देवता नाम से प्रसिद्ध है। अङ्गिरा की घनावस्था अग्नि है, तरलावस्था वायु है, विरलावस्था आदित्य है। तीनों के आगे जाकर ३३ विभाग हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व के अदिति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अग्नि-वायु-आदित्यमूर्ति इन ३३सों प्राण देवताओं की विकासभूमि ईश्वरीय संस्था का तीसरा विवर्त सूर्य ही है। यही उस प्रजापति की चौथी विभूति है। इस देवप्राण का जो प्रवर्गशील अध्यात्म का आरम्भक बनता है, वही “देवऋण” नाम से प्रसिद्ध है। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ ही इस देवऋण के निराकरणार्थ उपयुक्त माने गये हैं।

५-मनवः (४)

सूर्य्य संस्था के केन्द्र में रहने वाली वह विभूति, जो विराटरूप से अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज, इन चारों प्रजाओं का आरम्भक बनती है, वही "मनु" नाम से प्रसिद्ध है, विभूतिलक्षण-मनुतत्त्व जैसा कि आरम्भ के "अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्" के मन्वन्तर निरूपण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अतः यहां पिष्टपेयण की आवश्यकता नहीं है। यहां केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि अण्डजादि भेद से चार प्रकार का यह मनुस्तत्त्व सूर्य्य की ही विभूति है। मनुस्तत्त्व ही मानव विवर्त की मूल प्रतिष्ठा है।

६-गन्धर्वाः (२७)

सौमत्त्व को आप्यप्राण प्रधान असुरों के आक्रमण से सुरक्षित रखने वाला सौम्य वायव्य प्राण ही गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध है। गन्धर्व को अप्सरा प्राण का भी उपलक्षण विभूतिलक्षण-गन्धर्वतत्त्व समझना चाहिए। क्योंकि जहाँ गन्धर्व प्राण रहता है, वहाँ अप्सरा प्राण अवश्य रहता है। गन्धर्व प्राण ही चपलता-विलासिता का प्रवर्तक है। इसके २७ रूप हैं। इन सब का चन्द्रमा से सम्बन्ध है। अतएव गन्धर्व को हम चान्द्रविभूति कहने के लिए तय्यार हैं।

७-ग्रहाः (४०)

चान्द्र सोम अर्करूप से वायव्यान्तरिक्ष में व्याप्त रहता है। वायु पात्र में प्रतिष्ठित यह चान्द्रसोम ही "ग्रह" नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रह जिस वायु में प्रतिष्ठित रहता है, वही विभूतिलक्षण-ग्रहतत्त्व वायु "ग्रहपात्र" नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रह सोम से ही ग्रहयाग निष्पन्न होता है। इस ग्रह तत्त्व की उपांशु-अन्तर्यामि-उपांशुसवन-मरुत्वतीय-ऐन्द्र-वायव्य-सैत्रावरुण-आदि ४० जातियाँ हैं। यह एक प्रकार के गैस हैं। इन्हीं के समन्वय तारतम्य से विश्वचक्र सञ्चालित है। शतपथ ब्रह्मण के चतुर्थकाण्ड में इन चालीसों ग्रहों का सुविशद-सोपपत्तिक वैज्ञानिक निरूपण हुआ है। हम ऐसा विश्वास रखते हैं कि जिस दिन भारतीय विद्वान् इन आन्तरिक्ष वायव्य ४० ग्रहों को पहचान कर इन से काम लेने लगेंगे, उस दिन पश्चिम का गैसकाण्ड इस ग्रहकाण्ड से ही अस्त हो जायगा, परन्तु आवश्यकता है परीक्षा की। इस ग्रहविभूति का भी चन्द्रमा से ही सम्बन्ध है।

८-पशवः (५)

त्रिवृत् पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंशद्यु, इन तीनों लोकों के उच्छिष्ट भागों के समन्वय तारतम्य से जो एक अनात्म्यभाव उत्पन्न होता है, वही पशु-विभूति है। इस विभूतिलक्षण-पशुतत्त्व पशुविभूति के 'छन्दः-पोष-सलिल-अग्नि-अन्न' भेद से अबान्तर पाँच विभाग हैं। पाँचों ही पशु महापृथिवी रूप द्यावापृथिव्य हैं। इन पाँचों में जो अग्नि नाम का पशु है, उसके पुनः अबान्तर पाँच विभाग हैं। वे ही पाँचों आग्नेय पशु पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज,

इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये पाँचों ही पशु प्राणात्मक हैं। जिस प्राणी पशु में जिस प्राणपशु की प्रधानता रहती है, वह प्राणीपशु उस प्राणपशु के नाम से ही व्यवहृत होता है। इस ऋषिपशुविभूति का सम्बन्ध स्तौम्य त्रिलोकी रूप महापृथिवी से ही है। चयन यज्ञ में इन पाँचों पशुप्राणों से कृतात्मा पाँचों प्राणी पशुओं के मस्तकों की चिति होती है।

१-जीवाः (३)

संसृज जीव, अन्तःसंज जीव, असंज जीव (जीव-जीव, मूल-जीव, धातु-जीव) इन तीनों जीवों की समष्टिरूप जीव विवर्त्त ईश्वर की अन्तिम विभूति है। जीवमात्र ईश्वर विभूतिलक्षण-जीवत्त्वं की महिमा है, विभूति है, ईश्वर के गर्भ में प्रविष्ट है, विभूति सम्बन्ध से ही ईश्वर जीवों में व्याप्त हो रहा है। उक्त तीनों जीव भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित हैं, अतः ईश्वरीय संस्था के अन्तिम विवर्त्तरूप भूपिण्ड को ही जीवविभूति का आलम्बन माना जा सकता है।

इस प्रकार क्रमशः स्वयम्भू की विभूतिरूप १२ ऋषि, परमेष्ठी की विभूति रूप ८ पितर एवं ६६ असुर, सूर्य की विभूति रूप ३३ देवता एवं ४ मनु, चन्द्रमा की विभूति रूप २७ गन्धर्व एवं ४० ग्रह, महापृथिवी की विभूति रूप ५ पशु, भूपिण्ड की विभूतिरूप तीन प्रकार के जीव, संकलन से कुल २३१ सामान्य विभूतियाँ हो जाती हैं।

सामान्य विभूतयः—

(१) — १२ — ऋषयः	1	→ स्वयम्भूः	} सामान्यविभूतयः—२३१
(२) — ८ — पितरः	2	→ परमेष्ठी	
(३) — ६६ — असुराः			
(४) — ३३ — देवाः	3	→ सूर्यः	
(५) — ४ — मनुवः			
(६) — २७ — गन्धर्वाः	4	→ चन्द्रमाः	
(७) — ४० — ग्रहाः			
(८) — ५ — पशवः	5	→ महापृथिवी	
(९) — ३ — जीवाः		→ भूः	
२३१			

❀ इस विषय का सोपान्तिक निरूपण शतपथ विज्ञान भाष्यास्तर्गत पश्वालम्बन विज्ञान प्रकरण में देखना चाहिए।

- स्व०— { १-ऋषयः—“विरूपास इद् ऋषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सुनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥”—ऋक्सं० १०।६२।५
- पर०— { २-पितरः—“त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेपि पन्थास् ।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥—ऋक्सं० १।६१।१
३-असुराः—“इन्द्रो दधीचो अस्थभिवृत्राण्यप्रतिष्कृतः ।
जघान नवतीर्नव (६६) ॥”—ऋक्सं० १।८४।१३
- सू०— { ४-देवाः—“इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च (३३) ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ॥”—ऋक्सं० ८।३०।२
५-मनवः—“पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु सन्तवो धिया ।
पुनन्तु विश्वामूतानि पवमानः पुनातु मा”—अथर्वसं० ६।१६।१
- च०— { ६-गन्धर्वाः—“अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् ।
केशी केतस्य विद्वान्सखा स्वादुर्मदन्तिमः ॥”—ऋक्सं० १०।१३६।६
७-ग्रहाः—“सुपर्ण विशाः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि दधतो अच्वरेषु ग्रहान्सोमस्य मिमते द्वादश ॥”—ऋक्सं० १०।११४।५
- पृ०— { ८-पशवः—“तद् भद्रं तव दसना पाकाय चिच्छदयति ।
त्वां यदग्ने पशवः समासते समिद्धभषिषर्वरे ॥”—ऋक्सं० ३।६।७
९-जीवाः—“दशमासाच्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥”—ऋक्सं०—५।७८।६

अब क्रमप्राप्त विशेष विभूतियों का विचार कीजिए । ये विभूतियाँ ५१ भागों में विभक्त हैं ।
इन्हीं विभूतियों का संक्षेप में दिग्दर्शन करा दिया जाता है ।

१—विद्याविभूतिः (४)

पहली सर्वालम्बन विभूति विद्या है। इसका उदय सूर्य में होता है, अतः हम इसे सूर्य विभूति मानने के लिए तय्यार हैं। सूर्यसंस्था में धिषणा-प्राण, ये दो विद्याचतुष्टयीलक्षणा-विद्याविभूति विभाग हैं। इन में धिषणा भाग ज्ञानप्रधान बनता हुआ विद्या-विभूति का अधिष्ठाता बनता है। यही धिषणात्मक विद्याभाग धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, इन चार भागों में विभक्त होता हुआ विद्यात्मक आनन्दविज्ञानमनोमय अव्यय-पुरुष के प्रसाद का कारण बनता है। दूसरे शब्दों में सौर धिषणा चतुष्टयी से अव्यय का विद्याभाग विकसित होता है। अतएव इस बुद्धिरूप धिषणा को “विद्याविभूति” कहा जाता है। जीवमृष्टि में जिस जीव में इन चारों विद्याओं का पूर्ण विकास होता है, वह ईश्वर के समकक्ष होता हुआ अवतारपुरुष कहलाता है। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य च समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥१॥

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामार्गतिं गतिम् ।

वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥२॥

ईश्वर में विद्याभाव की प्रधानता है। उधर जीव में विद्या के साथ साथ पाप्मा रूप अविद्या भाग का भी प्राबल्य रहता है। यही जीव का जीवत्व है। हमारे में (अध्यात्मसंस्था में) जो धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य भावों का उदय होता है, यह एक मात्र ईश्वरविभूतिरूप धिषणात्मक सौरविद्याभाग की ही महिमा है। इस विभूति के प्रभाव से जीवात्मा अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेश रूप अविद्या चतुष्टयी के आवरण से विमुक्त होता हुआ निर्धूत किल्बिष बन कर मुक्त हो जाता है। इस विद्या विभूति की प्राप्ति का उपाय है—उद्गीथ रूप से सूर्य की उपासना, जिसका कि प्रकार छान्दोग्यादि उपनिषदों में विस्तार से बतलाया गया है (देखिये छां० उ० २ प्र०) “श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०” (यजुः सं० ३१।२२) के अनुसार श्री एवं लक्ष्मीपति सूर्यनारायण के अतिरिक्त दूसरा कौन ऐश्वर्य प्रदाता ‘य एवैष आदित्ये पुरुष-स्तमेवाहमुपासे’ (कौ० उ० ३।४)—“असङ्गोऽह्यं पुरुषो न सज्जते, न व्यथे, न रिणति” (वृ० उ० ४।३।१५) इत्यादि रूप से उपस्तुत, विश्व के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहते हुए भी सर्वथा असङ्ग सौरविज्ञान तत्त्व के अतिरिक्त दूसरा कौन वैराग्यभाव का उदय कर सकता है। “धियो यो नः प्रचोदयात्” (यजुः सं० २२।६) “त्रयी वा एषा विद्या तपि” (शत० ७।०।५।२।२) “त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः” इत्यादि श्रौतस्मार्त सिद्धांतों के अनुसार त्रयीमूर्ति, अतएव ज्ञानमूर्ति, अतएव च सविता (प्रेरयिता) प्राणात्मक सूर्य के अतिरिक्त दूसरा कौन हमारी बुद्धि में ज्ञानोदय कर सकता है। प्रकृति सिद्ध नियति भाव के सञ्चालक, विश्व मध्यस्थ अतएव अक्षरमूर्ति शास्ता नियन्ता सूर्य के अतिरिक्त और कौन हमारी बुद्धि को धर्ममार्ग पर आरुढ़ रख सकता है। इस प्रकार सर्वात्मना यह सिद्ध हो जाता है कि, सौरधिषणा भाग

ही ईश्वर की विद्याविभूति है एवं इसके धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, ये चार पर्व हैं। साथ ही में यह भी सिद्ध हो जाता है कि जीवात्मा में यह विद्याविभूति जन्मना एवं उद्गीथोपासनारूप कर्मणा उभयथा सूर्य से ही आती है।

२—कामविभूति: (२)

दूसरी है काम नाम की महाविभूति। अव्यय मन से सम्बन्ध रखने वाले मन का रेतोरूप यह काम ही विश्व का मूल है। इसी कामविभूति से ईश्वर प्रजापति महाविभूतिलक्षणा-कामविभूति सत्-रस के आधार पर असद्वलों का ग्रन्थिवन्धन कर सृष्टि के अधिष्ठाता बनते हैं, एवं इसी काम से ग्रन्थिविमोक्त द्वारा मुक्ति के प्रवर्तक बनते हैं। ईश्वर की इसी महाविभूति का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्त्ततोधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीप्या कवयो मनीषा ॥

—(ऋक् सं० १०।१२।४) ।

“एकोऽहं बहु स्याम्” “स ऐक्षत-सोऽकामयत भूयान्स्यां प्रजायेय” इत्यादि काम विभूतियों से ही ईश्वर प्रजापति विश्व एवं तत्प्रतिष्ठित प्रजोत्पत्ति में समर्थ हुआ है। इस काम की मूलप्रतिष्ठा अव्ययमन है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इसलिए इस काम के—“सिसृक्षा” “मुमुक्षा” ये दो रूप हो जाते हैं। मन रस-बलात्मक होने से उभयात्मक है। रसानुग्राहक काम मुमुक्षा (मुक्ति की कामना) है, बलानुग्राहक काम सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) है। मुमुक्षाबल निवर्त्तक बल है, सिसृक्षाबल प्रवर्त्तक बल है। शब्दार्थ की अभिन्न मर्यादा के अनुसार सुख का वाचक “कम्” है। भौतिक सृष्टि में नित्य अन्तर्भूत रहता हुआ भी मन स्वस्वरूप से सर्वथा असङ्ग है। अतएव इस असङ्ग मन के लिए “अकार” का संकेत है। शब्दसृष्टि में ‘अकार’ कण्ठतात्वादि के अभिघात से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ निर्लेप है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए कामना होती है। उदाहरण के लिए जीव कामना को सामने रखिये। हम जो भी विषय प्राप्त करना चाहते हैं, पहले उसकी कामना होती है। कामना विषय प्राप्ति का प्रथम द्वार है। बिना कामना के विषय प्राप्ति असम्भव है। इसी कामना से हमारा मन प्राप्तव्य विषयमय (विषयाकाराकारित) बन जाता है। इस बौद्ध विषय से मन सुख का अनुभव करने लगता है, अतएव इस बौद्ध विषय की “कम्” (सुखम्) संज्ञा रख दी गई है। मन इस विषय में डूबा रहता है। चारों ओर विषय व्याप्त रहता है। दूसरे शब्दों में मन समन्तात् विषय से घिरा रहता है। इसी नित्य स्थिति को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने इस मनोवृत्ति को “काम” शब्द से व्यवहृत किया है। काम शब्द की “क-अ-म्-अ” यह परिस्थिति है। कम् रूप विषय अकार रूप मन में ओत है, मन रूप अकार विषय रूप ‘कम्’ में प्रोत है। यही दोनों का (मन एवं विषय का-अकार एवं कम् का) ओतप्रोत भाव सम्बन्ध है। सुखान्शभूत ककार के आये मनोमूर्ति अकार है। इस प्रकार कम् के मध्य में क-अ-म् इस रूप से अकार बँटा है (सु-

रूप विषय के मध्य में मुखभोक्ता मन बैठा है)। सुखांशरूप मकार के आगे भी म्-अ इस रूप से मनोमूर्ति अकार बैठा है। इस प्रकार मन विषय के बाहर, भीतर सब ओर व्याप्त हो रहा है। इस क-अ-म्-अ की सम्मिलित अवस्था ही "काम" है। ध्यान रखिए, एक शिल्पी पहले अपने मनोघरातल में अभिलषित चित्र बनाता है। यही ज्ञानीय (खयाली) चित्र है। विषयरूप चित्र पहले मन में प्रतिष्ठित होता है। यही इस का चित्रकाम (चित्रनिर्माणोच्छा) है। इसी कामरूप चित्र से यह इसे भौतिक रूप देता है। इस काम के, काम और इच्छा, ये दो रूप हैं। इन में कामात्मक काम का ईश्वरीय विभूति से सम्बन्ध है एवं इच्छा-त्मक काम का जीवविभूति से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ईश्वर का इच्छा "काम" कहलाती है, जीव का काम "इच्छा" शब्द से व्यवहृत होता है। कामत्वेन दोनों समान होते हुए भी दोनों सर्वथा विभक्त तत्त्व हैं।

यदि विषय के साथ मन की आसक्ति हो जाती है, तो विषय प्रधान बन जाता है, मन गौण रह जाता है। दूसरे शब्दों में मन विषयमय बन जाता है। यहाँ मन सुप्त है, विषय जाग्रत है। इस विषया-सक्तिप्रधान काम को काम न कह कर हम "इच्छा" कहेंगे। इट् अक्षर है, सम्पूर्ण-विषय मन के भोग्य बनते हुए इटरूप अक्षर है। आसक्तिवश मन इस इड् अक्षर में सुप्त है। अतएव विषय में सुप्त, विषयाधीन मन ही—"इट्-विषयात्मकमन्नं-तत्र सुप्तं मनः"—"इट्-तत्र शेते" के अनुसार "इच्छा" है। इसी विषयानुबन्धिनी इच्छा को "उत्थाप्याकाङ्क्षा" कहा जाता है। इच्छारूप यही काम आसक्ति का मूल बनता हुआ बन्धन का कारण है। इस का सम्बन्ध एकमात्र जीव के साथ ही है। ठीक इसके विपरीत यदि अनासक्ति पूर्वक मन का विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तो ऐसी अवस्था में मन प्रधान रहता है, एवं विषय गौण हो जाते हैं। यहाँ मन जाग्रत है, विषय सुप्त है। इस अनासक्तिमूलक काम को हम—"काम" ही कहेंगे। ईश्वर में इसी कामविभूति की प्रधानता है। यदि जीवात्मा इस कामविभूति का अनु-गामी बन जाता है, तो शरीर यात्रा निर्वाहक मात्र आगत विषय उसके प्रज्ञान मन पर कोई प्रभाव नहीं जमा सकते। ऐसा काम अकाम है, ऐसे काम से कृत कर्म अकर्म हैं। ऐसी इच्छा अनिच्छा है। इसी को दर्शन भाषा में—"उत्थिताकाङ्क्षा" (स्वाभाविकी इच्छा) कहा जाता है। इस कामप्रधानता अनास-क्तिमूला इच्छा से होने वाली अन्नाहुति (विषय विभाग) यज्ञार्थ कर्म हैं, आत्मार्थ कर्म हैं, अतएव ये अबन्धन हैं। इन के अतिरिक्त जो कर्म आसक्तिमूलक बनते हुए विषय प्रधान बन जाते हैं, वे यज्ञ (आत्म) मर्यादा से बहिर्भूत होते हुए बन्धन के कारण बन जाते हैं—"यज्ञार्थात् कर्मणाऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धनः" (गीता ३।६)। नित्यप्रति सायं प्रातः बुभुक्षा लगना स्वाभाविक कामना है, उत्थिताकाङ्क्षा है। इस कामना के शान्त करने के लिए विषय संग्रह करना अबन्धन कर्म है। आप भोजन से तृप्त हो गए। सामने चाट वाले को देखकर चाट खाने की इच्छा हो पड़ती है, यही उत्थाप्याकाङ्क्षा है, यही बन्धन का मूल है। भूख लगी, भोजन कर लिया, प्यास लगी, पानी पी लिया, गरमी लगी, पंखा झल लिया, बैठे-बैठे थक गए, टहलने लगे, ये सब उत्थिताकाङ्क्षामूलक अबन्धन कर्म हैं। बिना स्वादवश सदा मुंह में कुछ डालते रहे, बिना प्यास के ही सोड़ा-लेमन-ग्राइस्कीम आदि को गले के नीचे उतारते रहे, बिना आब-श्यकता के ही बिद्युत् व्यजन (विजली के पङ्खे) से शरीर को कम्पित करते रहे, बिना थकान के ही इधर-उधर भटकते रहे, ये सब उत्थाप्याकाङ्क्षामूलक बन्धन कर्म हैं। ऐसा इच्छारूप काम विभूति नहीं,

अपितु पाप्मा है। ईश्वर नित्य काम होता हुआ भी निर्लोप है उस का काम निष्काम है। अतएव—
“कुर्वन्नपि न लिप्यते”। ऐसी काम विभूति ईश्वर में सहज सिद्ध है। जीव में भी यद्यपि यह सहज सिद्ध है, परन्तु वहाँ यदि पाप्मा आ जाते हैं, तो इस का सहजभाव आवृत हो जाता है। बतलाना इस काम प्रपञ्च से प्रकृत में यही है कि, ईश्वरीय काम विसृक्षा-मुमुक्षा, इन दो भागों में विभक्त हैं। इन दोनों की प्रतिष्ठा श्वोचसीयस् नाम से प्रसिद्ध अव्यय मन है। इधर जीव के निवृत्ति काम की प्रतिष्ठा बुद्धियुक्त मन है एवं प्रवृत्ति काम की प्रतिष्ठा विषय प्रधान मन है।

३-कर्मविभूतिः (७)

सौर विद्याभाग का निरूपण करते हुए हमने बतलाया है कि, सूर्य में धिषणा-प्राण, नाम के दो तत्व प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों में से जिस प्रकार धिषणा भाग विद्या-अनुष्ठानलक्षणा-कर्मविभूति विभूति की मूल प्रतिष्ठा है, एवमेव प्राणभाग कर्मविभूति की आश्रय भूमि है। सूर्यप्राण त्रयीमय है। इसी त्रयी प्राण के आधार पर स्तोत्र-शस्त्र-ग्रह रूप यज्ञकर्म का वितान होता है। सौर ऋक्तत्व से शस्त्रकर्म का, सौर सामतत्व से स्तोत्र-कर्म का, एवं सौर यजुस्तत्व से ग्रहकर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। स्तोत्र औद्गात्र कर्म है, शस्त्र-होत्र कर्म है, एवं ग्रह आध्वर्यव कर्म है। अग्नि द्वारा होत्र कर्म, वायु द्वारा आध्वर्यव कर्म, एवं आदित्य द्वारा औद्गात्र कर्म सम्पन्न होता है। इस प्रकार प्रकृति मण्डल में (ईश्वर संस्था में) यह यज्ञ कर्म प्राणमूर्ति सूर्यत्रयी पर प्रतिष्ठित है—“सैषा त्रयी विद्यायज्ञः” (शत० १।१।४।३) कर्मत्रयसमष्टिरूप यज्ञ कर्म सौर प्राण का प्रथम कर्म है। इसी यज्ञ कर्म से वह सौर प्राण षड्भूत रूप संवत्सर रूप में परिणत होकर रोदसी प्रजा को उत्पन्न करता है—“सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा०”। प्रकृति मण्डल में जितने भी कर्म हैं, उन सब में श्रेष्ठतम यही यज्ञ कर्म है। जिस कर्म से प्रजोत्पत्ति होती है, जो यज्ञ कर्म प्रजा का स्थिति का कारण है, जो यज्ञकर्म यज्ञेश्वर का स्वरूप सम्पादक है, जो यज्ञकर्म समष्टिव्यष्टि रूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रहा है, उस यज्ञकर्म से बढ़कर दूसरा कौनसा कर्म श्रेष्ठ हो सकता ? अतएव—“इषे त्वोर्जत्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे” (यजुः सं० १।१) इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने—“यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म-तस्मेतदाह श्रेष्ठतमाय कर्मणे”। (शत० १।७।१।५) यह कहा है। इस यज्ञकर्म के अवान्तर अनेक भेद हैं, जिनका कि संक्षिप्त निदर्शन पूर्व की विज्ञानोपनिषत् में किया जा चुका है।

सौर प्राण सावित्राग्निमय है। इस प्राणमूर्ति सावित्राग्नि में निरन्तर पारमेष्ठ्य बनस्पति सोम की आहुति हो रही है। इसी आहुति से सौर प्राणाग्नि प्रकाशित बन रहा है—“त्वं ज्योतिषां वितमो बवर्थ” (ऋक्सं० १९।१।२२)। इस प्रकाशित प्राणाग्नि में पारमेष्ठ्य आहुत सोम एवं स्वयं प्राणाग्नि, इन दोनों का समन्वय है। दूसरे शब्दों में सोमाग्नि का समन्वित रूप ही सौर प्रकाश है। यह प्रकाश ही ईश्वर प्रजापति की तपोविभूति है। सूर्य क्या तप रहा है, ईश्वर प्रजापति तपः कर्म का अनुष्ठान कर रहे हैं, तपश्चर्या कर रहे हैं। तपोमूर्ति यह सौर प्राण (सोमगर्भित अतएव प्रकाशित सम्बत्सरावच्छिन्न-

सावित्राग्नि) पृथिवी-बुध-मङ्गल-बृहस्पति-शनि-देवसेना, आदि स्व-उपग्रहों के पोषण में प्रवर्ग्यरूप से निरन्तर खर्च हो रहा है। उधर परमेष्ठी में से इसमें निरन्तर सोम आहुत होता रहता है। अतएव प्रतिष्ठ प्रजाग्रों में प्रवर्ग्य रूप से निरन्तर अपना प्राण समर्पित करता हुआ भी सूर्य स्वमात्रा से क्षीण नहीं होने पाता। बिना किसी स्वार्थ के सूर्य इस प्रकार निरन्तर अपने प्राणों को खर्च करता रहता है। यही सौर प्राण का दूसरा तप कर्म है। इस तपो रूप प्राणाग्नि में हमने सोम, अग्नि, इन दो तत्त्वों का समन्वय बतलाया है। सोम भृगु है, अग्नि अङ्गिरा है। भृगु-अङ्गिरा का समन्वय ही तप का प्रवर्तक है, इसी आधार पर “भृगुणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्” (यजुःसं० १।१८) यह कहा जाता है। अपने प्राण को निरन्तर अन्योपयोग में खर्च करना ही तप है। इसी आधार पर तप का—“एतद्वै तप इत्याहुयत् स्वं ददाति” यह लक्षण किया जाता है। यही सौर प्राण सम्बत्सर रूप में परिणत होकर स्वयं तपोमूर्ति बनता हुआ सब को तपा रहा है। इसी तप के सम्बन्ध से ग्रीष्म ऋतु के दोनों मास (ज्येष्ठ-आषाढ) तप तपस्य नाम से प्रसिद्ध हैं। सूर्य के इसी तपःस्वरूप को लक्ष्य में रख कर बाजिश्रुति कहती है—

१—“असौ वा आदित्यस्तपः” (शत० ८।७।१।५)।

२—“सम्बत्सरो दाव तपो नवदशः। तस्य द्वादश

मासाः, षड्ऋतवः सम्बत्सर एव तपो नवदशः।

तद्यत्तमाह तप इति, सम्बत्सरो हि सर्वाणितपति”

(शत० ८।४।१।१४ इति)

जिस जीवसंस्था में तपोविभूति की प्रधानता रहती है, वह आत्मोत्सर्ग (बलिदान) करने में समर्थ होता है, वही स्व-तपःप्रभाव से अन्यो पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होता है।

तीसरा है दानकर्म। सौर प्राणाग्नि-सम्बत्सर में से निरन्तर इसका स्वभाग प्रवृत्त होता रहता है। यही प्रवृत्त भाग “उच्छिष्ट” नाम से प्रसिद्ध है। “उच्छिष्टात् सकलं जगत्” यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। प्रवृत्त सौर भाग सूर्यसत्ता से पृथक् होता हुआ, साथ ही जिसका सत्ता से यह प्रवर्ग्य भाग आक्रान्त हुआ है उसके सत्त्व से युक्त बनता हुआ दान कोटि में प्रविष्ट हो जाता है। “स्वस्वस्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्व-त्वस्थापनम्” ही दान का दानत्व है। इस दान भाग से सूर्य अपना स्वस्व हटा लेता है एवं जिस पदार्थ का इस दान भाग के साथ सम्बन्ध होता है, वह इसी की वस्तु बन जाती है। यह दानवृत्ति किंवा दान-कर्म यज्ञ मर्यादित है। पृथिवी-बुध-मङ्गलादि उपर्युक्त के उपग्रह सूर्य के दान कर्म ही फल हैं। सूर्य का ही प्रवृत्तांश दान रूप से पृथिवी आदि रूपों में परिणत हुआ है। सौर प्राण से सम्बन्ध रखने वाला यही तीसरा दान कर्म है।

सूर्य मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है। इनमें ज्ञानमय मन की प्रधानता-यज्ञकर्म के साथ है, तपः कर्म क्रियामय प्राणप्रधान है एवं दान कर्म अर्थमय वाक्प्रधान है। दूसरे शब्दों में यज्ञकर्म से मनोमय ज्ञान का व्यय होता है, तपः कर्म से प्राणमय क्रियाभाव का एवं दान कर्म

से वाङ्मय अर्थभाव का व्यय होरहा है। तीनों ही कर्म निष्कामात्मक काम से सम्बन्ध रखते हुए अवन्धन हैं। ईश्वर प्रजापति के ये कर्म नित्य कर्म हैं।

अध्यात्मसंस्था में यज्ञ-तपो-दान, तीनों कर्म सूर्य से ही आते हैं। तीनों की मूल प्रतिष्ठा त्रयी-शास्त्र है। बिना विद्याध्ययन के तीनों की इतिकर्तव्यता सर्वथा अविदित रहती है। तीनों के स्वरूप परिचय के लिए वेदशास्त्र का परिज्ञान नितान्त अपेक्षित है। अतएव इन तीनों को वैज्ञानिक महर्षियों ने "विद्यासमुचित कर्म" नाम से व्यवहृत किया है। प्रकृति सिद्ध नित्य यज्ञ के आधार पर प्रतिष्ठित वैषयज्ञकर्म यज्ञ है, प्राणदान लक्षण कर्म तप है, यज्ञ सम्बन्धी दक्षिणा दान है। "इरिद्वान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्" (गीता) वाला सिद्धान्त दान के सम्बन्ध में लाग नहीं होता। दानतत्त्व से अपरिचित कितने ही महानुभावों से हमने यह कहते सुना है कि धनवानों को कभी दान नहीं देना चाहिए। अग्ने-लूले-लंगड़े-असमर्थ व्यक्ति ही दानपात्र हैं। उन्हें यह विदित नहीं है कि, यह दान 'दान' शब्द से व्यवहृत न होकर 'वत्त' शब्द से व्यवहृत होता है। पूर्णाङ्ग-विद्वान्-याज्ञिक-ही इस शास्त्रीय दान के अधिकारी हैं, चाहे वे निर्धन हों, अथवा धनी। यज्ञियदान-ग्रहशान्तिदान-तत्तल्लोक विभूतियों के साधनभूत गौ-अश्व-वस्त्र-सुपर्ण-भूमि-अग्नादि दानों के अधिकारी एकमात्र योग्य-विद्वान् ही हैं। यह दान दान नहीं, अपितु दक्षिणा है। इसमें दानदाता का आसन नीचा है, ग्रहीता का आसन ऊँचा है। यह दान 'भेंट' है। इसमें दाता प्रतिग्रहीता पर पूज्य दृष्टि रखता है। यदि ऐसे दान में दाता प्रतिग्रहीता को निरादर की दृष्टि से देखता है, तो यह दान सर्वथा निरर्थक बनता हुआ अभ्युदय के स्थान में प्रत्य-वाय का कारण बन जाता है।

इन तीनों शास्त्रीय कर्मों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, जिसके आत्मा में जन्म से ही सूर्य द्वारा यज्ञ-तपो-दान-कर्मों का बीजरूप से अवस्थान रहता है, वही वेदशास्त्र की ओर प्रवृत्त रहता है एवं वही इन तीनों कर्मों के अनुष्ठान में सफल भी होता है। यदि इन तीनों का निष्काम बुद्धि से अनुष्ठान किया जाता है तो ये तीनों आत्मविकास के कारण बन जाते हैं। इस स्थिति में ये तीनों कर्म विभूतियाँ ईश्वर विभूतियों की श्रेणी में आ जाती हैं। इसी निवृत्ति भाव प्रधान कर्मत्रयी की आवश्यकता पर जोर देते हुए भगवान् जहां—"यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्" यह आदेश देते हैं, वहां त्रिगुण भाव से सम्बन्ध रखते वाले प्रवृत्ति प्रधान इन्हीं सकाम कर्मों के सम्बन्ध में—"निस्त्रै गुणोभवाजुन" यह कहते हैं। प्रवृत्ति पक्ष में यही कर्म प्रवृत्ति कर्म बनते हुए, ईश्वरीय विभूति कक्षा से गिरते हुए केवल देवस्वर्ग प्राप्ति के कारण रह जाते हैं।

यदि अध्यात्मसंस्था में जन्म से ही उपर्युक्त सौर प्राण प्रबल रहता है, तो तत् सम्बन्धी यज्ञ-तपो-दान, तीनों अन्तरात्मा में विकसित रहते हैं। यदि किसी व्यक्ति की पार्थिव भौतिक विभूति में अधिक आसक्ति रहती है, तो उसका आध्यात्मिक सौर प्राण पार्थिव भौतिक प्राण से अभिभूत हो जाता है। ऐसी अवस्था में यज्ञ-तपो-दान, तीनों इष्ट-प्राप्ति-वत्त इन रूपों में परिणत हो जाते हैं। ये तीनों पार्थिव कर्म हैं। वस्तुतस्तु—"प्राणः प्रजानामुदयत्येषसूर्यः" (प्रश्नोपनिषत्) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार कर्ममात्र का प्रवर्तक सौर प्राण ही है, परन्तु पार्थिवप्राण से आक्रान्त होकर पार्थिवरूप में परिणत होता

हुआ वह स्वविद्या भाग से तिरोहित हो जाता है। इसी आधार पर इष्ट-आपूर्त-दत्त नाम की कर्म-त्रयी को वैज्ञानिकों ने—“विद्यानिरपेक्षसत्कर्म” इस नाम से व्यवहृत किया है। पृथिवी गृह (घर) है। पृथिवी का अग्नि—गृहपति इससे सम्बन्ध रखने वाले पार्थिव कर्म ‘इष्ट’ है। जलपूरित प्राकृतिक तदनदियों का इधर उधर बहकर प्रजा का पालन करना, औषधि वनस्पतियों का परोपकारार्थ परिपक्व होना, ये सब “आपूर्त” हैं। वृक्षच्छाया—पर्वत कन्दरा—प्रादि आश्रय भूमि रूप से पार्थिव विवर्त्त का दूसरों के उपयोग में आना ही दत्त है। इन तीनों प्राकृतिक विद्या निरपेक्ष कर्मों के आधार पर क्रमशः प्रतिष्ठित पञ्चयज्ञादि नित्यकर्म एवं एकाग्नि से सम्बन्ध रखने वाले पाक्यज्ञ नाम से प्रसिद्ध गृह्यकर्म “इष्टकर्म” हैं। ये कर्म स्वार्थमूलक हैं। वापी-कूप-तडाग-धर्मशाला-पाठशाला—प्रादि बनवाना आपूर्ति कर्म है एवं असमर्थों को देना दत्त कर्म है। आपूर्त-और दत्त का परार्थ से सम्बन्ध है। इन तीनों ही पार्थिव कर्मों में शास्त्र ज्ञान अपेक्षित है। सरस्वती शत्रु एवं लक्ष्मी के अनन्य भक्त भी इन तीनों कर्मों में निष्प्राप्त देखे जाते हैं। ईश्वरीय संस्था में ये तीनों पार्थिव कर्म भी निष्काम भाव से सम्बन्ध रखते हुए अवन्यत हैं। यदि जीव भी निष्काम बुद्धि से इनमें प्रवृत्त होता है, तब तो वह भी मुक्त ही होजाता है। आसक्ति की प्रधानता में ये ही तीनों पार्थिव विभूतियाँ एकमात्र पितृस्वर्ग प्राप्ति का कारण बनती हैं।

इन पार्थिव कर्मों के दिति, अदिति, भेद से दो विभाग हो जाते हैं। अदिति कर्म सत् कर्म हैं, दिति कर्म तमः प्रधान होते हुए असत् कर्म हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले दिति-अदिति, दोनों विवर्त्तों का स्वरूप पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकरण समन्वय के लिए केवल इतना स्मरण कर लेना पर्याप्त होगा कि, सूर्य की ओर रहने वाला भूभाग सौर प्राण सम्बन्ध से प्रकाशित रहता है, विरुद्ध भाग अप्रकाशित रहता है। प्रकाशित पार्थिव विवर्त्त अदिति है, अप्रकाशित भूच्छायारूप पार्थिव भाग दिति है। उपर्युक्त इष्ट-आपूर्त-दत्त कर्मों का सम्बन्ध अदिति पृथिवी से है एवं हिंसा-स्तेय-आल-स्यादि तमोमय कर्मों का उदय दिति भाग से सम्बन्ध है। ऐसे कर्म “विद्यानिरपेक्ष असत्” कर्म कहलाते हैं। मादक वस्तु का सेवन—हिंसा-स्तेय, ये तीनों कर्म इष्ट-आपूर्त-दत्त के प्रतिद्वन्दी भाग हैं। दूसरे को देना जहाँ दत्त है, वहाँ दूसरे का छीन लेना स्तेय है। दूसरे का पालन करना जहाँ आपूर्त है, वहाँ दूसरे का नाश करना हिंसा है। अपने आत्मज्ञान को विकसित करना जहाँ इष्ट कर्म है, वहाँ मद्यादि मादक पदार्थों से अपने ज्ञान को तिरोहित कर लेना अनिष्ट कर्म है। सूर्य उत्तर में है, उत्तरपथ स्वर्गपथ है।

“विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः पराहताः ।

न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥”

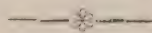
उक्त श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त विद्यासापेक्षप्रवृत्तिसत्कर्मधिकारी उत्तर मार्ग रूप देवयान का आश्रय लेते हुए देवस्वर्ग में जाते हैं। दिग्विज्ञान के अनुसार पृथिवी दक्षिणादि में मानी गई है। एतत् सम्बन्धी (अदिति पृथिवी सम्बन्धी) विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्मधिकारी दक्षिणायन का आश्रय लेते हुए पितृस्वर्ग में जाते हैं एवं दिति पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले विरुद्धकर्मधिकारी (विद्यानिरपेक्ष शास्त्रनिषिद्ध कर्मधिकारी) तमोमय नरक लोकों के अधिकारी बनते हैं। ईश्वरीय संस्था में सौरकर्म-अदितिकर्म-दितिकर्म, तीनों ही अनासक्तिभाव के कारण विभूतिकोटि में प्रविष्ट मान लिए जाते हैं।

यदि दैवीसम्पत् दैवीविभूति है, तो आसुरीसम्पत् आसुरी विभूति है। सदसत् (अच्छा बुरा), सब उस के गर्भ में निविष्ट है। उस का दोनों पर समान रूप से निग्रहानुग्रह चलता है। इस प्रकार कर्मविभूति के सम्बन्ध में इस कर्म के (ईश्वरसंस्था की अपेक्षा से) सौर यज्ञ-तप-दान, अदिति पृथिवी से सम्बन्ध पार्थिव इष्ट-प्राप्त-दत्त, एवं दितिकर्म, सात कर्म हो जाते हैं। जीवसंस्था के क्रम से ६ विभाग हो जाते हैं। इन में से अन्त के तीन जीवापेक्षया पाप्मा हैं। आरम्भ के ६ निवृत्तिपक्ष में आत्मरूपा विभूतियाँ हैं। प्रवृत्तिपक्ष में संसाररूपा विभूतियाँ हैं।

जीवसंस्था के इन ६ विभागों में से विद्यासापेक्ष यज्ञ-तप-दान, इन तीनों की प्रतिष्ठा सूर्य्य है। विद्यानिरपेक्ष इष्ट-प्राप्त-दत्त, इन तीनों सत्कर्मों की प्रतिष्ठा अदितिभुक्त पार्थिव-शुक्लप्राण है विद्या-निरपेक्ष अनिष्ट-हिंसा-स्तेय, इन तीनों असत्कर्मों की प्रतिष्ठा दितिभुक्त पार्थिव कृष्णप्राण है। प्रका-रान्तर से यों समझिए, सूर्य्य को मनः-प्राण-वाङ्मय बतलाया है। सूर्य्य की इन तीनों कलाओं से क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ, का विकास होता है। मन कामना का जनक है, प्राण विक्षेप की प्रतिष्ठा है, एवं वाक् आवरण की जननी है। इन तीनों का क्रमशः सूर्य्य-अदितिमय अन्तरिक्ष-दितिपृथिवी, इन भागों में विकास होता है। स्वयं सूर्य्य मनःप्रधान होता हुआ ज्ञान प्रधान है। अतएव सौर कर्म विद्यासमुच्चित-कर्म कह लाता है। सत्त्व का ज्ञान से सम्बन्ध है, अतः इस कर्मत्रयी को हम सात्त्विक कर्म कह सकते हैं। अदितिमय अन्तरिक्ष प्राणप्रधान होता हुआ क्रियाप्रधान है। यहाँ विद्याभाग गौण है। अतएव इस अदिति-कर्मत्रयी को विद्यानिरपेक्ष कहा गया है। रजोगुण का क्रिया से सम्बन्ध है। अतः यह कर्म विवर्त्त "राजकर्म" कहला सकते हैं। दितिमय पार्थिव भाग वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। यहाँ वित्तमोह की प्रधानता है। अतएव इस कर्म को 'असत्कर्म' कहा गया है। तमोगुण का आवरणरूप वाङ्मय अर्थ से सम्बन्ध है, अतः इसे "तामसकर्म" कहा जा सकता है। इन तीनों में दो आत्म की विभूतियाँ हैं, तीसरा विभाग ईश्वर में तो विभूति, किन्तु जीव में पाप्मा है। मनः-प्राण-वाक्, तीनों ही त्रिवृतकृत हैं। अतएव प्रत्येक कर्म तीन-तीन भागों में विभक्त हो जाता है। कर्मविभूति का यही संक्षिप्त स्वरूप परिचय है।

१-विद्यासमुच्चितसतकर्म—

- | | |
|-------------------------------|---|
| १—यज्ञः (मनोमयः)—काममयः | } सौरकर्मविभूतिः (मनोमयं सात्त्विकं कर्म) |
| २—तपः (प्राणमयम्)—विक्षेपमयम् | |
| ३—दानम् (वाङ्मयम्)-आवरणमयम् | |



❀ इस विषय का विनोद विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत कर्मयोगग्रन्थस्य नाम के प्रकरण में देखना चाहिये।

२-विद्यानिरपेक्षसत्कर्म—

- | | |
|----------------------------------|--|
| १—इष्टम् (मनो०)—काम० | } अदितिकर्मविभूतिः (प्राणमयं राजसं कर्म) |
| २—आपूर्त्तम् (प्राण०)—विक्षेप० | |
| ३—दत्तम् (वाङ्०)—आवरण० | |

३-विद्यानिरपेक्षासत्कर्म—

- | | |
|-----------------------------|--|
| १—अनिष्टम् (मनो०)—काम० | } दितिकर्मविभूतिः (वाङ्मयं तामसं कर्म) |
| २—हिंसा (प्राण०)—विक्षेप० | |
| ३—स्तेयम् (वाङ्०)—आवरण० | |

[क] ईश्वरसंस्थापेक्षया विभूतिकर्माणि—सप्त (७)

- | | | | | | | |
|---------|---|------------|------------|---|----------------|------------|
| सौरकर्म | { | १—यज्ञकर्म | श्रुतिकर्म | { | १—इष्टकर्म | १—दितिकर्म |
| | | २—तपःकर्म | | | २—आपूर्त्तकर्म | |
| | | ३—दानकर्म | | | ३—दत्तकर्म | |

[ख] जीवसंस्थापेक्षया विभूतिकर्माणि—षट् (६)

- | | | | | | | |
|------------|---|------------|------------|---|----------------|---------------|
| वि०सा०कर्म | { | १—यज्ञकर्म | सौरविभूतिः | { | १—इष्टकर्म | गार्थिविभूतिः |
| | | २—तपःकर्म | | | २—आपूर्त्तकर्म | |
| | | ३—दानकर्म | | | ३—दत्तकर्म | |

४—शुक्रविभूतिः (६)

चौथी विभूति शुक्र है। जिस विभूति के द्वारा ईश्वरात्मा विश्व का उपादान बनने में समर्थ होता है, वही शुक्रविभूति है। यह शुक्र अमृत-मृत्यु, भेद से दो भागों में बन्धनलक्षणा शुक्रविभूति विभक्त है। प्रत्येक की पुनः तीन तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। संभूय ६ शुक्र हो जाते हैं। यही ६ ओं शुक्र विज्ञानभाषा में अमृतवाक्-अमृतआपः-अमृताग्नि, मर्त्याग्नि, मर्त्याआपः-मर्त्यावाक्, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अमृत वाक्शुक्र स्वयम्भूपुर का अमृत आपःशुक्र परमेष्ठीपुर का, अमृताग्निशुक्र एवं मर्त्याग्निशुक्र दोनों सूर्यपुर के मर्त्यापिः शुक्र चन्द्रपुर का एवं मर्त्य वाक्शुक्र पृथिवीपुर का उपादान है। जब तक यह शुक्रविभूति है, तभी तक शुक्रमूला-विश्वविभूति (संसार) है। शुक्रोच्छित्तिकाल ही लयावस्था कहलाती है।

५—प्राणविभूतिः (१७)

पाँचवीं प्राणविभूति है। इस प्राणविभूति के तीन प्रधान विवर्त्त हैं। ५ ब्रह्मसत्यात्मक ब्रह्मप्राण हैं, ५ देवसत्यात्मक देवप्राण हैं। सात साकञ्जप्राण हैं। सम्भूय १७ प्राण गतिलक्षणा-प्राणविभूति हो जाते हैं। स्वयम्भू उक्थ है इसका अर्करूप मुख्यप्राण परोरजा है। परमेष्ठी उक्थ है, इसका अर्कप्राण वारुण है। सूर्य उक्थ है, अर्कप्राण ऐन्द्र है। चन्द्रमा उक्थ है, अर्कप्राण सौम्य है। भूपिण्ड उक्थ है, अर्कप्राण आग्नेय है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पाँचों पर्वों की समष्टि ब्रह्मसत्य है। अतएव तद्विभूतिरूप इन पाँचों को हम 'ब्रह्मप्राण' कह सकते हैं।

स्तौम्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानरमूर्ति देवसत्यात्मा पार्थिव है। इन में से सर्वज्ञ उक्थ है, इसका अर्कप्राण प्राण है। हिरण्यगर्भ उक्थ है, इसका अर्कप्राण व्यान है। वैश्वानर उक्थ है, इसका अर्कप्राण अपान है। सर्वज्ञप्रतिष्ठारूप २१ स्तोमावच्छिन्न द्युलोक से अन्तरिक्ष की ओर आता हुआ दिव्यप्राण प्राण है, स्वलोक की ओर जाता हुआ वही उदान है। इसी प्रकार वैश्वानर की प्रतिष्ठा-रूप त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी लोक से अन्तरिक्ष की ओर जाता हुआ पार्थिवप्राण समान है, स्वलोक की ओर आता हुआ वही अपान है। इस प्रकार प्राणपान के दो दो रूप हो जाने से इस पार्थिव प्राण के पाँच विभाग हो जाते हैं। यह देवसत्य के अर्क हैं, अतः इन पाँचों की "देवप्राण" कहा जा सकता है।

सूर्य में सप्तावयव ऋषिप्राण का विकास और होता है। सामान्य विभूति में जिस असत्प्राणाख्य ऋषितत्त्व का दिग्दर्शन कराया गया है, उनसे वह सप्तऋषिप्राण सर्वथा विभिन्न है। वे ऋषिप्राण देवप्राण के पितामह स्थानीय हैं, ये साकञ्ज ऋषिप्राण देवप्राण के पुत्रस्थानीय हैं। दूसरे शब्दों में वे ऋषिप्राण पितृद्वारा देवताओं के जनक हैं, ये ऋषिप्राण देवजन्य हैं। सूर्य देवघन है। यहीं, इसी देवप्राण से

*इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यान्तरगत (प्रथमखण्ड) चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपण प्रकरण के "शुक्रनिरुक्ति" प्रकरण में देखना चाहिए।

इन सात सहचारी चित्त्य प्राणों का विकास होता है। इसी को उपनिषत् के अनुसार ग्रहप्राण भी कहा जाता है। यही साकञ्जसप्तर्षि, आदि नामों से भी प्रसिद्ध हैं। इन्हीं का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

साकञ्जनां ससथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः ।

तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

—ऋक सं० १।१६४।१५।

अर्थाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वं बुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।

तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥२॥

—शत० ब्रा० १।४।५।२।५

मृष्टिक्रमानुसार ऋषि से पितर, पितर से देवता उत्पन्न होते हैं। परन्तु यहाँ विपरीत क्रम है। सौरप्राणरूप देवता से इन साकञ्ज ऋषिप्राणों का विकास होता है, अतएव इनके लिए “ऋषयो देवजाः” यह कहा गया है। स्वायम्भुव विभूतिरूप ऋषि अमृतप्रधान थे। सौरविभूतिरूप ये ऋषि मृत्युप्रधान होते हुए चित्त्य हैं। इन सातों में चार प्राण सदा मध्य में रहते हैं, दो प्राण क्रमशः दोनों पार्श्व में रहते हैं, एक प्राण सदा मूल में रहता है। इसी अग्निप्राण से “चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा” (शत० ६।१।-१।६) यह कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ का शरीर (पिण्ड) इसी सप्तचित्तिरूप साकञ्ज प्राण के संस्थान पर प्रतिष्ठित है। ईश्वरीय संस्था में सूर्यप्राणप्रधाना सर्वज्ञसंस्था शिरोगुहा है, हिरण्यगर्भसंस्था उरोगुहा है, वैश्वानरसंस्था उदरगुहा है, भूपिण्ड बस्तिगुहा है। इन चार स्थानों में समान रूप से इस साकञ्ज प्राण की स्वतन्त्र चिति होती है। संभूय चारों गुहाओं के २८ प्राण हो जाते हैं। ये अट्ठाईसों प्राण सूर्य विभूति हैं। पूर्वोक्त प्राणोदानादि पञ्चप्राण पार्थिव विभूति है, पञ्च ब्रह्मप्राण ब्रह्मसत्यविभूति है। इनके अतिरिक्त इन्हीं की अवांतर विभूतियों से देवदत्त-धनञ्जय-हंस आदि भेद से अनन्त प्राण हो जाते हैं। केवल व्यानप्राण के ही ७२००० (बहत्तर हजार) भेद हो जाते हैं। इस प्राणविभूति के सम्बन्ध में अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता। इस विषय की अधिक जिज्ञासा रखने वालों को “प्राणोपनिषत्-(प्रश्नोपनिषत्)-हिन्दी विज्ञानभाष्य” देखना चाहिए। प्रकृत में प्राणविभूति के सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि, ५-ब्रह्मप्राण ब्रह्मसत्यात्मा की ६-देवप्राण देवसत्यात्मा की, एवं ७-गुहाप्राण सूर्य की विभूतियाँ हैं। सम्भूय १७ प्राण हो जाते हैं। प्राण विभूति का यही संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

५-ब्रह्मप्राणाः-ब्रह्मसत्यात्मनि प्रतिष्ठिता विभूतिरूपाः—

१-स्वायम्भुवार्कप्राणः—परोरजा

२-पारमेष्ठ्यार्कप्राणः—वारुणः

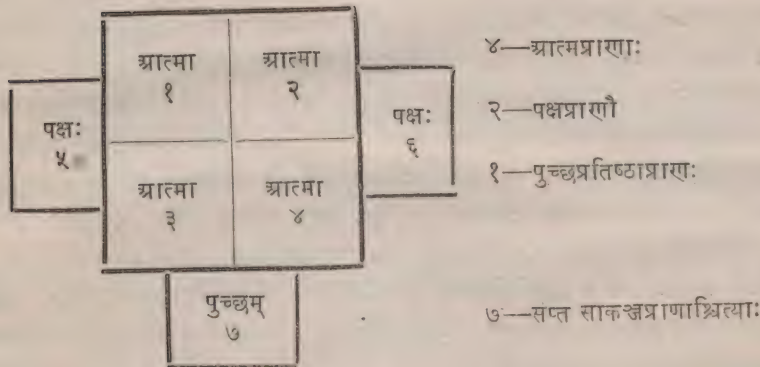
३-सौरार्कप्राणः—ऐन्द्रः

४-चान्द्रार्कप्राणः—आग्नेयः

६-देवप्राणाः-देवसत्यात्मनि प्रतिष्ठिता विभूतिरूपाः पार्थिवाः-

महपृथिवी-विभूतिः	२१-द्यौः	१-सर्वज्ञे प्रतिष्ठितः गतिभावयुक्तो दिव्यप्राणः-----प्राणः
		२-सर्वज्ञे प्रतिष्ठितः आगतिभावयुक्तो दिव्यप्राणः-----उदानः
	१५-अन्तः	३-हिरण्यगर्भे प्रतिष्ठितः-स्थितिभावयुक्त आन्तरिक्ष्यप्राणः-----व्यानः
		४-वैश्वानरे प्रतिष्ठितः-गतिभावयुक्तः पार्थिवप्राणः-----समानः
६-पृथिवी		५-वैश्वानरे प्रतिष्ठितः-आगतिभावयुक्तः पार्थिवप्राणः-----अपानः

७-साकञ्जप्राणाः-सूर्यात्मकसर्वज्ञ-हिरण्य०-वैश्वा०-भूपिण्डेषु-तत्तद्गुहासु चितिरूपेण प्रतिष्ठिताः सौरविभूतिरूपाः सौराः



६-ज्ञान-कर्मेन्द्रियविभूतिः (५)

इस ६ ठी विभूति का सम्बन्ध त्रयुनवित् केवल पार्थिव अग्नि के साथ ही समझना चाहिये । वैश्वानर हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति ईश्वर आत्मा है । चन्द्रमा इसका प्रज्ञानमन है, सूर्य इसकी बुद्धि है, परमेष्ठी इसका यज्ञात्मा है, स्वयम्भू इसका आत्मा है, पोइशी इसका आलम्बन आत्मा है । जब भव विवर्त्त इसमें ज्यों के त्यों (जीवन) प्रतिष्ठित हैं तो अवश्य ही ज्ञानकर्मेन्द्रियों का भी यहाँ सम्बन्ध मानना पड़ेगा । मानना क्या पड़ेगा ? है ही । यदि ईश्वरसंस्था में ज्ञानकर्मेन्द्रिय विवर्त्त नहीं होता, तो जीवसंस्था में इन्द्रियों का विकास असम्भव था । अत्र देखना यह है कि, विभूति देवसत्यात्मा

इस साक्षी ईश्वर की इन्द्रियों का स्वरूप कैसा है ? ईश्वर तत्त्व भूपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित महा-पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। भूपिण्ड यदि मर्त्याग्निसोममयी है, तो यह पृथिवी (स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी) अमृताग्निसोममयी है। इन दोनों की उक्थ, अर्क, भेद से दो दो अवस्थाएँ हैं, जिनका कि दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है—(देखिये पृ० संख्या ३०२)। पूर्व की प्राणविभूति में ब्रह्मसत्यांशभूत, अतएव ब्रह्मप्राण नाम से प्रसिद्ध जिस भौम आग्नेय प्राण का दिग्दर्शन कराया गया है, इसी की वन-तरल-विरल, भेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में एक ही अग्नि-अग्नि, वायु, इन्द्र, इन तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है। एक उक्थाग्नि के तीन उक्थ बन रहे हैं, एक साहस्री की तीन साहस्रियां बन रही हैं। एक आत्मा त्रिकल बन रहा है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर ३३ वें स्तोम तक का वषट्कार मण्डल ऋत-प्रधान होता हुआ परमेष्ठी है—“ऋतमेव परमेष्ठी”। इस ऋत परमेष्ठी के गर्भ में समहिम भूपिण्ड प्रतिष्ठित है—“ऋते भूमिरियं श्रिता”। (गोपथब्राह्मण)। यह ऋत परमेष्ठय तत्त्व सोम है। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध हो जाता है कि भूपृष्ठ से अथवा भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ तक सोमधरातल है। इस सोम धरातल के त्रिवृत्स्तोम तक उक्थरूप घनाग्निमूर्ति सहस्रभावापन्न वैश्वानरात्मा प्रतिष्ठित है, सोमधरातल के पञ्चदश स्तोमपर्यन्त उक्थरूप तरलाग्निमूर्ति सहस्रभावापन्न सर्वज्ञ प्रतिष्ठित है। इन तीन स्तोमों में तो उक्थाग्नित्रयी प्रधान है, सोम गर्भ में है। अतः इन तीनों को अग्नि शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। आगे के त्रिणव त्रयस्त्रिंश (२७-३३), इन दो स्तोमों में सोम की प्रधानता है, यहाँ अग्नि गर्भ में है। अतएव स्तोमद्वयावच्छिन्न इस अग्निगर्भित सोम लोक को—“अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः” इत्यादि रूप से सोमलोक ही मान लिया जाता है। यही स्तोमलोक चन्द्रमा की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर देवगणना में—“अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमाः” यह क्रम माना गया है। चान्द्रसोम चिदंश से युक्त होकर ज्ञानमूर्ति बना हुआ है, एवं प्राणाग्नि स्वयं क्रियामूर्ति है। इस प्रकार पञ्चसंस्थ, किंवा चतुःसंस्थ उक्था-ग्निमोममूर्ति इस देवसत्यात्मा में सोमरूप अर्थ, चिद्रूप ज्ञान, प्राणरूप क्रिया, तीनों का सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन तीनों के प्रधानरूप से ५ विवर्त हो जाते हैं। तीनों ही तत्त्व पांच भागों में विभक्त होकर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। इनकी पूर्वोक्ता उक्थावस्था तो स्वयं आत्मा है, एवं इन पाँचों की अर्कावस्था इन्द्रियों हैं। पाँचों का ज्ञानांश ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, प्राणांश कर्मेन्द्रियाँ हैं, प्राणज्ञानगर्भित भूतांश भूतमात्रारूप इन्द्रियों के विषय हैं। अर्क की पांच अवस्थाओं के कारण ज्ञान-प्राण-भूत, तीनों की पांच पांच अवस्थाएँ हो जाती हैं। संभूय पन्द्रह कलाएँ हो जाती हैं। इन १५ का अधिष्ठाता वही उक्थ देवसत्यात्मा है,—“षोडश-कलं वा इदं सर्वम्”।

अध्यात्म में जो स्थान वागेन्द्रिय का है, वही यहाँ सोमगर्भित अर्कप्राण है। दूसरे शब्दों में यही ईश्वर की वागिन्द्रिय है। यही वाक् नामों की अधिष्ठात्री है। वागिन्द्रिय के आधार पर ही नाम विवर्त प्रतिष्ठित है। प्राण (घ्राण) स्थानीय सोमगर्भित वायव्य अर्कप्राण है। यही गन्धमात्रा का एवं स्पर्श का आलम्बन है। चक्षुःस्थानीय सोमगर्भित आदित्यार्कप्राण है। रूपों का अधिष्ठाता यही है। इन्द्रियमनः-स्थानीय अग्निगर्भित भास्वर सौम्यार्कप्राण है। श्रोत्रस्थानीय अग्निगर्भित दिक्सौम्यार्कप्राण है। दर्शना-भिमत ११ इन्द्रियों का इन्हीं पांच में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रजावच्छेदेन ये ही पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, प्राणवच्छेदेन ये ही पांच कर्मेन्द्रिय हैं। संभूय १० इन्द्रियाँ हो जाती हैं। ईश्वर में इन इन्द्रियों का सर्वतः

विकास है। जीवात्मा नियतेन्द्रिय है, ईश्वर सर्वेन्द्रिय है। इसका कारण इसकी पूर्णता ही है। ईश्वर वर्तुल है। वर्तुलवृत्ताकारयुक्त पदार्थ के केन्द्र में से सभी शक्तियाँ चारों ओर समानरूप से वितरित होती हैं। ईश्वरशरीर का प्रत्येक अवयव सुन सकता है, देख सकता है, बोल सकता है, गन्ध ग्रहण कर सकता है। बस जीवेश्वर की इन्द्रियों में यही वैषम्य है। इन्द्रियों के सर्वतः विकास के कारण ही वह सर्वज्ञ-सर्वकर्म्म-सर्वशक्ति-सर्ववित्, इत्यादि नामों से व्यवहृत होता है। इसी ईश्वरीय इन्द्रियभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

साथ ही में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आपके (जीव के) शरीर में आँख-कान-नाक, आदि इन्द्रियों का जैसा आकार है, उसकी इन्द्रियों का वैसा आकार नहीं है। दूसरे शब्दों में वह आप जैसा शरीर नहीं रखता। उसका का शरीर सर्वथा गोलाकार है। उसमें शक्ति रूप से ही इन्द्रियों का विकास है। इसी अभिप्राय से शक्त्यपेक्षया ईश्वर को पाणि-पाद-अक्षि-रूप इन्द्रिययुक्त मानती हुई भी श्रुति इसे आकाराभाव के कारण अपाणिपाद-वतला रही है—

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुर्ग्रन्थं पुरुषं महान्तम् ॥

—श्वे ३।१६

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविर्विजितम् ।

सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥

सोमदण्डः	{	(३३) ५—अग्निगर्भितः—उक्थापः (आत्मा)	}	—सर्वज्ञः	{	उक्थाग्निसोमसूर्तिः आत्मा (मुख्यप्राणः)
		(२७) ४—अग्निगर्भितः—उक्थसोमः (आत्मा)				
		(२१) ३—सोमगर्भितः—उक्थादित्यः (आत्मा)				
		(१५) २—सोमगर्भितः—उक्थवायुः (आत्मा)				
		(६) १—सोमगर्भितः—उक्थाग्निः (आत्मा)				
				—हिरण्यगर्भः		
				—वैश्वानरः		

कर्माः—प्रज्ञानम्	(३३) ५—आग्नेयार्कप्राणगर्भितः—अर्कपः (प्राणाः)→श्रोत्रेन्द्रियम्	अर्कानिनसोममूर्तयः प्राणाः (अनूचीनाः प्राणाः)
	(२७) ४—आग्नेयार्कप्राणगर्भितः—अर्कसोमः (प्राणाः)→इन्द्रियमनः	
	(२१) ३—सौम्यार्कप्राणगर्भितः—अर्कदित्यः (प्राणाः)→चक्षुरेन्द्रियम्	
	(१५) २—सौम्यार्कप्राणगर्भितः—अर्कवायुः (प्राणाः)→प्राणोन्द्रियम्	
	(६) १—सौम्यार्कप्राणगर्भितः—अर्कग्निः (प्राणाः)→वागिन्द्रियम्	

भूतमात्राः ५	प्रज्ञामात्राः ५	प्राणमात्राः ५
१—दिक्सोमो—	दिङ्मूर्तिःसौम्यचिदंशः प्रज्ञा—	दिक्सौम्यप्राणः प्राणः
२—भास्वरसोमो—	भास्वरसौम्यचिदंशः प्रज्ञा—	भास्वरसौम्यप्राणः प्राणः
३—ऐन्द्रसोमो—	ऐन्द्रसौम्यचिदंशः प्रज्ञा—	ऐन्द्रप्राणः प्राणः
४—वायव्यसोमो—	वायव्यसौम्यचिदंशः प्रज्ञा—	वायव्यप्राणः प्राणः
५—आग्नेयसोमो—	आग्नेयसौम्यचिदंशः प्रज्ञा—	आग्नेयप्राणः प्राणः
अर्थः	ज्ञानम्	क्रिया
अर्थो मूलप्रतिष्ठा—→अर्थाधारे ज्ञानप्रवृत्तिः—→ज्ञानाधारे कर्मप्रवृत्तिः		

षोडशकलो देवसत्यात्मा- ईश्वरः

७—पूर्णैन्द्रत्वविभूतिः (१)

पूर्णैन्द्रता ईश्वर की विभूति है। इसी पूर्णता ने इसे “आत्मकाम” बना रखा है। इसी आत्मकामना से यह काममय रहता हुआ भी निष्काम है। ईश्वर की सर्वव्याप्तिलक्षणा—पुणेन्द्रविभूति इसी पूर्णता में स्त्रीपुंभाव समाविष्ट है। अपने अर्द्धभाग से वह पुरुष बन रहा है, अर्द्ध भाग से स्त्री बन रहा है। सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर की समष्टि ही ईश्वर है, यह पाठक न भूले होंगे। इस ईश्वर का रोदसी त्रिलोकी के अधिष्ठाता

कश्यपप्रजापति के साथ ही सम्बन्ध है। सूर्य्य द्वादश प्राणसमष्टि है। इन १२ प्राणों में से आत्मस्वरूप समर्पक, आयुः प्राणाधिष्ठाता, ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ, सर्वमुख्य, अमृतप्रधान प्राण ही “इन्द्र” नाम से प्रसिद्ध है। यह इन्द्रप्राण (सौरप्राण) कूर्मकृति में परिणत होकर ही सम्पूर्ण विश्व का प्रभव बनता है—“एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजा असृजत्, यदसृजत्—अकरोत्तत्, यदकरोत्तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः” इति” (शत० ७।५।१।५)। “कश्यपात् सकलं जगत्”। इसी सौर (प्राणमूर्ति) कश्यप प्रजापति के गर्भ में, तद्रूप ही पूर्वोक्त ईश्वर तत्त्व प्रतिष्ठित है। सौरप्राण ही तो सम्बत्सररूप में परिणत होता है। सम्बत्सर प्रजापति ही तो ईश्वरीय देवसत्य प्रजापति है।

इस कश्यप प्राण के दृश्यमण्डल—अदृश्यमण्डल, भेद से दो विभाग हैं। किसी निरावरण प्रान्त में आप खड़े हो जाइए। वहाँ चारों ओर का भूस्तर आप को समतल दिखलाई देगा, साथ में ही चारों ओर का हरिज्जन (क्षितिज—Horizon) आकाश से संलग्न दिखाई देगा। यही दृश्य कश्यप प्रजापति की साक्षात् प्रतिकृति (चित्र) है। जैसा स्वरूप कूर्म (कछुए) का है, ठीक वैसा ही स्वरूप कश्यप का है, अतएव इसे “कूर्म” नाम से व्यवहृत किया गया है। इस सौर संस्थात्मक कश्यप, किंवा कूर्म—प्रजापति के चारों ओर पारमेष्ठ्य अप्रुतत्त्व व्याप्त है। दूसरे शब्दों में प्राणमूर्ति सम्बत्सरात्मक कश्यप समुद्र गर्भ में प्रतिष्ठित है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

अपां गम्भन्तसनसीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।

अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा ॐ दिव्या वृष्टिः सचन्ताम् ॥

—(यजुः १३।३०)

आपोमय—वतुर्थ लोक के गर्भ में प्रतिष्ठित त्रैलोक्यमूर्ति इस कश्यप प्रजापति का त्रिवृत्—स्थानीय वैश्वानराग्निमय पार्थिवरस दधि (घन) है, पञ्चदशस्थानीय हिरण्यगर्भवायुमय आन्तरिक्ष्य रस घृत (तरल) है, एकविंश स्थानीय सर्वज्ञ आदित्यमय दिव्यरस मधु (विरल) है एवं स्वयं पारमेष्ठ्य रस अमृत (सोम) है। दधि भाग से हमारे अस्थि मांसादि घन भागों का, आन्तरिक्ष्य घृत रस से मेद—मज्जा—कफ—लाला—असृक्—रस—प्रादि तरल भागों का, दिव्य मधु रस से शुक्र का एवं पारमेष्ठ्य अमृत रस से मन का निर्माण होता है। इन्हीं चारों रसों से तो कश्यप प्रजापति प्रजा निर्माण में समर्थ होते हैं। यही अवस्था अदृश्य मण्डलस्थ कूर्म प्रजापति की है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि, दृश्य—कूर्म में अहः स्वरूप संपादिका अदिति के सम्बन्ध से सूर्य्य की प्रधानता है एवं अदृश्य कूर्म में रात्रिस्वरूप संपादिका दिति के सम्बन्ध से चन्द्रमा का साम्राज्य है। इस प्रकार खगोलात्मक (आकाश गोलात्मक) कश्यप मण्डल भूपिण्ड के मध्य पतित होने से दो भागों में विभक्त हो रहा है। ऊपर के अण्ड कटाह में सौर अग्नि की प्रधानता है, अधोऽवस्थित अण्ड कटाह में चान्द्र सोम की प्रधानता है। एक ही आण्ड—प्रजापति अग्नि—सोम की प्रधानता से दो भागों में विभक्त हो रहा है। इसका अग्निमुख्य ऐन्द्रभाग पुरुष

ॐ पारमेष्ठ्या वृष्टिः ।

है, सोममुख्य ऐन्द्र भाग स्त्री है। आधा इन्द्र प्राण अग्निप्रधान बन कर पुरुष बन रहा है, आधा इन्द्र प्राण सोमप्रधान बनता हुआ स्त्री कहला रहा है। दोनों की समष्टि पूर्णोन्द्र रूप कश्यप प्रजापति है। है। इसके इसी दाम्पत्य स्वरूप का निरूपण करता हुआ मानव शास्त्र कहता है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ (मनुः १।३२)

अपने दृश्य भाग रूप सूर्यप्रधान पुरुषभाग से वही पुरुषसृष्टि का कारण बनता है, चान्द्र-भाग प्रधान अदृश्यभाग रूप स्त्रीभाग से वही स्त्रीसृष्टि का उपादान बनता है। दोनों अण्ड कटाहों का समुच्चय पूर्णोन्द्र है, यही पूर्ण पुरुष है, इसीके लिए—“पूर्णमवः” यह कहा जाता है।

८—सत्यसंकल्पत्त्व (१)

पूर्णोन्द्रता ही ईश्वर के सत्य संकल्प की प्रतिष्ठा है। सहृदय, सशरीरी भाव ही सत्य है। यद्यपि अध्यात्मसंस्था में भी सत्य का उक्त लक्षण समन्वित हो सकता है, परन्तु जीव अर्द्धोन्द्र होने से पूर्ण सत्य की मर्यादा से च्युत हो जाता है। अतएव इसके लिए “अनृतसंहिता वै मनुष्याः” (शत० १।१।१) यह कहा जाता है। इधर ईश्वर पूर्णोन्द्र होता हुआ पूर्ण सत्यरूप है। इसी पूर्णता के बल पर इसके हृदय से जो भी संकल्प उठता है, वह सर्वथा सत्य (त्रिकालावाधित) होता है।

९—एकरसत्त्व (१)

पूर्णता ही ईश्वर के एकरसत्त्व का कारण है। जो वस्तु अपूर्ण होती है, वही अनेक रस होती है। यदि एक पात्र में थोड़ा पानी है, तो उसमें ऊर्मियों (लहरों) का उदय होता रहेगा। यह ऊर्मि भाव ही पानी का रसन है। यदि पानी ऊपर तक भरा रहता है, तो ऊर्मियाँ शान्त हो जाती हैं। ईश्वर पूर्णोन्द्र है अतएव वह अवश्य ही एक-रस है। इसके गर्भ में प्रतिष्ठित प्रजा-वर्ग भले ही ऊर्मि भाव से नित्य आक्रान्त रहे, परन्तु यह तो समष्टि रूप से समुद्रवत् सर्वथा शान्त रहता हुआ एकरस ही है।

१०—एकावस्थत्त्व (१)

जिस प्रकार जीवात्मा जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-आदि ६ अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है, वैसे यह इन अवस्थाओं से एकान्ततः विमुक्त है। सुप्त प्रजा में यह नित्य जाग्रत रहता हुआ सदा एक ही अवस्था से युक्त है। परिच्छिन्न वस्तु को अनेक अवस्थाओं में परिवर्तित होने का अवसर मिल सकता है, परन्तु जो पूर्ण है, एक रस है, वह किस प्रदेश में परिवर्तित हो। फलतः उसमें अपरिवर्तनभावरूपत्व सिद्ध हो जाता है। इसी विभूति का निरूपण करती हुई उपनिच्छुति कहती है—

य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्ममाणाः ।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन “एतद्वै तत्” ।

(कठ० ५।८) ।

११-१२—विश्वव्यापकत्व एवं विश्वसृष्टत्त्व (२)

अपनी ज्ञान-क्रिया-अर्थ शक्ति से यही सम्पूर्ण विश्व को (स्तौम्य त्रिलोकी रूप पार्श्वविश्व को) उत्पन्न कर आत्मरूप से सब में प्रविष्ट हो रहा है । विश्वव्यापकत्व, विश्वसृष्टत्त्व विभूति सम्पूर्ण भूत इसमें प्रविष्ट हैं, सब भूतों में यह प्रविष्ट है, अतएव श्वेताश्वरादि ने इसे “सर्वभूतान्तरात्मा” कहा है । “प्रजापतिः सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च । स आत्मन्नेव (आत्मनि-एव) प्रजातिमधत्त ।” इन्हीं दोनों विभूतियों का उल्लेख करती हुई श्रुति कहती है—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१॥

—श्वे० उ० ५।१३

१३-१४-१५—“सर्वसाक्षित्व, सर्ववशित्व एवं कर्माध्यक्षत्त्व (३)

पूर्णद्रता के प्रभाव से ही यह अपने विश्व एवं प्रजा का प्रत्यगात्मरूप से साक्षी बनता हुआ साक्षीसुपर्ण नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । यही प्रत्यगात्मरूप से शारीरकात्मा (भोक्ता सुपर्ण) की प्रतिष्ठा बनता हुआ अन्तर्यामी रूप से अपने नियतिर्दण्ड से उस पर शासन करता हुआ “वशी” (वश में रखने वाला) बन रहा है । यही नियति द्वारा हमारे कर्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता हुआ कर्माध्यक्ष बन रहा है । इन्हीं तीनों विभूतियों का स्वरूप परिचय कराते हुए ऋषि कहते हैं—

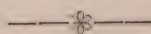
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।

एका वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

—श्वे० उ० ६।११।१२



१६-पाप्मासंसृष्टत्वं (१)

ईश्वर संस्था के उदर में ही सदात् सब कुछ प्रतिष्ठित है। पाप्माओं से संसृष्ट जीव भी इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित है। परन्तु निष्काम कर्म के प्रभाव से सब में रहता हुआ भी यह इन पाप्माओं से पृथक् रहता है। क्लेशादि पाप्मा इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। यही तो ईश्वर की ईश्वरता है—“पश्य मे योगमैश्वरम् ।” इसी विभूति का स्पष्टीकरण करते हुए—“क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः” यह कहा जाता है।

उक्त विभूतियों से युक्त अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टि रूप अतएव अग्नि-वायु-आदित्यवत् उपस्तुत इसी सर्वभूतान्तरात्मा, वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति साक्षी देवसत्यात्मा का संग्रहरूप से निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥१॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य औषधयः पृथिव्याम् ।

पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥२॥

तस्माद्वचः साम यजूषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।

संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥३॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।

प्राणापानौ क्रीह्यवौ तपश्च श्रद्धां सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥४॥

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्ताचिषः समिधः सप्तहोमाः ।

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥५॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।

अतश्च सर्वा औषधयो रसश्च येनैष भूतं स्तिष्ठन्ते ह्यन्तरात्मा ॥६॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।

एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥७॥

—मुण्डक० २।१

सर्वभूतान्तरात्मा

१—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥८॥

२—वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

३—सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।

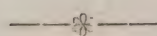
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥१०॥

नित्याऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

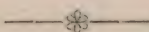
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥११॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।

कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१२॥



पूर्व में जिस आत्मसंस्था का, सामान्य विभूति कलाओं का एवं विशेष विभूति कलाओं का दिग्दर्शन कराया गया है, यदि उन सबका संकलन किया जाता है, तो ईश्वरसंस्था में निम्नलिखित क्रम से ३५६ कलाएँ हो जाती हैं। इन के सम्बन्ध में भी ध्यान रखना चाहिए कि, यह संख्या व्यवस्था सर्वथा नियत ही नहीं है। अनन्त की विभूतियाँ भी अनन्त ही हैं। उनकी गणना कौन कर सकता है। उदाहरण के लिए इसकी एकमात्र रुद्र विभूति को ही लीजिए। सामान्य दृष्टि से “एको रुद्रः” के अनुसार जहाँ रुद्र उसकी एक विभूति मानी गई है, वहाँ रुद्र की ही अवान्तर विभूतियों के सम्बन्ध में “असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूष्याम्” यहा कहा जाता है। अतः सर्वान्त में—“सहस्रधा महिमानः सहस्रम्” एतच्छ्रुतिमूलक “सर्वमिदमानन्त्यम्” इसी सिद्धान्त पर विश्राम मानना पड़ता है।



१-आत्मकलाविभागाः (७२)

६ परात्परकलाः	}	अर्द्धमात्रा	}	७२-कलः प्राणवर्मूर्तिरीश्वरप्रजापतिः
६ अव्ययकलाः				
६ अक्षरकलाः				
६ आत्मक्षरकलाः				
६ आत्मकलाः]—प्रकारः			
१८ प्राणकलाः]—उकारः			
६ पशुकलाः]—मकारः			

देवसत्यात्मा—साक्षी

२-सामान्यविभूतिकलाविभागाः (२३१)

३-विशेषविभूतिकलाविभागाः (५१)

१—विद्याविभूतिः (४)	६—एकरसत्त्व० (१)
२—कामविभूतिः (२)	१०—एकावस्थत्त्व० (१)
३—कर्मविभूतिः (७)	११—विश्वव्यापकत्त्व० (१)
४—शुक्रविभूतिः (१७)	१२—विश्वस्रष्टत्त्व० (१)
५—प्राणविभूतिः (५)	१३—सर्वसाक्षित्व० (१)
६—ज्ञानकर्म्मोन्द्रिय० (५)	१४—सर्ववशित्व० (१)
७—पूर्णोद्वत्त्ववि० (१)	१५—कर्माध्यक्षत्त्व० (१)
८—सत्यसंकल्पतत्त्व० (१)	१६—पाप्मासंसृष्टत्त्व० (१)

ईश्वरीय विभूतियों का दिग्दर्शन समाप्त हुआ । अब क्रमप्राप्त वैश्वानर-तैजस्-प्राज्ञ मूर्ति भोक्ता जीव की विभूतियों एवं पाप्माओं का संक्षिप्त निरूपण कर इस प्राणात्म-पारयात्री भोक्तात्मा विज्ञानोपनिषत् को समाप्त किया जाता है । जीवात्मा एक पथिक है । उसे कण्टकाकीर्ण अनेक मार्ग पार करने पड़ते हैं । अपनी प्रज्ञापराधमूला असावधानी से यह पथभ्रष्ट बनता हुआ लक्ष्यस्थान (ईश्वरीय जगत्) में पहुँचने में असमर्थ रहता है ।

पूर्णन्द्र विभूतिरूपः कश्यपप्रजापति परिलेखः—

सौमगर्भितसवित्राग्निः—अहः—पुरुषः (अदिति मण्डलम्)



(अदिति-मण्डलम्) (सवित्रः—(२१-द्यौः))

पृथिवी का वह भाग, जो सूर्य की ओर रहता हुआ प्रकाश से युक्त रहता है, उसी को अदिति कहा जाता है। विराट्—प्रजापति नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर—हिरण्यगर्भ—सर्वज्ञ इसी अदितिमण्डल में क्रमशः ६-१५-२१ स्तोमों पर जन्म लेते हैं। इस महापृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित ६-१५-२१ इन तीनों स्तोम प्रदेशों को क्रमशः पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ नामों से व्यवहृत किया जाता है। ६वें स्तोम पर घनाग्नि १५वें स्तोम पर्यन्त तरलाग्नि (वायु) व २१वें स्तोम पर्यन्त विरलाग्नि (अदिति) व्याप्त है। अर्द्धभागात्मिका वाट्कार पृथिवी दिति—पृथिवी है। यही असुरों की आवासभूमि है। अदितिमय देवता व दिति गर्भ में प्रतिष्ठित असुर ही स्तोम्य त्रैलोक्य में रहने वाली प्रजा के आरम्भक बनते हैं। परन्तु इन दोनों में से त्रैलोक्य का विकास (देवता के सम्बन्ध से) केवल अदिति पृथिवी में ही होता है।

३२४ कलात्मकः प्रणवमूर्तिरयं देवसत्यात्मासाक्षी सुपर्णः

अष्टतमम् - अर्द्धमात्रा				आत्म- अकारः	प्राणा- उकारः	पशवः मकारः	सामान्यविक्षेपः २३९	विशेषविभूतयः	
१	पराक्षरः १०००	अव्ययः १०००	प्राणः २८	स्वयम्भूः ३७	वाक्-प्राणौ ४६ ६७	आकाशः ६४	१२-ऋषयः	५१	
२	पराक्षरः २०००	अव्ययः २०००	आयः २८	परमेष्ठी ३८	रसि-प्राणौ ४८ ६८	वामु ६४	८-पितरः १५-असुराः	१-विद्या (४)	६-सप्तवक्त्रात्मकम् (१)
३	पराक्षरः ३०००	अव्ययः ३०००	वाक् ३०	भूतर्षः ३९	दिक्पा-प्राणौ ४८ ६८	तेजः ६४	३३-देवाः ४-मनवाः	२-कामः (२)	१०-विश्वकामात्मकम् (१)
४	पराक्षरः ४०००	अव्ययः ४०००	अन्तम् ३१	चन्द्रमा ४०	अज्ञा-प्राणौ ४८ ६८	आयः ६४	२७-गन्धर्वाः ४०-गृह्याः	३-कर्म (७)	११-विश्वसुहृत्त्वम् (१)
५	पराक्षरः ५०००	अव्ययः ५०००	प्राणावः ३२	सर्वज्ञः (आनात्म)	चित्-प्राणौ ४८ ६८	संसृज्जीवा ६८		४-शुक्लम् (६)	१२-सर्वकारित्वम् (१)
६	पराक्षरः ६०००	अव्ययः ६०००	प्राणावः ३३	वित्तप्राणौ (कलात्म)	वसु-प्राणौ ४८ ६८	अनन्तजीवा ६४	१०-४०	५-प्राणः (१७)	१३-सर्ववशित्वम् (१)
७	पराक्षरः ७०००	अव्ययः ७०००	प्राणावः ३४	वैश्वानरः (आनात्म)	सवि-प्राणौ ४८ ६८	असृज्जीवा ६४	१०	६-कामात्मिका (७)	१४-कामात्मिकात्मकम् (१)
८	पराक्षरः ८०००	अव्ययः ८०००	वामुचवः ३५	आपो भूतल	वसु-प्राणौ ४८ ६८	भूतलरा		७-सर्ववशित्वम् (१)	१५-सर्ववशित्वम् (१)
९	पराक्षरः ९०००	अव्ययः ९०००	प्राणावः ३६	वैश्वानरः (आनात्म)	वसु-प्राणौ ४८ ६८	भूतलरा		८-सर्ववशित्वम् (१)	१६-प्राणात्मिकात्मकम् (१)

ब्रह्म - स

देवसत्यात्मा गर्भः

— स्यात्मा

यात्री यात्रा करने एकाकी नहीं जाता, अपितु यात्रोपयोगी अनेक उपकरणों को साथ लेकर, खाने पीने की सामग्री (पाथेय) जुटा कर, सब प्रकार का प्रबन्ध करके ही यात्रा करने निकलता है। जीवयात्री का भौतिक शरीर रथ है। ज्ञान-कर्म-इन्द्रियाँ चपल घोड़े हैं। प्रज्ञान मन प्रग्रह (लगाम) है। बुद्धि सारथी है। भावना वासनात्मक संस्काररूप कर्म फल खाने पीने की सामग्री है। इस यात्री का बुद्धिरूप सारथी आदि सावधान रहता है, तो वह सारथी मनोरूप लगाम से इन्द्रिय रूप अश्वों को उत्पथ नहीं जाने देता, अपितु सावधानी के साथ यात्री को ठीक लक्ष्य स्थान पर पहुँचा देता है। यदि सारथी असावधानी कर बैठता है, तो उसके हाथ से लगाम (मन) छूट जाती है, घोड़े बिगड़ जाते हैं, रथ टूट जाता है, यात्री क्षत विक्षत होता हुआ पथभ्रष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में यात्री का सब से प्रधान एवं प्रथम आवश्यक कर्तव्य होना चाहिए कि, वह सदा अपने बुद्धिरूप सारथी के हाथ में मनोरूप लगाम को सौंपे रहे। यदि जीवात्मा का कर्म बुद्धिपूर्वक होता है, तो वह कभी बन्धन में नहीं पड़ता, कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। यही कर्म बुद्धियोग है। इस में मन बुद्धि के वश में रहता है। यदि कर्म मनःप्रधान बन जाता है, तो बुद्धि निर्बल हो जाती है। आत्मा का मन के साथ योग हो जाता है। ऐसा यात्री कभी लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। ऐसे जीव की क्या परिस्थिति होती है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

इस निदर्शन से प्रकृत में हमें यही बतलाया है कि, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ प्रधान रूप से भोग साधन हैं। भोक्ता जीव पशुपति है, भोगसाधनभूत मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ प्राणस्थानीय जीवात्मा की विभूतियाँ होने से पाश है एवं इस पाश द्वारा भोक्ता जिन ऐहलौकिक पारलौकिक भोगों का भोग करता है, वे सब भोग्य विवर्त पशु है। भोगरूप पशु (सांसारिक विषय) बन्धन के कारण नहीं है, अपितु पाप्मा बन्धन के कारण है। ईश्वर भी सम्पूर्ण विश्व एवं विश्व-प्रजा का भोग करता है, परन्तु विभूति द्वारा। जीव भी यदि विभूति को प्रधान बना कर ही भोग करता है, तो वह भी ईश्वरवत् कभी बन्धन में नहीं पड़ सकता। अब देखना यह है कि, जिन विभूतियों से जीव भोगरत रहता हुआ भी निलिप्त रहता है, वे विभूतियाँ कौनसी हैं ? एवं जिन पाप्माओं के कारण यह बद्ध हो जाता है, वे पाप्मा कौन से हैं ?

ईश्वरसंस्था में ७२ आत्मकलाओं से अतिरिक्त २३१ तो सामान्य विभूतियाँ बतलाई गई है, एवं ५१ विशेष विभूतियाँ बतलाई हैं। वहीं यह भी कहा गया है कि २३१ सामान्य विभूतियाँ जीवेश्वर में समान हैं। अतः उन का पिष्टपेषण करने की प्रकृत जीव प्रकरण में कोई आवश्यकता नहीं है। शेष ५१ विशेष विभूतियों के संस्थान में अन्तर है, वह भी कहीं-कहीं। सूचीकटाहग्याय से पहले इन विशेष विभूतियों का ही दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

जीव में प्रधान रूप से विद्या, काम, कर्म, शुक्र, प्राण-ज्ञानेन्द्रिय-कर्म-इन्द्रिय, ये सात विभूतियाँ हैं। सातों में से पहले विद्याविभूति को ही लीजिए। इस के जन्म काल से ही सूर्य द्वारा जो ध्वजा-

भाग अन्तर्गामी सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, वही इस की विद्याविभूति है। इस के धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, ये चार विवर्त हैं, जैसा कि ईश्वरीय विद्याविभूति प्रकरण से बतलाया जा चुका है। यदि निष्काम-भाव है, तब तो यह विद्या चतुष्टयी बन्धविमोक का कारण बनती हुई विभूति है, सकामभाव में यही अविद्या से आवृत होकर अन्तर्हित हो जाती है। उस अवस्था में जीवात्मा अपनी इस विद्याविभूति को खो बैठता है।

दूसरी है काम नाम की महाविभूति। बुद्धिपूर्विका उत्थिताकांक्षा ही काम विभूति है। ईश्वरात्मा में यह विभूति अव्यय मन से सम्बन्ध रखती थी एवं जीवसंस्था में इस कामविभूति का चान्द्र-प्रज्ञान (सर्व-न्द्रिय मन) से सम्बन्ध है। यही विशेषता है। यदि इस मन की कामना बुद्धिपूर्विका है, तब तो यह अग्रन्धन का कारण बनती हुई कामरूपा विभूति है। यदि बुद्धि का प्राधान्य नहीं है, तो ऐसी दशा में वह काम विभूति पथ से च्युत होता हुआ 'इच्छा' रूप पाप्मभाव में परिणत हो जाता है, जैसा कि कामविभूति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। तीसरी विभूतिकर्म है। इसका उदय सूर्य के प्राण भाग से होता है। तीन कर्म सौर हैं, तीन पार्थिव हैं। ६ ओं निष्काम भावों में विभूति है, सकाम भाव में ये ही पाप्मा हैं। चौथी विभूति शुक्र है। इसके सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य है। ऐहिक-आमुष्मिक, भेद से कर्मक-लाप दो भागों में विभक्त है। वाणिज्य-राज्य सेवा-शिल्प-कला-संगीत, आदि सांसारिक कर्म ऐहिक कर्म हैं। यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आपूर्त्त-वत्तादि-आमुष्मिक हैं। एक का फल प्रत्यक्ष दृष्ट है, दूसरे विभाग का फल श्रुति सिद्ध मात्र होने से आनुश्रविक है। ऐहिक कर्मों का फल हमें इसी लोक में मिल जाता है। हम इन कर्मों का फल इसी शरीर से यहीं देख लेते हैं। अतएव प्राधानिक दर्शन ने इन लौकिक कर्मों के फल को "दृष्ट" नाम से व्यहृत किया है। परन्तु—"ज्योतिष्ठोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि शास्त्रीय अनुशासनों से सम्बन्ध रखने वाले पारलौकिक कर्मों का फल इस शरीर से न मिलकर परलोक में मिलता है। वह फल केवल सुना हुआ है, चर्म चक्षुओं के परे की वस्तु है। अतएव उक्त दर्शन में यह आनुश्रविक (सुना हुआ) नाम से सम्बोधित हुआ है। केवल श्रुतिवचन को सुनकर उसी पर विश्वास कर के स्वर्गादि मुख साधक कर्मों में हम प्रवृत्त हो जाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों का मूल है भावना-वासना संस्कार। आत्मा ज्ञान कर्ममय है। 'ज्ञायते, अथ च किञ्चित् क्रियते' के अतिरिक्त हमारे समीप अन्य तांशरी सम्पत्ति का अभाव है। इनमें से ज्ञान द्वारा आत्मा पर (प्रज्ञान मन) से अनुग्रहित मर्मात्मा पर, उसमें भी विशेषतः प्राज्ञ भाग पर जो ज्ञानीय संस्कार होता है, वही भावना नाम से प्रसिद्ध है, एवं कर्म-जनित संस्कार वासना नाम से व्यवहृत हुआ है। भावना-वासना संस्कार की चिति (समूह) ही विज्ञान भाषा में "बीजचिति" नाम से प्रसिद्ध है। यही बीजचिति जन्म-मृत्यु की मूल प्रतिष्ठा है। इन दोनों चितियों में भी कर्ममयी बीजचिति ही प्रधान है। यह कर्म आत्मा में प्रक्रम, अभिक्रम रूप से प्रतिष्ठित रहता है। एक एक कर्म प्रक्रम है, कर्म सन्तान अभिक्रम है। उदाहरणार्थ पाककर्म को लीजिए। चूल्हा-इंधन-दीपशलाका-फूत्कार-स्थाली-चढ़ाना, आदि पाक-कर्म के साधक अवान्तर सब कर्म (प्रत्येक) एक-एकस्वतन्त्र प्रक्रम है। इन अनेक प्रक्रम कर्मों से पाक कर्मरूप एक अभिक्रम कर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। जैमिनी दर्शन के अनुसार कर्तव्य कर्म प्रक्रम है, पुरुषार्थ कर्म अभिक्रम है। अनेक कर्तव्य कर्मों से एक पुरुषार्थ का स्वरूप निष्पन्न होता है। चौपाटी के मैदान से हम विक्टोरिया गार्डन जाते हैं। एक

पैर उठाते हैं, दूसरा आगे धरते हैं। इनमें एक एक पाद विन्यास (पांवडा) एक-एक प्रक्रम है, ऐसे ऐसे अनेक प्रक्रम मिलकर गतिरूप एक अभिक्रम रूपा महागति का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसी महागति के आधार पर—“हम आज विक्टोरिया गार्डन गये थे” ये अक्षर निकलते हैं। इसी प्रकार भोजन-शयन-पान-पठन-पाठन, आदि प्रत्येक कर्म को प्रक्रम अभिक्रम रूप दो दो अवस्थाओं से आक्रांत समझना चाहिए। अनेक प्रक्रम गभित ऐसे अनेक अभिक्रम कर्म वासनारूप से आत्मधरातल पर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन सब अभिक्रम कर्मों की समष्टि को “कर्मव्यूह” कहा जाता है। निर्धूत क्लिबप आत्मा आगत एवं अतीत कर्मों से मुक्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में बुद्धियोगानुवायी आत्मा ज्ञानाग्नि के प्रभाव से सञ्चित कर्मों को जलाकर, आगन्तुक कर्मसंस्कारों का द्वार अवरोद्ध कर विदेह मुक्ति का अधिष्ठाता बन सकता है। परन्तु जो अभिक्रम कर्म चल पड़ा है, उसका तब तक क्षय असम्भव है जब तक कि, तद्गत सम्पूर्ण प्रक्रम कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता है। यही कर्म “प्रारब्ध कर्म” कहलाए हैं—“प्रारब्ध-कर्मणां भोगादेव क्षयः”। हां, जो मुक्तात्मा होते हैं, वे अभिक्रम (प्रारब्ध) कर्म फल भोगते हुए भी तज्जनित प्रत्यवाय, दुःखादि से असंस्पृष्ट रहते हैं। इसी कर्म विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् करते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ (गी० २।४०)

उपर्युक्त ज्ञान कर्ममय जिन भावना-वासना-संस्कारों को जन्म मृत्यु चक्र का कारण बतलाया गया है, उन दोनों का क्रमशः व्यक्त संसार एवं अव्यक्त प्रकृति से सम्बन्ध है। वासनात्मक कर्म व्यक्त संसार की ओर ले जाता है; भावनारूप ज्ञान अव्यक्त प्रकृति की ओर आकर्षित करता है। एक ऐहलौकिक प्रवृत्ति का कारण है, दूसरा पारलौकिक प्रवृत्ति का हेतु है। दूसरे शब्दों में एक दृष्ट है, दूसरा आनुश्रविक है। परिणाम में दोनों ही दुःख के मूल हैं। यदि अनासक्तिमय, निष्काम कर्मरूप, बुद्धियोगपर-पथ्ययिक ज्ञानयोग के द्वारा इस वासना भावनात्मक शुरु को नष्ट कर दिया जाता है, तो आत्मा व्यक्त संसार एवं अव्यक्त प्रकृति, दोनों से पृथक् होता हुआ उस व्यक्ताव्यक्त से परे रहने वाले अव्यय पुरुष में लीन हो जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर सर्वश्री ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धक्षयातिशययुक्तः ।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ (सांख्यकारिका २)

कहना यह है कि, दृष्ट एवं आनुश्रविक फल से सम्बन्ध रखने वाले, ऐहिकामुष्मिक भावना वासनारूप विषयसंस्कार ही जीवात्मा के पुनः-पुनः होने वाले जन्म मृत्यु के कारण हैं। इस उपादान कारण के सम्बन्ध से ही इस संस्कार पुञ्ज को “शुक्र” कहा जाता है।

पृथिवी का भूत भाग, दूसरे शब्दों में पार्थिव भौतिक संपत्ति ही वासना का कारण है। अतः हम इस शुक्रविभूति को पार्थिव विभूति मानने के लिए तैयार हैं। इतर सम्पूर्ण विभूतियों की मूल प्रतिष्ठा

यही शुक्रविभूति ही काम की जननी है। इस के बिना जन्म नहीं, जन्म के बिना इतर विभूतियों का उदय असंभव। इस शुक्रविभूति के साथ ऊष्मा का भी सम्बन्ध रहता है। शुक्र को पार्थिव कहा गया है। उधर पृथिवी में रहने वाला अग्नि चित्य-चित्तेनिधेय भेद से दो भागों में विभक्त है। चित्याग्नि भूत है, चित्तेनिधेयाग्नि प्राण है, यही ऊष्मा है। भूत भाग वासना का जनक है, प्राणभाग ऊष्मा का प्रभव है। दोनों परस्पर में नित्यसम्बद्ध हैं। इन दोनों में प्रधानता ऊष्मा भाग की ही है। जब तक शरीर में गर्मी प्रतिष्ठित रहती है, तभी तक शुक्र स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। जिस समय ऊष्मा उत्क्रान्त हो जाती है, उस के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह शुक्र भी जन्मान्तर का कारण बनने के लिए शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है। "शुक्र" अग्नि भाव है। यही ताप-रूप शोक का जनक है। तन्मय शुक्र भी जन्म मृत्युरूप शोकार्णव का ही प्रवर्तक है। जब तक शुक्र है, तभी तक जीव जीव है। चूंकि शुक्र के आधार पर ही जीव का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इस के दुःख मूल होने पर भी (जीवापेक्षया) इसे विभूति मान लिया गया है। जो विद्वान् निष्काम भाव से आत्मदेव की उपासना करते हैं, वे ही इस संस्काररूपा शुक्रद्वयी का अतिक्रमण कर मुक्त होने का अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—“उपासते पुरुषं ये ह्यका-मास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः”।

पाँचवीं विभूति प्राण है। इस के ७-सौरगुहाप्राण ५-ब्रह्मप्राण ५-देवप्राण भेद से १७ विवर्त्त हैं, जिनका कि स्वरूप परिचय ईश्वरीय प्राण विभूति निरूपणावसर में कराया जा चुका है। इन में से गुहाप्राणात्मक साकञ्जप्राण शरीर की चारों गुहाओं में समान क्रम से प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अध्यात्म में इन के २८ विभागों का स्पष्ट विकास है। अतः यहाँ सात के स्थान में (संख्याक्रम के अनुसार) हम २८ गुहा प्राण मानेंगे। परोरजा-बाहणादि पाँच ब्रह्मप्राण हैं, प्राणोदानादि पाँच देवप्राण हैं। संभूय ३८ प्राण हो जाते हैं। गुहाप्राणचतुष्टयी का संस्थान क्रम देखिये—दो प्राण दोनों श्रोत्र विवरों में, दो प्राण दोनों नासा विवरों में, दो प्राण दोनों चक्षुर्गोलकों में, एक मुख में प्रतिष्ठित है। सातों में ६ सयुक् हैं, जोड़ले हैं, सातवाँ मुख्य स्थानीय प्राण एकाकी है। यह सप्तक शिरोगुहा का सञ्चालक है। दो हाथ, दो स्तन, दो फुफ्फुस, हृदय, इन सातों में दूसरा सप्तक प्रतिष्ठित है। यह सप्तक उरोगुहा का सञ्चालक है। यकृत (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), दो बलोम, दो वृक्क, नाभि, इन सातों में तीसरा सप्तक प्रतिष्ठित है। यही उदरगुहा का सञ्चालक है। दो-श्रोणी, मूत्र-रेतसी, दो अण्ड, गुद, इन सातों में चौथा सप्तक प्रतिष्ठित है। बस्तिगुहा का सञ्चालक है।

६-७ वीं विभूति ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ हैं। स्वायम्भुव-वारमेष्ठ्य-सौर-पार्थिव-प्राणतत्त्व क्रमशः चित्-प्राण, रश्मि-प्राण, विषणा-प्राण, भूत-प्राण, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवमेव चान्द्र प्राण प्रज्ञा-प्राण भेद से दो भागों में विभक्त है। प्रज्ञा भाग सोम के कारण ज्ञानप्रधान है। प्राण भाग क्रियाप्रधान है। ज्ञान-क्रियामय प्रज्ञा-प्राणात्मक चान्द्ररस औपधियों में प्रतिष्ठित होता है। औपधियाँ पार्थिव भूत से उत्पन्न हुई हैं। फलतः औपधियों में प्रज्ञा-प्राणात्मक चान्द्र रस एवं पार्थिव भूत भाग की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एतल्लक्षण औपधिरूप अन्न शरीराग्नि में आहुत होकर रस-पूल के क्रमिक विशकलन से क्रमशः रस-अमृक् मांस-मेद-प्रस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-धातुओं में परिणित होता हुआ अन्ततः अपने विशुद्ध रूप से “मनो” रूप में परिणित होता है। इस प्रकार प्रज्ञा-प्राण-भूतमय अन्न से उत्पन्न इस मनमें भी इन तीनों कलाओं की

सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन तीनों में से पार्थिव भूत भाग नाम, गन्ध, रूप, शब्द, अन्नरस, कर्म, सुख-दुःख, आनन्द रति प्रजापति, इच्छा, धी-भेद से दस भागों में विभक्त है। दूसरे शब्दों में भूत मात्रा १० हैं। इन के सम्बन्ध से ही प्रजा-प्राणात्मक मन को भी अर्करूप से १० भागों में विभक्त हो जाना पड़ता है। उक्त दसों भूत मात्राओं में से गन्ध-रूप-रस-शब्द-धी-सुख दुःख, इन पांच मात्राओं का प्रजा भाग से सम्बन्ध है, शेष कर्मप्रधान हैं। ज्ञानप्रधान भाग ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, कर्मप्रधान भाग कर्मेन्द्रियाँ हैं। श्रोत्र त्वक्-चक्षुः-जिह्वा-प्राण, ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। प्रजाभाग प्राण में ओत है, प्राणभाग प्रजा में प्रोत है। इसी तादात्म्यभाव को लक्ष्य में रखकर महर्षि कौपीतिक कहते हैं—

“यो वै प्राणः सा प्रजा, या वा प्रजा स प्राणः ।

या वै प्रजा स प्राणः, यः प्राणः सा प्रजा ।

स ह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसत सहोत्क्रामतः ॥” (कौ० उप० २।३) ।

इससे बतलाना यही है कि प्रजाप्रधान ज्ञानेन्द्रियों में भी प्राणमात्रा है एवं प्राणप्रधान कर्मेन्द्रियों में भी प्रजामात्रा है। अतएव ज्ञानेन्द्रियों में भी क्रियाभाव प्रतीत होता है एवं कर्मेन्द्रियों में भी ज्ञान का आभास होता है। वस्तुतस्तु भूतमात्रा—रूप—रस—गन्ध—स्पर्श—शब्द, भेद से पांच ही भागों में विभक्त है। यही प्रजा—प्राण युक्त होकर १० भागों में विभक्त हो जाती हैं। पांच प्रजा मात्राएँ ज्ञानेन्द्रियों की प्रतिष्ठा हैं, पांच प्राणमात्राएँ कर्मेन्द्रियों की प्रतिष्ठा हैं। यह इन्द्रियविभूति प्रजा प्राणात्मक प्रज्ञान मन से सम्बन्ध रखती हुई परम्परया चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने के कारण चान्द्रविभूति कहलाती है। प्रज्ञान इन्द्र के सम्बन्ध से ही इन दसों विभक्तों को “इन्द्रिय” शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

जीवात्मा की इन सातों विभूतियाँ के अन्तर भेदों का यदि संकलन किया जाता है, तो कुल ४० विभूतियाँ हो जाती हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

१—विद्याविभूतिः (४)—धर्मः—ज्ञानम्—वैराग्यम्—ऐश्वर्यम्—सौर विभूतिः

२—कामविभूतिः (१)—एकविधः—विषयभेदादनेकविधः—चान्द्रविभूतिः

३—कर्मविभूतिः (६)—यज्ञः—तपः—दानम्—(सौरविभूतिः), इष्टं—आपूर्त्तं—दत्तं—पार्थिवविभूतिः

४—शुक्रविभूतिः (२)—१—भावना, २ वासना—पार्थिवीविभूतिः

५—प्राणविभूतिः (१७) पञ्च ब्रह्मप्राणः, पञ्च देवप्राणः सप्त गुहाप्राणाः

आत्मविभूतिः—दैवविभूतिः—सूर्यविभूतिः

६—ज्ञानेन्द्रियवि० (५)—श्रोत्र—त्वक्—चक्षुः—जिह्वा—प्राणः } चान्द्रविभूतिः
७—कर्मेन्द्रियवि० (५)—वाक्—पाणिः—पादः—उपस्थम्—पायुः }

७ —————→ (४०) तदित्थं चत्वारिंशत्

- १—चतस्रो विद्याः—धर्मः, ज्ञानम्, वैराग्यम्, ऐश्वर्यमिति ————— ४
 २—मनसः क्रिया कामः ————— १
 ३—षट् कर्माणि—यज्ञतपदानेष्टापूर्तानि ————— ६
 ४—ऐहिकामुष्मिकयोर्दंष्टानुश्रविकयोर्विविधग्रामयोरुपजन हेतुभूते— } —२
 भावनावासनाभिधे द्वे शुक्ले
 ५—ब्रह्मा—देव—गुहाभेदेन ३८ विभक्ताः प्राणाः ————— १७
 ६—श्रोत्र—त्वक्—चक्षुः—जिह्वा—प्राणमिति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि—५
 ७—वाक्—पाणि—पादो—पस्थ—पायवः—इति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि—५

चत्वारिंशत् ४०

इति जीवविभूतयः

— ४ —

उक्त सात विभूतियों के अतिरिक्त जीवसंस्था में आठ प्रकार के पाप्मा रहते हैं। ये ही पाप्मा भोक्तात्मा के बन्धन के कारण हैं। जीवात्मा की ईश्वरता के, दूसरे शब्दों में भोक्ता सुपर्ण के साक्षी सुपर्णभाव में परिणत होने में ये ही पाप्मा प्रतिबन्धक हैं। जीव एवं ईश्वर में व्यवच्छेद डालने वाले ये ही पाप्मा हैं। इन आठ पाप्माओं की अवान्तर-कलाएँ हो जाती हैं। क्रम-प्राप्त क्रमशः इन्हीं पाप्माओं का दिग्दर्शन कराया जाता है।

— ४ —

१—ऊर्मिः (६)

ऊर्मि शब्द का अर्थ है लहर-बीच-तरङ्ग। यह संसार रस बल का समुद्र है। रसरूप समुद्र में बलात्मिका तरङ्ग उच्चावचभाव से इतस्ततः दोलायमान रहती है। इन षडूर्मिस्वरूप परिचय बल तरङ्गों की अवस्थाविशेष ही क्षुधा (भूख) पिपासा (प्यास) शोक (मनो-वेदना) मोह (चित्त वैकल्य), जरा (बुढ़ापा) वृद्धि (रोग), इन नामों से प्रसिद्ध हैं। भोक्तात्मा आसक्ति कर्म में रत रहता हुआ इन ६ ओं ऊर्मियों में से एक न एक से नित्य आक्रान्त रहता है। इन ६ ओं ऊर्मियों में से सब से प्रधान ऊर्मि क्षुधा है। यह अशनाया नाम का महापाप्मा है—“पाप्मा वै अशनाया।” जीवात्मा में निरन्तर किसी न किसी की भूख बनी रहती है। एक विषय की क्षुधा शान्त होती है, दूसरी का उदय हो जाता है। यही अवस्था पिपासा की है।

सांसारिक आपत्तियों का आक्रमण सहने में यह असमर्थ है। कारण इसका यही है कि जिस संसार चक्र के गर्भ में जीवात्मा प्रतिष्ठित है, वह इस अध्यात्मसंस्था की अपेक्षा कहीं अधिक बल रखता है। प्रकृति का आघात सदा प्रबल होता है। इस को सहने में असमर्थ इसका मन व्याकुल हो पड़ता है। शरीर में मन के क्षोभ से जो एक प्रकार की जलन (संताप) होती है, वही “शुक्र” भाव है। शुक्र वृत्ति ही “शोक” किंवा सन्ताप है। यही तीसरी ऊर्मि है। यदि यह शोकाग्नि पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तो मन इस प्रवृद्धतम शोकाग्नि से अभिभूत होता हुआ अपने ज्ञानमय विकास स्वरूप से तिरोहित हो जाता है। उस समय मन को कुछ भी भाव (ज्ञान) नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था में मन की जो दशा होती है, शोकातिव्रग में मन की वही दशा हो जाती है। चक्षुर्द्वार खुले हुए हैं, मन पुरीतति नाड़ी में नहीं है, इसलिए तो इस अवस्था को सुषुप्ति नहीं कहा जा सकता। साथ ही में जाग्रदवस्था में ऐन्द्रियक ज्ञानानुभवरूप मन का जो व्यापार होना चाहिए, उसका भी यहाँ अभाव है, इसलिए इस अवस्था को जाग्रदवस्था भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यह दोनों की मध्यावस्था है। इसमें एक प्रकार की स्तम्भवृत्ति रहती है। जिस वृत्ति के लिए लोकभाषा में “भौचक्का रह गया” “हक्का बक्का रह गया” इत्यादि शब्द प्रयुक्त होते हैं, वही वृत्ति यह मध्यमवृत्ति है। आत्मकल्याणच्छु को सांसारिक आपत्ति से बचने के लिए, संसर्ग दोष से बचने के लिए इसी मध्यम वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए—“मध्यां वृत्ति समाश्रयेत्।” दूसरे हमको पागल समझें, मोहग्रस्त समझें, उन्मत्त समझें, अमर्षादित मानते रहें, इसी में हमारा कल्याण है। इसी जड़वृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात् न चान्याये न पृच्छतः ।

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

ऐसा कृत्रिम मोहभाव जहाँ आत्मशान्ति का कारण है, वहाँ यह प्राकृतिक शोक समुत्थानमूलक मोह वास्तव में जड़भाव का कारण है। इसमें जाग्रत सुषुप्ति, दोनों अवस्थाओं का सम्मिश्रण है। इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास ने इसका “मुग्धेऽर्द्धं सम्पत्तिः” (शा० सू० ३।२।१०) यह लक्षण किया है। गीता विज्ञान के अनुसार अज्ञान से आवृत्त ज्ञान ही मोह है। अर्द्धज्ञान किंवा यत्किञ्चित् ज्ञान ही मोह है। मोह ही भय का मूल कारण है। पूर्ण अज्ञान में भी भय का अभाव है—“अज्ञानं तस्य शरणम्” (पातञ्जल महाभाष्य० १।१।२) एवं पूर्ण ज्ञान भी अभय भूमि है—“विज्ञानं तस्य शरणम् ।” भय होता है—अर्द्धज्ञान स्वरूप मोह से। यही भयभूलिका मोह नाम की चौथी ऊर्मि है।

प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण जीर्ण होता रहता है। आयु के २५ वर्ष पर्यन्त शरीरायव पुष्ट होते हैं। ५० वर्ष पर्यन्त समान रूप से रहते हैं। ५० के अनन्तर विक्षेपण धर्मा इन्द्र के प्रबल हो जाने से अधिक मात्रा से शरीर मात्राओं के निकल जाने से शरीरायव क्रमशः शिथिल होते जाते हैं। यही जराभाव इसकी निरव्य मृत्यु कहलाती है। यही जरा नाम की पाँचवीं ऊर्मि है। हीनयोग—अतियोग—मिथ्यायोग—आयोग, प्रज्ञापराधमूलक इन चारों दुःखद योगों से मिथ्याहार—विहार करता हुआ जीवात्मा अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट मोल ले लेता है। खाना चाहिए सेर भर, लाया पाव भर ही, यह हीनयोग है। सेर

के स्थान में २ सेर खा गए, यही अतियोग है। खाना चाहिए प्रकृति के अनुकूल अन्न, खा गए प्रकृति से विरुद्ध अन्न, यही मिथ्यायोग है। जिस समय अन्न का आत्मा के साथ योग करना चाहिए, उस समय तो खाया नहीं, लोप विलोप करके अनिश्चित समय में भोजन किया, यही अयोग है। प्रजापराधमूलक ये ही चार विषमयोग रोगोत्पत्ति के कारण हैं। ऋतुतत्त्व के प्रथमजा, अतएव अनृत संहित मनुष्य से प्रजापराध होना स्वाभाविक है, फलतः रोग का आक्रमण होना भी स्वाभाविक ही है—“शरीरं व्याधिमन्दि-
रम्।” यही व्याधि नाम की छठी ऊर्मि है। इन ६ ओं में दो-दो के तीन युग्म हैं। तीनों युग्मों से प्रत्येक युग्म की प्रथम कला आधार है, दूसरी आवेयरूपा है। पिपासा के रहने पर क्षुधा नहीं भी रह सकती, परन्तु क्षुधा है, तो पिपासा अवश्य है। साथ ही में अन्न से क्षुधा शान्त कर लेने पर पिपासा अवश्य उदित होती है एवं क्षुधा के साथ साथ ही इस पिपासा को भी शान्त करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार शोक ही मोह की मूल प्रतिष्ठा है। पहले शोक है, फिर मोह है। जरा ही व्याधि का उद्गम स्थान है। जरा और व्याधि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी भाव का बड़ी प्रासाद भाषा में दिग्दर्शन कराते हुए एक महात्मा कहते हैं—

यम सेना की विमल ध्वजा ❀ “जरा” दृष्टि में आती है,
करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती जाती है।

१—क्षुधा	१—शोकः	१—जरा	षडूर्मयः
२—पिपासा	२—मोहः	२—व्याधिः	

जिस प्रकार महासमुद्र में प्रक्षिप्त एक काष्ठ खण्ड समुद्र की उत्ताल तरङ्गों से इतस्ततः दोलायमान रहता है, इसी प्रकार विश्वरूप समुद्र में काष्ठ स्थानीय यह भोक्तात्मा उपर्युक्त बलरूप ऊर्मियों से इतस्ततः दन्द्रम्यमाण रहता है।

२-अवस्था (६)

दूसरा पाप्मा अवस्था नाम से प्रसिद्ध है। जीवात्मा जाग्रत (जागना), स्वप्न (सपना), सुषुप्ति (सोना), मोह (विक्षिप्तता), मूर्च्छा (बेहोशी), मृत्यु (शरीरावसान), इन अवस्थाओं में से अवश्य ही किसी एक न एक अवस्था से युक्त रहता है। अव्यात्मसंस्था में महान् (सत्त्व), विज्ञान (बुद्धि), प्रज्ञान (मन), भेद से तीन स्वतन्त्र ज्ञान धाराएँ प्रवाहित रहती हैं। इन तीनों में महानात्मा प्रधान है, यही चिदात्मा की प्रति-

❀ जरा-बुद्धावस्था, जरा-थोड़ी सी।

पठा है, जैसाकि पूर्व की महदात्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी महदज्ञान से विज्ञान (बुद्धि) प्रकाशित रहता है, विज्ञान से प्रज्ञान प्रकाशित रहता है। प्रज्ञान मन के द्वारा वही ज्ञान प्रकाश इन्द्रिय द्वारों से निकल कर विषयों को प्रकाशित करता है। विषयज्ञान में मनोज्ञान की प्रधानता है। बहिर्जगत के भौतिक विषयों के परिज्ञान के लिए मानस ज्ञान का इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकलना सर्वथा अपेक्षित है। जिस समय मन का इन्द्रियों के द्वारा विषय जात के साथ सम्बन्ध होता है, ऐसी स्थिति में यह मान लेना पड़ता है कि, इस दशा में महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-इन्द्रियाँ-चारों जाग्रत हैं, उदबुद्ध हैं। चारों अपना काम कर रहे हैं। इन चारों विवर्तों की जाग्रदवस्था ही “जाग्रदवस्था” है। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय सहकृत जाग्रदवस्थापन्न प्रज्ञान ही जाग्रदवस्था का अधिष्ठाता है।

जब इन्द्रियाँ अपना काम करना छोड़ देती हैं, इन्द्रिय द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं, तो उस समय प्रज्ञान मन के पास बाहर के विषयों का आगमन बन्द हो जाता है। उस समय केवल भावना वासना रूप सांसारिक विषय ही रहते हैं। संस्कारात्मक इसी विषय समष्टि को “अन्तर्जगत्” कहा जाता है। प्रज्ञान-मन विज्ञान प्रकाश से अनुग्रहीत रहता हुआ सांस्कारिक विषयों के आधार पर नवीन रचना किया करता है। मन की इसी अवस्था का नाम “स्वप्नावस्था” है। यह अवस्था सुषुप्ति एवं जाग्रदवस्था के मध्य की अवस्था है, अतएव इसे “संध्यावस्था” भी कहा जा सकता है। “सन्ध्ये सृष्टि हि”—“निर्मातारं चैके पुत्रादयस्य” (शा० द० ३।२।१) “सूक्ष्म हि” (शा० दर्शन ३।२।४) इस दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार जाग्रत-सुषुप्ति की सन्धि में रहने वाली इस स्वप्नावस्था में प्रज्ञान मन नवीन नवीन कल्पनाएं किया करता है। यह मानस कल्पनाएं शुभाशुभ फल को सूचित करती हैं। इस स्वप्न सृष्टि के सम्बन्ध में यह सिद्धांत समझना चाहिए कि, जाग्रदवस्था में इन्द्रियों के द्वारा जिन बाह्य विषयों का (स्वप्नद्रष्टा) साक्षात्कार करता है, स्वप्न में उन्हीं दृष्ट पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। हाँ, संस्कारों के समन्वय में अवश्य ही विष्ट-ह्वला हो जाती है। स्वप्न में आप वही बात देख सकते हैं, सुन सकते हैं, जो कि जाग्रदवस्था में देख-सुन चुके हैं। एक मनुष्य स्वप्नावस्था में अपने आप को आकाश में उड़ता हुआ देखता है। आप प्रश्न करेंगे कि, जाग्रदवस्था में वह आकाश में कभी नहीं उड़ा था, फिर स्वप्न में यह अपूर्वता कैसे उत्पन्न हुई? इस का उत्तर वही संस्कार विष्टह्वलता है। इस व्यक्ति ने आकाश में पक्षी का उड़ना देखा है। उसका संस्कार इसके प्रज्ञा भाग पर खचित है। स्वप्न में इस के मन का उस उड़ने के साथ सम्बन्ध हो जाता है। फलतः यह अपने आपको उड़ता हुआ समझने लगता है। यही अवस्था असंभववत्-अदृष्टवत् प्रतीत अन्यान्य स्वप्न दृश्यों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। इसी अभिप्राय से-बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

“स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।

उतेव स्त्रीभिः मह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥

अथो लब्बाहुः—जागरितदेश एवास्येष इति । यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्त इति” (वृ० आ० ६।३।१३।१४) ।

कहना यही है कि, विज्ञानसहकृत संस्कारावच्छिन्न अन्तर्मुख प्रज्ञान मन ही स्वप्नावस्था का अधिष्ठाता है। यहाँ केवल अन्तर्जगत् का भोग है। आगे जाकर विज्ञानात्मक प्रज्ञानात्मज्ञा को साथ लेता हुआ पुरीतति नाम से प्रसिद्ध हृदयस्थ व्यान नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है। चिद्विशिष्ट महानात्मा ही इस व्यानात्मिका पुरीतति नाड़ी की प्रतिष्ठा है। यहीं विज्ञान अपीत हो जाता है। दूसरे शब्दों में अपने चिज्ज्योतिषन स्वस्वरूप में डूब जाता है। विज्ञान का स्वतन्त्र प्रकाश तिरोहित हो जाता है। बस प्रज्ञानावच्छिन्न विज्ञान की इस स्वस्वरूप में अपीति ही स्वपिति नाम की सुषुप्ति अवस्था है।

चौथी अवस्था मोह है। ऊर्मि वाला मोह स्तब्ध वृत्ति थी, इस अवस्था सम्बन्धी मोह का विक्षिप्तता से सम्बन्ध है। किसी आकस्मिक प्रबल आघात से, मादक पदार्थों के अत्यधिक मात्रा में सेवन से, शक्ति परिणाम से अधिक ज्ञान तन्तुओं को काम में लाने से, इत्यादि इत्यादि कारणों से मनुष्य के स्नायु तन्तु (ज्ञानतन्तु) शिथिल हो जाते हैं। ज्ञान तन्तुओं के आधार पर होने वाले सुव्यवस्थित इन्द्रियव्यापारों की व्यवस्था टूट जाती है। विवेक नष्ट हो जाता है, मन उत्पथगामी बनता हुआ इन्द्रिय स्वातन्त्र्य का कारण बन जाता है। यही अवस्था मोह (पागलपन) है।

यदि मोह की मात्रा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो मन प्रत्यूच्छिन्न हो जाता है। कारण इसका यही है कि, इन्द्रियों से उनकी नियत एवं परिमित शक्ति के अनुसार ही यदि काम लिया जाता है, तो वे स्वस्वरूप से सुरक्षित रहती हैं। परन्तु मोहावस्था में इन्द्रिय संयम टूट जाता है। किस इन्द्रिय से कितना काम लेना, यह विवेक जाता रहता है। मुग्ध (पागल) आदमी यदि दौड़ना आरम्भ कर देता है, तो वह घंटों निरन्तर दौड़ा ही करता है। बोलना आरम्भ कर देता है, तो अनर्गल बोला ही करता है। इस नैरन्तर्य से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। अन्ततोगत्वा इन्द्रियाँ अपना काम करना छोड़ देती हैं, निश्चेष्ट होकर आदमी धरा पर गिर जाता है। यही “मूर्च्छा” है। इस प्रकार प्रबुद्ध मोह ही इस मूर्च्छावस्था का कारण बन जाता है।

पञ्चभौतिक स्थूल शरीर के साथ जीवात्मा को बद्ध रखने वाला सौर सूत्र ही “आयु” नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रात्मक सौर आत्मसूत्र ही हमारी आयु की प्रतिष्ठा है। जब तक शरीर एवं आत्मा आयुःसूत्र से बद्ध है, तभी तक जीवन सत्ता है। सामान्य भृष्ट विज्ञान के अनुसार सूर्य से ऐसे ३६००० (छत्तीस हजार) आयुःसूत्र आते हैं। प्रतिदिन एक एक आयुःसूत्र का भोग समाप्त हो जाता है। इस क्रम से ३६००० दिन की सम्पुष्टि रूप १०० वर्ष में आयुःसूत्र निःशेष हो जाता है। इसी आधार पर—“शतायुर्वै पुरुषः” यह श्रौत सिद्धांत प्रतिष्ठित है। जिस दिन यह आयुःसूत्र सर्वथा निःशेष हो जाता है, उस दिन जीवात्मा का पञ्चभौतिक शरीर-बन्धन टूट जाता है यही अवस्था मृत्यु नाम से *६ठी अवस्था है।

*इन ६ओं अवस्थाओं का सोपपत्तिक वैज्ञानिक निरूपण माण्डूक्योपनिषत्-हिन्दो-विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

३—अविद्या (४)

ईश्वरीय विद्याविभूति का निरूपण करते हुए हमने सूर्य में धिषणा-प्राण, नाम के दो धातु बतलाए हैं। इन दोनों में धिषणा भाग विद्या है, प्राणभाग कर्म है। सत्-असत् अविद्यास्वरूपपरिचय भेद से दोनों ही दो दो भागों में विभक्त हैं। विद्या-अविद्या धिषणाभाग प्रधान है, संभूति-विनाश प्राणभाग प्रधान है। धर्म-ज्ञानादि चार विद्या भागों के अधर्म-अज्ञान-आसक्ति अनैश्वर्य ये चार विपर्यय हैं। इन चारों अविद्या-बुद्धियों से धर्म ज्ञानादि चारों विद्या भाग दब जाते हैं। अज्ञान अविद्या है। किसी भी विषय के यथार्थ स्वरूप को न जानना ही अविद्या है। अभिनिवेश ही अधर्म है। “हम ऐसा नहीं करते, यह नहीं मानते, हम तो ऐसा ही करेंगे” इस प्रकार का दुराग्रह (हठधर्मी) ही अधर्म का मूल है। ऐसे अभिनिविष्टि (दुराग्रही) का मनोरञ्जन सर्वथा असम्भव है। रागद्वेष आसक्ति है। मन का लक्ष्यभूत विषय के रंग में रञ्जित हो जाना, तल्लीन हो जाना ही राग है। यह राग अनुकूल-प्रतिकूल भेद से दो अवस्थाओं में परिणत रहता है। अनुकूलराग राग है, प्रतिकूलराग द्वेष है। एक प्रेमी जिस प्रकार सदा मन पर चढ़ा रहता है, इस से भी कहीं अधिक शत्रु खयाल पर चढ़ा रहता है। दोनों के साथ बन्धन का पूर्ण सम्बन्ध है इन दोनों का मूलप्रभव रजोगुण है। ये दोनों आसक्ति के मूल हैं। दोनों बन्धन सजातीय हैं, अतएव रागद्वेष की समष्टि को आसक्ति शब्द से ही व्यवहृत किया गया है। आत्मा में सम्पूर्ण विभूतियाँ स्वभावतः प्रतिष्ठित हैं। तथापि मनुष्य सदा “आज मेरे पास अमुक वस्तु नहीं है, आज वह नहीं है, आज यह नहीं है” इस तृष्णा में लिप्त रहता है। दूसरे शब्दों में वह सदा अल्पता का अनुभव किया करता है। यही आत्मा का अनैश्वर्य है। इस अवस्था में आत्मस्वरूप के विकास का अभाव है, अतएव इसे “अस्मिता” (विकासाभाव) कहा जाता है। उक्त कथनानुसार रागद्वेष को एक वस्तु मान लेने पर अधर्म-अज्ञान-आसक्ति-अनैश्वर्य, ये चार ही अविद्याभाग बच जाते हैं। धर्मबुद्धियोग से अधर्म का, ज्ञानबुद्धि योग से अज्ञान का, वैराग्यबुद्धियोग से आसक्ति का, एवं ऐश्वर्यबुद्धियोग से अनैश्वर्य का निराकरण किया जा सकता है। योगदर्शन ने-अज्ञान को अविद्या शब्द से, अनैश्वर्य को अस्मिता शब्द से, आसक्ति को राग द्वेष शब्द से, अधर्म को अभिनिवेश शब्द से व्यवहृत करते हुए क्लेशरूप चार अविद्या बुद्धियों को पञ्च क्लेश माना है—अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः (यो० द० २।३) अविद्याचतुष्टयात्मक यही तीसरा महाभयावह पाप्मा है।

४—बन्ध (३)

यह कर्म भोक्ता कर्मात्मा तीन दुःखों से प्रायः सदा घिरा रहता है। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य-अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेश-ज्वर-वातव्याधि आदिदुःख बन्धस्वरूपपरिचय हैं। इनमें भी ज्वर-उदरशूल-शिरः शूल-पादशूल-(शृङ्गरी)—पाण्डुरोग-छर्दी-हिवका-श्वास-उपदंश-कर्णशूल-राजयक्ष्मा—आदि रोग प्रधानरूप से स्थूलशरीर पर आक्रमण करते हैं। काम क्रोध मोहादि पद्मिपु सूक्ष्मशरीर पर प्रधान रूप से आक्रमण करते हैं एवं अविद्यादि क्लेशचतुष्टयी प्रधानतया कारण शरीर पर आघात करती है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरत्रयी

ही आध्यात्मिक प्रपञ्च है। प्रकारान्त से रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र, ये सात धातु बाह्य-मय स्थूल शरीर की प्रतिष्ठा हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य, ये ६ धातु प्राणमय सूक्ष्मशरीर की प्रतिष्ठा हैं एवं क्लेश चतुष्टयी के आधार पर प्रतिष्ठित भावना वासना नाम के दो शुक्र मनोमय कारण शरीर की आधार भूमि हैं। "त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्" के अनुसार तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि एक शरीर व्याकुल रहता है तो शेष दोनों भी म्लान रहते हैं। वासना भावना संस्कार की जाग्रति से सप्तधातु समष्टिरूप स्थूलशरीर, दोनों क्षुब्ध हो जाते हैं। शरीराघात से मन खिन्न रहता है, मनोवेदना से शरीर से काम क्रोधादि सब धातु निश्चेष्टप्राय रहते हैं। यदि तीनों के धातु सम हैं, तो स्वस्थता है, विषमता में दुःख है, अशान्ति है, शोभ है। इस विषमता का मूल कारण एकमात्र प्रज्ञापराध ही है। प्रज्ञापराध मन का कार्य है। अतएव आध्यात्मिक पूर्वोक्त त्रिविध दुःखों का कारण भी यही मन है, एवं बुद्धियोग के प्रभाव से सुख का कारण भी एकमात्र यही मन है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।

अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥१॥

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः ।

बन्धाय विधासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २॥

(ब्रह्मविन्दुवनिपत्)

सप्तधातु सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः स्थूलशरीर की हानि करता है, पड़रिपु सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः सूक्ष्मशरीर को क्षुब्ध करता है एवं संस्कार सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः कारण शरीर के शोभ का कारण बनता है। तीनों का मूल प्रज्ञापराधमूलक मन ही है। साथ ही मैं पूर्व कथनानुसार सामान्य रूप से तीनों वैषम्य तीनों पर भी आक्रमण किए बिना नहीं रहते। यही कारण है कि, भारतवर्ष के परम वैज्ञानिक प्राणाचार्यों ने प्रकृति के आधार पर ही औषधि का विधान किया है। विज्ञान की चरम सीमा पर पहुँचने का गर्व करने वाला आधुनिक भिषक्समाज (एलोपैथिक चिकित्सक-डाक्टर) आज भी इस प्रकृति विज्ञान से कितने ही अंशों में अपरिचित है, यह कहने में कोई आपत्ति न होगी। उदाहरण के लिए कुछ एक बातें वर्तमान चिकित्सा पद्धति में ऐसी मिलती हैं, जो "अंधेरे नगरी अबूझ राजा, टर्क सेर भाजी, टर्क सेर खाजा" वाली किंवदन्ती को सर्वात्मना चरितार्थ कर रही हैं।

नेत्र रोगों के सम्बन्ध में डाक्टर लोग विशेषतः कॉस्टिक (Castic), आज़िरायल (Orjiriol), प्रोटार्गल (Protargal), यलो आइन्टमेन्ट (Yellow Ointment), इन औषधियों को उपयोग में लाते हैं। इन सब में कॉस्टिक महा उग्रऔषधि है। इसके उपयोग की कथा सुनि। ६ मास के कोमलाङ्ग शिशु पर भी इसीका प्रयोग, ३० वर्ष का युवा भी इसी का कृपापात्र, ६० वर्ष का वृद्ध भी इसीका उपासक बनता है। प्रकृति निरीक्षण की कोई आवश्यकता नहीं। ६ मास के बच्चे, जिनके नेत्रमूलक अति-

शय कोमल हैं, २०-२०—ग्रीन (Green) के कास्टिक प्रयोग से छटपटा जाते हैं। एक बार के प्रयोग से इनके नेत्रों की प्राकृतिक ज्योति नष्टप्रायः हो जाती है। भविष्य में मिलने वाले चश्मे की सनद इसी सुकुमार अवस्था में प्राप्त हो जाती है, एवं अपने नेत्रों को सदा के लिए वह इन चिकित्सकों के भरोसे छोड़ देता है। यही अवस्था इन्जेक्शन (Injection) की है। इनके अन्धाधुन्ध प्रयोग से स्नायुतन्तुओं (जानतन्तुओं) पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है? यह भी मामिकों की दृष्टि से तिरोहित नहीं है। निर्बलता को दूर करने वाला कार्लेवर आयल (Carliveroil) प्रसिद्ध है। चाहे उसे हजम करने की शक्ति किसी में हो, अथवा न हो। यह दिव्य बोटलें सदा ही डिस्पेंसरियों (Dispensary) की प्रतिष्ठा बढ़ाती हुई सब का समान रूप से आह्वान करती हैं। आज के १०० वर्ष पहले, जबकि 'रुद्रबन्धु' इन संख्यातीत चिकित्सकों का अभाव था, देश में शान्ति थी, देश पूर्ण स्वस्थ था। परन्तु आज उस दशा में भी रोग अधिक संख्या में बढ़ते एवं असाध्य होते जा रहे जा रहे हैं, जबकि सर्वत्र कीटाणुओं के समान चिकित्सक व्याप्त हो रहे हैं। उधर हमारे प्राणाचार्य प्रकृति के अनुसार चिकित्सा करते क्या हैं, पुरातन में करते थे। आज तो अपने ही बुद्धिदोष से औषधिपरिचय विज्ञान गून्ध ये वैद्यप्रवर भी उसी रुद्रकोटि में प्रविष्ट होते हुए डाक्टरों से भी कहीं अधिक भयङ्कर सिद्ध हो रहे हैं। अस्तु पुरानी बात पर ही ध्यान रखिए। तत्तद्बर्ण स्वस्वों को लक्ष्य में रखते हुए आयुर्वेद शास्त्री का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह उन्हीं औषधियों का प्रयोग करे, जिनके प्रयोग से सूक्ष्म एवं कारणशरीर पर किसी प्रकार का आघात न हो। आज वर्तमान पर कोई ध्यान नहीं है। यदि न्यूमोनिया है, तो खूब ब्रान्डी (Brandy) पिला-इए, केवल स्थूलशरीर का उपकार अपेक्षित है। कारण—सूक्ष्म भाग भले ही मलिन हो जाय। पूर्व में कहा जा चुका है कि रोग का मूल कारण प्रज्ञान मन से होने वाला प्रज्ञापराध ही है। यही कारण है कि स्थूल-शरीर सम्बन्धी ज्वरादि रोगों की प्रधानता न मानते हुए भिषगवर्ग ने रागादि रोगों को ही मुख्य माना है। जैसा कि निम्नलिखित सूक्ति से स्पष्ट हो जाता है—

रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।

औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान यो पूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥ (अ० ह० १)

हमारे आचार्यों ने उन्हीं औषधियों का विधान किया है, जो स्थूलशरीर को स्वस्थ करती हुई—कारण एवं सूक्ष्मशरीर पर किसी प्रकार का आघात नहीं करती हैं। जिस प्रकार स्थूलशरीर की चिकित्सा करने वाले आयुर्वेदशास्त्र को इतर दोनों शरीरों की रक्षा का ध्यान रखना पड़ता है एवमेव सूक्ष्मशरीर की चिकित्सा करने वाले धर्मशास्त्र एवं कारणशरीररूप आत्मा की चिकित्सा करने वाले उपनिषच्छास्त्र एवं वेदान्तशास्त्र को स्थूलशरीर की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। देश—काल—पात्र—द्रव्य—श्रद्धादि की पूर्ण परीक्षा करके ही धर्मशास्त्रों का विधान है एवं इसी परिस्थिति के अनुसार अधिकारी के भेद से व्यवस्थित ही आत्मोपासना विहित है। यह है आध्यात्मिक दुःख का संक्षिप्त दिग्दर्शन। इस दुःख का चिकित्सक ब्राह्मण वर्ग है।

दूसरा आधिभौतिक दुःख है। वन्य हिलक पशुओं का आक्रमण, अन्य शत्रुओं का आक्रमण, मोटर-साईकल-तांगा-बग्घी-आदि से आघात, ये सब आधिभौतिक आक्रमण हैं। इन सबका चिकित्सास्थान

राजदण्ड एवं तत्सम्बन्धी न्यायालय हैं। भूकम्प-विद्युत्पात-अनावृष्टि-अतिवृष्टि-भूभावात (आंधी) उल्कापात-घोरशीत-घोरगर्मी-अकाल-दुष्काल-जनपदविध्वंसिनी (महामारी) आदि सब आधिदैविक आक्रमण हैं। आध्यात्मिक-आधिभौतिक आक्रमणों का सम्बन्ध व्यक्ति से है अतः इनका शुभाशुभ फल भी व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। परन्तु इस तीसरे आक्रमण का सम्बन्ध राष्ट्र से है। जिस राष्ट्र में राजा एवं प्रजा वर्ग पापकर्म में लिप्त हो जाते हैं, वहाँ का प्रकृति मण्डल क्षुब्ध हो जाता है। क्षुब्ध प्रकृतिमण्डल ही भूकम्पादि आक्रमणों का कारण बनता है। यह राष्ट्र के पाप का फल है अतः इसका आक्रमण किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध न रखता हुआ समूचे राष्ट्र के साथ सम्बन्ध रखता है। इसकी चिकित्सा प्रकृतिरहस्यवेत्ता कर्मठ वेदज्ञ ब्राह्मण हैं। वे ही यज्ञकर्म द्वारा प्रकृति के कोप को शान्त करने में समर्थ हैं। इसी दुःखत्रयी का निरूपण करते हुए प्राधानिक कहते हैं—

दुखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।

दृष्टे सापार्था चेन्नैकात्यन्तोऽभावात् ॥ (सां० का० १)

इन तीनों दुःखों से कर्मात्मा का विकास अवरोध हो जाता है, वह स्वस्वरूप से आवृत हो जाता है, अतएव इस दुःखत्रयी को हम बन्धत्रयी शब्द से व्यवहृत करने के लिए तैयार हैं। "बन्ध" नाम से प्रसिद्ध घोरघोरतम दुःखमय पाप्मा का यही संक्षिप्त विवेचन है।

५—कर्मविपाक (१)

कर्मपरिपाक ही कर्मविपाक है। इसके फल जाति-आयु-भोग भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। संस्कारवश जन्म लेने वाला प्राणी संस्कारवश ही जो कर्म करता है, कर्मविपाकस्वरूपपरिचय प्रज्ञान मन पर उस कृत कर्म का वासना संस्कार खचित हो जाता है। यही संस्कारपुञ्ज इस प्राणी के उत्तर (आगामी) जन्म का कारण बनता है। पार्थिव प्रजा से सम्बन्ध रखने वाले प्रकृत में प्रधानरूप से सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी, ये तीन विवर्त्त हैं। पार्थिव प्राणियों के साथ इन्हीं तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ये ही तीनों क्रमशः आयु-जाति-भोग की प्रतिष्ठा बनते हैं। षट्त्रिंशत्सहस्र (३६०००) बृहतीप्राणात्मक-बृहती-छन्द (विष्वद्वृत्त Equator) पर प्रतिष्ठित सूर्य ही आत्मस्वरूपसमर्पक आयु के अधिष्ठाता हैं, जैसा कि पूर्व के अवस्थापाप्मा में कहा जा चुका है। चान्द्रसोम ही औपधिरूप में परिणत होकर भोग की प्रतिष्ठा बनती है, एवं त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-भूषण भेद से चतुर्धाविभक्त पृथिवी ही क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र प्रधान योनियों की प्रतिष्ठा बनती है। पृथिवी में जितनी योनियाँ हैं, प्रत्येक में उक्त जाति, किंवा वर्णविभाग समानरूप से व्यवस्थित है—“न्यायोऽयं भैरवोक्तः पदार्थैर्बलिलेध्वपि” (अष्टाङ्गसंग्रह)। प्राणी जैसा कर्म करता है, तदनुरूप ही इसे जाति-मिलती है, तदनुरूप ही आयु एवं भोग मिलते हैं। यही भाग्य है, भाग्येय है, विधि का अटल विधान है। जाति-आयु-भोग (विवर्त्त), तीनों उत्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध रखते हैं, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

**आयुःकर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च
पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥१॥**

इन तीनों का विकास तत्तदनुरूप गुण-कर्मों से ही होता है। बिना जाति के जैसे केवल गुणकर्म निरर्थक हैं, गुणकर्म में जैसे जाति परिवर्तन का सामर्थ्य नहीं है, एवमेव बिना गुणकर्म के जाति का भी विकास असम्भव है। ऐसे वर्ण अवर्णतुल्य बनते हुए वर्णब्रुव (निन्द्य वर्ण) ही कहलाते हैं। वर्णप्रतिष्ठा के लिए प्रकृति (जाति) एवं संस्कार (गुणकर्म), दोनों का समन्वय अपेक्षित है। इसी उभय विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वसिष्ठादि महर्षियों ने चातुर्वर्ण्य का—“प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कार-विशेषाच्च” (वासिष्ठस्मृतिः)—यह लक्षण किया है। कर्मविपाक किंवा विपाक नाम के पाप्मा का यही संक्षिप्त निदर्शन है।

६—आशय भोगहेतुः (२)

उपर्युक्त सम्पूर्ण विभूतियाँ, एवं सम्पूर्ण पाप्माओं की आश्रयभूमि शुभाशुभ शरीर ही है। इसी आयतन में प्रतिष्ठित होकर भोक्तात्मा कर्म भोगने में समर्थ होता है। अतएव इस शुभाशुभ शरीर को हम “भोगहेतु” मानने के लिए तैयार हैं। सुन्दर-स्वस्थ-शोभन आकृतियुक्त शरीर शुभशरीर है। अस्वस्थ नाटा-हीनाङ्ग-अतिरिक्ताङ्ग-भीषण आकृतियुक्त शरीर अशुभशरीर है। एक मङ्गलमूर्ति है, तो दूसरे अमङ्गलमूर्ति को देखते ही चित में उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। शुभ कर्म से शुभ शरीर मिलता है, अशुभ कर्म से अशुभ शरीर प्राप्त होता है। “आलोमभ्य आनखाप्रेभ्यः” के अनुसार भोक्तात्मा लोम नखाग्रों को छोड़कर सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त है। व्याप्ति स्थान को ही आशय कहा जाता है। अतएव आत्मव्याप्तिस्थानीय भोगहेतुभूत उक्त दोनों शरीरों को आशय नाम के पाप्मा कहा जा सकता है।

१—एकविंश-पञ्चदशस्तौम्यप्राणगर्भिता त्रिवृता पृथिवी भोक्तात्मनः—प्रभवः

२—अन्नं भोक्तात्मनः—प्रतिष्ठा

३—प्रपदस्थानं-भोक्तात्मनः—योनिः

४—शुभाशुभशरीरे भोक्तात्मनः—आशयः

७—अपूर्णत्व

सातवाँ पाप्मा अपूर्णता है। उक्त सम्पूर्ण पाप्माओं की अपेक्षा यह पाप्मा महाबलिष्ठ है। ईश्वर एवं जीव में प्रतिबन्ध लगाने वाला, दूसरे शब्दों में ईश्वरांशभूत जीव को ईश्वर-अपूर्णत्वस्वरूपपरिचय रता से च्युत करने वाला यही पाप्मा है। स्त्री-पुम्भाव का स्वरूप समर्पक भी यही पाप्मा है। ईश्वरीय पूर्णता विभूति में पूर्णोद्भूत कश्यप प्रजापति का स्वरूप बतलाया गया है। उन दोनों अण्डकटाहों के सौराग्नि प्रधान दृश्य अण्डकटाह से पुरुष का एवं चान्द्र

इस विषय का विशद विवेचन “वेदेषु धर्मभेद” नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।”

सोम प्रधान अदृश्य अण्डकटाह से स्त्री का स्वरूप निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में पुरुष-स्त्री में आधा-आधा इन्द्रप्राण ही प्रतिष्ठित रहता है। अतएव जीव सृष्टि को "अर्द्धेन्द्रसृष्टि" कहा जाता है। 'बाजश्च मे प्रसवश्च मे' इत्यादि मन्त्र समष्टिरूप अर्द्धेन्द्रसूक्त इसी रहस्य का प्रतिपादन करता है। (देखिये यजुः सं० १८ अ०)। जीव में आधे खगोल के मध्य का वृत्त विष्वद्वृत्त नाम से प्रसिद्ध है। यही विष्वद्वृत्त प्राण जीव में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) रूप से प्रतिष्ठित होता है। आधा विष्वद्वृत्त पुरुष में आता है, आधा अदृश्य विष्वद्वृत्त स्त्री में आता है। स्त्री पुरुष के समसंमुख होने से ही पूर्ण विष्वद्वृत्त का स्वरूप संगृहीत होता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, पुरुष आधा है, इसके अर्द्धभाग की पूर्ति स्त्री से होती है— 'सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्यते'। बिना दाम्पत्यभाव के वह पूर्णपुरुषात्मक यज्ञपुरुष के साथ योग करने में असमर्थ है। इस यज्ञाधिकार प्राप्ति के लिए पूर्णतासम्पादक पत्नी सम्बन्ध नितांत अपेक्षित है। बिना पत्नी के यज्ञकर्म कथमपि सम्पन्न कहीं हो सकता। अतएव (यज्ञसिद्धि के लिए ही) एक पुरुष अपनी प्रथम स्त्री के अभाव में अन्य स्त्री के साथ परिणय कर सकता है। यही कारण था कि, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् को अश्वमेध यज्ञ की सिद्धि के लिए जगन्माता सीता की सुवर्ण प्रतिमा का सम्बन्ध करना पड़ा। सचमुच बिना पत्नी के पुरुष अधूरा है। "एकाकी न रमते, तद्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नी च" यह श्रौत सिद्धांत सर्वसम्मत है। अतएव पत्नी को अर्द्धाङ्गिनी माना गया है।

हमने कितने ही कल्पनारसिकों के श्रीमुख से यह कहते सुना है कि 'ज्योतिषशास्त्र का सिद्धांत एवं गणित भाग तो सच्चा है, किन्तु फलितांश सर्वथा निरर्थक है। फलितांश की निस्सारता बताते हुए उक्त महानुभाव कहते हैं कि—'ज्योतिष के सिद्धांत के अनुसार अमुक ग्रहयोग में जो व्यक्ति उत्पन्न हो, उसे जन्म से ब्राह्मण होना चाहिए, उसके गृह का द्वार पूर्व की ओर होना चाहिए, उसका वर्ण कृष्ण होना चाहिए, इत्यादि। हम देखते हैं कि, उसी योग में भूमण्डल में अनेक स्थानों में अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं। मान लीजिए, पूर्वोक्त योग में एक मनुष्य योरोप में उत्पन्न होता है। आपके उपर्युक्त फलों में से वहाँ एक का भी सम्बन्ध नहीं होता। ऐसी अवस्था में ज्योतिष का फलितांश केवल विडम्बना मात्र रह जाता है।' इस विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में हमें केवल यही निवेदन है कि, जिस हेतु को आगे रखकर फलित पर उक्त आक्षेप किया जाता है, वह हेतु ही अप्रतिष्ठित है। जिस ग्रहयोग में जो व्यक्ति उत्पन्न होता है, वह ग्रहयोग सम्पूर्ण विश्व में केवल उसी के लिए नियत है। दूसरे शब्दों में एक समय में विश्व में एक ही व्यक्ति उत्पन्न होता है। ईश्वरीय पूर्णेन्द्र विभूति प्रकरण में जिस कर्म का स्वरूप बतलाया गया है, उसकी एक नियत केन्द्र बिन्दु बनती है। रेतोधा पिता जब गर्भाशयगत शोणपितरूपा योनि में मातरिश्वा वायु द्वारा रेत का आदान करता है, उसी समय शुक्र में केन्द्र बनता हुआ कूर्मरस चारों ओर से आने लगता है। यही कूर्मरस गर्भपुष्टि का कारण बनता है। इस स्थिति में इस गर्भ की जैसी ग्रह-संस्था रहती है, खगोल में तदनुरूप ही इसके अंशों का लम्बन होता है। भुवनकोश (भूवृत्त) में भी ३६० अंश हैं, एवं ग्रहप्रतिष्ठा भूत ज्योतिषचक्र (खगोल) में भी ३६० ही अंश हैं। भूमण्ड की अपेक्षा कई सहस्र गुणित बृहत्सूर्य खगोल के जिस एक छोटे से कोण में समा रहा है, उस खगोल की महत्ता का अनुमान लगाकर इसके अंशों की व्याप्ति को लक्ष्य में रखिए। इस खगोलीय महावृत्त के ३६० अंशों के साथ भूगोलीय ३६० अंशों का समन्वय होता है। भूमण्ड पर जो अंश एक अङ्गुलमात्र का व्यवधान

रत्ने है, जगत् में वही अन्तर उससे कई सहस्रगुणित हो जाता है, यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि—“एक काल में एक क्षण में एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न होनेवाली यमज्-सन्तानों की भी यह संस्थाओं में बड़ा अन्तर है।” जब यह संस्था ही व्यक्तिभेद से भिन्न है, तो फलसाम्य कैसे संभव है। सुतरां फलित सम्बन्धी पूर्व आक्षेप एकान्ततः उच्छिन्न हो जाता है। अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि, जीव अद्वैत होने से अपूर्ण है। अपूर्णता अल्पता है। अल्पता ही दुःख की आवास भूमि है। अपूर्णता रूप इस सातवें पाप्मा का यही संक्षिप्त विवरण है।

८—संसारः

पूर्वोक्त सातों पाप्माओं का एक मात्र फल है—संसार समुद्र में भोक्तात्मा का इतस्ततः विविध योनियों में गमनागमन। जब तक इसके साथ उपर्युक्त पाप्माओं का संसार (गमनागमन) स्वरूपपरिचय सम्बन्ध रहता है, तब तक इसे संसार चक्र में घुमना पड़ता है। यही आठवाँ पाप्मा है। इस पाप्मा से छुटकारा पाने के लिए पहले सात पाप्माओं से निस्तार पाना आवश्यक है। बन्धपर्याय, भुवतपर्याय, नाम के दो पर्यायों का भी इसी संसाररूप पाप्मा में अन्तर्भाव है।



ये आठों ही पाप्मा प्रज्ञापराधमूलक बनते हुए जीवात्मा की स्वतन्त्र (अपनी) कमाई है। ईश्वर में इन पाप्माओं का आत्यन्तिक अभाव है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि “जीव ईश्वर का अंश माना गया है। साथ ही में ईश्वर में उक्त पाप्माओं का अभाव है। इसके साथ ही ईश्वर की व्यापकता भी सत्तासिद्ध पदार्थ है। फिर यह पाप्मधर्म जीवसंस्था में कहां से आए? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कठ कहते हैं।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।

एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥ (कठोपनिषत् ४।१४)

भूतल पर एक बड़ा पर्वत है, पर्वत पर एक दुर्ग (किला) है, दुर्ग पर आकाश से वृष्टि होती है। मेघस्थ शुद्ध जल दुर्ग पर आते ही पर्वतकन्दराओं में आता हुआ खण्ड खण्ड रूप में परिणत होता हुआ, दुर्ग एवं पर्वत की मलिनता से मलिन हो जाता है। यही अवस्था यहां है। वे ही ईश्वरीय गुण शरीररूप भूषिण्ड पर प्रतिष्ठित प्रज्ञानरूप दुर्ग में आकर पर्वतस्थानीय किंवा पर्वतावयवस्थानीय जीवसंस्था में आकर प्रज्ञापराधरूप मल-भाग से युक्त होते हुए पाप्मारूप में परिणत हो जाते हैं। ईश्वरवत् जीव भी सर्वथा विशुद्ध है, ईश्वरीय जो गुण जीव में आते हैं, वे भी विभूतिरूप ही हैं। परन्तु प्रज्ञापराध की कृपा से वे ही गुण दोषरूप में परिणत हो जाते हैं। “गुणा गुणेषु गुणा भवन्ति, ते निगुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।” दो स्वतन्त्र पदार्थों में जो गुण, अथवा दोष नहीं देखे जाते, दोनों के सम्बन्ध के वैचित्र्य से वहाँ गुण-दोष का उदय हो जाता है।

इस प्रकार ७ विभूति, ८ पाप्मा, मन-बुद्धि, इन सत्रह सामग्रियों को लेकर ही भोक्तायात्री यात्रा के लिए इस धरातल पर अवतीर्ण होता है। सात विशेष विभूतियों के अवान्तर भेद ४० हैं एवं आठ पाप्माओं के अवान्तर भेद ३६ हैं। संभूय ७६ कलाएँ हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त २३१ सामान्यविभूतिकलाओं का सम्बन्ध यहाँ ईश्वरवत् विद्यमान है।

इनके अतिरिक्त ज्ञान-क्रिया-शब्द-श्वास-प्रकाश-जल-अन्न, ये सात अन्न और हो जाते हैं। इन सातों अन्नों का कर्मविपाक नाम के पाप्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है, संभूय जीवसंस्था में ३७६ कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट हो जाता है।

ईश्वर प्रजापति पूर्णोद्भूत होता हुआ पूर्णपद है। अतएव "अह्-अम्" इस स्थिति में अह् का आकार पद का अन्त भाग बनता हुआ उत्त्व का भागी बन जाता है—'अ-उ-अम्' यह स्थिति हो जाती है। भुण-पूर्वरूप से "ओम्" शब्द निष्पन्न हो जाता है। ईश्वर की उपनिषत् यही ओङ्कार है—'तस्योपनिषदोमिति।' उधर जीवप्रजापति अर्द्धोद्भूत रहता हुआ पूर्णपद कोटि से बहिष्कृत रहता हुआ अपद है। जीव सम्बन्धी "अह्-अम्" इस स्थिति का अह् का हकार अपद जीव का अन्त भाग बनता हुआ अपदान्त है। अतएव यह उत्त्व भाव से वञ्चित रहता हुआ "ओम्" न बन कर 'अहम्' ही रह जाता है। 'तस्योपनिषदहमिति' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा की उपनिषत् "अहङ्कार" ही है। जब तक अहङ्कार है, तभी तक जीव है। जिस दिन इसका अहङ्कार नष्ट हो जाता है, उस दिन पूर्णपदभाव को प्राप्त होता हुआ यह पूर्णेश्वर में विलीन हो जाता है—

यथोदकं शुद्धं शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।

एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ (कठ० ४।१५)

यह है जीवेश्वर-प्रपञ्च का संक्षिप्त दिग्दर्शन। हमें आशा ही नहीं, प्रत्युत दृढ़ विश्वास है कि, इस आत्मोपनिषत् के सम्यक् परिशीलन से आत्मविपरिणी जिज्ञासः सर्वात्मना शान्त हो जायगी एवं आत्मस्वरूप को न जानने के कारण श्राद्ध के सम्बन्ध में जो शङ्काएँ उपस्थित होती हैं, उनका भी समूलोच्छेद हो जायगा।

- | | | |
|--|--------------|----|
| १—क्षुत्पिपासासे शोकमोहौ, जराव्याधी, इति षट्— | कर्मव्यः— | ६ |
| २—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयो मोहमूच्छामृत्यवः—इति षट्— | अवस्थाः— | ६ |
| ३—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनेवेशाः—इति पञ्च— | क्लेशाः— | ५ |
| ४—अध्यात्माधिभूताधिदैवतभेदन त्रयो— | बन्धाः— | ३ |
| ५—जात्यायुर्भोगाः, सप्तान्नानि चेति—दश— | कर्मविपाकाः— | १० |
| ६—शुभाशुभौ भोगहेतु द्वौ— | आशयौ— | २ |

देवसत्यात्मकलापरिलेखः—

ब्रह्मा — स	असूतम्—अर्द्धमात्रा					आत्मा अकारः	प्राणाः उकारः		पशवः मकारः	सामान्य विभूतयः २३१	विशेषविभूतयः ४०	पाप्मानः ३३
	परात्परः १	अव्ययः १०	ब्रह्माक्षरः १६	प्राणः २८	अव्यक्ततात्मा ३७	वाक्- ४६	प्राणौ ४७	आकाशः ६४				
२	परात्परः २	अव्ययः ११	विष्णुरक्षरः २०	आपः २६	यज्ञात्मा ३८	रयि- ४८	प्राणौ ४९	वायुः ६५	१-विद्याः-४	१-उर्मयः-६	२-कामाः-१	२-अवस्थाः-६
३	परात्परः ३	अव्ययः १२	इन्द्रोक्षरः २१	वाक्- ३०	विज्ञानात्मा ३९	धिषणा ५०	प्राणौ ५१	तेजः ६६	३-देवाः ४-मनवः	३-कर्मणि-६	३-कलेशाः-५	३-वन्धाः-३
४	परात्परः ४	अव्ययः १३	सोमोक्षरः २२	अन्नम् ३१	प्रज्ञानगर्भितो महानात्मा ४०	प्रज्ञा- ५२	प्राणौ ५३	आपः ६७	४-शुक्र-२	४-गन्धर्वाः ४०-ग्रहाः	५-प्राणाः-१७	५-विपाकाः-१०
१	परात्परः ५	अव्ययः १४	इन्द्रोक्षरः २३	प्राणात्मादः ३२	प्रज्ञात्मा ४१	चित्- ५४	प्राणौ ५५	भावनासं- कारः ६८	५-पशवः	५-प्राणाः-१७	६-ज्ञाने-५	६-प्राणयौ-२
२	परात्परः ६	अव्ययः १५	वायुरक्षरः २४	प्राणात्मादः ३३	तैजसात्मा ४२	वायु- ५६	प्राणौ ५७	क्रियासंस्कारः ६९	७-अपूर्णत्वम्	७-अपूर्णत्वम्	७-अपूर्णत्वम्-१	७-अपूर्णत्वम्-१
३	परात्परः ७	अव्ययः १६	अग्निरक्षरः २५	प्राणात्मादः ३४	वैश्वानरात्मा ४३	अग्नि- ४८	प्राणौ ५९	वासनासं- कारः ७०	५-पशवः	५-प्राणाः-१७	६-ज्ञाने-५	६-प्राणयौ-२
४	परात्परः ८	अव्ययः १७	भूवायुरक्षरः २६	प्राणात्मादः ३५	हंसात्मा ४४	वायु- ६०	प्राणौ ६१	भूतस्तः ७१	७-अपूर्णत्वम्	७-अपूर्णत्वम्	७-अपूर्णत्वम्-१	७-अपूर्णत्वम्-१
५	परात्परः ९	अव्ययः १८	भूतोन्निरक्षरः २७	भूतात्मादः ३६	भूतात्मा (शरीरम्) ४५	भूत- ६२	प्राणौ ६२	भूतस्तः ७१	५-पशवः	५-प्राणाः-१७	६-ज्ञाने-५	६-प्राणयौ-२

३७६—कलात्मकः—अर्द्धङ्कारमूर्तिरयं देवसत्यात्मा—भोक्ता

पटत्रिंशत् ३६

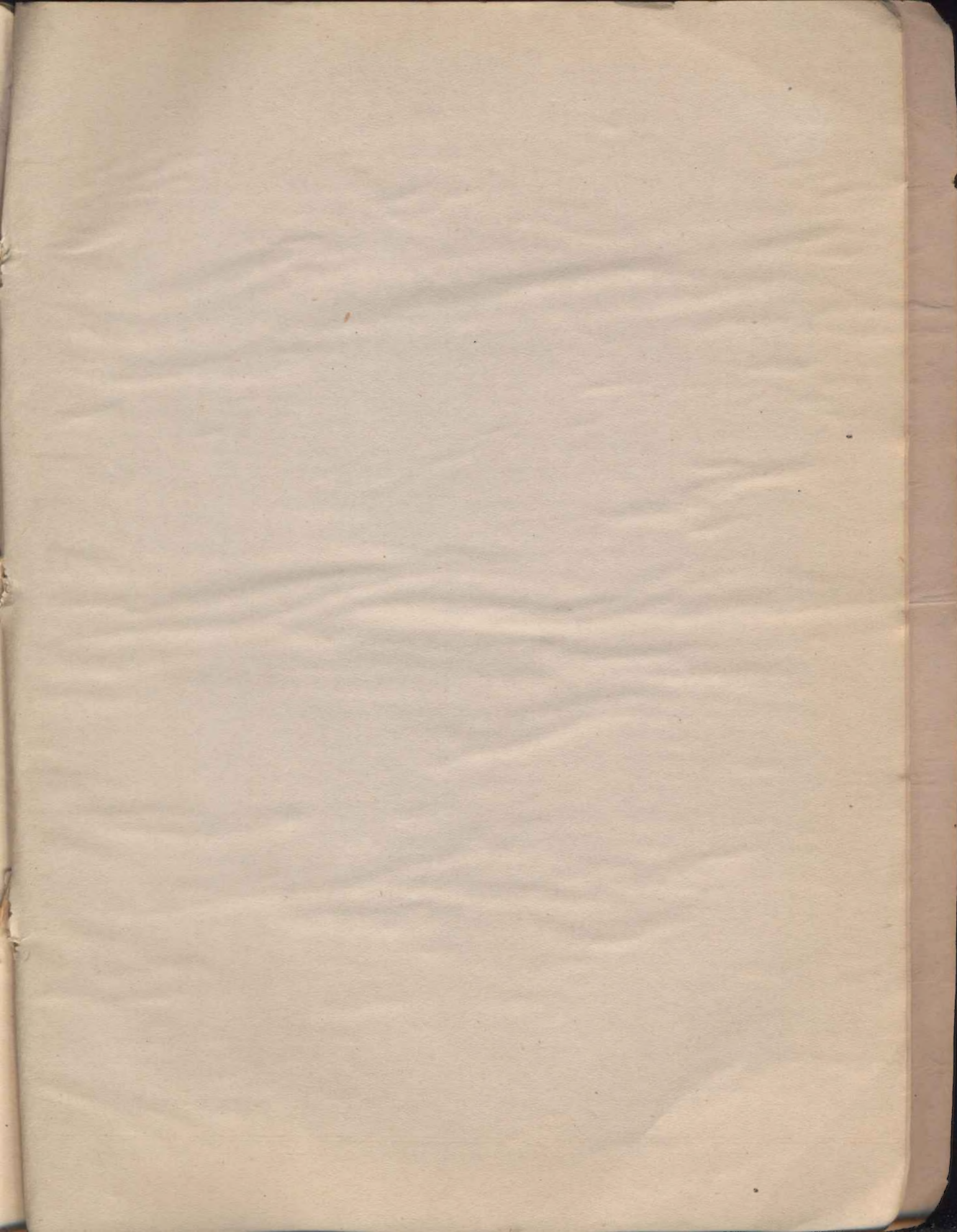
७—स्त्रीपुरुषाभ्यामात्मनो द्विधाभावात्	अपूर्णत्वम्	१
८—संसारः—बन्धपर्यायः, मुक्तपर्यायः—इति त्रयः	पर्यायाः	३
९—पाप्मानः	पाप्मानः—षट्त्रिंशत्	३६
आत्मकलाविभागाः		७२
सामान्यविभूतिकलाविभागाः		२३१
विशेषविभूतिकलाविभागाः		४०
पाप्मकलाविभागाः		३६
संभूय जीवसंस्थायां		३७६ कलाः ।

इत्यात्मविज्ञानोपनिषदि प्रथमायां—
प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् -षष्ठी
समाप्ता

समाप्तश्चायं श्राद्धविज्ञाने प्रथमखण्डः

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

— ❀ —



पं० मोतीलालजी शास्त्री द्वारा उपनिबद्ध
एवं प्रकाशित वाङ्मय की सूची

१. गीताविज्ञानभाष्यभूमिका—'बहिरङ्गपरीक्षा' प्रथमखण्ड
२. " 'आत्मपरीक्षा' द्वितीयखण्ड 'क'
३. " 'ब्रह्मकर्मपरीक्षा' तृतीयखण्ड 'ख'
४. " 'कर्मयोगपरीक्षा' चतुर्थखण्ड 'ग'
५. " 'ज्ञानयोगपरीक्षा' पंचमखण्ड 'घ'
६. " 'भक्तियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड) षष्ठमखण्ड 'क'
७. " 'भक्तियोगपरीक्षा' (उत्तरखण्ड) सप्तमखण्ड 'ख'
८. " 'बुद्धियोगपरीक्षा' अष्टमखण्ड 'ग'
९. उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका — प्रथमखण्ड
१०. " — द्वितीयखण्ड
११. " — तृतीयखण्ड
१२. ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य — प्रथमखण्ड
१३. " " — द्वितीयखण्ड
१४. केनोपनिषत्
१५. श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत—'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड
१६. " 'पितर' स्वरूपविज्ञानोपनिषत् द्वितीयखण्ड
१७. " सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् तृतीयखण्ड
१८. " आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् चतुर्थखण्ड
१९. 'भारतीय-हिन्दू मानव और उसकी भावुकता' नामक खण्ड
चतुष्टयात्मक ग्रन्थ का 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड
२०. संस्कृति और सभ्यता शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त एवं
भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा
२१. दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा
२२. शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य—प्रथमकाण्डानुगत—प्रथमखण्ड
२३. शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य—प्रथमकाण्डानुगत—द्वितीयखण्ड
२४. भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय
२५. वेद का स्वरूप विचार
२६. क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-ग्रामन्वण)
२७. 'वेदस्यसर्वविद्यानिधानत्वम्' (संस्कृत-निबन्ध)
२८. राष्ट्रपतिभवनानुगत-व्याख्यान पंचक
२९. माण्डूक्योपनिषत्
३०. Vedic Concept of Man & Universe.
३१. Three thousand years of Indian Decadence.

प्राप्ति स्थान :

"मानवाश्रम विद्यापीठ"

दुर्गापुरा रोड,

जयपुर-३०२०१५ (राजस्थान)